आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त

(MODERN POLITICAL THEORY)

एस० पी० वर्मा
रिसर्च फैलो,
इण्डियन इन्सटीट्यूट ऑफ एडवान्स्ड स्टडीज
शिमला

विका   Io लि०
नई दिर   ा   कानपुर

प्राक्कथन

सन् 1951-52 मे जब मैं लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्स एण्ड पोलिटिकल साइंस मे राजनीति-विज्ञान मे शोध-कार्य कर रहा था इंगलैण्ड के विश्वविद्यालयों में उस नये राजनीति-विज्ञान के सम्बन्ध मे बहुत कम जानकारी थी जिसका विकास, एटलाण्टिक महासागर के पार, अमरीका मे हो रहा था। राजनीति-विज्ञान के सम्बन्ध मे जो भी चिन्तन था वह, साधारणत:, राजनीतिक सिद्धान्तों के सन्दर्भ मे था। कुछ समय पहले ही हैरल्ड लास्की का देहावसान हो चुका था और माइकेल ओकशोट, जिसकी आस्था कट्टरपन्थी राजनीतिक चिन्तन मे थी, राजनीति-विज्ञान के विभाग का अध्यक्ष था। कार्लपोपट और इसाइया बर्लिन के द्वारा लिये जाने वाले सेमिनार और जी० डी० एच० कोल जैसे अतिथि वक्ताओं के भाषण बहुत अधिक प्रेरणास्पद होते थे; हायेक, डी० एफ० एम० डर्बिन, जॉन स्ट्रैची, जोसेफ शुमपीटर और दूसरे समकालीन लेखकों की रचनाओं पर लगातार विचार-विमर्श होता रहता था, परन्तु उस सब का सम्बन्ध राजनीतिक सिद्धान्त के शास्त्रीय स्वरूप से था, जिसे इन लेखकों के द्वारा लोकतन्त्र और समाजवाद की समकालीन समस्याओं के सन्दर्भ में एक नये ढंग से समझने का प्रयत्न किया जा रहा था। राजनीति-विज्ञान पर, जिस अर्थ मे उसे लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्स मे समझा जाता था, ग्राहम वैलास के समय से ही, जो लास्की से पहले राजनीति-विज्ञान विभाग का अध्यक्ष था, मनोविज्ञान का स्पष्ट प्रभाव था, और समाज विज्ञान का भी, परन्तु इस अर्थ मे नहीं जिसमे इन शास्त्रो के द्वारा विकसित की गयी सकल्पनात्मक संरचनाओ को राजनीति के अध्ययन मे प्रयुक्त किया जा सके। ए० जे० आयर और सी० एल० स्टीवनसन, और विशेषकर टी० डी० वेल्डन, की रचनाओं के द्वारा राजनीति-विज्ञान पर तार्किक प्रत्यक्षवाद (Logical Positivism) और भाषागत-दर्शन (Linguistic Philosophy) का भी प्रभाव पडने लगा था, परन्तु वह बहुत अधिक नही था। भारतीय विश्वविद्यालयों मे राजनीति-विज्ञान के पाठ्यक्रम उस समय तक सर्वथा इंगलैण्ड के प्रभाव मे थे।

सन् 1950 के दशक के मध्याह्न मे डेविड ईस्टन की पोलिटिकल सिस्टम नाम की पुस्तक के प्रकाशन होने के बाद से राजनीति-विज्ञान मे विकसित होने वाली नई प्रवृत्तियो की क्षीण प्रतिध्वनि इंगलैण्ड मे सुनायी देने लगी थी, और तब तक भारतीय राजनीतिशास्त्री भी अमरीका के प्रकाशनों मे रुचि लेने लगे थे। 1960 मे आमण्ड और कोलमैन द्वारा सम्पादित पोलिटिक्स ऑफ डेवलपिंग एरियाज नाम की पुस्तक के प्रकाशन ने मुझ मे, और सम्भवत. भारत के अन्य राजनीतिशास्त्रियों मे, उस प्रकार के साहित्य मे रुचि उत्पन्न की जो अमरीका मे लिखा जा रहा था—विशेषकर इस कारण

कि उस में विकासशील समाजों के अध्ययन के लिए एक नई अध्ययन-प्रणाली (Methodology) के विकास का दावा किया जा रहा था। 1960 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में भारत और अन्य विकासशील देशों के सम्बन्ध में पश्चिमी लेखकों के द्वारा प्रकाशित की जाने वाली पुस्तकों और लेखों की बाढ़ सी आ गयी, जिससे यह तो स्पष्ट था कि पाश्चात्य विद्वान विकासशील समाजों को समझने के लिए प्रयत्नशील थे, परन्तु उनका यह प्रयत्न अध्ययन के उन उपकरणों तक सीमित था जिनका विकास उन्होंने पश्चिमी समाज को समझने के अपने प्रयत्नों के आधार पर किया था। हम में से कुछ इस प्रकार के प्रयत्नों की कमियों को देख पाने की स्थिति में थे, और मैंने उन्हीं दिनों पोलिटिकल साइंस रिव्यू में एक समीक्षात्मक प्रबन्ध में इन प्रयत्नों की आलोचना भी की, परन्तु भारत में अनेक तरुण राजनीतिशास्त्री इस नये अमरीकी राजनीति-विज्ञान के सामने घुटने टेकते हुए दिखायी दिये और उन्होंने अपनी रचनाओं में उन्हें सम्पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया। यह देखते हुए कि भारत में राजनीति-विज्ञान इस समय तक यथेष्ट परिपक्वता प्राप्त कर चुका था, यह सन्तोष का विषय नहीं था।

सन् 1962-63 का शैक्षणिक वर्ष, जिस में मुझे ओरेगन विश्वविद्यालय में पढ़ाने और पेंसिलवेनिया, शिकागो, विस्कॉन्सिन, बर्कले और टैक्सास आदि अनेक विश्वविद्यालयों को देखने का अवसर मिला, अमरीका में राजनीति-विज्ञान के शिक्षक समुदाय के जीवन में बड़ी उथल-पुथल का समय था। राजनीति-विज्ञान के लगभग प्रत्येक विभाग में व्यवहारवादियों और परम्परावादियों के बीच की खाई बढ़ती जा रही थी। और कई बार तो ये लोग एक दूसरे के साथ बात-चीत करने से कतराते दिखायी देते थे। येल और प्रिन्सटन जैसे अधिक प्रगतिशील माने जाने वाले विश्वविद्यालयों में व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्री परम्परावादियों पर छाये हुए थे, परन्तु टैक्सास जैसे अनेक दक्षिणी विश्वविद्यालयों में उनका प्रभाव अधिक नहीं था। ओरेगन में, जो एक तेजी से बढ़ता हुआ परन्तु मध्यम श्रेणी का विश्वविद्यालय था, वे लगभग बराबर-बराबर बटे हुए थे। कुछ व्यवहारवादी प्राध्यापक मुझ से आकर कहते थे, "अमुक सज्जन आपको मिलेंगे और कहेंगे कि हम परम्परावादी दृष्टिकोण के कट्टर विरोधी हैं, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। हम मानते हैं कि परम्परावाद में भी कुछ अच्छी बातें हैं।" परम्परावादी कहते थे कि उन्होंने अपने मस्तिष्कों को नये विचारों के प्रति सम्पूर्ण रूप से बन्द नहीं कर लिया था, परन्तु परम्परावादी दृष्टिकोण की उत्कृष्टता को, जिसे मानने से व्यवहारवादी सर्वथा इनकार कर रहे थे, देख पाने की स्थिति में थे। जबकि मैंने इस बात पर जोर दिया कि क्योंकि व्यवहारवादी और परम्परावादी दृष्टिकोण एक दूसरे के विरोधी नहीं थे, अब समय आ गया था जब इन दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न आवश्यक था। मैं नहीं कह सकता मेरी इस सलाह पर उस समय कहाँ तक ध्यान दिया गया। परन्तु, मुझे इस बात का सन्तोष था कि अमरीका में एक शैक्षणिक वर्ष बिताने वहाँ के विभिन्न विश्वविद्यालयों में जाने और अमरीका के प्रमुख राजनीतिशास्त्रियों के साथ विचार-विमर्श करने के परिणामस्वरूप अब मैं इस स्थिति में था कि राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में विकसित की जाने वाली नवस्वनात्मक संरचनाओं को ठीक से समझ

सकूं, यद्यपि उन्हें देखने का मेरा दृष्टिकोण तब भी आलोचनात्मक था, और आज भी आलोचनात्मक है।

भारत लौटकर, राजस्थान विश्वविद्यालय में राजनीति-विज्ञान विभाग के अध्यक्ष और पाठ्यक्रम समिति के सयोजक तथा अनेक अन्य विश्वविद्यालयो की पाठ्यक्रम समितियों के सदस्य होने के नाते मैंने इन नई प्रवृत्तियो को समझने और अपने देश के राजनीतिक अध्ययनो मे, सशोधित रूप मे, उन्हें व्यवहार में लाने पर ज़ोर दिया। मेरे इन प्रयत्नो का सभी स्थानो पर विरोध हुआ—क्योंकि उस समय कुछ भारतीय राजनीतिशास्त्री तो इन प्रवृत्तियो को ज्यो का त्यो अपनाने मे लग गये थे और अन्य, जिनमे से अधिकाश का सम्बन्ध विश्वविद्यालयो से था, उनकी ओर देखना भी नही चाहते थे। परन्तु राजस्थान विश्वविद्यालय के राजनीति-विज्ञान के अपने साथी प्राध्यापको को इस बात के लिए राज़ी कर सका कि वे कुछ नये पाठ्यक्रम शुरू करें। हमने आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त (Modern Political Theory) के नाम से एक ऐसे पाठ्यक्रम का आरम्भ किया जिसमे पाश्चात्य राजनीतिशास्त्रियो के द्वारा विकसित नवीनतम सिद्धान्तो, सकल्पनात्मक सरचनाओ और शोध के उपकरणो को, समीक्षात्मक दृष्टि से, समझने का प्रयत्न किया गया था। इस नये पाठ्यक्रम के लोकप्रिय होने मे कुछ समय अवश्य लगा, पर धीरे-धीरे अन्य विश्वविद्यालयो ने, अनिवार्य अथवा वैकल्पिक रूप मे, इस प्रकार के पाठ्यक्रम आरम्भ किये। परन्तु, मेरे अपने तथा अन्य विश्वविद्यालयो के उन विद्यार्थियों के सामने जो इस पाठ्यक्रम का अध्ययन करना चाहते थे, एक बडी कठिनाई यह थी कि इस विषय पर, अंग्रेजी अथवा हिन्दी मे कोई पाठ्य-पुस्तक उपलब्ध नही थी।

1969-70 मे मुझे अमरीका के कुछ प्रमुख विश्वविद्यालयो को देखने, और राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र मे इन नई प्रवृत्तियो के बाद के वर्षों के विकास को देखने का एक बार फिर अवसर मिला। यह एक विभिन्न प्रकार का अनुभव था। मेरी इस यात्रा का आरम्भ सितम्बर 1969 मे न्यूयार्क मे आयोजित 'अमेरिकन पोलिटिकल साइस एसोसिएशन' के वार्षिक अधिवेशन से हुआ, जहाँ मैंने विश्व के विभिन्न भागो मे आये हुए कई हज़ार अन्य राजनीतिशास्त्रियो के साथ बैठकर, बडी तन्मयता से, डेविड ईस्टन के राजनीति-विज्ञान मे "व्यवहारवाद से परे की क्रान्ति" (Post-behavioural Revolution) शीर्षक उस अध्यक्षीय भाषण को सुना जिसमे, "व्यवहारवादी क्रान्ति" के इस अग्रदूत ने उस कट्टरता की आलोचना की थी जिसका प्रदर्शन व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्री पिछले कुछ वर्षों से कर रहे थे। अपनी इस यात्रा मे मैं राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र में उभरने वाली कुछ अन्य प्रवृत्तियो को भी देख सका : परम्परागत सिद्धान्तो के अध्ययन मे अधिक रूचि ली जाने लगी थी; राजनीति-विज्ञान अन्य सामाजिक विज्ञानो पर अब अधिक निर्भर नही रह गया था, वह अपनी स्वायत्तता का विकास करने की दिशा मे प्रयत्नशील था; राजनीति-विज्ञान की विभिन्न शाखाओ के बीच की खाई पाटी जा रही थी; राजनीतिशास्त्री अब अपने शास्त्र को दर्शन और विज्ञान की परस्पर-विरोधी मानी जाने वाली दिशाओ की ओर खीचने में उतने सक्रिय नहीं थे; यह माना जाने लगा था कि तथ्य और मूल्य न केवल एक दूसरे से विपरीत

हैं परन्तु उनमें अंतःनिर्भरता भी है; राजनीतिक प्रक्रियाएं महत्त्वपूर्ण मानी जा रही थी परन्तु संस्थाओं के अध्ययन को अब अवज्ञा की दृष्टि से नहीं देखा जा रहा था; और, एक महत्त्वपूर्ण बात यह थी, परंतु राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के अध्ययनों के बीच सदा से चले आने वाले अन्तर्विरोध को, अनुबन्धन (linkage) जैसे सिद्धान्तों द्वारा, कम करने का प्रयत्न किया जा रहा था, यद्यपि राजनीति-विज्ञान के एक समग्र और सर्व-समावेशी दृष्टिकोण का विकास अभी भी नहीं हो पाया था।

इस अवसर पर यह विचार मेरे मन में उत्पन्न हुआ कि, पाश्चात्य और साम्यवादी दोनों ही विचारधाराओं से असंलग्न रहते हुए, राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र में विकसित होने वाली इन नई प्रवृत्तियों की एक विशद और सर्व समावेशी समीक्षा करने का प्रयत्न करूं। तीन वर्ष से अधिक समय तक अंग्रेजी पुस्तक (Modern Political Theory) के लिखने में लगा रहा। इस बीच मैंने इस विषय से सम्बन्धित सैकड़ों ग्रंथों और उससे भी अधिक संख्या में शैक्षणिक पत्रिकाओं में प्रकाशित प्रबन्धों का बड़ी सावधानी से अध्ययन किया, इस विषय पर होने वाले असंख्य विचार-विमर्शों, वाद-विवादों और विचार-गोष्ठियों की कार्यवाहियों का आलोचनात्मक विश्लेषण किया, और एक ऐसे दृष्टिकोण का निर्माण करने का प्रयत्न किया जिसे समन्वयात्मक, संश्लिष्ट और सन्तुलित कहा जा सके।

पिछले तीस-चालीस वर्षों में राजनीति-विज्ञान का विकास केवल नई अध्ययन-प्रणालियों के विकास की दृष्टि से ही नहीं हुआ है, यद्यपि ईस्टन, लासवेल, डॉयश, साइमन, आमण्ड, एप्टर और कुछ अन्य लेखकों की रचनाएं इस क्षेत्र में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परम्परागत और आधुनिक दोनों ही दृष्टियों से राजनीति-दर्शन के क्षेत्र में भी बहुत कुछ लिखा गया है। राजनीतिक सैद्धान्तीकरण के मूल प्रश्न पर भी बहुत अधिक चर्चा हुई है। मैंने इन सभी मूल प्रवृत्तियों का समावेश अपनी पुस्तक में करने का प्रयत्न किया है। इसमें राजनीतिक चिन्तन की समकालीन प्रवृत्तियों को उनके ऐतिहासिक सामाजिक सन्दर्भ में रख कर समझाने का प्रयत्न भी किया गया है। पुस्तक के लिखने में मेरा उद्देश्य आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों पर एक व्यापक और आलोचनात्मक दृष्टि डालना था, पर मैं इस बात का दावा नहीं करता कि मेरा दृष्टिकोण सर्वथा 'मूल्य-निरपेक्ष' (value free) है—किसी भी विचारशील लेखक से मैं इस प्रकार की मूल्य-निरपेक्षता की अपेक्षा नहीं करता। राजस्थान विश्वविद्यालय में हो आयोजित एक विचार-गोष्ठी में मुझ से यह प्रश्न किया गया कि पाश्चात्य देशों, और विशेषकर अमरीका में, और खास तौर से दूसरे महायुद्ध के बाद के वर्षों में, इन नई संकल्पनाओं, संरचनाओं और उपागमों के विकास के पीछे मूल प्रेरणा क्या हो सकती थी। इस प्रश्न की गहराई में जाने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि, अन्य कारणों के अतिरिक्त (जिनकी विवेचना इस पुस्तक में उपयुक्त स्थान पर की गयी है) एक बड़ा कारण यह था कि पाश्चात्य देशों के समाजशास्त्री, सचेतन नहीं तो अचेतन रूप से, इस प्रयत्न में थे कि एक ऐसे सिद्धान्त का विकास किया जा सके जो साम्यवाद की चुनौती का प्रत्युत्तर माना जा सके। इस प्रकार का सिद्धान्त—उसका सम्बन्ध अध्ययन-प्रणाली से हो अथवा

चिन्तन से—अनिवार्यतः पुरातनपंथी, यथास्थिति को बनाये रखने वाला और प्रतिक्रियावादी ही हो सकता था। बाद के वर्षों में, एरिक फ्रोम, रॉबर्ट निस्बत, हर्बर्ट मारकूज़े आदि कुछ लेखकों ने इस दृष्टिकोण की अपर्याप्तता को समझा, और उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन सम्बन्धी कुछ सिद्धान्तों के विकास का प्रयत्न किया। परन्तु उनके सम्बन्ध में, संक्षेप में, यही कहा जा सकता है कि वे स्वीकारात्मक कम हैं, नकारात्मक अधिक, सामाजिक परिवर्तन के लिए वे व्यक्ति को उकसाते तो हैं पर उसे सही दिशा देने में असमर्थ हैं।

धीरे-धीरे मेरा यह विश्वास दृढ़ होता गया है कि पश्चिमी समाज में, दूसरे महायुद्ध के बाद, सामाजिक परिवर्तन का अर्थ ही बदल गया है। पिछली शताब्दियों में लोकतन्त्र का अर्थ एक सतत और विकासशील प्रक्रिया से था, जिसका उद्देश्य राजनीतिक प्रक्रियाओं में समाज के अधिक से अधिक वर्गों का अधिक से अधिक समर्थन और सहयोग प्राप्त करना था। इस दृष्टि से, दूसरे महायुद्ध से पूर्व के कुछ वर्षों में पश्चिमी यूरोप के लेखकों, विशेषकर लास्की और स्ट्रैची, ने फासीवाद और तानाशाही से सुरक्षा की दृष्टि से, अपना यह दृढ़ मत प्रकट किया था कि लोकतन्त्र का अनिवार्य विकास समाजवाद की दिशा में ही होगा। परन्तु साम्यवाद को अपना प्रमुख शत्रु मानते हुए और शीत-युद्ध के मनोविज्ञान में डूबे होने के कारण, पश्चिमी लेखकों ने अब लोकतन्त्र का अर्थ उस व्यवस्था से लिया जो 1945 में उनके देशों में मौजूद थी—और जिसका आधार समाज के विभिन्न निहित स्वार्थों के प्रतिनिधिक राजनीतिक दलों में एक ऐसे प्रतिस्पर्धात्मक संघर्ष पर था, जिससे प्रत्येक राजनीतिक दल शक्ति प्राप्त करने के अथक प्रयत्नों में लगा होता है, इस दृष्टि से नहीं कि समाज का सर्वांगीण विकास किया जा सके, पर इस दृष्टि से कि, नैतिक अथवा अनैतिक किसी भी प्रकार के साधनों को अपनाकर—उनका आधार सत्य पर हो अथवा मिथ्या पर—वह अपने को शक्ति में बनाये रख सके और जिन निहित स्वार्थों का वह प्रतिनिधि है उन्हें आगे बढ़ा सके। साम्यवाद की चुनौति के मुकाबले में, यथास्थिति को बनाये रखने के अपने प्रयत्नों में इन लेखकों ने सभी नैतिक मान्यताओं को राजनीति से बहिष्कृत रखने का प्रयत्न किया।

साम्यवादी विश्व में भी इसी प्रकार की प्रवृत्तियां विकसित हो रही थीं। रूस में स्टालिन ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद के गतिशील सिद्धान्त को कट्टरता के फौलादी शिकंजों में बांध रखने का प्रयत्न किया और चीन में माओ त्से-तुंग ने जो स्वयं एक महान् राजनीतिक-दार्शनिक था और जिसने मार्क्सवाद-लेनिनवाद में कुछ सार्थक परिवर्तन किये और उनका इस ढंग से विकास करना चाहा कि सामाजिक पुनर्निर्माण की प्रक्रियाओं में कृषक-वर्ग और जनसाधारण को सहभागी बनाया जा सके, चीन की जनता को अपने एकाकी नियन्त्रण में रखने की दृष्टि से, इसी प्रकार की तानाशाही नीतियों का पालन किया। इस सब का परिणाम यह हुआ कि पाश्चात्य और साम्यवाद दोनों ही समाजों में—पश्चिम में एक अनुरूपतावाद (Conformist) समाज और साम्यवादी विश्व में एक सर्वशक्तिशाली राज्य के भारी बोझ के नीचे दबे होने के कारण—व्यक्ति ने अपने को विच्छिन्न, एकाकी और निःसहाय पाया। पश्चिम के सभी

समाजशास्त्रियों ने—मार्क्स और अस्तित्ववादियों से लेकर मारक्यूज़े और नवीन वामपन्थ तक—अपनी रचनाओं में कुण्ठा और सन्ताप की उस भावना को व्यक्त किया है जो आज के व्यक्ति के सन्त्रास का मुख्य कारण है। इस पृष्ठभूमि में गांधी के राजनीतिक चिन्तन का—जिसका समस्त आधार व्यक्ति पर है—और, सत्य, अहिंसा और आत्म-उत्पीडन के सिद्धान्तों पर आधारित क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन लाने के उनके तकनीक की प्रासंगिकता (relevance) बड़े स्पष्ट रूप से हमारे सामने प्रकट होती है। जिन्होंने गांधी के राजनीतिक चिन्तन को विश्वव्यापी समस्याओं के सन्दर्भ में नहीं समझा है—और दुर्भाग्य से ऐसे लोगों की संख्या अगणित है—एक ऐसे पाठ्यक्रम में जिसमें प्रमुखतः पाश्चात्य राजनीतिक विचारों की चर्चा है, के सम्मिलित किये जाने के विचार से असहमति रख सकते हैं। परन्तु आज के समाज की सभी समस्याओं का, जिनका समाधान पा लेने के लिए पश्चिमी, साम्यवादी और विकासशील, सभी देश प्रयत्नशील हैं, यही एक निदान दिखायी देता है। व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्धों को यह तोड़ता नहीं, जैसा साम्यवादी व्यवस्था में होता है, जोड़ता है, परन्तु यदि उनके बीच कोई संघर्ष है तो उसे कृत्रिम रूप से आवृत्त करने का प्रयत्न भी नहीं करता है, जैसा पश्चिमी समाजों में होता है, परन्तु उसे सचेतन स्तर पर लाकर, सत्य, प्रेम और अहिंसा के मिश्रित उपकरण के द्वारा जड़-मूल से मिटाने का प्रयत्न करता है।

इतना बड़ा कोई भी ग्रंथ विभाग के अपने साथियों,सहयोगी प्राध्यापकों, शोध-सहयोगियों, शोध छात्रों और स्नातकोत्तर कक्षाओं के विद्यार्थियों—की सहायता के बिना लिखा नहीं जा सकता था। उन सबके साथ व्यक्तिगत रूप से, अथवा विचार-गोष्ठियों और कक्षाओं में, मैंने विचारों का आदान-प्रदान किया है, और उनके परिणाम-स्वरूप बहुत से नये तथ्य, विचार और दृष्टिकोण मेरे सामने आये हैं। इस पुस्तक के अंग्रेजी संस्करण में मैंने कुछ सहयोगियों और पुस्तकालय के अध्यक्षों के नाम दिये हैं, और इनके प्रति अपना आभार प्रकट किया है, पर बहुत अधिक नाम उसमें से छूट गये हैं, इस कारण उस गलती को मैं दोहराना नहीं चाहूंगा। पी० सी० माथुर और वी० के० रतनानी के नामों को अवश्य छोड़ा नहीं जा सकता—पी० सी० माथुर ने सारी पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ा, उसकी कुछ प्रमुख कमियों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया और सन्दर्भ-सूची तैयार की। वी० के० रतनानी ने अंग्रेजी संस्करण करने में मुझे काफी सहयोग दिया।

मेरे लिए यह सन्तोष का विषय है कि 1975 में पुस्तक के अंग्रेजी संस्करण के प्रकाशन के बाद दो वर्षों में उसका तीन बार पुनः मुद्रण हुआ, और देश के सभी विश्वविद्यालयों ने उसे स्वीकार किया, और कई ने उसके प्रकाश में अपने पाठ्यक्रमों का निर्धारण किया। साथ ही, उसके हिन्दी संस्करण की मांग भी बढ़ती गयी जिसे, अपने अन्य अपरिहार्य उत्तरदायित्वों को देखते हुए, जल्दी पूरा करना मेरे लिये सम्भव नहीं हुआ। अंग्रेजी संस्करण के प्रकाशित होने के तीन वर्ष बाद यह हिन्दी संस्करण प्रकाशित हो रहा है। यह अंग्रेजी संस्करण का अनुवाद मात्र नहीं है। परिच्छेदों की व्यवस्था, कई परिच्छेदों के आन्तरिक विषय और कुछ परिच्छेदों की समस्त सामग्री

को—जिसमे राजनीतिक विकास सम्बन्धी परिच्छेद विशेष रूप से उल्लेखनीय है—मैंने, बिना किसी हिचकिचाहट के बदल डाला है। इस बीच, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों का मेरा अध्ययन अनवरत रूप से चलता रहा है—और उसमे 1977-78 का शैक्षणिक वर्ष विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हुआ है जो मैंने, एक अभ्यागत आचार्य की हैसियत से, शिकागो विश्वविद्यालय के उस वातावरण मे बिताया जहा से चार्ल्स मेरियम और हैरल्ड लासवेल के नेतृत्व मे व्यवहारवादी विचारधारा का आरम्भ हुआ था और जहा डेविड ईस्टन ने राजनीति-विज्ञान मे उसके अवतरण मे भगीरथ का काम किया था और स्वय उन्होने ही सोलह वर्ष के परिपक्व चिन्तन के बाद, "व्यवहारवादी क्रान्ति से परे एक दूसरी क्रान्ति की उद्घोषणा की थी। शिकागो मे ईस्टन के साथ किये गये विचारो के आदान-प्रदान से मुझे बहुत लाभ हुआ है। यह भी मेरे लिए सन्तोष का विषय रहा है कि अमरीका मे भी मुझे इस पुस्तक मे अभिव्यक्त अपने दृष्टिकोण का व्यापक समर्थन मिला है। अपनी समस्त कमियो के होते हुए भी, जिनमे शायद मुझ से अधिक कोई भी व्यक्ति परिचित न हो, पुस्तक ने जो सफलता प्राप्त की है, उसके लिए मैं किस-किस के प्रति अपना आभार प्रगट करूँ, यह निर्णय करना मेरे लिए लगभग असम्भव है।

एस० पी० वर्मा

विषय-सूची

भाग एक

राजनीति-विज्ञान : प्रकृति और क्षेत्र
(POLITICAL SCIENCE : NATURE AND SCOPE)

भाग दो

आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण
(MODERN POLITICAL ANALYSIS)

भाग तीन

आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख धाराएं
(MAINSTREAMS OF MODERN POLITICAL THOUGHT)

भाग एक

राजनीति-विज्ञान : प्रकृति और क्षेत्र
(POLITICAL SCIENCE: NATURE AND SCOPE)

अध्याय 1

राजनीति-विज्ञान का समकालीन विकास : प्रकृति और क्षेत्र

(CONTEMPORARY GROWTH OF POLITICAL SCIENCE : NATURE AND SCOPE)

राजनीति-शास्त्र प्राचीनतम शास्त्रों में से एक है। कई शास्त्रों ने अपना उद्गम प्राचीन यूनान से खोज निकालने की चेष्टा की है परन्तु इस प्रयत्न में किसी को इतनी सफलता नहीं मिली जितनी राजनीति-शास्त्र को। मनुष्यों ने जब से समूह बनाकर रहना आरम्भ किया तभी से संगठन और नियन्त्रण की समस्याएं उठीं और मानव ने शक्ति के प्रयोग का क्षेत्र और उसकी मर्यादाएं क्या हों, शासकों और शक्तियों में पारस्परिक सम्बन्ध कैसे हों, और वह सर्वश्रेष्ठ राज्य-व्यवस्था क्या हो सकती है जिसमें संगठन और नियन्त्रण की आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ मानव मस्तिष्क की स्वाधीनता को भी सुरक्षित रखा जा सके, जैसे प्रश्नों पर सोचना आरम्भ किया। ये सभी समस्याएं ऐसी हैं जो शताब्दियों से मनुष्यों के मस्तिष्क को उद्वेलित करती रही हैं—यह अलग बात है कि विभिन्न युगों में इस चिन्तन के केन्द्र-बिन्दु बदलते रहे हैं। प्राचीन राजनीतिक चिन्तकों ने अपना सारा ध्यान आदर्श राज्य की समस्या पर केन्द्रित किया था, मध्ययुगीन चिन्तकों ने एक ऐसी व्यवस्था का विकास करने के सम्बन्ध में सोचा जिसके अन्तर्गत पृथ्वी पर ईश्वर के राज्य की स्थापना की जा सके और पिछली कुछ शताब्दियों में राजनीतिक दार्शनिकों का ध्यान शक्ति, प्रभाव, सत्ता आदि समस्याओं पर अधिक केन्द्रित रहा है। पिछली कुछ दशाब्दियों तक राजनीति-शास्त्र में अध्ययन का आधार संस्थागत था और उसका दृष्टिकोण दार्शनिक था। ऐतिहासिक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वह सभी युगों में पाया जाता है, इस अर्थ में कि राजनीतिक चिन्तकों ने प्राय किसी भी राजनीतिक घटना अथवा संस्था को समझने के लिए पहले उसके विकास के इतिहास को जानने और उसका विवरण देने का प्रयत्न किया है, बजाय इसके कि वे उस घटना अथवा संस्था का विश्लेषण करें अथवा उसके दार्शनिक तत्वों के बारे में सोचें। इस दृष्टिकोण के प्रयोग में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है, परन्तु 19वीं शताब्दी में विशेष रूप से ऐतिहासिक दृष्टिकोण का बोलबाला रहा। आईकार्न और सैविनी के द्वारा न्याय-शास्त्र के क्षेत्र में संस्थापित ऐतिहासिक विचारधारा का राजनीति-विज्ञान के अध्ययन पर गहरा असर पड़ा। अनेक विद्वानों ने संविधानों, संवैधानिक कानूनों और इंगलैण्ड में लोक सभा और सम्राट अथवा अमरीका में कांग्रेस और राष्ट्रपति जैसी विभिन्न संस्थाओं के इतिहास

अथवा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के विकास पर श्रेष्ठ कोटि की रचनाएं थीं। इनमें से कुछ रचनाओं को इतिहास की दृष्टि से बहुत ऊंची कोटि में रखा जा सकता है, परन्तु उन्हें राजनीति-शास्त्र में, उसके आज के अर्थ में, रखना कठिन होगा।

सरकार के अध्ययन के रूप में राजनीति-शास्त्र का प्रारम्भ अमरीका में हुआ। अमरीकी राजनीतिशास्त्रियों की प्रथम पीढ़ी (1880-1903) में से अधिक ने इतिहास के जर्मन प्राचार्यों से प्रशिक्षण प्राप्त किया था और सरकार के विभिन्न रूपों के विकास के सम्बन्ध में अपने शोध कार्यों में वे प्रमुखतः इतिहास पर ही निर्भर रहते थे और यद्यपि दूसरे शास्त्रों का भी उन्होंने उपयोग किया परन्तु वे सब इतिहास के सूत्र में ही एक-दूसरे के साथ जोड़े गये थे। *अपना प्रमुख आधार संस्थाओं के ऐतिहासिक अध्ययन* पर रखते हुए भी इस पीढ़ी के राजनीतिक चिन्तकों ने समय-समय पर राज्य, कानून, प्रभुसत्ता, अधिकार, न्याय आदि संकल्पनाओं के विश्लेषण का भी प्रयत्न किया और सरकारों की कार्यविधियों को परखने की चेष्टा की। विश्लेषण की यह प्रवृत्ति सुकरात के समय से ही चली आ रही थी, जब उसने महत्त्वपूर्ण प्रचलित शब्दों के अर्थों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया, परन्तु उसे विशेष महत्त्व 19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में ही मिला। विद्वानों ने अब राजनीतिक संगठनों और प्रक्रियाओं के प्रकार्यात्मक पक्षों का बड़े उत्साह के साथ विवेचना करनी आरम्भ की। फिर भी, यह दृष्टिकोण *विधिगत-संस्थागत* संरचना तक ही सीमित रहा, क्योंकि जिन संकल्पनाओं का विश्लेषण किया जाता था उनका सम्बन्ध विधिगत स्थापित संस्थाओं से ही होता था। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक चतुर्थांश में इस ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक *(historical-descriptive)* उपागम के साथ एक आदर्शात्मक-उपदेशात्मक (normative-prescriptive) उपागम और जुड़ गया। राजनीतिक लेखकों ने अब राजनीतिक संस्थाओं के गुण और दोषों, लाभों और हानियों आदि की चर्चा आरम्भ की। इस युग के बहुत से लेखकों को हम सैद्धान्तिक समस्याओं में उलझा हुआ पाते हैं कि शासन की अध्यक्षात्मक प्रणाली अच्छी है अथवा संसदात्मक प्रणाली, चुनाव क्षेत्रों का विभाजन भौगोलिक आधार पर होना चाहिए अथवा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के, एकात्मक शासन अच्छा है अथवा संघात्मक, और विभिन्न लेखकों ने यह *निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया कि दो प्रकार की संस्थाओं में से किसे श्रेष्ठतर* माना जा सकता है, बिना इस बात की चिन्ता किये कि जिस देश में इन आदर्श संस्थाओं की स्थापना करने की बात की जा रही थी वहां उनके अनुकूल परिस्थितियां थी भी या नहीं।

इन उपागमों में से किसी ने अभी तक राजनीति-शास्त्र और इतिहास में अन्तर समझाने या बताने का प्रयत्न नहीं किया था। राजनीति-विज्ञान को अब तक भी एक ऐसा शास्त्र माना जा रहा था जिसका अध्ययन, सक्रिय राजनीति के दलदल से दूर रहकर, किसी अच्छे पुस्तकालय अथवा अध्ययन-कक्ष में किया जा सकता था। परन्तु 19वीं शताब्दी के बाद के वर्षों में कुछ राजनीतिक चिन्तकों के मन में यह धारणा आरम्भ होने लगी थी कि आदर्श और वाञ्छनीय की अपनी खोज में उन्होंने शायद यह समझने की पर्याप्त चिन्ता नहीं की थी कि सरकारें और राजनीतिक संस्थाएं वास्तव में किस प्रकार से अपना काम

कर रही हैं। इस दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने का श्रेय जेम्स ब्राइस को दिया *जाना चाहिए जिसने अमेरिकन कामनवेल्थ नाम की अपनी पुस्तक में, 1888 में,* यह लिखा कि उसकी रचना में उसका उद्देश्य "अमरीका की संस्थाओं और उसकी जनता को *बिलकुल वैसा ही चित्रित करना है जैसे वे हैं।* निगमनात्मक (deductive) प्रणाली के प्रलोभनों को दूर रखना और घटना सम्बन्धी तथ्यों को उनके वास्तविक रूप में प्रस्तुत करना।"[1] अपनी इसी भावना को ब्राइस ने 1924 में प्रकाशित अपनी मॉडर्न डेमोक्रेसी नामक पुस्तक में इस प्रकार व्यक्त किया "सबसे अधिक आवश्यक हैं तथ्य—तथ्य, तथ्य, तथ्य।"[2] इस बीच ब्राइस ने अपनी कुछ रचनाओं में यह प्रतिपादित करने की चेष्टा भी की कि राजनीति-शास्त्र को विज्ञान माना जाना चाहिए और इस बात पर जोर दिया कि 'मानव स्वभाव की प्रवृत्तियों में एक निरन्तरता और समानता होती है जिसके आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मनुष्य के द्वारा किसी एक समय पर किये जाने वाले कृत्यों के पीछे सम्भवतः उसी प्रकार के कारण हो सकते हैं जो उसके भूतकाल में किये गये कृत्यों के पीछे रहे थे।" उसने लिखा, "ये प्रवृत्तियाँ इतनी समान और स्थायी हैं कि हम मानव स्वभाव के सम्बन्ध में सामान्य नियमों की खोज कर सकते हैं और उन्हें ज्ञान की एक सम्बन्ध व्यवस्था का आधार मान सकते हैं।"[3] विज्ञान से ब्राइस का यह अर्थ नहीं था जो आधुनिक काल के अमरीकी राजनीतिशास्त्रियों का है। ब्राइस ने यह भी स्पष्ट किया कि राजनीति-शास्त्र, यदि कल्पना-मूलक दर्शनशास्त्र की शाखा नहीं था तो वह निगमनात्मक विज्ञानों की श्रेणी में भी नहीं रखा जा सकता था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि असत्य तथ्यों की एक अन्धाधुन्ध खोज की भावना बाद में अमरीकी राजनीति-शास्त्र की एक विशेषता बन गयी। ऐसा ब्राइस ने ही किया था और जो उसे 'विज्ञान का पर्याय' मानता था।

नई प्रवृत्तियों का आरम्भ

1903 में अमेरिकन पोलिटिकल साइंस ऐसोसियेशन की स्थापना के साथ, और उसके द्वारा राजनीतिक संस्थाओं के सम्बन्ध में तथ्यों के संग्रह, संयोजन और वर्गीकरण को दी जाने वाली प्रेरणा के परिणामस्वरूप राजनीति-शास्त्र ने अपने विकास के चौथे चरण में प्रवेश किया। इस दृष्टिकोण को वर्णनात्मक-परिभाषात्मक (descriptive-taxonomical) उपागम भी कहा गया है और इसकी विशेषता राजनीतिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में तथ्यों के संग्रह और वर्गीकरण के प्रति अत्यधिक आग्रहशील होना है। परम्परागत राजनीति-विज्ञान से हमने अब तक जिन चार अवस्थाओं का जिक्र किया है—ऐतिहासिक (historical), विश्लेषणात्मक (analytical), आदर्शात्मक-उपदेशात्मक (normative-prescriptive) और वर्णनात्मक परिभाषात्मक (descrip-

[1] जेम्स ब्राइस, दि अमेरिकन कॉमनवेल्थ', न्यूयार्क, दि मैकमिलन कम्पनी 1926, खण्ड 1, पृ० 2।
[2] जेम्स ब्राइस, 'मॉडर्न डेमोक्रेसीज', न्यूयार्क, दि मैकमिलन कम्पनी, 1914, खण्ड 1, पृ० 21।
[3] जेम्स ब्राइस, 'अमेरिकन पोलिटिकल साइंस के 1908 के वार्षिक अधिवेशन में दिया गया अध्यक्षीय भाषण, 'अमेरिकन पोलिटिकल साइंस रिव्यू', खण्ड 3, फरवरी 1909।

tive-taxonomical)—ये सब एक दूसरे की विरोधी नहीं थीं और समय-समय पर हम एक ही युग में विभिन्न प्रवृत्तियों को काम करते हुए पाते हैं। जिस अन्तिम दृष्टिकोण की चर्चा अभी की गयी है, वास्तव में उसका आरम्भ अरस्तू के समय में ही हो चुका था, जिसने दो हजार वर्ष से भी पहले बहुत अधिक संख्या में संविधानों के सम्बन्ध में सूचनाएं संगृहित की थीं और विभिन्न प्रकार के शासनों के कामों का विस्तार से वर्णन किया था। चार्ल्स हाइनेमन के शब्दों में, "राजनीति-शास्त्र का क्षेत्र अब इतना व्यापक हो गया था कि उसमें सम्यात्मक संगठन, निर्णय निर्माण और क्रियाशीलता की प्रक्रियाओं, नियन्त्रण की राजनीति, नीतियों और कार्यों और विधिबद्ध प्रशासन के मानवी वातावरण को भी सम्मिलित किया जाने लगा।"[4]

इस विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक, व्यवहारवादी राजनीति-शास्त्र का विकास होने से पहले और 'परम्परागत' उपागमों की सीमाओं में रहते हुए, राजनीतिशास्त्रियों ने राजनीतिक संस्थाओं के द्वारा किये जाने वाले कार्यों के सम्बन्ध में इतने अधिक ज्ञान का विकास कर लिया था जितना पिछली कई शताब्दियों में भी नहीं हुआ था। उन्होंने इस समस्या की खोज करनी आरम्भ कर दी थी कि समाज में शक्ति के वास्तविक केन्द्र कहां हैं, और उस शक्ति का प्रशासनों के द्वारा और प्रशासनों पर किस प्रकार प्रयोग किया जाता है। कुछ ने उन निर्धारक सांस्कृतिक तत्त्वों की जानकारी प्राप्त की जो प्रशासनों को प्रभावित करते हैं, अन्य विद्वानों ने प्रशासनों के संगठनात्मक पक्षों का इतनी अधिक गहराई के साथ अध्ययन किया जितना उनके पूर्वजों के द्वारा पहले कभी नहीं किया गया था। उन्होंने अब नीति-निर्माण के तत्त्वों के विश्लेषण, राजनीतिक नेतृत्व की प्रकृति और उसके प्रकार्यों के अध्ययन, और विचारधारा और नेतृत्व के पारस्परिक सम्बन्धों के बदलते हुए स्वरूपों पर अधिक ध्यान देना आरम्भ कर दिया था। चुनावों की प्रक्रिया भी अब उनका ध्यान अपनी ओर अधिक मात्रा में आकर्षित करने लगी थी और इन प्रक्रियाओं को अधिक गहराई से समझने के लिए प्रेक्षण और विश्लेषण की आवश्यक प्रणालियों के परिमार्जन का कार्य भी उन्होंने आरम्भ कर दिया था।

औपचारिक और न्यायिक संरचनाओं पर पहले जो जोर दिया जा रहा था उसका स्थान अब प्रक्रियाओं को समझने की प्रवृत्ति ने ले लिया था। गैर-सरकारी संगठनों की कार्यवाहियों और सरकारी कार्यवाहियों पर उनकी प्रतिक्रिया के अध्ययन में अब बहुत अधिक दिलचस्पी ली जाने लगी थी। राजनीति-विज्ञान का क्षेत्र अब राजनीति-दर्शन की विवेचना और संस्थाओं के विवरण तक ही सीमित नहीं रह गया था। संस्थाओं और संगठनों के अध्ययन में भी आनुभविक शोध की प्रविधियों को काम में लेने की प्रवृत्ति अब बढ़ती जा रही थी। शासन के सक्रियात्मक (operational) और औपचारिक स्रोतों और अनुक्रमों के अध्ययन के साथ-साथ अब संस्थाओं के कार्यों पर भी शोध की जाने लगी थी। इन नये दृष्टिकोणों के विकास के कारण नयी आधार-सामग्री और नये सामान्यी-

[4]सी॰एस॰ हाइनेमन, 'दि स्टडी ऑफ पॉलिटिक्स : दि प्रेजेंट स्टेट ऑफ अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस,' अर्बाना, इलीनोइ विश्वविद्यालय प्रेस, 1959, अध्याय 3।

कारणों की आवश्यकता बढ़ी। शासन की प्रक्रियाओं के समझने की तीव्र इच्छा विद्वानों के मन में उत्पन्न हुई, और राजनीति को समझने के लिए जो वर्तमान संकल्पनाएं अथवा तकनीकी प्रविधियां उनके पास थीं उनके प्रति असन्तोष की भावना भी बढ़ी और इस बात पर जोर दिया जाने लगा कि प्रशासनों के कार्यों को समझने के लिए वैचारिक संरचनाओं और तकनीकी उपकरणों का विकास करना आवश्यक था।

राजनीति-शास्त्र को एक अन्तःशास्त्रीय विषय बनाने का सारा श्रेय व्यवहारवादियों को देना उचित नहीं होगा। जैसा गेटेल ने अमरीकी राजनीतिक चिन्तन के अपने इतिहास में लिखा है, "20वीं शताब्दी का आरम्भ होते-होते बौद्धिक जिज्ञासा से सम्बन्ध रखने वाले अन्य शास्त्रों का राजनीति-शास्त्र पर काफी प्रभाव पड़ने लगा था।" गेटेल का तात्पर्य जीवशास्त्र और मानवशास्त्र से था जिन्होंने "वैज्ञानिक अनुसन्धान की प्रविधियों को एक नयी प्रेरणा" दी थी और "विकासवादी दृष्टिकोण पर जोर दिया था," जिससे उसका तात्पर्य यह था कि प्राचीनता की पवित्रता से अब इनकार किया जा रहा था और परिवर्तन और सुधार के उदार सिद्धान्तों को समर्थन मिलने लगा था। 'वैज्ञानिक पद्धति' के अधिकतम प्रयोग की मांग अब बढ़ने लगी थी। गेटेल "तथ्यों के परिमाणात्मक मापन (quantitative measurement) की पद्धतियों में सुधार" की चर्चा भी करता है। "1850 से पहले जो प्रागनुभविक और निगमनात्मक पद्धतियां प्रचलित थीं, और 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जो ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धतियां प्रचलित थीं, उनकी तुलना में," गेटेल लिखता है, "आधुनिक पद्धतियों में प्रेक्षण, सर्वेक्षण और मापन के प्रति एक स्पष्ट प्रवृत्ति का विकास हो रहा था।"[3] यह तर्क दिया जा रहा था कि क्योंकि दूसरे सामाजिक विज्ञानों में भी मनुष्य ही अध्ययन का केन्द्र था, राजनीतिशास्त्री उनके द्वारा विकसित की गयी शोध की प्रविधियों से बहुत लाभ उठा सकते थे, विशेषकर मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, मानव-विज्ञान और मनोरोग-विज्ञान से। तथ्यों पर बहुत अधिक आग्रह रखने की प्रवृत्ति को जिसे ब्राइस ने शुरू किया था, ऐसे तथ्यों पर जिनका सिद्धान्त से किसी प्रकार का सम्बन्ध न हो, अब तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाने लगा था। इसके कारण तथ्यों के संग्रह के पीछे जो उद्देश्य था उसी के दृष्टि से ओझल हो जाने की सम्भावना थी। अधिक संगत आधारों, मान्यताओं और प्राक्कल्पनाओं की खोज राजनीतिक क्षेत्र में की जाने लगी थी।

सांख्यिकी और सांख्यिकी से सम्बन्ध रखने वाली प्रविधियों का प्रयोग करने की इच्छा और तत्परता भी अब राजनीतिशास्त्रियों में दिखायी देने लगी थी। राजनीतिशास्त्रियों का मूल्यों के प्रति जो आग्रह था उसे अभी चुनौती नहीं दी जा रही थी, परन्तु उनके अध्ययन का आधार धीरे-धीरे ऐसे तथ्यों को अधिक महत्त्व देने की ओर झुकता जा रहा था जिनका उद्देश्य उन तथ्यों के पीछे जो प्रवृत्तियां काम कर रही थीं उन्हें समझने पर था। तथ्यों के वस्तुनिष्ठ अध्ययन के आधार पर अब वे वैज्ञानिक सामान्यीकरण की ओर

[3]रेमण्ड जी॰ गेटेल, 'हिस्ट्री ऑफ अमेरिकन पोलिटिकल थॉट', न्यूयार्क, एप्लटन-सेन्चुरी-क्रोफ्ट्स, इन॰, 1928, पृ॰ 611।

पढ़ना चाहते थे। शोध के लिए अधिक प्रविधियों और उपकरणों की इस सारी तनाव के होते हुए भी, यह तो मानना ही पड़ेगा कि राजनीति-शास्त्र में वास्तविक प्रस्फोट व्यवहारवादियों के आगमन के साथ ही हुआ। ब्राइस और दूसरे लेखकों ने शोध के जिन उपकरणों को काम में लिया था, वे तुलनात्मक दृष्टि से अनगढ़ थे, यद्यपि उनमें से कुछ लेखकों ने विशेषकर स्वयं ब्राइस ने, उनके आधार पर जो यथार्थ निष्कर्ष निकाले थे, वे वास्तव में, वैज्ञानिक अध्ययन की पद्धति से अधिक उनकी अन्तर्दृष्टि का फल थे। व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान के युग में आधार-सामग्री (data) के संकलन (collection) प्रक्रमण (processing) और विश्लेषण (analysis) के लिए जिन परिष्कृत और कठोर प्रविधियों का उपयोग किया गया, वे अभी भी राजनीतिशास्त्रियों की पहुंच से बहुत दूर थी—ब्राइस और आमण्ड द्वारा काम में लाये जाने वाले विश्लेषण के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है। राजनीति-विज्ञान की वर्तमान स्थिति के प्रति असन्तोष इस कारण अनिवार्य हो गया था और जैसा कर्कपैट्रिक ने लिखा, "असन्तोष ने क्षोभ को जन्म दिया, और क्षोभ के परिणामस्वरूप क्षेत्र में परिवर्तन आया।"[4] इस नये दृष्टिकोण को राजनीति-शास्त्र ने व्यवहारवादी उपागम में अभिव्यक्ति मिली। अब विश्लेषण की नयी इकाइयों, नयी प्रविधियों, नयी तकनीकों, नये तथ्यों और एक व्यवस्थित सिद्धान्त के विकास की मांग तेजी के साथ की जाने लगी थी।

राजनीति-विज्ञान में होने वाले ये महान और व्यापक परिवर्तन अब किसी से छिपे नहीं रह गये थे। राजनीति-विज्ञान का स्वरूप तेजी के साथ बदलता जा रहा था। नयी अवधारणाएं, पद्धतियां और तकनीकें विकसित की जा रही थी, और राजनीतिक जीवन के अध्ययन के लिए नये लक्ष्य निर्धारित किये जा रहे थे। राजनीतिक संस्था अब विश्लेषण और शोध की मूल इकाई नहीं रह गयी थी, और अध्ययन का आधार राजनीतिक परिस्थितियों में व्यक्तियों के व्यवहार को माना जाने लगा था। राजनीतिशास्त्री अब अपने विषय को व्यवहारवादी विज्ञानों के बहुत निकट मानने में गर्व का अनुभव करने लगे थे और उनमें से कैटलीन जैसे कुछ विद्वान राजनीति-शास्त्र को व्यवहारवादी-विज्ञान मानने भी लगे थे। वे अब शोधसामग्री के प्रेक्षण, वर्गीकरण और मापन में अधिक सूक्ष्म तकनीकों के प्रयोग और विकास का प्रतिपादन करने लगे थे और अपने अधिक से अधिक प्रगतिशील पूर्ववर्ती विद्वानों की तुलना में सांख्यिकी और परिमाणात्मक निरूपणों के प्रयोग पर बहुत अधिक जोर देने लगे थे। कुछ लोग एक व्यवस्थाबद्ध आनुभविक सिद्धान्त के निर्माण को राजनीति-विज्ञान का सबसे बड़ा लक्ष्य मान लेने की चर्चा भी करने लगे थे।

यह मानना गलत होगा कि राजनीति-शास्त्र के परम्परागत और व्यवहारात्मक उपागमों के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जा सकती है, अथवा कोई ऐसी तिथि निश्चित की जा सकती है जिस दिन परम्परागत राजनीति-शास्त्र का अन्त हुआ

[4]एवरोन एम० कर्कपैट्रिक, ऑस्टिन रैनी द्वारा सम्पादित, 'एसेज ऑन दि बिहेवियरल स्टडी ऑफ पोलिटिक्स' में "दि इम्पैक्ट ऑफ दि बिहेवियरल एप्रोच ऑन ट्रेडीशनल पोलिटिकल साइंस," अर्बाना, इलीनोय विश्वविद्यालय प्रेस, 1962, पृ० 10-11।

और व्यवहारपरक राजनीति-शास्त्र ने अपने नये जीवन का आरम्भ किया। 1903 में अमेरिकन पोलिटिकल साइंस एसोसियेशन की स्थापना और तीन वर्ष के बाद उसके तत्वावधान में 'अमेरिकन पोलिटिकल साइन्स रिव्यू' का प्रकाशन निश्चित ही एक महत्त्वपूर्ण युग के प्रारम्भ का संकेत है, परन्तु यदि संस्था के प्रारम्भिक वर्षों के वार्षिक अधिवेशनों में दिये गये अध्यक्षीय भाषणों को, अथवा इस पत्रिका में प्रकाशित होने वाले लेखों को लें तो यह कहना कठिन होगा कि उनमें हमें किसी क्रान्तिकारी नये विचार की सूचना मिलती है। साथ ही कुछ अन्य अध्यक्षों के—जैसे फ्रैंक गुडनाउ, जेम्स ब्राइस, लॉरेंस लॉवेल और वुडरो विल्सन के—भाषणों में, अथवा इसी पत्रिका के कुछ अन्य लेखों में, हमें एक प्रगतिशील दृष्टिकोण की झांकी मिलती है और उनका यह दृढ़ विश्वास झांकता दिखायी देता है कि राजनीतिक अध्ययन का व्यावहारिक राजनीति से सीधा सम्बन्ध होना चाहिए। चार्ल्स बीयर्ड, ए० एल० लॉवेल और आर्थर बेंटले का राजनीति-शास्त्र के क्षितिजों को विस्तृत बनाने में व्यापक योगदान रहा है। बीयर्ड कल्पनामूलक सिद्धान्तवादियों और दिवास्वप्न-द्रष्टाओं के सम्बन्ध में बहुत अधिक आलोचनात्मक था और उसका कहना था कि सम्पूर्ण वस्तुनिष्ठता को प्रारम्भ करने के लिए सांख्यिकीय पद्धतियों का अधिक प्रयोग होना चाहिए। उसने यह भी स्पष्ट किया कि राजनीति-विज्ञान पिछले 25 वर्षों में काफी बदल गया था, इस अर्थ में कि अब "राजनीतिक व्यवहार के आधार के रूप में प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की दुहाई कम दी जा रही थी, राजनीतिक घटनाओं को आकस्मिक कारणों का परिणाम मानने में राजनीतिशास्त्री हिचकिचाने लगे थे, "संस्थाओं के दैवी और जातीय सिद्धान्तों को अस्वीकार किया जाने लगा था," और राजनीतिक घटनाओं के कारणों के सम्बन्ध में अधिक सुनिश्चित धारणाएं" बनाने का सतत प्रयत्न किया जा रहा था।[1]

यह कहना अनुचित न होगा कि ए० लॉरेंस लॉवेल की रचनाओं के साथ हम अपने को राजनीति-विज्ञान के एक नये संसार में प्रवेश करते हुए पाते हैं। राजनीति के अध्ययन में सांख्यिकी तकनीकों का व्यवस्थित प्रयोग करने से तो उसकी गिनती प्रारम्भिक लेखकों में की जा सकती है, पर उस नये उपागम की एक प्रारम्भिक झांकी भी हमें उसकी रचनाओं में मिलती है जिसे बाद में व्यवहारवाद का रूप दिया गया। सन् 1889 में प्रकाशित उसकी पुस्तक एसेज ऑन गवर्नमेंट में उसने इस बात पर जोर दिया था कि शासन की संस्थाओं की तुलना में उनके कार्यों का अध्ययन करना अधिक आवश्यक था। उसने लिखा, "कोई व्यक्ति जो दरी या कालीन बुनने के यन्त्रों का, अथवा भाप से चलाने वाले साधारण इंजन का अध्ययन करना चाहता है तब तक उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं समझ सकेगा जब तक वह उन्हें काम करते हुए न देखे। यह सिद्धान्त राजनीतिक अध्ययन के सम्बन्ध में भी उतना ही सत्य है, क्योंकि शासन के वास्तविक यन्त्र को तभी समझा जा सकता है जब उसे उसकी क्रियाशील अवस्था में देखा जाए।"[2] लॉवेल ने बेजेहट के इस

[1] चार्ल्स बीयर्ड, मर्ल कर्टी द्वारा सम्पादित 'अमेरिकन स्कॉलरशिप इन दि ट्वेन्टियथ सेन्चुरी', में 'दि सोशल साइंसेज' से उद्धृत, कैम्ब्रिज, मैसेचुसेट्स, 1953, पृ० 59।
[2] ए० एल० लॉवेल, एसेज ऑन गवर्नमेन्ट, बोस्टन, 1889, पृ० 1।

वक्तव्य का समर्थन किया कि जबकि इंगलैण्ड में सम्राट, राज्य सभा और लोक सभा जैसी संस्थाओं का प्रायः सही-सही वर्णन किया जा रहा था उनके प्रकार्यों के सम्बन्ध में काफी गलतफहमियां थीं। पब्लिक ओपीनियन एण्ड पॉपुलर गवर्नमेन्ट नाम की अपनी पुस्तक में उसने "संस्थाओं के पीछे जो प्रभावशाली शक्तियां काम कर रही थीं उन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया।[9] एक दूसरे स्थान पर उसने राजनीति का वैज्ञानिक अध्ययन न किये जाने और घटनाओं के सम्बन्ध में पर्याप्त अनुसन्धान के अभाव की शिकायत की। उसने लिखा, "मनुष्यों अथवा संस्थाओं के विरुद्ध यही आलोचना करना तो बहुत आसान है परन्तु यह समझना कि वे कहां तक उन राष्ट्रीय परिस्थितियों का परिणाम हैं जिनमें उनका विकास हुआ, अत्यन्त कठिन। वैज्ञानिक मस्तिष्क के लिए प्रत्येक घटना एक ऐसा तथ्य है जिसके पीछे कोई न कोई कारण है, और उस तथ्य को बदलने का प्रयत्न करने से पहले बुद्धिमानी की बात यह होगी कि उस कारण का पता लगाया जाय।"[10] अमरीकी राजनीति-शास्त्र परिषद के अपने अध्यक्षीय भाषण में उसने शिकायत की कि राजनीतिशास्त्री 'शासन की वास्तविक संचालन प्रक्रियाओं का यथेष्ट अध्ययन नहीं करते।" हम यह मान लेते हैं कि पुस्तकालय ही राजनीति-शास्त्र की प्रयोगशाला है, मौलिक स्रोतों का एकमात्र भण्डार है और आधारभूत सामग्री का संग्रहालय, परन्तु अधिकांश बातों के लिए पुस्तकें राजनीति की संरचना को समझाने के लिए, मौलिक स्रोतों के रूप में, उतनी ही कम उपयोगिता रखती हैं जितना भूगर्भ-शास्त्र अथवा ज्योतिष को समझने के लिए। पुस्तकालयों को राजनीतिक संस्थाओं के वास्तविक संचालन को समझाने के लिए प्रमुख प्रयोगशालाओं के रूप में नहीं माना जा सकता। यह स्थान तो सार्वजनिक जीवन की बाहरी दुनिया को ही दिया जा सकता है। घटनाएं अपने वास्तविक रूप में वहीं घटित होती हैं। उनके मूल उद्गम को हमें वहीं तलाश करना चाहिए।"[11]

नये राजनीति-विज्ञान का प्रारम्भ अमरीका में हुआ, इस विचार से हम इतने प्रभावित दिखायी देते हैं कि हम भूल जाते हैं कि बहुत से नये विचारों का आरम्भ वास्तव में इंगलैण्ड में हुआ। लॉवेल ने वाल्टर बेजेहट की *दि इंगलिश कान्स्टीट्यूशन* नाम की जिस पुस्तक का उदाहरण दिया था वह 1865-66 में लिखी गयी थी, और उसने अपनी इस पुस्तक में इंगलैण्ड की राजनीतिक संस्थाओं पर उसकी सामाजिक परिस्थितियों का क्या प्रभाव पड़ा, इसका विस्तार से वर्णन किया था, यह बताने की चेष्टा की थी कि,

[9] ए० एल० लॉवेल, 'पब्लिक ओपिनियन एण्ड पॉपुलर गवर्नमेन्ट', न्यूयार्क, 1913, पृ० 4।

[10] वही, पृ० 101।

[11] ए० एल० लॉवेल, 'दि फिजियोलोजी ऑफ पोलिटिक्स', "अमेरिकन पोलिटिकल साइंस रिव्यू" खण्ड 4, फरवरी *1910*, पृ० *1-16*। यह एक दिलचस्प बात है कि *1910* में अपने अमेरिकन पोलिटिकल साइंस एसोसियेशन के वार्षिक अधिवेशन में दिये गये अध्यक्षीय भाषण में लॉविल ने, 'चार्ल्स मेरीयम नाम के एक तरुण' की, जिसने हाल ही में प्रारम्भिक चुनावों पर एक पुस्तक प्रकाशित की थी, प्रशंसा की है। मेरीयम ने लॉविल के प्रति अपनी श्रद्धांजलि 1950 में प्रकाशित यूनेस्को के 'कोन्टेम्पोरेरी पोलिटिकल साइंस' नाम के ग्रन्थ में "पोलिटिकल साइंस इन दि युनाइटेड स्टेट्स" नाम के अपने लेख में, पृ० 240 पर, प्रस्तुत की जब उसने मनोविज्ञान में तकनीकी योग्यता लाने और नये राजनीति-विज्ञान में मनोविज्ञान के प्रयोग का श्रेय लॉविन को दिया।

राजनीतिक सस्थाओ के घाापत उद्देश्य चाहे कुछ भी क्यो न हो, उनके पीछे एक 'अदृश्य' राजनीतिक प्रक्रिया काम करती है और वास्तव मे वही प्रक्रिया राजनीतिक और सामाजिक स्थिरता के अनुरक्षण मे योग देती है। बेजेहट ने अपनी रचनाओ मे इगलैण्ड के विभिन्न सामाजिक वर्गों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी प्रस्तुत किया था। अपनी पुस्तक के दूसरे सस्करण में, जिसका प्रकाशन 1872 मे हुआ, उसने उस लेखक की कठिनाइयो का जिक्र किया जो "एक जीवित सविधान" का—एक ऐसे सविधान का जो व्यवहार मे लाया जा रहा है"—अध्ययन करना चाहता है। कठिनाई इस कारण और भी बढ जाती है कि जो लेखक एक जीवित सविधान का अध्ययन करता है वह दूसरे जीवित सविधानो से उसकी तुलना करने का प्रयत्न करता है और वे सविधान भी परिवर्तनशील हैं ।" लॉवेल ने, 1913 मे, मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार को समझने के लिए आधुनिक मनोविज्ञान की जानकारी पर बल दिया, परन्तु हम देखते हैं कि एक अग्रेज लेखक ग्राहम वैलेस ने उससे भी पहले 1908 मे प्रकाशित **ह्यू मन नेचर इन पॉलिटिक्स** नाम की अपनी पुस्तक मे इसी दृष्टिकोण को अधिक विस्तार से समझाया था। अपनी इस पुस्तक मे और अपनी अन्य रचनाओ मे ग्राहम वैलेस ने राजनीतिक व्यवहार के सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आधारो पर बहुत अधिक जोर दिया था और मेरियम और बार्न्स के शब्दो मे, *"राजनीतिक घटनाओ की व्याख्या उनके आकार और गठन के सन्दर्भ मे करने की अपेक्षा उन मनोवैज्ञानिक शक्तियो के अध्ययन के आधार पर करने पर अधिक जोर दिया था जो उन्हे प्रभावित करती है।"*[12] ग्राहम वैलेस ने राजनीति मे अविवेक की भूमिका की भी विस्तार से व्याख्या की थी और राजनीतिशास्त्रियों मे साधारण रूप से पायी जाने वाली उस प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे खेद प्रकट किया था जिसके कारण उन्होने मनुष्य की प्रवृत्ति के बहुत से स्वरूपो और राजनीतिक अभिवृत्तियो पर पड़ने वाले उनके प्रभावो की उपेक्षा की दृष्टि से देखा था।

ग्राहम वैलेस[13] ने 'एक पुराने पडे हुए, भ्रामक मनोविज्ञान' को अपने समय मे राजनीति-विज्ञान की 'आश्चर्यजनक रूप से असन्तोषजनक स्थिति' का मूल कारण बताया था, और अपना यह विचार प्रकट किया था कि, 'राजनीति के लगभग सभी विद्यार्थी सस्थाओ का विश्लेषण करते है और व्यक्ति के विश्लेषण को टाल जाते है।' वैलेस ने राजनीति-विज्ञान के प्रभाव, अर्थात राजनीतिक कारणो के परिणामो के सम्बन्ध मे भविष्यवाणी करने की उसकी क्षमता, के सम्बन्ध मे भी लिखा। उसने इसका एक कारण तो यह बताया कि आधुनिक मनोविज्ञान मानव प्रकृति के सम्बन्ध मे सही चित्रण देने की दृष्टि से, परम्परागत राजनीतिक दर्शन की तुलना मे, कही अधिक अच्छी स्थिति मे था, और दूसरा यह कि प्राकृतिक विज्ञानो के प्रभाव मे, और उनसे प्रेरणा लेकर, राजनीतिशास्त्री, केवल गुणात्मक (qualitative) पद्धतियो पर निर्भर न रहते हुए, परिमाणात्मक (quantitative) प्रविधियो का प्रयोग कर रहे थे, जिसका परिणाम यह हुआ था कि 'वे

[12] चार्ल्स इ० मेरीयम और हेनरी एल्मर बार्नेस द्वारा सम्पादित 'ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरीज ऑफ रीसेन्ट टाइम्स', न्यूयार्क, 1924, पृ० 19।
[13] ग्राहम वैलेस, ह्यू मन नेचर इन पौलिटिक्स', लन्दन, कॉस्टेम्न, 1942।

अपनी समस्याओं को अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने, और उनका अधिक से अधिक सही समाधान निकालने, की स्थिति में थे।"[14] एक दूसरा लेखक जिसने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं को इंग्लैण्ड में प्रकाशित किया, जार्ज कैटलिन है।[15] कैटलिन वह लेखक है जिसने अन्त शास्त्रीय उपागम के प्रयोग पर, जिस पर व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान का समस्त आधार रखा हुआ है, सबसे पहले जोर दिया और लास्वेल के समान, परन्तु स्वतन्त्र रूप से, इस बात पर भी जोर दिया कि राजनीति का संचालन शक्ति-सम्बन्धों के द्वारा ही किया जाता है। वास्तव में राजनीति-विज्ञान भी उन प्रवृत्तियों के प्रभाव में जो प्राकृतिक विज्ञानों के अनुसरण में, अन्य सामाजिक विज्ञानों—समाजशास्त्र, मनोरोग-विज्ञान, सामाजिक-मनोविज्ञान और मानव-विज्ञान आदि—में विकसित हो रही थीं, तेजी से आता जा रहा था। इस सारे आन्दोलन का आधार प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के बीच ज्ञान के गुणात्मक सातत्य और एक विश्वव्यापी व्यावहारिक वैज्ञानिक पद्धति के अस्तित्व की धारणा पर था।

आर्थर बेन्टले और प्रक्रिया की संकल्पना

जिन लोगों ने व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान की नींव डाली है उनमें आर्थर ए० एफ० बेन्टले और चार्ल्स मेरियम के नाम सबसे प्रमुख हैं। बेन्टले की नवीन राजनीति-विज्ञान को दो प्रमुख देन हैं—(1) राजनीतिक सूझबूझ और अन्वेषण में यथार्थता के स्तर तक पहुंचने की दृष्टि से समूह (group) की संकल्पना का विकास और (2) इस यथार्थता को ठीक से समझने के लिए एकमात्र सही उपागम के रूप में प्रक्रिया (process) की संकल्पना का प्रतिपादन। इसका अर्थ यह नहीं है कि समूह और प्रक्रिया के सम्बन्ध में राजनीति-विज्ञान में पहले कभी सोचा नहीं गया था, परन्तु बेन्टले वह व्यक्ति था जिसने उन्हें 'दि प्रोसेस ऑफ गवर्नमेंट'[16] नाम की अपनी पुस्तक में एक समायोजित रूप दिया—यह वह पुस्तक थी जिसके सम्बन्ध में बर्ट्रम ग्रॉस ने, 40 वर्ष बाद लिखी हुई अपनी समीक्षा में, "अमरीका में शासन के सम्बन्ध में लिखी हुई सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तकों में से एक" और 'किसी भी देश में शासन पर लिखी हुई सबसे अधिक

[14]वाल्टर लिपमैन स्वयं ग्राहम वैलेस का विद्यार्थी था और उसने 1913 में प्रकाशित 'प्रिफेस टु पोलिटिक्स' नाम की अपनी पुस्तक में उसकी इस बात को स्वीकार किया है कि राजनीति को समझने में मनोविज्ञान की बहुत बड़ी भूमिका है, और यह समझाने की भी चेष्टा की है कि इस दृष्टि से फ्रायड कहां तक उपयोगी हो सकता है। परन्तु, जबकि लिपमैन ने वैलेस की इस बात के लिए आलोचना की थी कि वह एक ऐसे मनोविज्ञान का सहारा ले रहा था जो अब पुराना पड़ चुका था और फ्रायड के प्रभाव को स्वीकार करने की इस दृष्टि से प्रशंसा की थी कि उसने 'मानव चरित्र को समझने और नियंत्रित करने की दिशा में शायद सबसे अधिक प्रगति की थी, स्वयं उसकी अपनी रचनाओं पर फ्रायड का तनिक भी प्रभाव नहीं दिखायी देता।

[15]जी० ई० जी० कैटलीन, 'दि साइंस एण्ड मैथड ऑफ पोलिटिक्स', लन्दन, कीगन पोल, ट्रैंच, ट्रूबर एण्ड कम्पनी लिमिटेड, 1927, 'ए स्टडी ऑफ दि प्रिंसिपल्स ऑफ पोलिटिक्स', न्यूयार्क, दि मैकमिलन कम्पनी, 1930।

[16]आर्थर बेन्टले, 'दि प्रोसेस ऑफ गवर्नमेन्ट', ईवानस्टन, इलीनोय, 1908।

महत्त्वपूर्ण पुस्तको मे से एक" बताया।[17] बेन्टले सिद्धान्तशास्त्री भी था और शोध प्रविधियो का एक अच्छा ज्ञाता भी। प्रक्रिया की उसकी सकल्पना ने व्यवहारवादी उपागम को बहुत अधिक प्रभावित किया, सिद्धान्त के क्षेत्र मे उसका एक महत्त्वपूर्ण योगदान था, और समूह की सकल्पना का उसका प्रयोग इस बात का एक अच्छा उदाहरण था कि किस प्रकार उसके सैद्धान्तिक उपागम को राजनीतिक यथार्थताओं के अध्ययन मे प्रयोग मे लाया जा सकता था।[18]

प्रक्रिया का विचार निगमनात्मक तर्कशास्त्र की औपचारिकता और "तात्त्विकता के खोखलेपन" के विरुद्ध विद्रोह का प्रतीक था।[19] सी० एस० पीयर्स लिखता है, "तथ्य कठोर वस्तुए है, जिनका आधार इस पर नही है कि मैं यह सोचता हू अथवा वह सोचता हूं, वे तो अपने स्थान पर अविचलित रूप से खडे रहते हैं, उनके बारे मे आप या मैं या कोई अन्य व्यक्ति या व्यक्तियो की कई पीढिया चाहे कोई भी राय क्यो न रखती हो।[20] आवश्यकता इस बात का पता लगाने की होती है कि सामाजिक घटनाओ के एक दूसरे

[17]'अमेरिकन पोलिटिकल साइस रिव्यू', खण्ड 44, मार्च 1950, पृ० 742-481। इस सम्बन्ध मे यह एक जानने योग्य बात है कि जब यह पुस्तक प्रकाशित हुई थी तब किसी ने उसे इस योग्य भी नहीं समझा कि उस पर एक पूरी समीक्षा लिखी जा सके। जेम्स डब्ल्यू गार्नर ने 'उसके कुछ अध्यायो को जल्दी जल्दी पढ लेने के बाद' 'अमेरिकन पोलिटिकल साइस रिव्यू' के मई 1908 के अक मे प्रकाशित अपने एक नोट मे लिखा कि वह उसमें 'राजनीति विज्ञान के साहित्य मे योगदान के रूप मे कुछ भी देख पाने में असमर्थ' रहा था। परन्तु जैसा पौल एफ० क्रैस ने 'सोशल साइस एण्ड दि आइडिया ऑफ प्रोसेस', दि एम्बीगुअस लिगेसी ऑफ आर्थर एफ० बेन्टले', अर्बाना, इलीनोय विश्वविद्यालय प्रेस, 1970 में लिखा, "प्रक्रिया की सकल्पना नयी नहीं थी। परिवर्तन और सातत्य के सह-अस्तित्व ने सृष्टि के आरम्भ से ही मानव मस्तिष्क को उद्वेलित किया है। हेराक्लीटस ने ईसा से पूर्व की पांचवीं शताब्दी में इस सम्बन्ध में इस प्रसिद्ध उक्ति का प्रयोग किया था, 'सभी वस्तुए चलायमान हैं'।" कार्ल पौपर ने 'दि ओपिन सोसाइटी, पृ० 15, पर लिखा है कि प्राचीन यूनानी दृष्टिकोण के अनुसार विश्व "एक भवन के समान नही था (जो अपने स्थान पर स्थित खडा रहता है) परन्तु सभी घटनाओ, अथवा परिवर्तनो, अथवा तथ्यो की समग्रता" था। अरस्तू ने भी सत्य (being) और सम्भवता (becoming) के बीच सातत्य की चर्चा की है।

[18]यद्यपि 'प्रक्रिया' की सकल्पना प्राचीन यूनानियों के लिए नयी नहीं थी, उन्नीसवी शताब्दी में विशेषकर कौम्टे, हीगल, मार्क्स, डार्विन, नीत्शे बर्गसो की रचनाओ मे उसे एक नयी शक्ति और दिशा मिली। बीसवीं शताब्दी मे भी यह कहना ठीक नही होगा कि बेन्टले उसका प्रथम प्रतिपादक था। मैक्स लर्नर ने एडविन सैलिगमन और एलविन जॉनसन द्वारा सम्पादित 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ दि सोशल साइसेज' न्यूयार्क, मैकमिलन, 1935, मे खण्ड 14, पृ० 148-51 पर प्रकाशित अपने लेख मे आर्थर बेन्टले के साथ ही बोर्ड, गिडिग्स, स्मौल, रौस एलवुड, डिवी और मीड के नामो का उन लेखको के रूप मे उल्लेख किया है जिन्होने इस सकल्पना के विकास मे अपना योग दिया था।

[19][illegible], बेन्टले, औपचारिकता के विरुद्ध विद्रोह मे [illegible] ने, पो० उ०, पृ० 25, पर लिखा है, "सामाजिक विज्ञान के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण औपचारिकता के विरुद्ध विद्रोह का उतना नही था जितना उसे जडमूल से मिटा देने और उसके स्थान पर नये सवर्गों और नयी प्रविधियो की स्थापना का था।"

[20]मोर्टन व्हाइट, 'सोशल थॉट इन अमेरिका . दि रिवोल्ट अगेंस्ट फोर्मेलिज्म', बीकन प्रेस, बोस्टन, 1857, से उद्धृत।

के साथ क्या, और किस प्रकार के सम्बन्ध हैं। बेन्टले परम्परागत राजनीति-विज्ञान का एक बड़ा आलोचक था और उसे 'बंजर और औपचारिकतापूर्ण, प्राणहीन, बन्धिया और स्थैतिक' मानता था, और उसका मूल कारण उसकी दृष्टि में यह था कि उसमें 'प्रक्रिया' के अध्ययन पर पर्याप्त जोर नहीं दिया गया था। बाद के वर्षों में व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान में इस संकल्पना को सम्पूर्ण रूप से आत्मसात् कर लिया गया है जैसा व्यवस्थात्मक और न्यायिक प्रक्रियाएं, निर्णय निर्माण प्रक्रिया, राजनीतिक प्रक्रिया आदि शब्दों के सतत प्रयोग में स्पष्ट होता है। बेन्टले का परिमाणीकरण (quantification) और मापन (measurement) में बड़ा विश्वास था। "जिस सामग्री को किसी न किसी रूप में मापतौल नहीं की जा सकती उसे वैज्ञानिक रूप देना सर्वथा असम्भव है। मापन के द्वारा ही अव्यवस्था पर विजय प्राप्त की जा सकती है।"[21] मापन का विचार सक्रियता के विचार के साथ बड़े निकट रूप से जुड़ा हुआ है। यदि हम अपने सामाजिक जीवन को सक्रियता, और केवल सक्रियता, के रूप में देखें तो यह सच है कि इसका अर्थ यह नहीं होगा कि हमने उसका मापन कर लिया परन्तु यह अवश्य होगा कि इसके द्वारा हमने कम से कम एक ऐसी आधार-शिला का पता लगा लिया है जिस पर परिमापन की एक सुसम्बद्ध व्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है।"[22]

चार्ल्स मेरीयम और व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान का प्रारम्भ

चार्ल्स ई० मेरीयम ने, जिसे व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान का बौद्धिक जनक माना जाता है, शिकागो विश्वविद्यालय में अपना जीवन एक ऐसे परम्परावादी राजनीतिशास्त्री के रूप में प्रारम्भ किया था जो योरोपीय और अमरीकी राजनीतिक विचारों के इतिहास पर पुराने ढंग की पुस्तकें लिखा करता था।[23] 1905 में प्रकाशित प्राइमरी इलेक्शन्स नाम की उसकी पुस्तक आनुभविक विश्लेषण की दिशा में एक प्रयत्न था, परन्तु अपने इस प्रयत्न में वह अधिक गहराई में नहीं उतरा। 1921 में 'अमेरिकन पोलिटिकल साइन्स रिव्यू' के अपने एक लेख में, मेरीयम ने इस बात पर जोर दिया कि राजनीति-शास्त्र को समाज-शास्त्र, सामाजिक-मनोविज्ञान, भूगोल, मानवजाति-विज्ञान, जीवशास्त्र और सांख्यिकी के द्वारा आविष्कृत प्रविधियों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।[24] 1924 में हम उसे एक नवोदित विज्ञान के रूप में राजनीतिक मनोविज्ञान की सम्भावनाओं के प्रति सम्पूर्ण रूप से सचेत पाते हैं। राजनीति-विज्ञान में प्रयोग में लाये जाने वाले पर्यवेक्षण और विश्लेषण की मूल प्रविधियों से बहुत अधिक असन्तुष्ट होकर मेरीयम ने शोध के

[21]आर्थर बेन्टले, 'दि प्रोसेस ऑफ गवर्नमेन्ट,' पी० उ०, पृ० 162।

[22]वही, पृ० 200।

[23]'अमेरिकन पोलिटिकल थ्योरीज', 1903, 'अमेरिकन पोलिटिकल आइडियाज : 1865-1917' 1920, 'दि अमेरिकन पार्टी सिस्टम,' 1922 बार्नस के सहयोग से सम्पादित, 'दि हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरीज : रीसेन्ट टाइम्स', 1924।

[24]सी० ई० मेरीयम, 'दि प्रेजेन्ट स्टेट ऑफ दि स्टडी ऑफ पोलिटिक्स', "अमेरिकन पोलिटिकल साइन्स रिव्यू", खण्ड 15, संख्या 1, 1921, में पृ० 173-185 पर।

यन्त्रों मे सुधार करने का प्रयत्न किया। अमेरिकन पोलिटिक्ल साइस एसोसियेशन के तत्त्वावधान मे, शोध की अधिक सन्तोषजनक तकनीकों के विकास की दृष्टि से, 'राजनीतिक शोध समिति' (Committee on Political Research) और 'राजनीति-विज्ञान राष्ट्रीय महा सभा" (National Conference on the Science of Politics) का सगठन किया गया और सामाजिक-विज्ञान शोध परिषद (Social Science Research Council) की स्थापना मे, जिसका उद्देश्य सामाजिक विज्ञानो के एकीकरण को बढावा देना और वैज्ञानिक सामाजिक शोध के लिए आर्थिक सहायता उपलब्ध कराना था, न केवल उसका प्रमुख हाथ था, परन्तु वह उसका पहला अध्यक्ष भी निर्वाचित हुआ। रॉकफेलर सस्थान के द्वारा उदार आर्थिक सहायता प्राप्त करने के परिणामस्वरूप सामाजिक-विज्ञान शोध परिषद बहुत शीघ्र सामाजिक विज्ञानो मे शोध की एक सबसे बडी सरक्षक बन गयी। मेरीयम ने राजनीति-विज्ञान के अन्त शास्त्रीय और वैज्ञानिक स्वरूप का प्रचार करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। वह चाहता था कि राजनीतिक अध्ययनो मे मानव-ज्ञान की उन सभी प्रगतियो से, जिनका विकास पिछली कुछ पीढियो मे सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञानो मे—ज्योतिषशास्त्र रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, जीवशास्त्र और बाद के दिनो मे मनोविज्ञान मे हुआ लाभ उठाया जाय। उसने अपनी रचनाओ मे इस बात पर जोर दिया कि राजनीति-विज्ञान मे वैज्ञानिक तकनीक और प्रविधियो का विकास समय की सबसे बडी आवश्यकता ै। "वह दिन आ सकता है जब हम, अन्य विज्ञानो के समान, औपचारिक से हटकर ज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास कर सके और राजनीतिक व्यवहार को खोज के मूल द्देश्यो मे से एक मानने लगें।"

लासवेल ने, जिसने स्वय उससे प्रेरणा ली, मेरीयम को राजनीति के लिए मनोविज्ञान महत्त्व को समझने वाले राजनीतिशास्त्रियो मे प्रथम माना है। स्वय मेरीयम तिहासकारो की रचनाओ को असम्बद्ध मानता था और इसके पक्ष मे उसका विशेष कं यह था कि आधुनिक इतिहासकारों ने मानव-सम्बन्धो मे मनोवैज्ञानिक, समाज-ास्त्रीय और आर्थिक तत्त्वो को अत्यधिक उपेक्षा की दृष्टि से देखा था। राजनीति-विज्ञान ा परम्परागत दृष्टिकोण राजनीति के नये विज्ञान की स्थापना के लिए एक अपर्याप्त ाधार था। ऐतिहासिक प्रगतिवाद से मनोवैज्ञानिक व्यवहारवाद की ओर बढने की ेरीयम की प्रवृत्ति उस समय के राजनीतिशास्त्रियो के चिन्तन की सामान्य प्रवृत्ति की रिचायक थी। यह एक ध्यान देने की बात है कि राजनीति-विज्ञान राष्ट्रीय महा सभा : जो तीन अधिवेशन 1923, 1924 और 1925 के ग्रीष्म मे बुलाये गये थे और जिनमे ा दूसरे अधिवेशन का, जो शिकागो मे हुआ था, नेतृत्व चार्ल्स मेरीयम और लियोनार्ड ह्वाइट ने किया था, और जिन्होने राजनीति-विज्ञान को एक नयी दिशा प्रदान की, उनमे ाग लेने वाले अधिकाश व्यक्ति मनोविज्ञानशास्त्री थे, जिनमे शिकागो के एल० एल० स्टटोन और सिरैक्यूज के फ्लॉयड ऑलपोर्ट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय

है, न कि इतिहासकार अथवा समाजशास्त्री।[25] इस महा सभा में भाग लेने वालों में इस सम्बन्ध में सामान्य रूप से सहमति थी कि उनके अध्ययन के विषय में वैज्ञानिक प्रविधियों का अधिक प्रयोग होना चाहिए। महा सभा की रिपोर्ट में उसमें भाग लेने वाले व्यक्तियों के विचारों का सार इन शब्दों में दिया गया, "इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हमारे राजनीतिक अनुभव का बहुत बड़ा भाग ऐसा है जो सही मापतोल और वैज्ञानिक निष्कर्षों तक पहुंचने की दृष्टि से समर्थ माना जा सकता है, यदि हम केवल उसके लिए शोध की सही विधि का पता लगा सकें।" जो प्रविधि थर्सटोन ने उन्हें दी थी वह आनुभविक मनोमिति (experimental psychometrics) की प्रविधि थी और राजनीतिशास्त्री तुरन्त ही उसकी ओर आकर्षित हुए। समस्या अब केवल यह रह गयी थी कि मापतोल के लिए ऐसी उपयुक्त मूल इकाई क्या हो सकती थी जो अर्थशास्त्र में द्रव्य के समकक्ष मानी जा सके और थर्सटोन ने राजनीति-विज्ञान के लिए अभिवृत्ति (attitude) को मूल इकाई मान लेने का सुझाव दिया—अभिवृत्ति की व्याख्या उसने इस प्रकार दी कि "वह किसी विशिष्ट वस्तु के प्रति मनुष्य की मनोवृत्तियों और भावनाओं, रागद्वेषों और अभिवृत्तियों, पूर्व-निश्चित कल्पनाओं विचारों, आशंकाओं, धमकियों और आस्थाओं का एक समाकलन है।" थर्सटोन का विश्वास था कि प्रश्नावलियों के रूप में व्यक्त की गयी सम्मतियों के द्वारा अभिवृत्तियों का परिमापन सम्भव था।[26] राजनीतिशास्त्री, जिनमें स्वयं मेरीयम भी सम्मिलित था, आनुभविक दिशा में इतनी दूर तक जाने के लिए तैयार नहीं थे। मेरीयम थर्सटोन से इस बात में पूरी तरह सहमत नहीं था कि राजनीति-विज्ञान के निष्कर्षों को गणित-शास्त्र की भाषा में प्रस्तुत किया जा सकता था, अथवा उसकी प्राक्कल्पनाओं के परीक्षण के लिए सदा ही सांख्यिकी प्रविधियों का उपयोग किया जा सकता था। न्यू आस्पेक्ट ऑफ पॉलिटिक्स 1925, में व्यक्त किये गये उसके विचार महा सभाओं में होने वाले विचार-विमर्श की दिशा का पूरी तौर से प्रतिनिधित्व नहीं करते। परन्तु बहुत शीघ्र वह शिकागो विश्वविद्यालय में एक ऐसा महान बौद्धिक व्यक्तित्व बन गया जिसके चारों ओर व्यवहारवादी राजनीति के तरुण शिक्षक और विद्यार्थी इकट्ठे हो जाते थे और उनकी सहायता से, उसने उस विचारधारा की प्रस्थापना की जो बाद में 'व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान की शिकागो विचारधारा के नाम से प्रसिद्ध हुई।

1925 में न्यू आस्पैक्ट्स ऑफ पॉलिटिक्स में मेरीयम ने उन विशेष उद्देश्यों, प्रविधियों प्रणालियों और आग्रहों की व्याख्या की, और उनका प्रतिपादन किया, जो बाद में

[25]यह एक कल्पना का विषय है कि यदि इन विशेष सभाओं में मनोविज्ञानशास्त्रियों के स्थान पर अर्थशास्त्रियों अथवा समाजशास्त्रियों को बुलाया गया होता तो राजनीति विज्ञान की आज क्या स्थिति होती। परन्तु यह भी सही है कि 1920 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में न तो अर्थशास्त्र और न समाजशास्त्र की ही शोधों में 'वैज्ञानिक' प्रविधियों का अधिक प्रयोग किया जाता था—यह तो बाद की बात है जब वे प्रेक्षण और शोध सामग्री के परिमापन में राजनीति-विज्ञान से बहुत आगे बढ़ गये।

[26]यह बात ध्यान देने योग्य है कि हैरल्ड लास्वेल ने, जिसने बाद में राजनीतिक प्रचार के मनोवैज्ञानिक प्रभाव सम्बन्धी अपने अध्ययन में समाचार-पत्रों के सम्पादकीय लेखों के विषय-निर्देश जैसी तकनीकों का प्रयोग किया, इन सभाओं में एक तरुण शिक्षक के रूप में भाग लिया था।

व्यवहारवाद से सम्बद्ध माने गये और तथ्यों और खोजों के परिमाणीकरण के महत्त्व पर जोर दिया। उसने एक ऐसे "ऊँचे स्तर के राजनीतिक और सामाजिक विज्ञान के उद्भव की कल्पना की जिसके माध्यम से मानव व्यवहार का अधिक सुन्दरता के साथ समायोजन किया जा सके और उसके आन्तरिक मूल्यों को अधिक सम्पूर्णता के साथ अभिव्यक्त किया जा सके।" मेरीयम की रचनाओं में भी उसी प्रकार की अस्पष्टता पायी जाती है जिसकी अभिव्यक्ति इसके बाद के वर्षों की व्यवहारपरक राजनीति-विज्ञान की अधिकांश रचनाओं में दिखायी देती है। बर्नार्ड क्रिक के शब्दों में "वह यह मानता है कि समाज शास्त्र का राजनीति-विज्ञान पर बहुत गहरा असर पड़ा, उसकी विवरणात्मक तकनीकों की प्रशंसा करता है और अमरीकी समाज शास्त्र के अग्रणी के रूप में लेस्टर फ्रैंक वार्ड की रचनाओं के महत्त्व को स्थापित करता है, परन्तु वार्ड के समान ही वह भी प्रगति में अपने विश्वास को किसी सांख्यिकी मापतोल के अपने प्रतिपादन के साथ सम्बन्धित करने में असमर्थ है।"[27] मेरीयम ने कहीं भी 'विज्ञान' शब्द का अर्थ बताने का कष्ट नहीं किया, न ही यह स्पष्ट किया कि वह 'विज्ञान' है क्या जिसने मानव के लिए इतना कुछ किया है और इससे भी अधिक कर सकता है, यदि उसका प्रयोग राजनीति और समाज के अध्ययन में किया जाय। अपनी न्यू आस्पेक्ट्स ऑफ पॉलिटिक्स में उसने एक पूरा अध्याय राजनीति और मनोविज्ञान पर लिखा है, जिसमें उसने यह बताने की चेष्टा की है कि 'राजनीतिक गतिविधियों में प्रेरणा, स्वभाव और अचेतन की भूमिका को समझने का यह अर्थ नहीं है कि उन्हें नियन्त्रित करने में बुद्धि की भूमिका को कम करके दिखाया जा रहा है," परन्तु यहीं भी यह बताने की चेष्टा नहीं करता कि यह भूमिका वास्तव में क्या है और किस प्रकार राजनीतिक गतिविधियों को प्रभावित करती है।

मेरीयम ने "सहकारी शोध" (cooperative research) और "सहयोगात्मक प्रयत्न" (collaborative effort) को बड़ा प्रोत्साहन दिया, परन्तु उसने अपना अधिक समय राजनीति-विज्ञान का निर्माण करने और यह प्रतिपादन करने में बिताया कि राजनीति-शास्त्र को "मानवप्रज्ञा की उन सभी प्रगतियों से लाभ उठाना चाहिए जिनका विकास सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञानों में पिछली कुछ पीढ़ियों में हुआ हो" और इसमें ज्योतिषशास्त्र, रसायनशास्त्र, भौतिक विज्ञान जीवशास्त्र, और मनोविज्ञान की भूमिकाओं का उल्लेख किया।[28] मेरीयम के कक्षाओं में दिये गये व्याख्यानों से, जिन्हें वह राजनीतिक वैज्ञानिक पद्धति को स्वीकार करने की आवश्यकता पर बराबर जोर देता था, विद्यार्थी कभी कभी तो ऊब जाते थे, 'परन्तु विद्यार्थियों और तरुण शिक्षकों का नया समूह जब उसे पहली बार सुनता था तो राजनीतिक अध्ययनों के महत्त्व के सम्बन्ध में वह उसके उत्साह से प्रेरणा लेता था और यह आश्वासन भी प्राप्त करता था कि राजनीति-विज्ञान विश्वविद्यालयों में अब एक गौण और पिछड़ा हुआ विषय नहीं रह गया

[27] बर्नार्ड क्रिक, 'दि अमेरिकन साइंस ऑफ पोलिटिक्स, इट्स ऑरिजिन्स एण्ड कंडीशन्स,' लन्दन, रुटलेज और कीगन पॉल, 1959, पृ० 145।

[28] अमेरिकन पोलिटिकल साइंस रिव्यू की राजनीतिक शोध सम्बन्धी रिपोर्ट, "अमेरिकन पोलिटिकल साइंस रिव्यू," खण्ड 16, मई 1922, पृ० 317।

था।"[29] जब कि मेरीयम स्वयं परम्परागत विषयों पर पुस्तकें लिखता रहा,[30] और वैज्ञानिक पद्धतियों के सम्बन्ध में उसने जो कुछ लिखा था उससे भी पीछे हटता हुआ दिखायी दे रहा था, उसके प्रेरणास्पद नेतृत्व में शिकागो विश्वविद्यालय का राजनीति-विज्ञान विभाग शैक्षणिक गतिविधियों का सबसे अधिक सक्रिय केन्द्र बन गया और उसने लिओनार्ड व्हाइट, हैरल्ड गॉसनेल, क्विन्सी राइट, हैरल्ड लासवेल, फ्रेडरिक शूमैन वी० ओ० की० जूनियर, गेब्रियल आमण्ड, एवरी लाइससेन, हर्बर्ट साइमन और डेविड ट्रूमैन जैसे प्रमुख राजनीतिशास्त्रियों का निर्माण किया, जिनमें से अधिकांश राजनीति-विज्ञान में व्यवहारवादी क्रान्ति के अग्रणी नेताओं के रूप में प्रसिद्ध हुए।

एक लम्बे समय तक, जैसा यूलाओ ने लिखा है व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान शिकागो विश्वविद्यालय की चहारदीवारी तक ही सीमित रहा।[31] शिकागो में भी इस कार्यक्रम को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जो आंशिक रूप में आर्थिक थी। सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद की स्थापना हो चुकी थी, परन्तु उसकी आर्थिक सहायता अधिकतर समाज शास्त्र, मनोविज्ञान, मानव-विज्ञान, सांख्यिकी, अर्थशास्त्र, इतिहास और अन्त:शास्त्रीय योजनाओं को ही प्राप्त होता था। राजनीति-विज्ञान की चुनाव अध्ययन जैसी योजनाएं भी, जिनका सम्बन्ध परिमाणात्मक तथ्यों के संग्रह, स्तरीकरण और प्रसार से था, आर्थिक अभाव के कारण प्रायः आगे नहीं बढ़ पाती थी।[32] इसका प्रमुख कारण नयी प्रविधियों को व्यवहार में लाने में था। चुनाव के सम्बन्ध में आंकड़े इकट्ठे कर भी लिये गये, और मतदाताओं के द्वारा व्यक्त किये गये मतों को मूल अभिवृत्तियों में परिणत कर भी लिया गया, तो भी मतदान पर जातीय, धार्मिक और

[29]वही, पृ० 151।

[30]मेरीयम द्वारा बाद के वर्षों में लिखी हुई पुस्तकों में से कुछ ये हैं, 'फोर अमेरिकन पार्टी लीडर्स,' 1926, और 'शिकागो : ए मोर इण्टीमेट स्टडी ऑफ अर्बन पोलिटिक्स', 1929। क्रिक ने इनमें पहले ग्रन्थ के सम्बन्ध में लिखा है कि वह एक ऐसे लेखक के द्वारा जो अपने समय के राजनीतिक नेताओं को व्यक्तिगत रूप से जानता था, और अमरीकी राजनीतिक चिन्तन के औपचारिक साहित्य से परिचित था, अमरीकी राजनीतिक मस्तिष्क का एक उत्कृष्ट उद्बोधन था, और दूसरी पुस्तक के सम्बन्ध में लिखा कि वह उन परिस्थितियों को स्पष्ट करने में जिन्हें व्यावहारिकतावाद (pragmatism) ही ठीक से स्पष्ट कर सकता है कि एक चिन्तन-विमुख व्यावहारिकतावाद का सर्वोत्कृष्ट परिणाम' और 'अर्द्ध-वैज्ञानिक आत्मकारिकता की उड़ान के बोझ से दबी हुई नहीं थी और जिसने स्वयं उन प्रकाशनों के सम्बन्ध में एक परिवर्जित मत प्रगट किया जिनका वह एक समय बहुत अधिक प्रशंसक था'। बर्नार्ड क्रिक, पी० उ०, पृ० 151-52।

[31]हीज यूलाओ, 'दि बिहेवियरल मूवमेंट इन पोलिटिकल साइंस ए पर्सनल डोक्यूमेंट', उसकी "साइको मैथो पोलिटिकल एनालिसिस" में, शिकागो, इलीनोय, एल्डाइन पब्लिशिंग कम्पनी, 1969।

[32]इसका एकमात्र अपवाद क्विन्सी राइट की युद्ध के कारणों के सम्बन्ध में बृहद शोध योजना थी जो बाद में 'दि स्टडी ऑफ वार' के नाम से 1942 में दो खण्डों में प्रकाशित हुई। परन्तु जैसा जैन्सन ने 1969 में लिखा, बाइने ईस्टर्न प्राइवेट लिमिटेड द्वारा प्रकाशित और गोपूर माटिन लिप्सट द्वारा सम्पादित 'पोलिटिक्स एण्ड दि सोशल साइंसेज' में अपने लेख 'हिस्ट्री एण्ड पोलिटिकल साइंस" में पृ० 8 पर लिखा है, वह 'अपनी मान्यताओं में दुर्बल थी और व्यवहारपरक शोध प्रणाली के प्रयोग के सम्बन्ध में अनिश्चित।'

अन्य सामाजिक समूहों के हावी होने के कारण, यह पता लगाना कठिन था कि वास्तविक 'जनमत' क्या है। शिकागो विचारधारा के राजनीतिशास्त्रियों ने मनोवैज्ञानिकों से जिस पद्धति को सीखा था उसके आधार पर वे मनोवैज्ञानिक परिवर्तियों (variables) का अध्ययन तो कर सकते थे, परन्तु सामाजिक व धार्मिक तथ्य अथवा किसी प्रकार का विस्तृत चुनाव-विश्लेषण उससे अछूते रह जाते थे। थर्सटोन की पद्धति प्रश्नावलियों के प्रत्युत्तरों के परिमापन-विश्लेषण में भी असमर्थ थी। इन सब कारणों से इस प्रविधि का राजनीति-विज्ञान के अध्ययन में प्रयोग में लाया जाना बहुत अधिक जटिल और कठिन हो गया था। सांख्यिकी प्रविधियों में प्रशिक्षण प्राप्त करने के राजनीति-विज्ञान के तरुण विद्यार्थियों के पास बहुत कम अवसर थे।

यूरोपीय समाजशास्त्रियों का प्रभाव

राजनीति-विज्ञान विज्ञान की दिशा में आगे बढ़ने के अपने प्रयत्नों में जब मनोवैज्ञानिक प्रविधियों में उलझा हुआ था तभी अमरीका के राजनीति-विज्ञान में व्यवहारवाद के विकास पर अनेक यूरोपीय विद्वानों का प्रभाव पड़ना आरम्भ हुआ, जिनमें बहुत से राजनीति के सम्बन्ध में समाजशास्त्रीय-दृष्टिकोण से प्रभावित थे।[33] इस सम्बन्ध में मार्क्स का नाम भी उल्लेखनीय है। उसने 1867 में समाज के सम्बन्ध में लिखा था कि "वह कोई ठोस स्फटिक नहीं है परन्तु एक ऐसा जैविक संगठन है जिसमें अपने को बदलने की क्षमता है और जो लगातार बदलता भी जा रहा है।"[34] परन्तु जहां तक अमरीका का प्रश्न है, इस क्षेत्र में अधिक प्रभाव कॉम्टे, दुर्कहाइम, वेबर और फ्रॉयड का पड़ा जिन्हें व्यवहारवाद के प्रेरणा के प्रमुख स्रोतों में गिना जा सकता है। ऑगस्त कॉम्टे (1798-1857) एक फ्रांसीसी था जिसे 'समाज शास्त्र' शब्द के निर्माण का श्रेय दिया जाता है और जिसका प्रमुख लक्ष्य समाज के एक आनुभविक विज्ञान का विकास करना, सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करना और सामाजिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में एक वैज्ञानिक सिद्धान्त का विकास करना था। उसने अपनी रचनाओं में राज्य और उससे सम्बन्धित अनेकों राजनीतिक संस्थाओं की प्रकृति पर समाज के बदलते हुए स्वरूप की प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा। एमिली दुर्कहाइम (जन्म 1858)

[33] डाल का मत है कि अमरीकी राजनीति-विज्ञान सदा ही यूरोपीय विज्ञानों से अत्यधिक प्रभावित हुआ है और इस सम्बन्ध में उसने दि टोकविल, ब्राइस, ओगन आदि के नामों का उल्लेख किया है। अमरीका में कोलम्बिया विश्वविद्यालय में 1858 में स्थापित (इतिहास और) राजनीति विज्ञान के पहले विभाग का अध्यक्ष फ्रैंसिस लीबर था, जो एक जर्मन शरणार्थी था। राजनीति विज्ञान के व्यवहारात्मक आन्दोलन पर मार्क्स, दुर्कहाइम, फ्रायड, पैरेटो, मैक्स वेबर और मिचेल्स का विशेष प्रभाव पड़ा। रोबर्ट ए० डाल, 'दि बिहेवियरल एप्रोच इन पोलिटिकल साइंस', जेम्स ए० गोल्ड और विन्सेट वी० थर्सबी द्वारा सम्पादित, 'कोन्टैम्परेरी पोलिटिकल थॉट, इशूज, इन स्कोप, वैल्यूज एण्ड डायरेक्शन,' न्यूयार्क, होल्ट, राइनहार्ट और विन्सटन, इन्क०, 1969 में, पृ० 121।

[34] कार्ल मार्क्स के 'कैपीटल, सिलेक्टिड, वर्क्स', के प्रथम खण्ड के प्रथम जर्मन संस्करण की प्रस्तावना के पृ० 452 से मोर्टन आर० डेवोज और थोहन ए० निरो द्वारा मोडेल्स ऑफ पोलिटिकल सिस्टम्स', दिल्ली, विकास पब्लिकेशन, 1971, में पृ० 9 पर उद्धृत।

संरचनात्मक-प्रकार्यवाद (structural-functionalism) के सम्पादकों में से था और सिगमण्ड फ्रॉयड (जन्म 1856) ने मनोविश्लेषण की नींव डाली। इस सम्बन्ध में हर्बर्ट स्पेन्सर का नाम भी लिया जा सकता है। उसने यह सुझाव दिया कि कुछ ऐसी प्रक्रियाएं थीं जो जीवित प्राणियों और सामाजिक संरचनाओं के विकास और अनुरक्षण में सामान्य थीं। इस दिशा में सबसे अधिक प्रभाव जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर (1864 से 1920) का पड़ा। मैक्स वेबर ने सामाजिक विश्लेषण को नैतिक दृष्टि से तटस्थ 'अथवा' मूल्य-मुक्त' रखने पर जोर दिया। टैल्कॉट पार्सन्स पर भी, जो जन्म से जर्मन था और बाद में एक अमरीकी समाजशास्त्री के रूप में प्रसिद्ध हुआ, मैक्स वेबर का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और उसने, बहुत बड़ी संख्या में, अमरीकी राजनीतिशास्त्रियों पर गहरा प्रभाव डाला। टैल्कॉट पार्सन्स की 1937 में न्यूयॉर्क में प्रकाशित पुस्तक दि स्ट्रक्चर ऑफ सोशल ऐक्शन ने राजनीतिशास्त्रियों को न केवल 'क्रिया सिद्धान्त' (action theory) से परन्तु दुर्खाइम, पैरेटो और वेबर के नामों से परिचित कराया जो सब बाद में प्रमुख राजनीतिक समाजशास्त्रियों के रूप में प्रसिद्ध हुए।

दूसरा विश्वयुद्ध और उसकी प्रतिक्रिया

द्वितीय विश्वयुद्ध ने अमरीका के अनेक राजनीतिशास्त्रियों को उनके विश्वविद्यालय के सुरक्षित कुंजों से बाहर निकाला और वाशिंगटन व अन्य स्थानों की दिन प्रतिदिन की राजनीतिक और प्रशासनिक वास्तविकताओं से परिचित कराया। युद्ध के वर्ष इस दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुए कि उन्होंने देश के विभिन्न राजनीतिशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों और सामाजिक मनोविज्ञानवेत्ताओं को एक दूसरे के समीप ला दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध की परिस्थितियों ने राजनीतिशास्त्रियों को अन्य सामाजिक वैज्ञानिकों के निकट सम्पर्क में ला कर उनके मन में यह विचार गहराई के साथ जमा दिया कि जब कि अर्थशास्त्री व्यापक रूप में, और समाजशास्त्री और मानव-विज्ञानवेत्ता काफी दूर तक, प्रमुख सरकारी विभागों के द्वारा सलाह-मशविरा देने के लिए निमन्त्रित किये जाते थे और निर्णय-निर्माण की प्रक्रियाओं में उनकी सक्रिय भूमिका भी रहती थी, राजनीतिज्ञों और प्रशासकों के द्वारा राजनीतिशास्त्रियों से विशेष सहायता की अपेक्षा नहीं की जाती थी। जान पड़ता है कि पिछड़ जाने की यह भावना अमरीका के राजनीतिशास्त्रियों के मन में बहुत गहराई से प्रवेश कर गयी थी और युद्ध के वर्षों में उन्होंने अपने इस निश्चय को दृढ़ बना लिया था कि अपने शैक्षणिक जीवन में फिर से लौटने पर उनका यह प्रमुख दायित्व होगा कि वे राजनीति-विज्ञान को एक नया रूप दें और उसे दूसरे सामाजिक विज्ञानों में होने वाले विकास के निकटतर सम्पर्क में ले आयें। युद्ध के बाद के वर्षों में व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान के तेजी से बढ़ने का मुख्य कारण उनकी कुण्ठा की वह भावना थी जो उनमें अपने विषय की वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में बढ़ती जा रही थी और विकास के नये मार्गों की खोज निकालने का उनका दृढ़ निश्चय था।

दूसरे विश्वयुद्ध के अन्त होने तक राजनीतिशास्त्रियों में अपने विषय की स्थिति के

सम्बन्ध मे एक व्यापक असन्तोष फैल गया था। इस कठोर तथ्य के अतिरिक्त सरकार और समाज मे उनकी प्रतिभा और कौशल की अधिक माग नही थी, इस अनुभूति ने कि शायद उसका यह कारण था कि उनके विषय की 'स्वीकृत बुद्धिमत्ता' और प्रशासन की प्रक्रियाओ के बीच बहुत बडा अन्तर था, वे अब यह अनुभव करने लगे थे कि पिछली अनेक शताब्दियो मे उन्होने सिद्धान्त पर चाहे कितना ही जोर क्यो न दिया हो वे शोध मे ऐसे उपकरणो का विकास नही कर पाये थे कि जिनकी सहायता से वे फासीवाद अथवा साम्यवाद के उत्थान और लम्बे समय तक इन व्यवस्थाओ के चलते रहने के कारणो का ठीक से विश्लेषण कर पाते। उन्होने अब यह अनुभव करना भी आरम्भ कर दिया था कि इसका प्रमुख कारण उनका अपने विषय के विवरणात्मक पक्ष पर बहुत अधिक जोर देना था। राजनीतिशास्त्रियो मे अब यह इच्छा भी उत्कट होती जा रही थी कि वे अन्य सामाजिक विज्ञानो मे होने वाले विकास से लाभ उठा सकें। बडी तीव्रता के साथ यह अनुभव किया जाने लगा था कि राजनीति-विज्ञान, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और सामाजिक विज्ञानो की तुलना मे पिछड गया था। व्यक्ति की अभिवृत्तियों, उद्देश्यो और परिप्रेक्ष्यों के अध्ययन पर पिछले वर्षों मे जो जोर दिया जा रहा था उसके परिणाम-स्वरूप, शोध-सामग्री के स्रोतो के रूप मे साक्षात्कार की पद्धति का प्रयोग काफी बढ गया था। साक्षात्कार की तकनीको मे अब काफी सुधार भी किया जा चुका था। विषय-विश्लेषण की तकनीकों पर भी कुछ ध्यान दिया जा रहा था और उसमे सांख्यिकी का अधिक प्रयोग किया जाने लगा था। शोध-सामग्री के स्रोत और सत्यापन की पद्धति के रूप मे सर्वेक्षण-तकनीको और साक्षात्कारो के बढते हुए प्रयोग के कारण राजनीतिशास्त्री अब अभिवृत्तियों की मापतोल करने, अनुमापन के निर्माण और इस प्रकार के अन्य परीक्षणो की समस्याओ का सामना करने लगे थे। इन पद्धतियों और तकनीकों के प्रयोग के माध्यम से राजनीतिशास्त्रियो ने अब ऐसी समस्याओं को हाथ मे लेना प्रारम्भ कर दिया था जिन पर अब तक समाजशास्त्रियो और मनोवैज्ञानिको का एकाधिकार था। अनेक राजनीतिशास्त्रियो ने चुनाव के अध्ययन मे रुचि लेना भी आरम्भ कर दिया था।

युद्ध के बाद के वर्ष

व्यवहारवादी क्रान्ति, जिसके आगमन की घोषणा 1925 मे शिकागो मे बडी धूम-धाम के साथ की गयी थी, काफी वर्षों के लिए धीमी पड गयी थी। उसका पुनरोत्कर्ष दूसरे विश्वयुद्ध के बाद 1940 के दशक के बाद के वर्षों मे हुआ और आश्चर्य की बात यह थी कि यह शिकागो मे नहीं हुआ जहा नेतृत्व अब हैन्स मॉर्गेन्थो और लिओ स्ट्रॉस जैसे व्यवहारवाद के कट्टर विरोधियो के हाथ मे चला गया था। अब तक व्यवहारवाद के उस पुराने स्वरूप का जिसकी प्रेरणा थर्सटोन से मिली थी परित्याग कर दिया गया था, और इसका कारण यह था कि वैज्ञानिक पद्धति के सम्बन्ध मे उसकी धारणा अत्यन्त सकुचित थी। शक्ति, भूमिका, समाजीकरण, मूल्यो का आवटन, सचारण आदि की उपेक्षा करते हुए अभिवृत्ति को मूल इकाई के रूप मे चुन लेना अपने दृष्टिकोण को बहुत सीमित बना

देता था। अब राजनीति-विज्ञान समाजशास्त्रियों—एलेक्सिस दि टॉकविल, मोइसी ऑस्ट्रोगोर्स्की, गीटानो मॉस्का, मैक्स वेबर, टैल्कॉट पार्सन्स, रॉबर्ट मर्टन, बैरिंग्टन मूर के और व्यवस्था-उपागम के प्रभाव में आता जा रहा था। 1945 और 1955 के बीच, जैसा कर्कपैट्रिक ने लिखा है, व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान का अर्थ "एक दृष्टिकोण और एक चुनौती, एक अभिवृत्ति और एक सुधार आन्दोलन" के रूप में लिया जा रहा था। जबकि 'व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान' शब्द का प्रयोग अधिक लोकप्रिय होता जा रहा था, कठोरता के साथ उसकी परिभाषा नहीं की गयी थी। उसका प्रयोग "इतना व्यापक था कि उसमें बहुत से व्यक्तियों, मनोवृत्तियों और कार्य-विधियों को सम्मिलित किया जा सकता था, इतना अस्पष्ट था कि उसके समर्थक व प्रतिनिधि भी उसकी परिभाषा के सम्बन्ध में सहमत नहीं थे, साथ ही वह इतना विशिष्ट भी था कि परम्परागत राजनीति-विज्ञान के कुछ समर्थकों ने उसका विरोध करना आरम्भ कर दिया था।"[35] इस युग में राजनीति-विज्ञान के व्यवहारवादी आन्दोलन के साथ अनेक भिन्न प्रकार की मान्यताएं, पद्धतियां, तकनीकें और तथ्य जुड़ गये थे, और इस शब्द का प्रयोग "एक ऐसी छतरी के रूप में किया जा रहा था जो इतनी बड़ी थी कि विभिन्न मत रखने वाले बहुत से लोग परम्परागत राजनीति-विज्ञान से असन्तोष के कारण उसके संरक्षण में इकट्ठे हो गये थे और जिनके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता था कि इस नवीन आन्दोलन के प्रति विरोध के तूफान के समाप्त होते ही वे विभिन्न दिशाओं में चल पड़ेंगे।"[36]

व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान का विकास 1940 के दशक के बाद और 1950 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों की सभी नयी हलचलों के बावजूद सम्भव नहीं हो पाता यदि उसे उन अनेक उदार संस्थाओं का समर्थन नहीं मिल जाता जो दूसरे विश्वयुद्ध के बाद व्यवहारवादी शोध को प्रोत्साहन और संरक्षण देने के एकमात्र उद्देश्य से अस्तित्व में आयी थीं। कार्नेगी, रॉकफैलर और विशेषकर, फोर्ड जैसे उदार संस्थानों का प्रभाव इस दिशा में बहुत अधिक सहायक सिद्ध हुआ। इन संस्थानों के समर्थन के बिना व्यवहारवादी शोध का, जो अपने आप में बहुत अधिक खर्चीली है, ठीक ढंग से विकास हो ही नहीं सकता था।[37] ये सभी संस्थान आनुभविक शोध से सम्बन्धित अन्तःशास्त्रीय और व्यवहारवादी अध्ययनों का समर्थन करने के लिए उद्यत थे। लैज़ार्सफेल्ड, बैरेल्सन और

[35] एवलोन एम० कर्कपैट्रिक, पी० उ०, पृ० 11।

[36] वही, पृ० 11-12।

[37] 1959-64 के बीच केवल हार्वर्ड विश्वविद्यालय ने राजनीति विज्ञान और उससे सम्बन्धित क्षेत्रों में शोध के लिए कार्नेगी से 75,000 डॉलर, रॉकफैलर से 195,000 डॉलर और फोर्ड से 20,200 000 डॉलर—इस प्रकार कुल मिलाकर 20,470 000 डॉलर—प्राप्त किए थे और कोलम्बिया ने, जो हार्वर्ड से थोड़ा ही पीछे था, कुल मिलाकर 16,832,679 डॉलर। इस दृष्टि से शिकागो विश्वविद्यालय, जहां से व्यवहारात्मक राजनीति विज्ञान का आरम्भ हुआ था, पिछड़ गया था, और वह फोर्ड से 5,400 000 डॉलर का एकमात्र अनुदान प्राप्त कर पाया था। एल्बर्ट सोमिट और जोसेफ टैनेनहौस, दि डेवेलपमेंट ऑफ़ अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस, फ्रोम बर्गेस टू बिहेवियरलिज्म,' बोस्टन, एलीन एण्ड बेकन, इन्क०, 1967, पृ० 168।

गॉस्नेट के द्वारा 1940 के राष्ट्रपति के चुनाव के अध्ययन की प्रारम्भिक योजनाओं को आर्थिक समर्थन रॉकफेलर सस्थान की ओर से मिला था। रॉकफेलर सस्थान की सहायता से ही मिशीगन विश्वविद्यालय के सर्वेक्षण अनुसन्धान केन्द्र के द्वारा हाथ मे ली गयी खर्चीली चुनाव अध्ययन योजनाओ को पूरा किया जा सका। फोर्ड सस्थान ने तो अपना व्यावहारिक विज्ञान का आयोजन बहुत ही बड़े व्यापक स्तर पर आरम्भ किया।[33] इस कार्यक्रम के परिणामस्वरूप पैलो एल्टो मे व्यावहारिक विज्ञानो के उच्च अध्ययन का केन्द्र स्थापित किया जा सका। उच्च स्तरीय गणितीय-साख्यिकी और इलैक्ट्रानिक कम्प्यूटरो के अधिक सख्या मे प्राप्त होने से नये क्षेत्रो मे शोध करने मे बहुत अधिक सहायता मिली। सरकारी सस्थाओ और उदार सस्थाओ की सहायता से राजनीति-शास्त्रियो ने जिन बहुत सी शोध योजनाओ को अपने हाथ मे लिया उसका परिणाम यह निकला कि व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान को अब एक आदरास्पद गतिविधि के रूप मे स्वीकृत किया जा सका। *मिशीगन जैसे विश्वविद्यालयो ने तो राजनीतिक व्यवहार मे* अलग से स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम ही प्रारम्भ कर दिये। परीक्षण यन्त्र, सर्वेक्षण पद्धतिया, साख्यिकी विश्लेषण, विषय विश्लेषण, वैज्ञानिक विषयो की जैसी तकनीकी नवीनताएं, प्रयोगशालाओ मे छोटे समूहो पर किये गये प्रयोग, गणितीय प्रारूप और परीक्षण जैसे तकनीकी आविष्कार अब राजनीति-विज्ञान मे व्यापक रूप से प्रयोग मे लाये जाने लगे। 1948 मे सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद मे पेन्डल्टन हैरिंग की अध्यक्ष के रूप मे नियुक्ति राजनीति-विज्ञान मे व्यवहारवादी दृष्टिकोण के विकास की दृष्टि से और भी अधिक सहायक सिद्ध हुई। हैरिंग काफी समय से राजनीति और प्रशासन पर व्यक्तियों और समूहो के प्रभाव के अध्ययन मे लगे हुए थे और इस बात का प्रतिपादन कर रहे थे कि राजनीति विज्ञान मे शोध को अब अधिक समय तक पुस्तकालयो की चहारदीवारी मे सीमित नही किया जा सकेगा।

अमरीका मे एक ऐसी गैर-सरकारी सस्था के रूप मे, जिसकी सदस्यता और निर्देशन दोनो ही समाजशास्त्रियों के हाथ मे थे, सामाजिक विज्ञान शोध परिषद की स्थापना 1920 के दशक के प्रारम्भ मे हो हो चुकी थी। उसने शोध के लिए अधिक अच्छे विषयो के चयन और उनके अध्ययन के लिए वैज्ञानिक पद्धतियो के विकास मे सहायता देने का पूरा प्रयत्न किया। 1944-45 की अपनी वार्षिक रिपोर्ट मे सामाजिक विज्ञान शोध परिषद की राजनीतिक व्यवहार समिति ने यह सकेत दिया कि परिषद ने "राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन के सम्बन्ध मे एक नये दृष्टिकोण के विकास की सम्भावनाओं की खोज करने का निश्चय किया था," और वह चाहती थी कि "विभिन्न संस्थात्मक

[33] 1945 और 1965 के बीच के वर्षों में, अमरीकी उदार सस्थाओं द्वारा राजनीति-विज्ञान सम्बन्धी शोध योजनाओ के लिए दी जाने वाली राशि में से 90 प्रतिशत केवल फोर्ड सस्थान ने ही दी थी। 'इन परिस्थितियो में,' जैसा सोमिट और टैननहोस ने लिखा है, 'राजनीतिशास्त्रियों से यह अपेक्षा करना कि वे उस प्रकार की शोध में गहरी रुचि प्रदर्शित करने के आकर्षण से अपने को मुक्त रख सकेंगे जिसका समर्थन फोर्ड सस्थान के अधिकारियो और सलाहकारो के द्वारा किया जा रहा था, उन्हें मानव से कुछ अधिक मानने के समान होगा। वही, पृ० 167।

पृष्ठभूमियों में व्यवहार की समानताओं के सम्बन्ध में प्राक्कल्पनाओं का निरूपण और परीक्षण करने के उद्देश्य से…"विशिष्ट राजनीतिक स्थिति के व्यवहार" पर ध्यान केन्द्रित किया जाय। राजनीतिक व्यवहार समिति में ई० पेन्डलटन हैरिंग अध्यक्ष थे और हर्बर्ट एमेरिक, चार्ल्स एम० हाइनेमन और वी० ओ० जूनियर सदस्य थे, जो सभी प्रमुख व्यवहारवादी थे और राजनीति-विज्ञान की परम्परावादी पद्धतियों और दृष्टिकोणों से अत्यधिक असन्तुष्ट थे। उन्हें इस बात का विश्वास था कि राजनीतिशास्त्री यदि केवल दूसरे सामाजिक विज्ञानों में काम में लाये जाने वाले सर्वेक्षण-पद्धतियों और सांख्यिकी-विश्लेषण जैसे उपकरणों को प्रयोग में लाना सीख लें तो उनकी सहायता से वे राजनीतिक व्यवहार का कहीं अच्छा अध्ययन कर सकेंगे।

1950 के दशक के उत्तरार्द्ध तक व्यवहारवाद की जड़ें अमरीका में मजबूती के साथ जम चुकी थीं। 1920 और 1930 के दशकों में शिकागो विश्वविद्यालय के राजनीति-विज्ञान विभाग ने चार्ल्स मेरियम, क्विंसी राइट, थियोडोर स्मिथ, हेरल्ड गॉस्नेल और हेरल्ड लासवेल के नेतृत्व में जो कुछ किया था उस काम को आने वाले वर्षों में ई० पेन्डलटन हैरिंग की सम्मानास्पद अध्यक्षता में सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद की राजनीतिक व्यवहार और तुलनात्मक राजनीति समिति ने, सामाजिक मनोविज्ञान के विद्वान ऐंगस कैम्पबेल के नेतृत्व में मिशीगन के सर्वेक्षण अनुसन्धान केन्द्र ने, और वी० ओ० की० जूनियर, डेविड ट्रूमैन और सेमुअल ऐल्डर्सवेल्ड की सहायता से स्टैनफर्ड विश्वविद्यालय के व्यवहारवादी विज्ञानों के उच्चस्तरीय अध्ययन केन्द्र ने आगे बढ़ाया। 1962 में, वारन मिलर के नेतृत्व में सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद की एक शाखा के रूप में महत्त्वपूर्ण "इन्टर-यूनिवर्सिटी कॉन्सॉर्टियम फॉर पोलिटिकल रिसर्च" की स्थापना की गयी, जिसका उद्देश्य सर्वेक्षण अनुसन्धान केन्द्र की चुनाव सम्बन्धी सामग्री को व्यापक रूप में उपलब्ध कराना था। 19 विश्वविद्यालयों ने इसी वर्ष उसकी सदस्यता प्राप्त कर ली और अगले पांच वर्षों में 100 से अधिक कॉलेज और विश्वविद्यालय उसके सदस्य बन चुके थे। पिछले 20 वर्षों में राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र में बहुत-सी शोध योजनाओं की सामग्री वहां संगृहीत की जा चुकी है, और यह कॉन्सॉर्टियम अब राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन के लिए एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण संस्था बन गयी है। प्रत्येक वर्ष इसके द्वारा कई सौ स्नातकोत्तर विद्यार्थियों और तरुण विद्वानों के प्रशिक्षण के लिए ग्रीष्म कार्यक्रमों की व्यवस्था की जाती है और समय-समय पर इसके द्वारा विशेष विषयों पर सभाओं का आयोजन किया जाता है जिसमें कई देशों के विद्वान और शोध संगठन भाग लेते हैं और जिससे परिणामस्वरूप विश्व के कई भागों में आनुभविक और वैज्ञानिक शोध को प्रोत्साहन मिलता है।[13]

[13]यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि 1950 के दशक के मध्य तक, अमरीका में कोई भी प्रकाशक व्यवहारवादी और मात्रात्मक रचनाएं प्रकाशित करने के लिए तैयार नहीं था। ग्लेंको के फ्री प्रेस ने सबसे पहले 1956 में एल्डर्सवेल्ड, जैनोविट्ज और यूलाओ द्वारा सम्पादित 'रीडर इन पोलिटिकल बिहेवियर' प्रकाशित की। इसके बाद 1961 और 1967 के बीच के वर्षों में फ्री प्रेस ने ही, 'दि इन्टरनेशनल ईयर बुक ऑफ पॉलिटिकल बिहेवियर रिसर्च' के सात खण्ड प्रकाशित किये। 1968 तक,

राजनीति-विज्ञान की प्रकृति में इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के लिए उत्तरदायी कारणों में दूसरे महायुद्ध के वर्षों में होने वाली बहुत-सी अन्य घटनाओं को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। कुछ तो साम्यवादी रूस की राजनीति और विचारधारा के प्रभाव में, और कुछ आन्तरिक राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों के कारण, पूर्वी यूरोप के राज्य जमींदारी-कुलीनतन्त्र से हट कर समाजवादी-लोकतन्त्र में परिवर्तित होते जा रहे थे और पश्चिमी यूरोप के देश उदारवादी लोकतन्त्र से हट कर कल्याणकारी राज्य के रूप में और इसके साथ-साथ सभी देशों में अधिक जटिल राजनीतिक संस्थाएं बनती जा रही थीं। तकनीकी परिवर्तन की गति बहुत तेज हो गयी थी और उसके कारण पानी और हवा के प्रदूषण, आर्थिक मन्दी और दंगे-फसाद जैसी समस्याएं उठ खड़ी हुई थीं जिनका मुकाबला केवल सरकारें ही कर सकती थीं। यूरोपीय साम्राज्यों के विघटन के साथ-साथ एशिया और अफ्रीका में नये राज्यों का उत्थान हो रहा था, और अमरीका के द्वारा रूस की नयी नीतियों का मुकाबला करने के लिए, जिनके पीछे उसे लाल साम्राज्यवाद का उत्थान दिखायी दे रहा था, एक विश्वव्यापी उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति भी अत्यधिक जटिल होती जा रही थी। यह स्पष्ट था कि इस नये विश्व में, जिसमें तेजी से होने वाली तकनीकी प्रवृत्तियों और तेजी से बदलने वाली अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं के कारण राज्यों की प्रकृति और उनके लक्ष्यों में परिवर्तन आ रहा था, यह आवश्यक हो गया था कि राजनीतिशास्त्री नये उपागमों, शोध की नयी तकनीकों और नयी संकल्पनाओं की तलाश करें, जिनके लिए उनका अपना क्षेत्र पर्याप्त नहीं था और जो वे दूसरे सामाजिक विज्ञानों से ही ले सकते थे। यदि संस्थाएं राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर तेजी से बदल रही थीं तो यह आवश्यक हो गया था कि उन राजनीतिक प्रक्रियाओं के प्रकाश में जो इस परिवर्तन को प्रेरित कर रही थीं उनकी गत्यात्मकता का अध्ययन किया जाय, और यह स्पष्ट होता जा रहा था कि राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन व्यक्तिगत व्यवहार के अध्ययन के सन्दर्भ में ही किया जा सकता था, क्योंकि उन्हें तब तक सही रूप में समझा नहीं जा सकता था जब तक कि उनके मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य पक्षों को ठीक से समझ न लिया जाता। एक बार जब दूसरे सामाजिक विज्ञानों से आने वाले प्रभावों के लिए दरवाजे पूरी तरह खोल दिये गये तो अनिवार्यतः राजनीति-विज्ञान का स्वरूप इतना अधिक बदल गया कि उसे पहचानना भी कठिन हो गया।

अन्तःशास्त्रीय उपागमों की दिशा में बढ़ते हुए कदम

एक प्रकार से देखा जाय तो राजनीति-विज्ञान का अन्य सामाजिक विज्ञानों से प्रारम्भ से ही निकट का सम्बन्ध रहा है। प्लेटो को उन समस्याओं के समझने में बहुत अधिक

सुनाओ लिखता है, 'इस ग्रन्थमाला के प्रकाशन को जारी रखना आवश्यक नहीं रह गया था। पत्रिकाओं में अब व्यवहारवादी शोध सम्बन्धी रचनाएं प्रकाशित होने लगी थीं, और प्रकाशक व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान सम्बन्धी रचनाएं छापने के लिए एक-दूसरे के साथ प्रतिस्पर्द्धा में जुट पड़े थे।

दिलचस्पी थी जिनका सम्बन्ध कुटुम्ब की सरंचना और शिक्षा की प्रकृति से था, क्योंकि उसकी दृष्टि में उनका महत्व उस आदर्श राज्य के निर्माण में बहुत अधिक था जिसकी वह कल्पना कर रहा था। अरस्तू को समाज में धन और प्रतिष्ठा के बटवारे की भी उतनी ही चिन्ता थी जितनी इस बात की कि राज्य का संविधान कैसा हो। मार्क्स ने राजनीतिक व्यवहार का प्रमुख स्रोत तकनीकी विकास और वर्ग-सरचना के स्तर में खोजने का प्रयत्न किया था। ये ऐसे प्रश्न थे जिनका समाजशास्त्र से सीधा सम्बन्ध था। वास्तव में, 19वी शताब्दी के अन्त तक, जब तक ज्ञान को अलग-अलग शास्त्रों में विभाजित नहीं कर दिया गया था, उसमें काफी समायोजन था, क्योंकि अर्थशास्त्री, मनोवैज्ञानिक, मानवशास्त्री और समाजशास्त्री भी, राजनीतिशास्त्रियों के समान ही, मानवी समस्याओं के अध्ययन में रुचि ले रहे थे, यद्यपि उनके दृष्टिकोण एक दूसरे से भिन्न थे। राजनीति-विज्ञान का प्रारम्भ काफी देर से हुआ। अन्य सामाजिक विज्ञानों के दर्शन से अलग हो जाने और स्वतन्त्र शास्त्रों का स्वरूप प्राप्त कर लेने के बाद भी राजनीति-विज्ञान बहुत अधिक समय तक उसके साथ जुड़ा रहा और इस कारण उसका क्षेत्र भी, अन्य शाखाओं की तुलना में, व्यापक और अस्पष्ट बना रहा, यद्यपि राजनीतिक गतिविधियों को समझने और उनका विश्लेषण करने के लिए उसे समय-समय पर अन्य शास्त्रों में विकसित किये गये ज्ञान और अन्तर्दृष्टियों का सहारा लेने के लिए विवश होना पड़ा। इस कारण यह एक आश्चर्यजनक बात नहीं थी कि 1890 में जब कोलम्बिया विश्वविद्यालय में राजनीति-विज्ञान का संकाय खोला गया तो उसमें अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास, नृशास्त्र, सांख्यिकी, सार्वजनिक विधि और प्रशासन के विभाग भी सम्मिलित थे, जैसा गेब्रीयल आमण्ड ने लिखा है, "शास्त्रीय राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक समाजशास्त्र और मनोविज्ञान और उपदेशात्मक राजनीति का सिद्धान्त अधिक है, राजनीतिक प्रक्रिया का सिद्धान्त कम"। प्लेटो, अरस्तू और बाद के रोमन विचारकों के द्वारा राजनीतिक व्यवस्थाओं का कई सवर्गों में विभाजन किया जाना यह तो स्पष्ट करता है कि राजनीतिक व्यवस्थाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के सामाजिक स्तरण और प्रतिनिधित्व का उन व्यवस्थाओं के स्वरूप और उनकी कार्य-कुशलता पर क्या प्रभाव पड़ता है, परन्तु राजनीतिक निर्णय-निर्माण प्रक्रियाओं के विभिन्न सवर्गों के सम्बन्ध में यह कुछ नहीं कहता। राजनीतिक वर्गीकरण का आधार समाजशास्त्रीय अधिक है, राजनीतिक उतना नहीं है"। राजनीतिक विकास का ग्रीक और रोमन सिद्धान्त एक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है और वह संविधान के शुद्ध स्वरूपों (राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र) में अन्तर्निहित अस्थिरता का कारण सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं में से उद्भूत भ्रष्टाचार को मानता है।"[10]

एक ओर राजनीति-विज्ञान का अपना क्षेत्र अस्पष्ट और अनिर्दिष्ट था, दूसरी ओर संकाय की दूसरी शाखाओं के उससे अलग हो जाने और स्वतन्त्र विषयों को केन्द्र बनाकर

[10]गेब्रीयल आमण्ड, 'पोलिटिकल थ्योरी एण्ड पोलिटिकल साइंस', इथील द सोला पूल द्वारा सम्पादित 'कन्टेम्परेरी पोलिटिकल साइंस : दुवर्ड एम्पीरीकल थ्योरी,' न्यूयार्क, मैग्रा हिल, 1967, में, पृ० 5।

अपना-अपना सगठन कर लेने के बाद भी उनके विद्वान राजनीति मे रुचि लेते रहे। यह बात समाजशास्त्रियो के सम्बन्ध मे विशेष रूप से सच थी। मैक्स वेबर, रॉबर्ट मिचेल्स, विल्फ्रेडो पैरेटो और एमिली दुर्कहाइम समाजशास्त्रीय अध्ययन के एक अग के रूप मे राजनीतिक विश्लेषण मे रुचि लेते रहे। आर्थर बेन्टले, जो राजनीति-विज्ञान को एक नयी दिशा देने मे अपने समय मे एक प्रमुख बौद्धिक व्यक्ति रहा था, शिकागो के समाज शास्त्र विभाग का एक सदस्य था और फ्रैंकलिन गिडिंग्स ने, जिसे अमरीकी समाज शास्त्र के प्रणेताओ मे से माना जाता है, अपने विद्यार्थियो को चुनाव व्यवहार के आनुभविक अध्ययनो में प्रोत्साहित किया। परन्तु 1920 के दशक मे, और सामाजिक-विज्ञान अनुसन्धान परिषद बन जाने के बाद ही, राजनीति-विज्ञान अन्त शास्त्रीय सामाजिक विज्ञानो के काम मे भाग लेने मे समर्थ हो सका। 1920 के दशक के बाद के और 1930 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों मे प्रमुखत यूरोप से आने वाले प्रवासी विद्वानो के प्रभाव मे, जिन्होने राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र मे आदर्शात्मक और दार्शनिक समस्याओ मे रुचि को बढावा दिया और समाजशास्त्र के क्षेत्र मे उसे अधिक परिमाणात्मक और व्यवहारपरक बनाने मे योग दिया, राजनीति विज्ञान और समाज शास्त्र अलग-अलग रास्तो पर चलते हुए दिखायी दिये, परन्तु बहुत शीघ्र ही इन दोनो मे एक निकट का सम्बन्ध स्थापित हो गया। लेज़ार्स्फेल्ड ने, जिसे हम एक राजनीतिक समाजशास्त्री कह सकते है, अमरीका मे चुनाव-व्यवहार सम्बन्धी अध्ययनो का विकास किया। अन्य राजनीतिक समाजशास्त्रियो ने मैक्स वेबर और रॉबर्ट मिचेल्स द्वारा विकसित अधिकारीतन्त्र सम्बन्धी संरचनाओ के विश्लेषण की पद्धतियो को अनेक सरकारी और गैर सरकारी सस्थाओ के अध्ययन मे प्रयोग मे लाने का प्रयत्न किया। अर्थशास्त्री, मनोविज्ञानवेत्ता और राजनीति-विज्ञान के विद्वान भी अपनी सकल्पनाओ और पद्धतियो का अनेक प्रकार की राजनीतिक घटनाओ, विशेषकर सर्वाधिकारवादी राजनीतिक आन्दोलनो के विकास से सम्बद्ध घटनाओ, के अध्ययन मे प्रयोग मे ला रहे थे। दूसरे विश्वयुद्ध के अन्त तक राजनीतिशास्त्रियो ने राजनीतिक विश्लेषण मे राजनीतिक समाज शास्त्र और मनोविज्ञान मे विकसित किये गये सैद्धान्तिक और प्राविधिक उपागमो को आत्मसात कर लिया था और चुनाव सम्बन्धी व्यवहार और राजनीतिक अभिवृत्तियो के अध्ययन शैक्षणिक शोध के सामान्य विषय बन चुके थे।

विश्व के अनेक भागो मे—एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के महाद्वीपो मे असख्य नये राज्यो के उत्थान के कारण अमरीका मे राजनीतिशास्त्रियो के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वे इन देशो मे होने वाले राजनीतिक विकास के अध्ययन मे अन्य समाजशास्त्रियो से अधिक सहायता लें—विकास को टुकडो मे नही बाटा जा सकता था, *उसका अध्ययन तो उसकी समग्रता मे ही किया जा सकता था।* अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, मनोवैज्ञानिक, मानव-विज्ञानवेत्ता और राजनीतिशास्त्री सभी को इस काम मे हाथ बटाना था। इसका परिणाम यह हुआ कि पहली बार सामाजिक विज्ञान की दिशा मे, न कि सामाजिक विज्ञानो की दशा मे—एक वास्तविक आन्दोलन आरम्भ हुआ। व्यवस्था सिद्धान्त और सरचनात्मक-प्रकार्यात्मक विश्लेषण की विधि को, जिसके विकास मे

दुर्खाइम, मालीनॉवस्की, पार्सन्स, मर्टन, मोस्स, आइजेनस्टाड, और लेवी जैसे मानव विज्ञानवेत्ताओं और समाजशास्त्रियों ने महत्त्वपूर्ण योग दिया था। नये देशों की राजनीतिक प्रक्रियाओं को ठीक से समझने के लिए अब राजनीतिशास्त्रियों के द्वारा स्वीकृत किया गया। जब व्यवस्था सिद्धान्त और समाजशास्त्रीय संकल्पनात्मक संरचनाएं राजनीतिक विकास समझने के लिए अपर्याप्त सिद्ध होने लगीं तब विलियम मिचेल्स जैसे राजनीतिशास्त्रियों ने राजनीति को अधिक अच्छी तरह समझने के लिए आर्थिक सिद्धान्तों से प्रेरणा ली। नीति सम्बन्धी निर्णय ज्यों-ज्यों गरीबी, जातीयता और नगरीय सरकारों की समस्याओं के साथ जूझने में उलझते गये और यह आवश्यक दिखायी देने लगा कि व्यवस्था के भीतर कुछ ऐसे निश्चित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए जिनके सम्बन्ध में सामान्य सहमति थी, आर्थिक स्रोतों का अधिक से अधिक उपयोग किया जाय। इस कारण गणितशास्त्रीय और सांख्यिकी प्रारूपों पर अधिक जोर दिया जाने लगा और राजनीतिशास्त्री आर्थिक प्रारूपों के विश्लेषण की दशा में प्रवृत्त होने लगे। जबकि राजनीति-विज्ञान, दर्शनशास्त्र से अपना सम्पर्क तोड़कर अनेक सामाजिक विज्ञानों के अधिक नजदीक आ गया है, अभी समय नहीं आया है जब यह कहा जा सके कि वास्तव में एक सामाजिक विज्ञान, अथवा सामाजिक व्यवहार के विज्ञान, की स्थापना सम्भव हो सकी है।

राजनीति-दर्शन, राजनीति-विज्ञान और राजनीतिक सिद्धान्त

राजनीति-विज्ञान की प्रकृति और उसके क्षेत्र के सम्बन्ध में विचार समय-समय पर बदलते रहे हैं। अरस्तू, जिसने राजनीति-विज्ञान की नींव डाली, राजनीति शब्द का प्रयोग एक ऐसे व्यापक रूप में किया था जिसमें राज्य-व्यवस्था के अतिरिक्त कुटुम्ब-व्यवस्था, गुलामों का नियन्त्रण, क्रान्तियों की रूप-रेखा और शुद्ध जनतन्त्र की विवेचना सम्मिलित थे। अरस्तू ने राजनीति की परिधि में "राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्थाएं, नागरिक और अन्तर्राष्ट्रीय राज्य व्यवस्थाएं, पैतृक व्यवस्था, धार्मिक संगठन, व्यापारिक संस्थान और कर्मचारियों के संगठन," सभी को ले लिया था।[41] वास्तव में अरस्तू के अनुसार, राजनीति-विज्ञान सबसे प्रमुख विज्ञान था और उसके इस दृष्टिकोण के सन्दर्भ में ही उसकी व्यापक परिभाषा को समझा जा सकता है। अरस्तू की दृष्टि में राजनीति-विज्ञान वह विज्ञान है जो राज्य के व्यवस्थापकों को ज्ञान और अन्तर्दृष्टि दोनों ही प्रदान करता है और उन्हें समाज की सभी कार्य-विधियों को इस दृष्टि से समायोजित करने के लिए कि वे उसके सभी सदस्यों को अच्छे जीवन की सुविधा दे सकें, सक्षम बनाता है। जैसे-जैसे राज्य की कार्य-विधियों का दायरा सीमित होता चला गया, और अन्य सामाजिक विज्ञान स्वायत्तता प्राप्त करते गये, यह आवश्यक हो गया कि राजनीति-विज्ञान के लिए एक सीमित वैचारिक संरचना और एक अधिक निश्चित परिभाषा का विकास किया जाय। राजनीति-

[41] जॉर्ज ई० जी० कैटलीन, 'पोलिटिकल थ्योरी : व्हाट इज इट ?' पोलर और मर्सली में मुद्र प्रकाशन पोलिटिकल साइंस क्वार्टर्ली', खण्ड 72, अंक 1, मार्च 1957, पृ० 1-29।

ज्ञान को अब राज्य का विज्ञान, अथवा 'सामाजिक विज्ञानो की एक ऐसी शाखा जिसका म्बन्ध राज्य के सिद्धान्तो, सगठन, प्रशासन और कार्य-प्रणाली से था, माना जाने लगा। ाजनीति-विज्ञान की इस नयी परिभाषा का केन्द्र बिन्दु अब राज्य और उसकी विभिन्न ाखाओ को माना जाने लगा और उसके अध्ययन के लिए विधिक-सस्थागत (legal nstitutional) दृष्टिकोण अपनाया गया। उन्नीसवी शताब्दी मे जब अर्थशास्त्र, ाज शास्त्र, मनोविज्ञान और मानव-विज्ञान ने स्वतन्त्र विज्ञानो का रूप ले लिया तो ाजनीति-विज्ञान और इन अन्य विज्ञानों के बीच अन्तर को स्पष्ट करना आवश्यक हो या।

राजनीति-विज्ञान का दूसरे सामाजिक विज्ञानो से एक विशेष अन्तर यह माना गया क उसका सम्बन्ध समाज के अन्तर्गत, नियन्त्रण अथवा शक्ति के प्रयोग से था। मैक्स बर के विचार मे किसी सगठन अथवा सस्था को राजनीतिक तभी माना जा सकता है 'जब एक निर्धारित क्षेत्रफल मे प्रशासनिक अधिकारियो के द्वारा, शारीरिक बल के प्रयोग थवा धमकी के आधार पर, उसकी आज्ञा का सतत पालन किया जाता हो।"[42] मैक्स बर का आग्रह इस प्रकार राज्य के द्वारा शक्ति का प्रयोग किये जाने पर था, परन्तु ्यपि समाजशास्त्रियो का विचार केन्द्र सस्थाओ से हटकर अब शक्ति के सग्रह और योग पर आ गया था, सस्थाओ को काफी समय तक विश्लेषण का प्रमुख घटक माना ाता रहा। रौब्सन के शब्दो मे "राजनीतिशास्त्री की अभिरुचि का केन्द्र स्पष्ट और निर्विवाद रूप से, शक्ति को प्राप्त करने और उसे बनाये रखने, दूसरे व्यक्तियो पर शक्ति थवा प्रभाव का प्रयोग करते रहने अथवा उसका प्रतिरोध करने पर है।"[43] र्वाचीन काल मे राजनीतिशास्त्रियो की अभिरुचि का केन्द्र व्यक्तियों के आपसी म्बन्धो और अन्त क्रियाओ पर आ गया है और राजनीति को अब एक विशिष्ट सन्दर्भ मानव व्यवहार का एक रूप' माना जाने लगा है। राजनीति को मूल्यो के प्राधिकृत ावटन (authoritative alloction of values) माने जाने के इस व्यापक सन्दर्भ , कभी तो निर्णय-निर्माण को विश्लेषण की इकाई मानते हुए, निर्णयो के निर्माण और क्रयान्वयन पर जोर दिया जाता रहा है, कभी नीति निर्माण पर, जिसमे नीति का ार और उसके निर्माण की प्रक्रिया दोनो की विवेचना आ जाती है, और कभी समाज के लक्ष्यो के निर्धारण और प्राप्ति पर। इनमे से दूसरे और तीसरे पक्षो मे प्रमुख अन्तर यह है कि जब दूसरा पक्ष राज्य के भीतर चलती रहने वाली राजनीतिक प्रक्रियाओ के ास्तविक स्वरूप को समझने पर जोर देता है, तीसरे का सम्बन्ध लक्ष्यो के निर्धारण और उनके प्रयोजनो से अधिक है।

ऊपर के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीति-विज्ञान की प्रकृति और उसके क्षेत्र के सम्बन्ध मे एक निश्चित परिभाषा देना बडा कठिन है। फिर भी यह तो

[42]रोबर्ट ए० डाल, 'मॉडर्न पोलिटिकल एनॅलिसिस' में उद्धृत, ऐंग्लवुड क्लिफ्स, एन० जे० प्रेंटिस हॉल, 1963, पृ० 5।

[43]डब्ल्यू० ए० रौब्सन, 'दि यूनीवर्सिटी टीचिंग ऑफ सोशल साइंस पोलिटिकल साइन्स' पेरिस, यूनेस्को, 1954, पृ० 17-18।

कहा ही जा सकता है कि राजनीति और राजनीतिक घटनाओं के सम्बन्ध में दो स्पष्ट दृष्टिकोण हैं : एक व्यापक और दूसरा संकीर्ण, जिनमें से एक का प्रमुख आधार राजनीतिक प्रकार्यों (functions) पर है और वह राजनीति को एक प्रक्रिया (process) अथवा एक विशेष प्रकार की कार्य-विधि मानता है और दूसरे का आग्रह राजनीतिक संरचनाओं (structures) के अध्ययन पर है। अरस्तू ने राज्य की अपनी परिभाषा में कुटुम्ब, नगर निगम, समूह और धर्म सभी को सम्मिलित करके स्पष्टतः राजनीति का एक 'व्यापक' दृष्टिकोण अपनाया था, जबकि आने वाली शताब्दियों में उसकी व्याख्या को संकीर्ण बना दिया गया, जिसके अनुसार राजनीति-विज्ञान को समाज की ही राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्थाओं का अध्ययन माना जाने लगा। आधुनिक युग में हम कैटलीन जैसे लेखकों को एक बार फिर इस 'सीमित', 'संकीर्ण' दृष्टिकोण को छोड़ने और नियन्त्रण की प्रक्रिया और उसकी बागडोर को अपने हाथों में लेने के संघर्ष में उलझे हुए व्यक्ति के कार्यों को राजनीति के अध्ययन का केन्द्र बनाने के प्रयत्नों में संलग्न पाते हैं। इस दृष्टिकोण के विकसित होने के बाद के राजनीतिशास्त्री अब राजनीतिक घटनाओं अथवा संस्थाओं के विवरण मात्र से सन्तुष्ट नहीं होते, यद्यपि अन्य कदमों को लेने के लिए यही विवरण एक आवश्यक पहला कदम है, परन्तु वे चाहते हैं कि विश्लेषण की अधिक संशोधित और परिष्कृत तकनीकों को काम में लायें। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक-दर्शन, अथवा राजनीतिक चिन्तन, अथवा राजनीतिक सिद्धान्त को वे राजनीति-विज्ञान में परिवर्तित कर देना चाहते हैं। कैटलीन के विचारों को ही लें तो हम देखते हैं कि वह राजनीति-विज्ञान को—बौद्धिक और सम्मानास्पद आधार पर, समाज-विज्ञान से भिन्न नहीं मानता। उसकी मान्यता है कि समाजशास्त्रियों के द्वारा जो सैकड़ों व्यक्तिगत कार्यों और सहस्त्रों समूहों के बीच के सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है उन्हीं के आधार पर 'प्रामाणिक तुलनात्मक समीक्षा और अरस्तू और मैकियावेली की श्रेष्ठ परम्परा के अनुरूप, स्थिर तथ्यों का प्रेक्षण' सम्भव है।[11] राजनीति-विज्ञान की इस 'व्यापक' परिभाषा के सम्बन्ध में कठिनाई यह है कि यदि राजनीति के क्षेत्र में हम कुटुम्ब की नियन्त्रण-प्रणाली और धार्मिक व्यवस्था को भी समाविष्ट कर लेते हैं तो उसका दायरा इतना फैल जाता है कि वह एक अर्थहीन वस्तु बनकर रह जाता है। इस कारण शायद यह अच्छा हो कि इन दोनों परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों के बीच में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की जाय।

राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र को समझने में एक दूसरी कठिनाई यह आती है कि राजनीतिशास्त्रियों ने राजनीति-विज्ञान (political science), राजनीतिक सिद्धान्त (political theory), राजनीतिक-दर्शन (political philosophy) और राजनीतिक चिन्तन (political thought), इन सभी शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची रूप में किया है इस सम्बन्ध में सेबाइन और कैटलीन ने, अन्य सभी विषयों पर गहरा मतभेद रखते हुए यह मत प्रकट किया है कि राजनीति-विज्ञान के दायरे में आज जो कुछ भी लेकिन

[11] कैटलीन, पू॰ उ॰, पृ॰ 21 और 26।

गया है उसे राजनीतिक सिद्धान्त का नाम दिया जाय और राजनीति-विज्ञान और राजनीति-दर्शन उसके प्रमुख भाग मान लिये जायें। एक्सटाइन की मान्यता है कि राजनीति-विज्ञान और राजनीति-दर्शन एक दूसरे से भिन्न है (1) विषयवस्तु मे, (2) क्षेत्र मे और (3) और प्रमाणीकरण की कसौटियो मे। जहा तक विषयवस्तु का सम्बन्ध है, *एक्सटाइन मानता है कि राजनीति-दर्शन का सम्बन्ध केवल तथ्यो से ही नही,* आदर्शो से भी है—लक्ष्यो को वह उतना ही आवश्यक मानता है, जितना साधनो को। नैतिक सिद्धान्त देने के अतिरिक्त राजनीति-दर्शन का काम यह भी है कि वह, एक्सटाइन के शब्दो मे, 'अधिसिद्धान्त (meta-theory) सिद्धान्त के सम्बन्ध मे सिद्धान्त' का निर्माण करे अथवा शोध के परिणामो को प्रस्तुत करने के स्थान पर और अधिक शोध को प्रेरणा दें। जहा तक क्षेत्र का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि राजनीति-दर्शन की विशेषता राजनीतिक व्यवस्थाओ के सम्बन्ध मे व्यापक सिद्धान्तो का निर्माण करना है। ऐसे सिद्धान्तो का नही जिनके प्रकाश मे 1951 मे इगलैण्ड मे मजदूर दल की सरकार की पराजय के कारणो को समझा जा सके, परन्तु मार्क्सवाद जैसे सिद्धान्तो का, जो राज्य का विश्लेषण करते है और यह स्पष्ट करते है कि राजनीतिक शक्ति के निर्देशक तत्त्व क्या है। जहा तक प्रमाणीकरण की कसौटियों का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि जिसे प्रमाणित किया जा सके वह विज्ञान है और जो प्रमाणीकरण से परे है वह दर्शन।[45]

इस सम्बन्ध मे एक सुझाव यह भी दिया गया है कि राजनीति-विज्ञान के समस्त क्षेत्र को राजनीतिक चिन्तन का नाम दिया जाय और उसके पक्ष मे यह कहा गया है कि ऐसी स्थिति मे राजनीति-विज्ञान और राजनीतिक सिद्धान्त शब्दो का प्रयोग उसके कुछ ऐसे सवर्गों के लिए किया जा सकता है जो अपने आप मे स्पष्ट है—राजनीति-विज्ञान का प्रयोग, वास्तविक राजनीतिक व्यवहार के विश्लेषण के लिए और राजनीतिक-दर्शन *का प्रयोग उस अर्थ मे जिसमे एक्सटाइन ने उसे राजनीति-विज्ञान से भिन्न करके दिखाने* की चेष्टा की है।[46] परन्तु, इस प्रकार के विभाजन से एक आपत्ति यह की जा सकती है कि इसमे राजनीति-दर्शन का महत्त्व क्षीण हो जाता है, जो अपने आप मे एक अवाछनीय स्थिति को जन्म देता है। राजनीतिशास्त्री प्रमुख रूप से उन मूर्त घटनाओ के अध्ययन मे रुचि रखता है जो मानव समाज मे होती रहती हैं और यदि वह राजनीति-दर्शन मे रुचि रखता है तो उसके ऐतिहासिक पक्ष के कारण नही और न राजनीतिक दार्शनिको की लेखन शैली के कारण ही, परन्तु यह जानने के उद्देश्य से कि राजनीतिक घटनाए कैसे और क्यो होती है और कुछ निश्चित आदर्शों के परिप्रेक्ष्य मे उनका मूल्याकन कैसे किया जा सकता है। प्लेटो और अरस्तू का महत्त्व इस कारण नही है कि वे महान अथवा राजनीतिक चिन्तक थे, परन्तु इस कारण कि उन्होने जो कुछ लिखा है उसका बहुत बडा भाग, राजनीतिक घटनाओ के अध्ययन की दृष्टि से, आज भी सम्बद्ध, प्रमाणीकृत और

[45]हैरी एक्सटाइन, "पोलिटिकल थ्योरी एण्ड दि स्टडी ऑफ पोलिटिक्स ए रिपोर्ट ऑफ ए कॉन्फ्रेंस "अमेरिकन पोलिटिकल साइंस रिव्यू," खण्ड 50, अंक 2, जून 1956, पृ० 475 487।

[46]गोल्ड और थर्सबी, पी० उ०, पृ० 2-3।

उपयोगी है। ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय, अर्थशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक अथवा मानवशास्त्रीय अथवा अन्य दृष्टिकोणों को प्रयोग में लाने में राजनीतिशास्त्रियों का मूल उद्देश्य राजनीतिक घटनाओं को समझना होता है। राजनीतिक घटनाओं को समझने के लिए यदि इनमें से किसी एक ही दृष्टिकोण का प्रयोग किया गया तो उसका अर्थ उसकी प्रकृति और क्षेत्र दोनों को ही सीमित बना देना होगा। एक बात हमें स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि राजनीति-शास्त्र इन सभी अन्य शास्त्रों से भिन्न है, चाहे इन विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन का लक्ष्य एक ही हो, और उसकी अपनी एक स्वायत्तता है। इस दृष्टि से इस सम्बन्ध में विभिन्न मतों अथवा दृष्टिकोणों के समर्थक लेखकों के विचारों का कुछ विस्तार से विश्लेषण करना उपयोगी हो सकता है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण : जॉर्ज एच० सेबाइन

राजनीति-शास्त्र के सम्बन्ध में परम्परागत अथवा ऐतिहासिक दृष्टिकोण की सबसे अच्छी विवेचना हमें जॉर्ज एच० सेबाइन की रचनाओं में मिलती है।[47] सेबाइन ने राजनीति-शास्त्र की व्याख्या के लिए एक बड़ा व्यावहारिक ढंग अपनाया है। उसका सुझाव है कि राजनीति-शास्त्र में हम उन सभी विषयों को ले लें जिनका विवेचन ऐसे प्रसिद्ध लेखकों की रचनाओं में पाया जाता है जो राजनीतिशास्त्री होने के नाते प्रसिद्ध हैं—प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स, लॉक, रूसो, बेन्थम, मिल, ग्रीन, हीगल, मार्क्स इत्यादि। इन दार्शनिकों की रचनाओं में हम उन प्रश्नों की खोज निकालने का प्रयत्न कर सकते हैं जिन्हें उन्होंने राजनीतिक सिद्धान्तों की सत्यता अथवा प्रामाणिकता के सम्बन्ध में उठाया है। राज्य अथवा राज्य के माध्यम से प्राप्त किये जाने वाले लाभ अथवा आदर्शों से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न स्वाधीनता का अर्थ, जन-साधारण राज्य की आज्ञा का पालन क्यों करते हैं, राज्य की कार्य-विधियों का क्षेत्र क्या है, समानता का अर्थ क्या है, ये और इस प्रकार के कुछ अन्य प्रश्न ऐसे हैं जिन्होंने सभी युगों में राजनीतिक दार्शनिकों के मस्तिष्कों को उद्वेलित किया है। इनके अतिरिक्त हम बहुत से अन्य प्रश्नों की भी एक सूची बना सकते हैं जिनका सम्बन्ध राज्य से तथा राज्य और समाज के और व्यक्ति और राज्य के आपसी सम्बन्धों से है और प्रसिद्ध राजनीतिक दार्शनिकों ने यदि उनकी चर्चा विस्तार से न भी की हो तो हम उन्हें राजनीति-शास्त्र में सम्मिलित कर सकते हैं। परम्परागत विचारकों की दृष्टि में इस प्रकार के सभी प्रश्न राजनीतिक सिद्धान्त का आधार बन सकते हैं। सेबाइन और दूसरे परम्परागत लेखकों ने ऐतिहासिक दृष्टिकोणों को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। सेबाइन के मत के अनुसार किसी भी राजनीतिक सिद्धान्त का जन्म 'एक सुनिश्चित परिस्थिति के सन्दर्भ में' होता है और इस कारण उसे समझने के लिए समय, स्थान और परिस्थितियों का पुनः गठन जिनमें उसका जन्म हुआ था, आवश्यक है। प्रत्येक राजनीतिक सिद्धान्त का जन्म एक 'सुनिश्चित परिस्थिति' में हुआ है, इसका यह अर्थ नहीं है कि भविष्य के लिए उस राजनीतिक सिद्धान्त का कोई

[47] जॉर्ज एच० सेबाइन, 'ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी,' न्यूयार्क, हेनरी होल्ट, 1937।

महत्त्व नहीं है। वास्तव में किसी भी महान राजनीतिक सिद्धान्त की पहचान यही है कि वह वर्तमान परिस्थिति का विश्लेषण करती है और अन्य परिस्थितियों के सम्बन्ध में मार्ग निर्देशन भी कर सकती है। इस प्रकार, एक अच्छा राजनीतिक सिद्धान्त कुछ विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज होते हुए भी आने वाले सभी युगों के लिए महत्त्व रखता है और इसी कारण उसे आदरास्पद माना जाता है।[44]

सेबाइन के अनुसार एक अच्छे राजनीतिक सिद्धान्त की पहचान यह है कि उसमें (अ) 'उन परिस्थितियों के सम्बन्ध में तथ्यात्मक स्पष्टीकरण हो जिन्होंने उसे जन्म दिया,' (ब) कारणात्मक माने जाने वाले वक्तव्यों पर प्रकाश डाला जा सके, और (स) इस प्रकार का निर्देश दिया गया हो कि इस प्रकार की परिस्थितियों में कुछ होना चाहिए अथवा वह सही और वांछनीय वस्तु क्या है जिसे घटित होना चाहिए'। इस प्रकार, सेबाइन के अनुसार, प्रत्येक राजनीतिक सिद्धान्त में तीन तत्त्व होते हैं—तथ्यात्मक (factual), कारणात्मक (casual) और मूल्यात्मक (valuational)। राजनीतिक सिद्धान्तों का जन्म प्रायः इतिहास के ऐसे कालों में होता है जो तनाव और विपत्ति के काल होते हैं। ढाई हजार वर्षों से अधिक के ज्ञात इतिहास में हमें लगभग पचास पचास वर्षों के ऐसे दो काल मिलते हैं जिनमें, बहुत ही सीमित प्रदेशों में, राजनीति-दर्शन का तेजी के साथ विकास हुआ — (1) एथेन्स में, जहाँ ईसा से पहले की तीसरी और चौथी शताब्दियों के बीच, जब प्लेटो और अरस्तू ने अपने महान ग्रन्थ लिखे, और (2) इंगलैण्ड में 1640 और 1690 के बीच, जब हॉब्स, लॉक और अन्य विचारकों ने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का विकास किया। यूरोप के बौद्धिक इतिहास में ये दोनों ही काल महान परिवर्तनों के काल रहे हैं, इस कारण, सेबाइन ने ठीक ही कहा है कि महान राजनीतिक सिद्धान्तों का जन्म 'राजनीतिक और सामाजिक संकटों के गर्भ में' होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे संकटों में से उत्पन्न होते हैं, परन्तु यह कि उनका जन्म उस प्रतिक्रिया में से होता है जो इस प्रकार के संकट विचारकों के मन में उत्पन्न करते हैं। इस कारण किसी भी राजनीतिक सिद्धान्त को समझने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम उस समय, स्थान और परिस्थिति-विशेष का गहराई से अध्ययन करें जिसमें उसका विकास हुआ था। यह आवश्यक नहीं है कि राजनीतिक चिन्तक अपने समय की राजनीति में सक्रिय भाग ले, परन्तु उस संकट की प्रतिक्रिया उसके मस्तिष्क में होती है और वह संकट का समाधान निकालने के लिए चिन्तन की गहराई में डूबता है और वहीं से राजनीतिक सिद्धान्त का जन्म होता है। सेबाइन ने ठीक ही कहा है कि 'राजनीतिक सिद्धान्तों की भूमिका दो प्रकार की होती है : एक ओर तो उनका सम्बन्ध चिन्तन की गहराइयों से होता है और दूसरी ओर वे ऐसी आस्थाओं और निष्ठाओं को जन्म देती है जो नयी ऐतिहासिक परिस्थितियों के निर्माण का कारण सिद्ध होती है। इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि सभी महान सामाजिक और राजनीतिक क्रान्तियों का जन्म बौद्धिक

[44]अध्याय के इस अंश में सेबाइन से उद्धरण गोल्ड और कर्तेबी, पी० उ०, पृ० 7-20 पर प्रकाशित उनके निबन्ध 'व्हाट इज पोलिटिकल थ्योरी' में से लिये गये हैं। यह लेख मूल रूप में 'जर्नल ऑफ पोलिटिक्स,' खण्ड 1, अंक 1, फरवरी 1939 में पृ० 1-16 पर प्रकाशित हुआ था।

क्रान्तियों (intellectual revolutions) में से हुआ है—यह फ्रांस की 1789 की क्रान्ति हो अथवा रूस की 1917 की क्रान्ति, अथवा कोई अन्य क्रान्ति। यह समझना भी आवश्यक है कि जिस राजनीतिक सिद्धान्त का हम अध्ययन कर रहे हैं वह सही है अथवा गलत, सारगर्भित है अथवा मूर्खतापूर्ण, प्रामाणिक है अथवा अविश्वसनीय। यहां मूल्यों का प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है। इसी कारण किसी भी राजनीतिक सिद्धान्त को समझने के लिए हमें उसके तथ्यात्मक-कारणात्मक और मूल्यात्मक पक्षों को समझना आवश्यक है।

अब तक हमने, सेबाइन ने जिसे 'राजनीतिक सिद्धान्त की तार्किक संरचना' (logical structure) कहा है, उसे समझने का प्रयत्न किया, परन्तु उसके मनोवैज्ञानिक घटकों (psychological components) का अध्ययन भी आवश्यक है। राजनीतिक सिद्धान्त केवल बौद्धिक विलासिता नहीं है। उसका उद्देश्य दूसरों की बात को समझना और उसके साथ ही अपने दृष्टिकोणों को दूसरों से स्वीकार कराना भी होता है। समझाने-बुझाने का उद्देश्य क्या है, राजनीतिक दार्शनिक इस बात का पूरा ध्यान रखता है। कुछ आधुनिक लेखकों ने जिसे 'राजनीति-दर्शन की लोकवार्ता' (folk lore of political philosophy) अथवा 'विचारधारा' (ideology) मात्र कह कर उसका मजाक उड़ाया है, राजनीतिक सिद्धान्त को समझने के लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजनीति-दर्शन-शास्त्री जिन विश्वासों को जन्म देता है, वे सही हो अथवा गलत, उनका प्रभाव इतिहास पर पड़ता है। सेबाइन के अनुसार प्रत्येक राजनीतिक सिद्धान्त एक तथ्य है, ऐसा सार-गर्भित तथ्य जो तथ्यों की उस शृंखला का एक अंग है जो एक विशेष राजनीतिक परिस्थिति को जन्म देती है। इस प्रकार, प्रत्येक राजनीतिक सिद्धान्त के—वह अपने आप में सही हो अथवा गलत—कुछ गम्भीर कारण होते हैं और कुछ प्रभावशाली परिणाम, और कारणों और परिणामों के इस सन्दर्भ में रखकर ही उसे ठीक से समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक राजनीतिक सिद्धान्त को समझने के दो तरीके होते हैं—उसे (1) सिद्धान्त के रूप में समझना, और (2) घटनाओं के कारण के रूप में। सिद्धान्त की दृष्टि से उसे तर्क-पूर्ण आलोचना की कसौटी पर परखना, उसके अर्थ का ठीक से विश्लेषण करना, और उसकी कमियों की ओर इंगित करना आवश्यक होता है। परन्तु जब हम उसे कारण के रूप में देखने का प्रयत्न करते हैं तो यह समझना आवश्यक होता है कि समाज के किन निहित स्वार्थों का प्रतिनिधित्व उसमें झलकता है, अथवा इन राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में राजनीतिक चिन्तकों के मूल उद्देश्य क्या रहे होंगे। राजनीति-सिद्धान्त के ये दो अलग-अलग रूप हैं, और यह आवश्यक है कि हम इन्हें एक-दूसरे से भिन्न करके देख सकें। एक उसका वह रूप है जो दर्शन की दुनिया, अथवा सूक्ष्म चिन्तन का एक अंग है और दूसरा वह जो उसे विशिष्ट राजनीतिक घटनाओं के साथ जोड़ता है। तथ्यों और मूल्यों को एक दूसरे से अलग करके देखना आवश्यक है, और यह भी आवश्यक है कि जब हम तथ्यों का परीक्षण कर रहे हों तब हम शोध के लिए, ऐसी प्रविधियों का उपयोग करें जिनके द्वारा तथ्यों को शुद्ध, निष्पक्ष और वैज्ञानिक दृष्टि से समझा जा सकता है, और जब हम मूल्यों का अध्ययन कर रहे

हों तो ऐसी प्रविधियों का जो मूल्यों को उनके सही रूप में समझने में सहायक सिद्ध हो सकें। राजनीति-सिद्धान्त को जब हम उसके इस व्यापक रूप में देखते हैं जिसमें सेबाइन ने इसे देखा है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वह राजनीतिक चिन्तन अथवा राजनीति-दर्शन भी है और राजनीति-विज्ञान भी।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण : जार्ज ई० जी० कैटलीन

ऐतिहासिक दृष्टिकोण की यह कह कर आलोचना की जाती है कि वह परम्परा के प्रति अत्यधिक श्रद्धालु है। बहुत से आधुनिक लेखकों ने यह बताने की भी चेष्टा की है कि यह दृष्टिकोण राजनीति को एक संकीर्ण दृष्टि से देखता है और उसे राज्य के दायरे तक ही सीमित करना चाहता है। अनेक अर्वाचीन लेखकों ने, और उनमें कैटलीन का एक प्रमुख स्थान है, राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र को एक ऐसा व्यापक रूप देने की चेष्टा की है जिसमें केवल राज्य को ही नहीं समाज को भी समाविष्ट किया जा सके।[49] कैटलीन ने वास्तव में राजनीति का वह अर्थ लिया है जिसका प्रतिपादन अरस्तू ने किया था, इस अर्थ में कि उसने उसके क्षेत्र में उन सभी क्रियाओं को सम्मिलित करने की चेष्टा की है जो समाज के तत्त्वावधान में घटित होती रहती हैं। कैटलीन राजनीति-विज्ञान और समाजशास्त्र में कोई भेद नहीं मानता और इस दृष्टिकोण के पक्ष में उसने कुछ लाभ बताये हैं: (1) यह समाज के सम्बन्धों और उसकी संरचना को सम्पूर्ण रूप से समझने के कार्य को सरल बना देता है और केवल उसके एक अंग को ही नहीं देखता जो यूरोप के एक भाग में 15वीं और 17वीं शताब्दियों के बीच समाज से अलग कर दिया गया था और जिसे आज 'आधुनिक राज्य' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। (2) यह राजनीति के अध्ययन को समाज के एक सामान्य सिद्धान्त के साथ जोड़ता है, और यह एक ऐसा काम है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती परन्तु जिसे आधुनिक काल के अधिकांश राजनीतिशास्त्रियों ने अब तक नहीं किया था। (3) यदि राजनीति-शास्त्री राज्य को अपने विश्लेषण की इकाई मानकर चलता है और उसे समाज में विकसित होने वाली अन्य प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में नहीं देखता है तो यह सम्भव है कि वह दिन प्रतिदिन होने वाली और ऊपर से साधारण दिखायी देने वाली राजनीतिक घटनाओं की सर्वथा उपेक्षा करे। राज्यों की संख्या आज बहुत बढ़ गयी है, राजनीतिक विश्लेषण की दृष्टि से उन में से प्रत्येक को इकाई मानकर नहीं चला जा सकता, इस कारण उनकी मूल विशेषताओं को समझना आवश्यक हो जाता है। (4) यदि राजनीतिशास्त्री अध्ययन के लिए संस्थाओं से परे जाकर प्रथाओं और प्रक्रियाओं का अध्ययन करने का निश्चय करता है तो उसके लिए विश्लेषण की इकाई को चुन लेना सरल होगा। जहां तक कैटलीन का प्रश्न है, उसने नियन्त्रण की प्रक्रिया को राजनीति के अपने अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु माना है। नियन्त्रण की प्रक्रिया से उसका अर्थ 'व्यक्तियों के कार्यों' से है। कैटलीन को वी० ओ० की० द्वारा दी गयी राजनीति की इस परिभाषा को

[49]कैटलीन, पी० उ०, पृ० 21-45।

मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि वह सरकार का अध्ययन है, बशर्ते कि 'सरकार' को 'नियन्त्रण' का पर्यायवाची माना जाय, न कि राष्ट्रपति अथवा मन्त्रिमण्डल जैसी संस्थाओं का।

कैटलीन का विश्वास है कि उन नियन्त्रणों पर ही जो एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर, व्यक्ति का समूह पर, अथवा एक समूह का दूसरे समूह पर हो सकता है, सब सामाजिक संगठन आश्रित हैं। कैटलीन ने बहुत जोर देकर कहा है कि, "ये नियन्त्रण इस कारण अस्तित्व में नहीं आते कि आदिम मनुष्य की स्वभाव से ही निर्दोष और उदात्त अभिवृत्तियों को सभ्यता के यान्त्रिक ढांचे में ढालने की दृष्टि से वे आवश्यक हैं परन्तु इस कारण कि मनुष्य की साधारण मांगों की, यहां तक कि स्वयं अपनी स्वतन्त्रता को अधिक व्यापक बनाने की उसकी आवश्यकता की, उनसे पूर्ति होती है।"[30] नियन्त्रणों के सम्बन्ध में यह धारणा कि वे दुष्ट व्यक्तियों के द्वारा निर्दोष व्यक्तियों पर ऊपर से लादे जाते हैं, गलत है। वास्तव में मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि उसे नियन्त्रण की आवश्यकता होती है और वह नियन्त्रण की अपेक्षा करता है। 'यदि इतनी अधिक संस्थाएं, राज्य, धार्मिक मठ आदि सब व्यक्तियों को भ्रष्ट करने वाली और उन पर बुरा प्रभाव डालने वाली हैं तो, कैटलीन पूछता है "उनका जन्म मानव प्रकृति से, जो नितान्त शुद्ध है, कैसे हुआ?"[31] स्वाधीनता और अधिकार के दो ध्रुवों को नियन्त्रण की प्रक्रिया ही एक दूसरे से जोड़ती है, और राजनीति-विज्ञान में उसका वही स्थान है जो अर्थशास्त्र में मांग, पूर्ति और प्रतिस्पर्धी मूल्य का होता है।

कैटलीन के द्वारा व्यक्त किये गये इन विचारों से यह परिणाम नहीं निकाला जाना चाहिए कि वह केवल शक्ति को राजनीतिक सम्बन्धों का एक मात्र आधार मानता है। उसके खतरों व बुराइयों से भी वह परिचित है। शक्ति का अर्थ सैनिक शक्ति हर्गिज नहीं है। कैटलीन ने तो यहां तक कहा है कि उसका अर्थ 'प्रभुत्व' भी नहीं है, जैसा मानने की गलती मॉर्गेन्थो ने की है। शक्ति की राजनीति अपने आप में बुरी नहीं है परन्तु शक्ति की राजनीति का विनाशकारी रूप बुरा है, जैसा स्वयं मॉर्गेन्थो ने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में कहा था। सहयोग भी शक्ति अर्जित करने का एक रूप हो सकता है, जो शायद प्रभुत्व से अधिक स्थायी हो, यद्यपि उसका प्रयोग अधिक सूक्ष्म और कठिन होता है। यदि शक्ति को इस व्यापक रूप में लिया जाय तो उसके साथ जो दुर्भावना जुड़ गयी है वह दूर की जा सकती है। यह मानते हुए भी कि शक्ति का आधार ही वह विशेषता है जो राजनीति-विज्ञान को समाजशास्त्र और मनोविज्ञान से भिन्न करती है, कैटलीन राजनीति-विज्ञान से अपेक्षा करता है कि वह इन अन्य सामाजिक शास्त्रों से बहुत निकट के सम्बन्ध स्थापित करे। जिस अर्थ में ग्राह्म वेलस और जेम्स ब्राइस मनोवैज्ञानिक हैं उस अर्थ में कैटलीन को अपने को मनोवैज्ञानिक मानने में झिझक नहीं है, परन्तु वह राजनीति के उस व्यवहारपरक दृष्टि के बहुत निकट है जिसकी स्थापना मेरियम

[30]वही, पृ० 33।
[31]वही।

और कापलेन ने की थी। राजनीति-विज्ञान की लासवेल की यह परिभाषा कि यह सत्ता में सहभागी होने और उसे आकृति प्रदान करने की प्रक्रिया का अध्ययन है, कैटलिन को मान्य है, केवल इस अन्तर के साथ कि वह उसे नियन्त्रण की एक ऐसी प्रक्रिया मानता है जो समाज के समग्र क्षेत्र में व्यापक है और 'जिसके पीछे शक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा एक ऐसा निर्णायक तत्त्व है जो मूल-भूत सा है पर जिसे आसानी से समझा नहीं जा सकता।"

दार्शनिक दृष्टिकोण : लियो स्ट्रॉस

राजनीति-विज्ञान के सम्बन्ध में परम्परावादी ऐतिहासिक और व्यवहारवादी-अर्वाचीन जिन दो दृष्टिकोणों की ऊपर चर्चा की गयी है उनके अतिरिक्त एक तीसरा दृष्टिकोण भी है जिसके प्रमुख उन्नायक लियो स्ट्रॉस हैं और जिसे हम दार्शनिक दृष्टिकोण का नाम दे सकते हैं। लियो स्ट्रॉस ने राजनीति सिद्धान्त (political theory) और राजनीति-दर्शन (political philosophy) में भेद बताया है, और उनकी मान्यता है कि ये दोनों ही राजनीतिक चिन्तन (political thought) के अंग हैं। राजनीतिक सिद्धान्त स्ट्रॉस की दृष्टि से, "राजनीतिक घटनाओं की प्रकृति को उसके सही रूप से जानने का प्रयत्न है।" दर्शन का अर्थ यदि 'बुद्धिमत्ता की खोज' अथवा 'विश्वव्यापी ज्ञान की खोज', अथवा 'समग्र का ज्ञान,' है तो राजनीति-दर्शन से हमारा अर्थ "राजनीतिक घटनाओं की प्रकृति, और सही अथवा अच्छी राजनीतिक व्यवस्था, दोनों को उनके सही रूप में समझने का प्रयत्न है।" राजनीतिक चिन्तन में राजनीति-सिद्धान्त और राजनीति-दर्शन दोनों का समावेश हो जाता है। वास्तव में, राजनीति-सिद्धान्त और राजनीति-दर्शन एक दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि "सामान्यतः किसी भी विचार अथवा काम को ठीक से समझने के लिए उसका मूल्यांकन करना आवश्यक होता है।" स्ट्रॉस ने 'इतिहासवाद' की आलोचना की है जिसका प्रतिपादन सेबाइन ने किया था—वह उसे 'राजनीति-दर्शन का कट्टर प्रतिपक्षी' मानता है —और 'समाज-विज्ञान के प्रत्यक्षवादी (positivist) दृष्टिकोण' की भी, जिसका प्रतिपादन कैटलिन ने किया है।[63]

मूल्यों (values) के महत्त्व पर स्ट्रॉस का बहुत अधिक आग्रह है। वह मानता है कि मूल्य राजनीति-दर्शन का एक अनिवार्य अंग है और उन्हें राजनीति के अध्ययन से अलग नहीं किया जा सकता। प्रत्येक राजनीतिक कार्य का उद्देश्य या तो वस्तु स्थिति को ज्यों का त्यों बनाये रखना होता है अथवा उसमें परिवर्तन लाना और इस कारण कौन-सी व्यवस्था अच्छी है और कौन-सी बुरी इस मूल्यांकन के आधार पर ही उसे निर्दिष्ट किया जा सकता है। राजनीतिशास्त्री से उसके अपने अनुभव से कुछ अधिक की अपेक्षा की जाती है। उसके पास ज्ञान होना चाहिए—अच्छा जीवन और अच्छा समाज क्या है इसका ज्ञान। "अच्छे जीवन और अच्छे समाज की यह खोज जब एक स्पष्ट रूप ले लेती है, अच्छे

63 लियो स्ट्रॉस, 'व्हाट इज पोलिटिकल फिलॉसफी?' गाउड और चार्ल्सवर्थ में, पू० उ०, पृ० 46-69 पर। मूल प्रकाशन 'जर्नल ऑफ पोलिटिक्स', खण्ड 19 अंक 3, अगस्त 1957, पृ० 343-68।

जीवन और अच्छे समाज के ज्ञान को प्राप्त करना व्यक्ति जब अपना निश्चित लक्ष्य बना लेता है, तब राजनीति-दर्शन का उद्भव होता है।"[33] स्ट्रॉस लिखता है, "राजनीतिक घटनाओं की प्रकृति के सम्बन्ध में धारणाएं केवल *अभिमत का रूप रखती हैं।* बाद में ये धारणाएं आलोचनात्मक और सुसम्बद्ध *विश्लेषण का लक्ष्य बना ली जाती हैं।* तभी राजनीति के सम्बन्ध में दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास होता है।"[34] स्ट्रॉस के अनुसार राजनीति-दर्शन "राजनीतिक गतिविधियों के सम्बन्ध में अभिमत के स्थान पर उनकी प्रकृति के सम्बन्ध में ज्ञान की स्थापना करने का प्रयत्न है, राजनीतिक गतिविधियों की प्रकृति और अच्छी राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप को उनके सही रूप में जान लेने का प्रयत्न।" इस व्यापक रूप में राजनीति-दर्शन का प्रारम्भ से उस समय तक अनवरत रूप से विकास होता रहा है जब कुछ दशक पूर्व व्यवहारवादियों ने उसकी विषय-वस्तु, प्रविधियों और कार्यों के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट करना आरम्भ किया और उसकी सम्भावना को ही चुनौती देने की चेष्टा की।

राजनीति-विज्ञान और राजनीति-दर्शन के बीच जो कृत्रिम भेद *किया जाता है* स्ट्रॉस उसकी गम्भीर आलोचना करता है। *यह लिखता है, "प्रारम्भ में राजनीति-दर्शन* और राजनीति-विज्ञान एक ही थे, और *मानव सम्बन्धों का* सर्वव्यापी अध्ययन उनका लक्ष्य था। आज हम उसे टुकड़ों में बटा हुआ पाते हैं, मानो वे किसी कीड़े के अंग हों।"[35] मानव व्यवहार के अध्ययन में दर्शन और विज्ञान में अन्तर करना सर्वथा असम्भव है। दर्शन से शून्य राजनीति-विज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती, और न कोई राजनीतिक दर्शन ऐसा हो सकता है जिसमें वैज्ञानिकता न हो। स्ट्रॉस का कहना है कि राजनीति-विज्ञान के ऐतिहासिक पक्ष पर बहुत अधिक जोर देकर इतिहासवादियों ने उसे उसके वैज्ञानिक स्वरूप से हटाने का प्रयत्न किया, और अब उसके वैज्ञानिक पक्ष पर आवश्यकता से अधिक जोर देकर उन लोगों ने जो राजनीति-विज्ञान के वैज्ञानिक पक्ष के प्रतिपादक हैं उसके मूल रूप को ही खण्डित करने की चेष्टा की है। *कॉमटे के प्रत्यक्षवाद से आरम्भ* होकर और उपयोगितावादियों, विकासवादियों और नव-कान्तिवादियों द्वारा संशोधित किये जाकर राजनीति-विज्ञान के वैज्ञानिक पक्ष पर आवश्यकता से अधिक आग्रह देने वाले इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि 19वीं शताब्दी के *अन्त तक* बहुत से समाज-शास्त्रियों में यह धारणा प्रबल होने लगी कि तथ्यों और मूल्यों में वैषम्य अथवा अन्तर्विरोध है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण : लाभ और मर्यादाएं

मारकोहं सिबली ने बड़े जोरदार ढंग से यह प्रतिपादन किया है कि राजनीति के किसी भी अच्छे पाठ्यक्रम में *शास्त्रीय राजनीतिक सिद्धान्तों,* विशेषकर प्लेटो और अरस्तू के

[33]वही, पृ० 47।
[34]वही, पृ० 49।
[35]वही।

अन्य राजनीतिक दार्शनिकों के अध्ययन को अनिवार्य माना जाना चाहिए।[56] प्लेटो को लेकर आधुनिक युग के विद्वानों में जो एक तीव्र विवाद चल पड़ा है जिसमें पॉपर, फाइट, रसेल और क्रासमैन ने बड़े आग्रह के साथ उसके नैतिक और राजनीतिक दोनों ही प्रकार के सिद्धान्तों की कड़ी भर्त्सना की है[57] और वाइल्ड, लेविन्सन और अन्य कई विद्वानों ने उतनी ही अधिक आस्था और आग्रह के साथ उसके पक्ष का प्रतिपादन किया है[58], उसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्लेटो और कुछ सीमा तक सभी प्रसिद्ध राजनीतिक दार्शनिकों ने, ऐसी समस्याओं का अध्ययन किया है जिनका सम्बन्ध केवल उनकी समकालीन स्थितियों से नहीं बल्कि सभी युगों से था। इसका अर्थ यह हुआ कि हम प्लेटो और अन्य दूसरे प्रसिद्ध लेखकों का अध्ययन यदि ऐतिहासिक दृष्टि से करें तो हमें उनकी रचनाओं में विचारों और संस्थाओं के विकास के क्रम में एक युग विशेष की झाँकी दिखायी दे जाती है और यदि विश्लेषणात्मक दृष्टि से करें तो राजनीति के सम्बन्ध में ऐसे सिद्धान्तों अथवा सम्भाव्य व्यवस्थाओं का दिग्दर्शन मिलता है जिनमें राजनीति की कल्पना जीवन के एक विश्वव्यापी अनुभव के रूप में की गयी है। सिबली के शब्दों में, "किसी भी 'राजनीतिक घटना' को यदि उसके सर्वांगीण रूप में और गहराई के साथ समझने की चेष्टा की जाय तो हमें आसानी से इस बात का पता लग सकता है कि, सभी युगों और सम्कृतियों में, विचारकों ने किस प्रकार सार्वजनिक नीतियों का निरूपण और क्रियान्वयन किया है और किन लक्ष्यों को वे प्राप्त कर सके, जिनके सम्बन्ध में उन्होंने सोचा कि वे उन्हें प्राप्त करने जा रहे हैं अथवा उन्हें प्राप्त करना चाहिए।"[59] प्लेटो और अरस्तू जैसे शास्त्रीय राजनीतिक विचारकों ने समकालीन राजनीतिक संस्थाओं, समस्याओं, धारणाओं और लक्ष्यों के सम्बन्ध में बहुत अधिक प्रकाश डाला है। सिबली लिखता है, "यदि यूनानी नगर राज्य उन पद्धतियों के महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं जिनके अनुसार मनुष्य ने अपना राजनीतिक संगठन किया है तो यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल के राजनीतिक दार्शनिकों ने राजनीतिक संगठनों के विकास और उनके प्रकार्यों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण संकेत हमारे सामने रखे हैं।"[60] प्लेटो और अरस्तू ऐसे दार्शनिक थे जिन्होंने राजनीति के सम्बन्ध में

[56]रोनल्ड यंग द्वारा सम्पादित 'एप्रोचेज टू दि स्टडी ऑफ पोलिटिकल साइंस' इवान्सटन, इली०, नॉर्थ-वेस्टर्न, यूनेस्को यूनीवर्सिटी प्रेस, 1958 में मल्फोर्ड जी० सिबली, 'दि प्लेस ऑफ क्लासिकल पोलिटिकल थ्योरी इन दि स्टडी ऑफ पौलिटिक्स . दि लेजिटिमेट स्पैल ऑफ प्लेटो,' पृ० 125-148।

[57]कार्ल पोपर, 'दि ओपिन सोसाइटी एण्ड इट्स एनिमीज', खण्ड 1 'दि स्पैल ऑफ प्लेटो, लन्दन 1945, वार्नर फाइट, दि प्लेटोनिक लैजेण्ड,' न्यूयार्क, 1934, बर्ट्रेण्ड रसेल, 'हिस्ट्री ऑफ वैस्टर्न फिलोसफी, न्यूयार्क, 1945, 'फिलौसफी एण्ड पौलिटिक्स', लन्दन, 1947, आर० एच० एस० क्रौसमेन, 'प्लेटो टुडे,' न्यूयार्क, 1939।

[58]जौन वाइल्ड, 'प्लेटोज थ्योरी ऑफ मैन, 'कैम्ब्रिज, मैसे०, 1946, 'प्लेटोज मॉडर्न एनिमीज एण्ड दि थ्योरी ऑफ नैचुरल लॉ,' शिकागो, 1953, रोनल्ड बी० लेविन्सन, 'इन डिफेन्स ऑफ प्लेटो' कैम्ब्रिज, मैसे०, 1953।

[59]सिबली, पो० उ०, पृ० 128।

[60]वही, पृ० 129।

'वैज्ञानिक' प्रविधि का विचार सबसे पहले मानवता के सामने रखा और संस्थाओं के निर्माण में, और उनसे भी अधिक विचारों के निर्माण में, बहुत अधिक और प्रभावशाली योग दिया। मध्यकालीन जीवन की संस्थागत संरचना और उसके पक्ष में दिये गये तर्कों का आधार मूलत: प्लेटो के विचारों पर रखा गया है। यद्यपि यह ठीक है कि प्लेटो की रचनाओं का प्रत्यक्ष प्रभाव इन पर नहीं पड़ा—क्योंकि पांचवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों के बीच में वे प्राय: लुप्त रहीं—परन्तु सिसेरो और ऑगस्टाइन की रचनाओं का पड़ा। परन्तु यह तो निस्संदिग्ध रूप से सच है कि टॉमस मोर के 'यूटोपिया' पर प्लेटो की 'रिपब्लिक' और उसके 'लॉज़' का स्पष्ट प्रभाव था क्योंकि तब तक प्लेटो की रचनाएं फिर से प्रकाश में आ चुकी थीं। 18वीं और 19वीं शताब्दियों के प्रारम्भिक वर्षों के चिन्तकों विशेषकर रूसो, हीगल और आदर्शवादियों पर प्लेटो का बहुत अधिक प्रभाव था। आधुनिक काल के लेखकों में एच० जी० वेल्स, आर० एच० एस० क्रॉसमैन वार्नर फाइट कार्ल पॉपर और अन्य लेखकों की रचनाओं पर प्लेटो का बहुत गम्भीर प्रभाव है।[61] क्या यह सब इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत नहीं करता कि प्राचीन काल के राजनीतिक दार्शनिकों की एक अमिट छाप सभी देशों और सभी युगों के राजनीतिक लेखकों पर पड़ी है?

यह मानते हुए भी कि प्राचीन काल के राजनीतिक विचारकों की रचनाओं का अध्ययन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, इतिहासवादी दृष्टिकोण की मर्यादाओं के सम्बन्धों में सतर्क रहना आवश्यक है। प्राचीन रचनाओं के मूलपाठ की प्रामाणिकता स्थापित करना, उन पर किन लेखकों और किन व्यक्तिगत और पर्यावरण सम्बन्धी कारकों का प्रभाव पड़ा, इनका अन्वेषण राजनीति-सिद्धान्त के क्षेत्र में शोध के परम्परागत विषय रहे हैं। कोई कारण दिखायी नहीं देता कि इस प्रकार की शोध का कार्य राजनीतिशास्त्री क्यों अपने हाथ में लें, क्यों न यह सब काम इतिहासकारों के हाथ में छोड़ दिया जाय। राजनीतिशास्त्री की रुचि का विषय तो समकालीन राजनीतिक व्यवहार होना चाहिए और उसी दृष्टि से परम्परागत राजनीतिक विचारकों के प्रेक्षणों और परिणामों के अध्ययन की प्रासंगिकता मानी जानी चाहिए। यह सम्भव हो सकता है कि उनके द्वारा निकाले गये परिणाम कई बार गलत और भ्रामक सिद्ध हों। 'हॉब्स द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अवस्था के निर्मम प्रतिद्वन्द्विता की भावना से आक्रान्त होने, अथवा गॉडविन द्वारा सुझाये गये स्वार्थों में विवेकपूर्ण सामंजस्य की स्थापना, के सिद्धान्त," वाटकिन्स के शब्दों में, 'इस प्रकार की गलतियों के अच्छे उदाहरण माने जा सकते हैं। परन्तु, इन सिद्धान्तों की तार्किक असमता और व्यावहारिक मर्यादाओं के बावजूद, यह सम्भव है कि सामान्य राजनीतिक व्यवहार के विभिन्न महत्त्वपूर्ण पक्षों के अध्ययन और विश्लेषण की दृष्टि से वे उपयोगी सिद्ध हों।"[62] इसका अर्थ यह हुआ कि इन प्राचीन राजनीतिक

[61]सिस्लो ने पौपर को 'विपरिवर्तित (inverse) प्लेटोवादी' कहा है। "प्लेटो पक्ष प्रस्तुत करता है, पौपर उसका प्रतिपक्ष परन्तु संदर्भ की धारा वही है।" (वही, पृ० 132)।

[62]'रोनाल्ड यंग, सं० इ०, फ्रेडरिक डब्ल्यू० वोटकिन्स, 'पोलिटिकल थ्योरी एज ए डोक्ट्रिन ऑफ पोलिटिकल साइंस,' पृ० 148 155।

सिद्धान्तों को समझना केवल यह जानने की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इतिहास के किसी एक विशेष युग में उनकी क्या भूमिका रही परन्तु यह समझने के लिए भी कि समस्त इतिहास में समाज के राजनीतिक व्यवहार के प्रति उनका क्या योगदान रहा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यवहारवादी दृष्टिकोण ने वस्तुनिष्ठता और कठोर परीक्षणों पर आधारित अध्ययन का एक बहुत ऊँचा आदर्श हमारे सामने रखा है और राजनीति की गतिविधियों को समझने के लिए यह एक उपयोगी और आशाजनक उपागम सिद्ध हुआ है। परन्तु इतिहासवादी दृष्टिकोण के समान उसकी भी अपनी मर्यादाएँ हैं। व्यवहारवादी उपागम की प्रवृत्ति प्रत्येक सम्पूर्ण समस्या को ऐसे टुकड़ों में विभाजित कर देने की होती है जिनका वैज्ञानिक अध्ययन आसानी से किया जा सके और समस्या को उसके समग्र रूप में समझने का उत्तरदायित्व आने वाले सुदूर भविष्य के हाथों में छोड़ दिया जाता है। इसके प्रतिकूल, इतिहासवादी दृष्टिकोण समन्वयात्मक और गतिशील निष्कर्षों तक पहुँचने में हमारी सहायता करता है। माटविन्स लिखता है, "राजनीतिक चिन्तन को जब हम समग्र ऐतिहासिक सन्दर्भ का एक अविभाज्य अंग मान कर उसका अध्ययन करते हैं तो हम उसके पीछे छिपी हुई विचारधाराओं का सम्बन्ध उन सभी राजनीतिक और सामाजिक शक्तियों के साथ आसानी से समझ सकते हैं जो किसी एक विशेष समय और स्थान पर क्रियाशील थीं। ऐतिहासिक विकास के धारावाही प्रवाह की पृष्ठभूमि में रख कर इन घटनाओं को समझने का एक लाभ यह भी होता है कि भविष्य में होने वाले सम्भावित परिवर्तनों का अनुमान लगाने का एक आधार हमें मिल जाता है।"[63]

एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण : कार्ल जे० फ्राइड्रिश

अब तक हमने यह देखा कि राजनीति को या तो ऐतिहासिक और दार्शनिक दृष्टिकोण से समझने की चेष्टा की जाती रही है या समाजशास्त्रीय और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से। इनमें से यदि हम पहले पक्ष पर अत्यधिक जोर दें तो खतरा यह रहता है कि राजनीति को हम नीतिवाद (moralism) का रूप दे देते हैं और यदि दूसरे पक्ष पर अत्यधिक जोर दिया जाता है तो उसका परिणाम यह निकल सकता है कि राजनीति का अध्ययन विज्ञानवाद (scientism) में खो जाय। कार्ल जे० फ्राइड्रिश एक ऐसा लेखक है जिसने यह बताने की चेष्टा की है कि राजनीतिक सिद्धान्त के दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनों ही पक्षों को ठीक से समझना और उन पर समान रूप से जोर देना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण को, जिसे एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण माना जा सकता है, समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम पहले यह जान लेने का प्रयत्न करें कि 'विज्ञान' और 'दर्शन' से हमारा तात्पर्य क्या है। विज्ञान की जो परिभाषाएँ हमें सर्वमान्य कोषों में मिलती हैं वे बताती हैं कि यह "ज्ञान अथवा अध्ययन की एक शाखा है जिसका सम्बन्ध तथ्यों अथवा सत्यों के एक ऐसे व्यवस्थित रूप से है जिसके द्वारा सामान्य नियमों की जानकारी हमें प्राप्त

[63]वही, पृ० 152।

प्रविधि से काम चलाना कठिन है। समाज शास्त्र अथवा मनोविज्ञान मे या तो समूह का अध्ययन करना होता है अथवा व्यक्ति का और इस कारण उनके अध्ययन मे ऐसी प्रविधियो से काम चलाया जा सकता है जो अपने आप मे परिशुद्ध और सुनिश्चित हो, परन्तु राजनीति-शास्त्र का सम्बन्ध प्रादेशिक राज्य से है जो समाज का सबसे बडा सगठित रूप है और जिसके स्वभाव, आकृति और लक्ष्य, समय और परिस्थितियो के अनुसार बदलते रहते है, और परिवर्तन के प्रत्येक रूप के अध्ययन मे विभिन्न प्रविधियों की आवश्यकता हो सकती है, और कभी-कभी विभिन्न उपागमो और प्रविधियो का सम्मिश्रण करना भी आवश्यक हो सकता है। सरकार के सवैधानिक रूप के उद्भव के अध्ययन के लिए एक प्रकार की प्रविधि उपयोगी हो सकती है, जबकि तानाशाही सरकार के उद्भव के अध्ययन के लिए दूसरे प्रकार की प्रविधि, क्योकि दोनो का मनोवैज्ञानिक आधार अलग-अलग है। राजनीति के इतिहास का अध्ययन करने मे हमे प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक, नृजातीय (ethnological) नृवैज्ञानिक,(anthropological), मनोवैज्ञानिक और अनेक अन्य उपागमो का प्रयोग आवश्यक हो सकता है। किसी एक अवसर पर उसके लिए इतिहास की दस्तावेजी (documentary) प्रणाली की आवश्यकता हो सकती है और किसी दूसरे अवसर पर विधि सम्बन्धी अध्ययनो मे काम मे लायी जाने वाली विश्लेषणात्मक और व्यक्ति अथवा प्रकरण अध्ययन (case study) प्रणाली की। कुछ अन्य अवसरों पर साख्यिकी और साक्षात्कार पद्धतियो का उपयोग भी आवश्यक हो सकता है। इस सब का यह अर्थ नही है कि ऐसी प्रविधियो के प्रयोग से, जो शुद्ध रूप मे वैज्ञानिक नही हैं, राजनीतिक सिद्धान्त के वैज्ञानिक स्वरूप मे किसी प्रकार की कमी आ जाती है। मूल बात जो हमे समझनी है वह यह है कि 'विज्ञान' का अर्थ यह नही है कि सामाजिक विज्ञानो मे अध्ययन की वही प्रविधिया प्रयोग मे लायी जायें जो भौतिक विज्ञान अथवा रसायनशास्त्र जैसे प्राकृतिक विज्ञानो मे काम मे लायी जाती है या, राजनीति-शास्त्र के अतिरिक्त, समाज शास्त्र अथवा मनोविज्ञान जैसे अन्य सामाजिक विज्ञानो मे।

इसके साथ ही हमे यह भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि राजनीति-शास्त्र के वैज्ञानिक पक्ष पर जोर देने का अर्थ यह नही होना चाहिए कि उसके दार्शनिक पक्ष मे किसी प्रकार की न्यूनता आ जाय। सच बात तो यह है कि किसी भी अच्छे राजनीति-शास्त्री के लिए दार्शनिकता उतनी ही आवश्यक है जितनी वैज्ञानिकता। अब प्रश्न यह उठता है कि 'दर्शन' का अर्थ क्या है ? दर्शन के सम्बन्ध मे जो विभिन्न परिभाषाए दी गयी है उनमे कहा गया है कि दर्शन "समस्त ज्ञान और अस्तित्व (अथवा वास्तविकता) मे अन्तर्हित सत्यो अथवा सिद्धान्तो का अध्ययन अथवा विज्ञान है, 'ज्ञान की किसी एक विशेष शाखा अथवा विषय के सिद्धान्तो के विज्ञान का अध्ययन" है, अथवा "बुद्धि अथवा ज्ञान के प्रति लगन" है, अथवा "एक ऐसी लगन है जिसका सम्बन्ध विशेष रूप से अन्तिम वास्तविकता से अथवा अस्तित्व के अधिकतम व्यापक कारणो और सिद्धान्तो से है।" इन परिभाषाओ मे कुछ अन्तर्विरोध होते हुए भी हम दर्शन को, व्यापक रूप से, सामान्य-ज्ञान' मान सकते है। बर्ट्रेन्ड रसेल की धारणा है कि दर्शनशास्त्र के दो भाग हैं, जो एक-दूसरे से सम्बन्धित तो हैं परन्तु जिनमे अधिक सामजस्य नही है। वह "विश्व की प्रकृति के

सम्बन्ध में एक सिद्धान्त" है, जिसके आधार पर हम विश्व की प्रकृति को समझने का प्रयत्न करते हैं, और जीवन-यापन की सर्वश्रेष्ठ पद्धति का एक नैतिक अथवा राजनीतिक सिद्धान्त भी, जिसके प्रकाश में हम नैतिक और राजनीतिक दृष्टि से अच्छा जीवन बिताने की प्रेरणा ले सकते हैं। लगभग इसी विचार को एक दूसरे ढंग से व्यक्त करते हुए फ्राइड्रिश ने लिखा है कि दर्शनशास्त्र का सम्बन्ध साधारणतः तो ऐसी समस्याओं से है जिन्हें वर्तमान ज्ञान के दायरे में समझा जा सकता है, परन्तु दार्शनिक इस दायरे का उल्लंघन करके तात्त्विक आध्यात्मिक अथवा पराभौतिक' प्रश्नों को भी उठा सकता है, और या तो बुद्धि और विवेक के आधार पर या अन्धविश्वास के आधार पर, उनका समाधान ढूंढने का प्रयत्न कर सकता है। दर्शन को यदि हम इस रूप में लें तो स्पष्टतः यह विज्ञान से भिन्न है। राजनीति-विज्ञान तथ्यों और निष्कर्षों को दर्शनशास्त्र के सामने प्रस्तुत करता है और उसके बदले में दर्शनशास्त्र से एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करता है जिसके आधार पर वह उन समस्याओं को, टुकड़े-टुकड़े करके नहीं, बल्कि उनके सर्वांगीण रूप में समझने की क्षमता का विकास करता है। राजनीति-दर्शन का कोई भी विद्वान राजनीतिक समस्याओं को उनके सही रूप में तब तक नहीं समझ सकता जब तक जीवन के सम्बन्ध में उसका अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण अथवा दर्शन न हो—यह बात अरस्तू के सम्बन्ध में भी उतनी ही सच है जितनी लास्की अथवा किसी अन्य आधुनिक चिन्तक के सम्बन्ध में।

इन सब दलीलों को मान लेने के बाद भी और राजनीतिक दार्शनिकों के प्रति यह इल्जाम लगाते हुए कि राजनीतिक दर्शन की अपर्याप्तता और असम्बद्धता का मूल कारण यही है कि राजनीतिक दार्शनिक दर्शन की गहराइयों में इतना उलझ गये हैं कि वे राजनीति को दर्शन के अतिरिक्त किसी अन्य दृष्टिकोण से देख ही नहीं सकते, समकालीन राजनीतिशास्त्री यह प्रश्न उठाते हैं कि, प्राचीन और मध्य युगों में स्थिति चाहे कुछ भी रही हो, अब समय आ गया है (भौतिक विज्ञान के समान राजनीति-विज्ञान में भी) जब हमें इस प्रकार के दार्शनिक और तात्विक दृष्टिकोणों से ऊपर उठना होगा और राजनीति-विज्ञान के ऐसे पक्षों पर अपने अध्ययन को केन्द्रित करना होगा जिनका सम्बन्ध राजनीति-विज्ञान के उपदेशात्मक और दार्शनिक पक्षों से नहीं है, और इस नये दृष्टिकोण के आधार पर हमें राजनीति को एक 'सकारात्मक' विज्ञान का रूप देना होगा।[4] इसका सीधा-सादा उत्तर फ्राइड्रिश के शब्दों में यह है कि ऐसा करना सर्वथा असम्भव है। राजनीतिशास्त्रियों के लिए यह अनिवार्य है कि वे 'शक्ति', 'न्याय', 'मूल्य', 'समूह', 'राष्ट्र', 'समाज' आदि संकल्पनाओं की चर्चा करें और इन संकल्पनाओं का प्रयोग केवल जीवन सम्बन्धी दर्शन के सन्दर्भ में ही किया जाना सम्भव है। राजनीतिशास्त्री अपनी

[4]'साइन्स एण्ड मेथड ऑफ पोलिटिक्स,' न्यूयार्क, 1927 में जो० ई० जी० कैटलीन और 'ए स्टडी ऑफ दि प्रिंसिपल्स ऑफ पोलिटिक्स' न्यूयार्क, मैकमिलन, 1930 में एच० ए० मोर, 'पॉवर एण्ड सोसाइटी', येल यूनीवर्सिटी प्रेस, 1950, में हैरल्ड लासवेल और अब्राहम कैपलन, और अनेक अन्य राजनीतिशास्त्री अपनी रचनाओं में।

'वैज्ञानिकता' को प्रभावित करने के लिए यदि दर्शन से अपना नाता तोड ले तो भी दार्शनिको को इन सकल्पनाओ के सम्बन्ध मे चर्चा करने से रोका नही जा सकता। फ्राइड्रिश ने लियो स्ट्रॉस और अस्तित्ववादियो, विशेषकर पॉल टिलिक और मॉरिस क्रैन्सटन जैसे दार्शनिको के उदाहरण दिये है जिन्होने शक्ति, कानून, स्वाधीनता, राजनीतिक सत्ता और इस प्रकार की अन्य राजनीतिक सकल्पनाओ के सम्बन्ध मे विस्तार से लिखा है और जिनका गहरा प्रभाव राजनीतिशास्त्रियो पर पडा है और भविष्य मे भी पडता रहेगा।[66] स्ट्रॉस टिलिक, क्रैन्सटन और अन्य दार्शनिको के, जिन्होने उन सकल्पनाओ के सम्बन्ध म अपना मत प्रगट किया है जो राजनीति-विज्ञान के मूल रूप को प्रभावित करती है, दृष्टिकोण से राजनीतिशास्त्री यदि सहमत न भी हो तो भी उसके लिए उनकी चर्चा करना और आवश्यक हो तो, उन्हे गलत सिद्ध करने का प्रयत्न करना आवश्यक होगा। राजनीति-विज्ञान को यदि हम उसके समग्र रूप मे देखना चाहे तो फ्राइड्रिश के इस विचार से सहमत हुए बिना कोई चारा नही है कि "राजनीति-विज्ञान और राजनीति-दर्शन दोनो एक-दूसरे से इतने अन्तरग रूप से गुथे हुए है कि यदि उनमे किसी एक का अध्ययन ढग से करना है तो दूसरे के अध्ययन के बिना वह सम्भव नही है और इस दृष्टि से राजनीति-विज्ञान अन्य विज्ञानो से किसी भी प्रकार भिन्न नही है जो सभी दर्शन से किसी न किसी रूप म जुडे हुए है।"[67]

राजनीति-विज्ञान की स्वायत्तता . नॉर्मन जैकबसन

राजनीति-विज्ञान को विज्ञान और दर्शन मे से किसी एक के साथ सम्बद्ध कर देने से, नॉर्मन जैकबसन के अनुसार, एक और खतरा पैदा हो जाता है और वह यह है कि दार्शनिक सिद्धान्त या तो विज्ञानवाद (scientism) का रूप ले लेता है अथवा नीतिवाद (moralism) का।[68] जैकबसन ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि राजनीति-विज्ञान न तो कोरा विज्ञानवाद है और न कोरा नीतिवाद। उसे न तो पूर्णत विज्ञान के साथ और न पूर्णत नैतिकता के साथ ही जोडा जा सकता है। दोनो से भिन्न उसका अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व है। जैकबसन ने तो यहा तक कहा है कि जो राजनीति-विज्ञान को शुद्ध विज्ञान के रूप मे ढालना चाहते हैं और विज्ञान की प्रविधियो और प्रणालियो को ज्यो का त्यो उसमे प्रयोग मे लाना चाहते है वे जानते ही नही कि विज्ञान का अर्थ क्या है। एक क्षेत्र के ज्ञान का लाभ दूसरे क्षेत्र को अधिक अच्छी तरह से समझने मे काम मे लाने की उपयोगिता से तो इनकार नही किया जा सकता—कई बार वह आवश्यक भी होता है—परन्तु दोनो क्षेत्रो की विभिन्नता को समझना भी हमारे लिए आवश्यक है। जैकबसन की धारणा है कि समकालीन राजनीतिशास्त्री राजनीति-विज्ञान को एक ऐसा

[66] लियो स्ट्रॉस, 'नेचुरल राइट एण्ड हिस्ट्री,' शिकागो, शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस, 1953, पॉल टिलिश, 'लव, पॉवर एण्ड जस्टिस,' न्यूयार्क ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी, लौगमैन्स, ग्रीन, 1953।

[67] फ्राइड्रिश, पी० उ०, पृ० 188।

[68] रोनल्ड यग, पी० उ०, मे नॉर्मन जैकबसन 'दि यूनिटी ऑफ पोलिटिकल थ्योरी साइस, मोरल्स एण्ड पोलिटिक्स,' पृ० 115-124।

रूप देना चाहते हैं जिसमें वह राजनीति-विज्ञान रह ही नहीं जायेगा। उनकी दृष्टि में "राजनीति-शास्त्र या तो मनोविज्ञान है, या समाजशास्त्र, या नीति-दर्शन, या धर्मशास्त्र, अर्थात वह अन्य कुछ भी हो परन्तु राजनीति-शास्त्र नहीं है।"[69] जैकबसन की दृष्टि में राजनीति का अध्ययन एक विशेष प्रकार की बौद्धिक सक्रियता है। दूसरे शास्त्रों की अध्ययन प्रविधियों में ऐसी उच्चतम प्रविधियों का प्रयोग करने में जिनके द्वारा हम राजनीति को अधिक अच्छे ढंग से समझ सकें हानि नहीं है, परन्तु यह केवल इसी उद्देश्य से होना चाहिए कि इससे हमें राजनीति को अधिक से अधिक अच्छे रूप में सहायता मिले। राजनीति का *अध्ययन अपने आप में एक विशेष प्रकार का अध्ययन है जिसमें विज्ञान और दर्शन* दोनों के दृष्टिकोण सन्निष्ट रूप से एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध है। 'विज्ञान' को यदि उसमें से निकाल दिया जाय तो वह 'नीतिवाद' का एक निरर्थक अवशेष बन कर रह जायेगा और यदि दर्शन' को उसमें से निकाल दिया जाय तो वह अध्ययन की एक प्रविधि मात्र बन कर रह जायेगी। जो लोग राजनीति-विज्ञान के या तो वैज्ञानिक पक्ष अथवा उसके दार्शनिक पक्ष पर इतना अधिक जोर देते हैं कि उसे इनमें से किसी एक के साथ तदाकार मान लिया जाता है। 'विज्ञानवाद' अथवा 'नीतिवाद' के अच्छे प्रतिपादक तो माने जा सकते हैं परन्तु राजनीति-विज्ञान के प्रति प्रतिबद्धता का अभाव भी उनमें स्पष्ट दिखायी देता है।

राजनीतिक सिद्धान्त की एकान्विति को ठीक से तभी समझा जा सकता है जब हम राजनीति को एक विशेष प्रकार की सक्रियता मानें और राजनीति के अध्ययन के प्रति प्रतिबद्धता को एक विशेष प्रकार का दायित्व। जो लोग राजनीति-शास्त्र को 'विज्ञान' अथवा 'दर्शन' का रूप देना चाहते हैं उनकी प्राथमिक निष्ठा या तो 'विज्ञान' के प्रति या 'नीतिशास्त्र' के प्रति इतनी अधिक है कि वे राजनीति को एक ऐसी सक्रियता मानते प्रतीत नहीं होते जिसका अध्ययन स्वयं अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। जैकबसन के शब्दों में दोनों ही वर्गों में धीरज की भयंकर कमी है—एक माप-तोल के लिए दीवाना है, दूसरा नैतिकता के लिए पागल। "विज्ञानवाद राजनीति में से राजनीति को निकाल देगा और 'नीतिवाद' उसे सदाचरण का शत्रु ठहराकर उसे समाप्त ही कर देगा।"[70] दोनों ही दृष्टिकोणों के पीछे यह भावना है कि राजनीति एक साधन मात्र है—वैज्ञानिक के लिए, उसके नैतिक पक्ष की परवाह न करते हुए, कुछ निर्दिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक साधन, और दार्शनिक के लिए, उसकी व्यावहारिकता पर ध्यान न देते हुए, नैतिकता और विवेकसम्मत लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक साधन। जैकबसन मानता है कि राजनीति को एक साधन के रूप में भी देखा जा सकता है, परन्तु उस अर्थ में नहीं जिसमें जीवन को मृत्यु का साधन अथवा स्वास्थ्य को बीमारी का पर्याय मान लिया जाय। राजनीति का अध्ययन स्वयं राजनीति के लिए ही किया जाना चाहिए। किसी भी स्थिति में राजनीति के सिद्धान्तों को राजनीतिक प्रक्रियाओं और अभिवृत्तियों से भिन्न

[69]वही, पृ० 116।
[70]वही, पृ० 117।

करके देखा जाना चाहिए—उनकी भी अपनी उपयोगिता है, परन्तु उन्हें राजनीति-सिद्धान्त का स्थान नही दिया जा सकता।

जैक्बसन को इसमे आपत्ति नही है कि अन्य विज्ञानो मे प्रचलित मकल्पनाओं और प्रविधियो को राजनीति-विज्ञान मे प्रयोग मे लाया जाय, किन्तु उसका दृढ मत है कि यह प्रक्रिया अविवेकपूर्ण ढग से काम मे नही लायी जानी चाहिए। शब्दावली के प्रयोग मे इस सिद्धान्त को वह अत्यन्त आवश्यक मानता है। जैकबसन तो यह मानने के लिए भी तैयार नही है कि राजनीति-विज्ञान की शब्दावली का बहुत परिशुद्ध और वैज्ञानिक होना . है। भापा को बन्ध्या बना देने की परिणति विचार को बन्ध्य बना देने मे हो सकती है। यदि हम दूसरे शास्त्रो से, विशेषकर प्राकृतिक विज्ञानो से, बिना सोचे-समझे उनकी शब्दावली को ग्रहण करते हैं तो उसमे हमारे समस्त चिन्तन पर उसका गहरा प्रभाव पड सकने का खतरा रहता है। वस्तुनिष्ठता के प्रश्न को ही लें तो, जैक्बसन के मतानुसार, एक राजनीतिशास्त्री उतना वस्तुनिष्ठ हो ही नही सकता—न उसे उतना वस्तुनिष्ठ होना ही चाहिए— जितना एक भौतिकशास्त्री हो सकता है। जैकबसन लिखता है, 'भौतिकशास्त्री अपने ज्ञान का अर्जन करने के लिए, इस पर निर्भर नही रहता कि वह ऊपर से नीचे *गिरती हुई किसी वस्तु की मन स्थिति का पता लगा सकता है अथवा* नहीं, न इस बात पर कि किसी विशेष प्रकार की गैस मे न्याय की भावना कितनी दृढ है। इसके विपरीत, राजनीति सिद्धान्त के प्रतिपादक का समस्त ज्ञान, आत्म-ज्ञान और अन्तर्निरीक्षण पर निर्भर रहता है। हम अपने साथियो को समझने की तब तक आशा नही कर सकते जब तक हम स्वय अपने आप को समझने का प्रयत्न न करें।" जैकबसन आगे चल कर लिखता है," "अपने पर अनवरत और निर्मम शल्य-चिकित्सा करते रहने, नैतिक दृष्टि से जो उत्तेजक है उसे अपने अध्ययन के क्षेत्र से बाहर निकाल फेंकने और बौद्धिक दृष्टि से जो आकर्षक है उसके प्रभाव को अवरुद्ध कर देने का अर्थ यह होगा कि हम राजनीति को सही रूप मे समझने की सम्भावनाओ का सर्वथा अन्त कर देंगे। हम मौनटेन के एक नाटक के उस हास्यापद पात्र के समान बन जाएगे जो शब्दकोश मे इस बात को देखे बिना कि खुजली' का अर्थ क्या है और पीठ' किसे कहते है, यह कहने का साहस नही कर रहा था कि उसकी पीठ मे खुजली मच रही है। इस प्रकार का मनुष्य यह कभी समझ भी सकता है कि दूसरे व्यक्ति इस कष्ट से छुटकारा पाने के लिए किस *सीमा तक जाने के लिए तैयार होगे इसमे सन्देह किया जा सकता है।*"[71] सम्पूर्ण वस्तुनिष्ठता यदि अपने आप मे वाछनीय हो तो भी सामाजिक विज्ञानो मे वह कभी सम्भव नही है। माइकेल पॉल्यानी के शब्दो मे, अनासक्ति को यदि उसके कठोर अर्थ मे लिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि वह केवल ऐसे व्यक्ति के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है जो जीवित प्राणियो के स्तर से बहुत नीचे के स्तर पर सम्पूर्ण बुद्धिहीनता मे, अपना जीवन व्यतीत कर रहा है।

अब तक हमने जैकबसन से उन तर्कों को लिया जिनमे उसने राजनीति-शास्त्र को

[71]वही, पृ॰ 120-121।

'विज्ञानवाद' के साथ मिला देने के प्रयत्नों की आलोचना की है। राजनीति-शास्त्र को 'विज्ञानवाद' के साथ मिलाना यदि एक बड़ी गलती है तो उसे 'नीतिवाद' के साथ मिलाना भी उतनी ही बड़ी गलती है। दार्शनिक को निरन्तर प्रचार करते रहने का अभ्यास पड़ जाता है, और वह राजनीतिक जीवन की वास्तविकताओं की उपेक्षा करता है। उसकी यह प्रवृत्ति भी रहती है कि वह अपने राजनीतिक सिद्धान्त को एक नैतिक सिद्धान्त का रूप दे। जैसा हॉब्स और रूसो दोनों ने माना है, राजनीतिक सिद्धान्तों की खोज नैतिक सिद्धान्तों की खोज नहीं है। इस समस्त विश्लेषण का निष्कर्ष निकालते हुए जैकबसन ने कहा है 'राजनीति-सिद्धान्त न तो विज्ञानवाद है और न नीतिवाद, इन दोनों को हम अलग-अलग करके देखें चाहे मिला कर। इन दोनों में से किसी का भी सम्बन्ध उसके केन्द्रीय विषय से नहीं है। राजनीति सिद्धान्त का केन्द्रीय विषय राजनीतिक प्रज्ञा की खोज है।'[72] जैकबसन ने व्यवस्था की उस संकल्पना की भी आलोचना की है जिसके अन्तर्गत शोध-प्रविधियों पर अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है जैसा कि समकालीन राजनीतिशास्त्रियों ने किया है, और जो, जैकबसन के अनुसार, राजनीति को समझने की दृष्टि से एक सर्वथा अनुपयुक्त उपागम है।[73] व्यवस्था-सिद्धान्त के समस्त दृष्टिकोण के पीछे यह धारणा दिखायी देती है कि राजनीतिक व्यवस्था नाम की कोई चीज पहले से ही मौजूद थी और आधुनिक काल में उसका आविष्कार सामाजिक-वैज्ञानिक तकनीकों तथा प्रतीकात्मक तर्क-शास्त्र और गणित-शास्त्र में बढ़े हुए ज्ञान के कारण सम्भव हो सका है। व्यवस्था की समस्त संकल्पना ही ऐसे विचारकों की प्रतिभा और प्रशिक्षण की उपज है जिन्होंने राजनीतिक बुद्धिमत्ता की खोज के स्थान पर प्रविधियों के अध्ययन और उनके परिष्करण में अपने जीवन का बहुत लम्बा समय लगा दिया है। राजनीति-विज्ञान के अध्ययन के लिए प्रतिभा और प्रशिक्षण से कुछ अधिक की आवश्यकता होती है—एक विवेकदर्शी प्रज्ञा की। वह तकनीकों से अधिक ज्ञान की, और नक्शों से अधिक प्रज्ञा की, अपेक्षा करता है। जैकबसन ने यह बताने की चेष्टा की है कि यदि ज्ञान को तकनीकों के बोझ से दबा दिया जाय और प्रज्ञा को नक्शों से नीचा मान लिया जाय, तो उसका यह परिणाम होता है कि ज्ञान के क्षेत्र में सर्जनात्मकता के स्तर बराबर गिरते जाते हैं। राजनीति के ज्ञान के लिए कल्पना-शक्ति, अनुभव, विवेक और इससे भी अधिक, अपने विषय के प्रति प्रतिबद्धता आवश्यक है। जैकबसन लिखता है, 'सामान्य बुद्धिमत्ता को उसके अधिकतम उपयोग के लिए व्यवस्थित करना एक बात है और यह निश्चित करना बिलकुल दूसरी बात कि व्यवस्थित सामान्यता उन मापदण्डों का निर्धारण कर सकती है जिनके द्वारा हम राजनीतिक सिद्धान्तों में

[72]वही, पृ० 122।

[73]वह व्यंग्य के साथ लिखता है, 'व्यवस्था निर्माता बड़े आत्मविश्वासयुक्त व्यक्ति हैं। वे वर्तमान में विश्वास करते हैं और इससे भी अधिक, विश्वविद्यालयों द्वारा राजनीतिक सिद्धान्तवादियों के उत्पादन में उनका विश्वास है कि यह काम शिक्षा के कुछ पाठ्यक्रम निर्धारित कर देने से पूरा किया जा सकता है।' "वही"।

रचनात्मकता और मौलिकता का परीक्षण करते है।"[74] जैकबसन ने आगे लिखा है, "यह स्थिति वास्तव मे दुर्भाग्यजनक होगी जब व्यवस्था और शोध प्रविधियो पर अत्यधिक जोर देने के कारण राजनीति सिद्धान्त के महत्त्व का मापदण्ड तकनीकी प्रखरता बन जाएगी।"[75] यह बिलकुल सम्भव है कि एक ऐसा प्रतिभाशाली अविशेषज्ञ, जिसे राजनीति मे गहरी रुचि है, एक कल्पना-शून्य, निलिप्त और माप-तौल कर चलने वाले विशेषज्ञ की तुलना मे राजनीति को समझने की अधिक योग्यता रखता हो।

[74] वही, पृ० 123।
[75] वही, पृ० 124।

अध्याय 2

राजनीति-विज्ञान में व्यवहारवादी क्रान्ति : अर्थ, उद्देश्य और मर्यादाएं

(BEHAVIOURAL REVOLUTION IN POLITICAL SCIENCE : MEANING, PURPOSE AND LIMITATIONS)

व्यवहारवादी क्रान्ति : वैचारिक पृष्ठभूमि

राजनीति के आधुनिक सिद्धान्तों के विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है कि वह व्यवहारवादी क्रान्ति के अर्थ, उद्देश्य और मर्यादाओं को स्पष्ट रूप में समझे, परन्तु उससे पहले मूल्यों और तथ्यों के सम्बन्ध में एक लम्बे अरसे तक चले आने वाले उस सैद्धान्तिक वाद-विवाद के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त कर लेना उपयोगी होगा जिसने, एक वैचारिक पृष्ठभूमि के रूप में, समस्त व्यवहारवादी क्रान्ति को प्रेरित और उद्वेलित किया। राजनीति विज्ञान के सम्बन्ध में यों तो समय-समय पर अनेक दृष्टिकोणों का प्रतिपादन किया गया है, और उनमें से एक से अधिक दृष्टिकोण प्रायः एक ही समय में प्रचलित रहे हैं, परन्तु बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रचलित दृष्टिकोणों को, व्यापक रूप में, दो वर्गों में बांटा जा सकता है—(1) विधिवादी ऐतिहासिक (legalist-historical) अथवा आदर्शात्मक-दार्शनिक (normative-philosophical) दृष्टिकोण, और (2) आनुभविक-विश्लेषणात्मक (empirical-analytic) अथवा वैज्ञानिक-व्यवहारवादी (scientific-behavioural) दृष्टिकोण, और इन दोनों दृष्टिकोणों में प्रमुख भेद इस आधार पर किया जा सकता है कि पहला दृष्टिकोण तथ्यों की तुलना में मूल्यों पर अधिक जोर देता है, और दूसरा दृष्टिकोण मूल्यों की तुलना में तथ्यों पर। इस सम्बन्ध में जो परस्पर विरोधी स्थितियां पायी जाती हैं उन्हें रॉबर्ट डाल ने आनुभविक सिद्धान्तवादी (empirical theorists) और परा-आनुभविक सिद्धान्तवादी (trans-empirical theorists) का नाम दिया है।[1] आनुभविक सिद्धान्तवादियों का विश्वास है कि केवल तथ्यों पर आधारित राजनीति का ही एक आनुभविक विज्ञान के रूप में विकसित किया जाना सम्भव है, जबकि परा-आनुभविक सिद्धान्तवादियों का विचार है कि राजनीति के अध्ययन को न तो शुद्ध विज्ञान का रूप दिया जा सकता है और न दिया जाना चाहिए। यह वाद-विवाद मुख्यतः दो विशेष प्रश्नों के सम्बन्ध में है :

[1]रॉबर्ट ए० डाल, 'मॉडर्न पोलिटिकल एनालिसिस', एंगलवुड क्लिफ्स, एन० जे० प्रेंटिस-हॉल, 1963, पृ० 101।

(1) मूल्य-निरपेक्ष (value-free) राजनीतिक विश्लेषण क्या सम्भव है ?
(2) राजनीतिक विश्लेषण का मूल्य-निरपेक्ष होना क्या वांछनीय है ?

राजनीतिक विश्लेषण और मूल्य-निरपेक्षता

जहा तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है, आनुभविक सिद्धान्तवादियो का यह निश्चित मत है कि बिना, इस मूल्य-सापेक्ष प्रश्न को पूछे कि जिन आनुभविक प्रस्थापनाओ की चर्चा की जा रही है वे सत्य है अथवा असत्य, यह बिलकुल सम्भव है कि राजनीति के सम्बन्ध मे हमारे विश्वासो के आनुभविक पक्ष को अन्य बातो से जुदा कर लिया जाय और उसका वैज्ञानिक परीक्षण किया जाय। आनुभविक दृष्टि से सत्य क्या है, इसके सम्बन्ध मे 'सही' निर्णय लेना एक बात है, और सत्य क्या होना चाहिए उसके सम्बन्ध मे 'सही' निर्णय लेना दूसरी बात। मूल्यो के सम्बन्ध मे बहुत से मत हो सकते है—कोई उन्हे ईश्वर का आदेश मान सकता है कोई प्राकृतिक नियम अथवा स्वभावत ही शुद्ध व्यक्ति-परक, *जैसा कि अस्तित्ववादियो का विचार है, परन्तु तथ्य सभी के सामने होते हैं, वे सभी को दिखायी देते है, और इस कारण, उन्हे (और केवल उन्हे ही) आनुभविक* परीक्षणो की कसौटी पर कसा जा सकता है जबकि मूल्यो के सम्बन्ध मे इस प्रकार का कोई परीक्षण सम्भव नही है। साक्षरता, सामान्य रूप से अथवा किसी विशेष देश मे, लोकतान्त्रिक प्रशासन को स्थायित्व प्रदान करने मे सहायक है अथवा नही, आनुपातिक प्रतिनिधित्व कहा तक बहुदलीय व्यवस्था का प्रमुख कारण माना जा सकता है, अथवा द्विदलीय व्यवस्था के सफल संचालन के लिए क्या यह आवश्यक है कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से केवल एक सदस्य ही चुना जाय, ये सब प्रश्न ऐसे है जिनका परीक्षण आनु-भविक प्रविधियो के *द्वारा किया जा सकता है, बिना इस बात की चिन्ता किये कि ये* प्रश्न जिन राजनीतिक व्यवस्थाओ के सम्बन्ध मे उठाये जा रहे हैं वे अपने आप मे सही हैं अथवा गलत। इसके बिलकुल विपरीत, परा-अनुभववादियों का यह दृढ विश्वास है कि, प्राकृतिक विज्ञानो मे स्थिति चाहे कुछ भी क्यो न हो, तथ्य और मूल्य एक दूसरे के साथ इतनी निकटता के साथ गुन्थे हुए है कि राजनीति के अध्ययन मे, कुछ अत्यन्त महत्त्वहीन अपवादो को छोडकर, उन्हे एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता। उनका कहना है कि, दिखावा चाहे कुछ भी किया जाय, हम लोग सभी सदैव मूल्यात्मक निर्णय लेने की प्रक्रिया मे लगे रहते हैं। *राजनीति के सम्बन्ध मे, उनका दावा है, कोई ऐसा व्यापक* सिद्धान्त हो ही नही सकता जिसमे न केवल उसमे दिये गये तथ्यात्मक वक्तव्यो की आनुभविक प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे मूल्यांकन किया गया हो, परन्तु राजनीतिक घटनाओ, प्रक्रियाओ अथवा व्यवस्थाओ के नैतिक गुणो के सम्बन्ध मे भी मूल्यांकन न किया गया हो। इन तर्कों के आधार पर परा-अनुभववादियो की यह मान्यता है कि यदि कोई यह सोचता है कि राजनीति के सम्बन्ध मे कोई सम्पूर्णत वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त हो सकता है तो वह बडे भ्रम मे है।

इस वाद-विवाद की गहराई मे यदि *प्रवेश किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि* इन दोनो विचारधाराओ के बीच मतभेद इतना गम्भीर नही है जितना मान लिया गया

है। जैसा रॉबर्ट डाल ने स्पष्ट रूप से बताया है, दोनों दृष्टिकोणों के बीच सहमति का एक व्यापक क्षेत्र है।[8] आनुभविक अध्ययनों में से मूल्यों को सम्पूर्णतः बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। इसे यदि हम अपने तर्क का आधार मान लें—और यह एक ऐसा तथ्य है जिसके सम्बन्ध में, अनुभववादियों और परा-अनुभववादियों दोनों में सहमति दिखाई देती है—तो निम्न बातों के सम्बन्ध में भी इन दोनों के बीच हमें पर्याप्त मात्रा में सहमति दिखायी दे सकेगी (1) शोध-कर्त्ता के मूल्यों, तथा उसकी विशेष रुचि और उत्सुकता, का शोध के लिए चुने गये विषय पर अनिवार्य रूप से प्रभाव पड़ता है—यह बात सामाजिक विज्ञानों में शोध के सम्बन्ध में भी उतनी ही सच है जितनी प्राकृतिक विज्ञानों की शोध के सम्बन्ध में, (2) कोई वस्तु अथवा विषय महत्त्वपूर्ण और प्रयोजनशील है अथवा नहीं, इसका निर्धारण सम्पूर्णतः केवल आनुभविक ज्ञान के आधार पर ही नहीं किया जा सकता—यह निश्चय करने के लिए भी कि शोध-कर्त्ता शोध के किन क्षेत्रों को अन्य क्षेत्रों की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है उसके पास कुछ अधिमान्यताओं का होना आवश्यक है, और वे मूल्य-मुक्त हो ही नहीं सकती; (3) राजनीति के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण के लिए, किसी भी स्थिति में, सत्य के महत्त्व को मानकर चलना तो अनिवार्य होगा ही, और सत्य के प्रति यह आग्रह भी अपने-आप में एक मूल्य ही है; *(4) किसी भी आनुभविक शोध का आरम्भ करने में पहले उससे सम्बद्ध वस्तुओं के* सम्बन्ध में कुछ बातों को आधारभूत मानकर चलना आवश्यक होता है। इन मान्यताओं को प्रायः 'प्राग-वैज्ञानिक ज्ञान' कहा गया है, और यह मान लिया गया है कि इनके लिए किसी प्रकार के प्रमाण प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं है; (5) प्राकृतिक विज्ञानों की तुलना में, जहां शोध के परिणामों के, तुलनात्मक दृष्टि से सरल परीक्षणों के रूप में, शोध को रागद्वेष और विकृति से मुक्त रखने के लिए अन्तर्हित व्यवस्थाएं हैं, सामाजिक विज्ञानों में शोध-कर्त्ता की शोध को उसके अपने रागद्वेषों से मुक्त रख पाना अत्यन्त कठिन होता है यह बात सूक्ष्म शोध की तुलना में, व्यापक अथवा मध्य-स्तरीय सामान्यीकरणों के सम्बन्ध में अधिक सही है। आनुभविक सिद्धान्तवादियों और परा-आनुभविक *सिद्धान्तवादियों के बीच का वाद-विवाद, जैसा रॉबर्ट डाल ने बताया है,* वास्तव में, जो है के ज्ञान को जो होना चाहिए के ज्ञान से भिन्न किया जा सकता है अथवा नहीं, इस प्रकार के तार्किक प्रश्नों के सम्बन्ध में नहीं है क्योंकि कुछ अपवादों का छोड़कर, दोनों पक्ष इस सम्बन्ध में तो सहमत दिखायी देते हैं कि है और होना चाहिए तार्किक दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न हैं, परन्तु उनमें इस मनोवैज्ञानिक पक्ष के सम्बन्ध में है कि राजनीतिक मामलों में तथ्यों और मूल्यों को, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, एक दूसरे से भिन्न करके *देखा जा सकता है अथवा नहीं।*

मूल्य-निरपेक्षता कहां तक वांछनीय ?

परा-अनुभववादियों और अनुभववादियों के बीच का वाद-विवाद, प्रमुखतः, इस बात

[8] वही, पृ॰ 102-103।

को लेकर है कि राजनीति-विज्ञान के लिए मूल्य-निरपेक्ष होना क्या वांछनीय है। परा-अनुभववादियों का कहना है—राजनीति के अध्ययन के पीछे सदा ही कोई उद्देश्य होता है—यह हमें सही ढंग से काम करने, अच्छे साधनों को अपनाने, और अपने सहयोगियों के साथ सद्भावना में सम्बन्ध रखने के लिए क्षमता प्रदान करता है। यह सब तभी सम्भव हो सकता है जब वस्तु-स्थिति का हम सही अन्दाजा लगा सकें, और उसका सही मूल्यांकन कर सकें। राजनीतिक स्थिति का ठीक से अन्दाजा लगाने की प्रक्रिया में तथ्यों की खोज और उनका मूल्यांकन दोनों इतने अधिक गुंथे-मिले हैं कि, डाल के शब्दों में, *हमारे लिए यह एक निरर्थक प्रयास होगा कि अपने तथ्यात्मक ज्ञान को हम एक मुहर-बन्द डिब्बे में एक खाने में रखें और मूल्यों को दूसरे खाने में, जहां वास्तविकता से उसका किसी प्रकार का सम्बन्ध ही न रह जाय।*" परा-अनुभववादियों के द्वारा अनुभव-वादियों के विरुद्ध जो आक्षेप लगाये गये हैं गोवर्ड डाल ने उन्हें चार प्रमुख भागों में बांटा है (1) आनुभविक सिद्धान्तवादियों के पास सम्बद्धता की जांच के लिए कोई कसौटी नहीं है, और इस कारण वे अपना अधिकांश समय महत्त्वहीन खोजों में लगाते हैं जिनका राजनीति-विज्ञान के मूल सैद्धान्तिक प्रश्नों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, (2) *मूल्य-निरपेक्षता और वस्तुनिष्ठता की अपनी खोज में वे ऐसे आडम्बरपूर्ण शब्द-जाल* का प्रयोग करते लगे हैं जो कृत्रिम और क्लिष्ट तो है ही, कभी कभी हास्यास्पद भी हो जाता है, (3) मूल्यों से छुटकारा पाने के उनके इन प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ है कि उन्होंने मूल्यांकन के सभी आधारों का न केवल अस्वीकार कर दिया है परन्तु वे ऐसा मानते दिखायी देते हैं जैसे सभी मूल्य बराबर हों, और (4) मूल्य-निरपेक्षता की दुहाई देते हुए भी, उनमें से अधिकांश उस प्रकार के उदार लोकतन्त्र के कट्टर समर्थक जान पड़ते हैं जैसा पश्चिमी देशों में पाया जाता है।[1] इन आरोपों और आनुभविक *सिद्धान्तवादियों के द्वारा दिये गये इनके प्रत्युत्तरों* के आधार पर प्रचुर साहित्य एकत्रित हो गया है, जिसका अध्ययन आधुनिक राजनीति-विज्ञान की मूल सैद्धान्तिक मान्यताओं को समझने की दृष्टि से अत्यधिक उपयोगी है।

सम्बद्धता के परीक्षण के लिए अनुभववादियों के पास कोई कसौटी नहीं है, परा-अनुभववादियों का यह तर्क इस विश्वास पर आधारित है कि इस प्रकार की कसौटियों का निर्माण *केवल आनुभविक ज्ञान से नहीं किया जा सकता ? और अनुभववादी आनु-भविक ज्ञान से* आगे बढ़ने के लिए तैयार नहीं हैं—और, क्योंकि उनके पास सम्बद्धता के परीक्षण के लिए कोई कसौटी नहीं है, यह स्वाभाविक हो जाता है कि वे ऐसी महत्त्वहीन खोजों में अपना समय बर्बाद करें जिनका मानव-उद्देश्यों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आनुभविक सिद्धान्तवादियों का झुकाव प्राय ऐसी महत्त्वहीन खोजों में अपना समय लगाने की ओर रहा है जिनका मानवी उद्देश्यों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, इसकी व्याख्या करते हुए स्ट्रॉस लिखता है, "नया राजनीति-विज्ञान ऐसे प्रेक्षणों को *सबसे अधिक महत्त्व देता है जो अधिक से अधिक बार दोहराये जा सकें* और क्योंकि

[1] वही, पृ० 104।

उनका सम्बन्ध जनता के निम्नतम भागों से होता है, ये प्रेक्षण प्राय ऐसे लोगों के द्वारा जो बुद्धिमान नहीं होते, ऐसे लोगों के सम्बन्ध में होते हैं जो बुद्धिमान नहीं हैं।"[4] स्ट्रॉस का यह आरोप इस तर्क पर आधारित है कि नियमित रूप से बार-बार होने वाले राजनीतिक व्यवहार के आधार पर ही किसी 'वैज्ञानिक' निष्कर्ष का निकालना सम्भव होता है। राजनीतिक व्यवहार में इस प्रकार की नियमितता समाज के निम्न वर्गों में ही जो बौद्धिक दृष्टि से पिछड़े हुए होते हैं, पायी जाती है, इस कारण इस प्रकार के अध्ययन का सम्बन्ध प्रायः इसी वर्ग से होता है। इस तर्क का जोरदार उत्तर देते हुए आनुभविक सिद्धान्तवादियों का कहना है कि यह गलत है कि उनके पास सम्बद्धता की कोई कसौटी नहीं है। वास्तव में वे तो उन्हीं प्रश्नों के समाधान की खोज में लगे हुए हैं जो शताब्दियों से परम्परावादी राजनीतिक सैद्धान्तिकों की जाँच-पड़ताल का केन्द्र रहे हैं : राजनीतिक व्यवस्थाएं कितने प्रकार की हो सकती हैं; स्थायित्व, परिवर्तन और शान्ति की समस्याएं क्या हैं, लोकतन्त्र अथवा तानाशाही, समानता अथवा असमानता, स्वतन्त्रता अथवा गुलामी किन वातावरणों में प्रोत्साहन पाते हैं; आदि।

शास्त्रीय सिद्धान्तवादियों की रचनाओं से भिन्न आनुभविक सिद्धान्तवादी एक ऐसी कठिन भाषा का प्रयोग करते हैं जिसके कारण उनकी संकल्पनाओं को, जो पहले से ही दुरूह होती हैं, समझना और भी कठिन हो जाता है।[5] इस इल्जाम के जवाब में उनका कहना है कि इसका एक कारण तो यह है कि उन्होंने राजनीतिक व्यवहार और प्रक्रियाओं को बहुत गहराई में जाकर समझने का प्रयत्न किया है और इस कारण नयी संकल्पनाओं का विकास करना उनके लिए आवश्यक हो गया है, और दूसरा कारण यह है कि उन्होंने बहुत से शब्द अन्य सामाजिक विज्ञानों से लिये हैं। इसके साथ ही उन्होंने अपना यह विश्वास भी प्रकट किया है कि आधुनिक राजनीतिक सैद्धान्तिकों ने, विशेषकर लासवेल ने, ऐसे शब्दों का विकास करने का प्रयत्न किया है जो विचारों की गूढ़ता को अधिक से अधिक सुनिश्चित शब्दों में व्यक्त कर सकें। इस आरोप के पीछे परा-अनुभववादियों की यह भ्रमपूर्ण धारणा भी है कि आनुभविक सिद्धान्तवादियों में और तार्किक प्रत्यक्षवादियों (logical positivists) में इस स्थिति के सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं है कि मूल्यों से सम्बन्धित सभी वक्तव्य 'अर्थहीन' हैं, जबकि वस्तु स्थिति यह है कि, उत्साह के अपने प्रारम्भिक चरण में अनुभववादियों का अवश्य यह प्रयत्न रहता था कि इस सम्बन्ध में उनका और तार्किक प्रत्यक्षवादियों का दृष्टिकोण एक ही है। परन्तु बाद के वर्षों में उन्होंने स्वयं इस स्थिति से इनकार कर दिया था। अब उन्होंने यह विश्वास करना छोड़ दिया है

[4] लियो स्ट्रॉस, 'एन एपीलॉग', हर्बर्ट जे० स्टोरिंग द्वारा सम्पादित, 'एसेज ऑन दि साइंटिफिक स्टडी ऑफ पॉलिटिक्स', होल्ट, राइनहार्ट और विंस्टन, इन०, न्यूयार्क, 1962 पृ० 326।

[5] रोबर्ट डाल ने इस सम्बन्ध में परा-अनुभववादियों, विशेषकर वोगेलिन की, जो उनमें सबसे प्रमुख हैं, भाषा के कुछ रोचक उदाहरण देते हुए बताया है कि उन्होंने भी प्राय ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जो बहुत स्पष्ट अथवा सुनिश्चित नहीं मानी जा सकती।—डाल, पी० उ०, पृ० 105।

कि राजनीति के तटस्थ और वस्तुनिष्ठ अध्ययन के लिए *मूल्यों के प्रति उदासीन होना* आवश्यक है। सच तो यह है कि आज आनुभविक सिद्धान्तवादियों में से अधिकांश ब्रेख्त की, वैज्ञानिक मूल्य-सापेक्षवाद (scientific value relativism) के उस सिद्धान्त से सहमत दिखायी देते हैं जिसमें उसने कहा है कि मूल्य विज्ञान से परे हैं परन्तु बुद्धिमत्तापूर्ण *नैतिक निर्णय* लेने के लिए किसी न किसी प्रकार के *आनुभविक ज्ञान* का होना, जो वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, *एक आवश्यक शर्त है।* यह स्पष्ट है कि परा-अनुभववादियों ने आनुभविक सिद्धान्तवादियों में स्थिति के इस परिवर्तन को ठीक से नहीं समझा है।

आनुभविक सिद्धान्तवादियों के विरुद्ध परा-अनुभववादियों के द्वारा जो प्रमुख आरोप लगाया गया है, और जिसका उन्होंने बड़े जोरदार शब्दों में *विरोध किया है, वह यह है* कि मूल्यों से मुक्त रहने के अपने प्रयत्नों में आनुभविक सिद्धान्तवादियों ने मूल्यांकन के सभी आधारों का तिरस्कार कर दिया है और वे सभी मूल्यों को बराबर मानते हैं। परा-अनुभववादियों की विचारधारा का एक प्रमुख प्रवक्ता, स्ट्रौस, इस सम्बन्ध में *लिखता है, "सभी इच्छाओं के बिना किसी भेदभाव के बराबर मान लेने की* उनकी शिक्षा का प्रभाव यह हुआ है कि कोई भी इच्छा अब ऐसी नहीं रही जिसके सम्बन्ध में मनुष्य को लज्जा का अनुभव हो। उसके पीछे अच्छे से अच्छा उद्देश्य क्यों न हो, आत्म-ग्लानि की भावना को नष्ट कर देने का परिणाम यह होता है कि आत्म-सम्मान की सम्भावना ही नष्ट हो जाती है। सभी मूल्यों को बराबर मान लेने की शिक्षा देकर, इस बात से इनकार करके कि कुछ वस्तुएं ऐसी हैं जो अपने आप में महान हैं और, इसी प्रकार कुछ दूसरी वस्तुएं ऐसी हैं जो अपने आप में निम्न हैं, और इस बात से भी इनकार करके कि मनुष्यों और पशुओं में कोई मूलभूत अन्तर हो सकता है, यह सिद्धान्त, अनजाने में ही सही, पाशविक वृत्तियों को श्रेष्ठता स्थापित करता है।"[6]

मैक्स वेबर : एक स्पष्टीकरण

मूल्य निरपेक्षता की इस भावना के प्रसार के लिए स्ट्रौस और वोगेलिन दोनों ने मैक्स वेबर को मूल रूप से दोषी ठहराया है। स्ट्रौस का कहना है कि मैक्स वेबर ने, "इस बात को, साधारणत, स्वीकार किया है कि मूल्यों में ऊंच-नीच का कोई भेद नहीं है, और इस कारण, सभी मूल्यों को एक ही श्रेणी में रखा जा सकता है।" वोगेलिन भी कहता है कि वेबर ने, "सभी मूल्यों को समान माना है।"[7] स्ट्रौस और वोगेलिन दोनों ने वेबर पर यह विश्वास करने का आरोप लगाया है कि विज्ञान से मूल्यों की समस्या को समझने

[6]लिओ स्ट्रॉस, पी० उ०, पृ० 326।

[7]एरिक वोगेलिन, दि न्यू साइंस ऑफ पोलिटिक्स', शिकागो, 1952। इस सम्बन्ध में स्ट्रॉस और वोगेलिन के विचारों के एक सशक्त प्रत्युत्तर के लिए देखिए आर्नोल्ड ब्रेख्त, पोलिटिकल थ्योरी, दि फाउण्डेशन्स ऑफ ट्वेन्टिएथ सेंचुरी पोलिटिकल थॉट,' बम्बई, टाइम्स ऑफ इण्डिया प्रेस, 1970, अध्याय 6, पृ० 207-258 और अध्याय 7, पृ० 261-301।

में किसी भी प्रकार की सहायता नहीं मिलती। उनकी मान्यता है कि वेबर मूल्यों को 'विज्ञान से परे' की वस्तु मानता था। दोनों ने ही वेबर की रचनाओं में बहुत अधिक असंगति होने की बात कही है—स्ट्रॉस का कहना है कि वेबर के स्वयं अपने निष्कर्षों पर उसके मूल्यों की स्पष्ट छाप है, और वोगेलिन का आरोप है कि वेबर की मान्यता थी कि वस्तुनिष्ठ ऐतिहासिक शोध के आधार पर इतिहास की मार्क्सवादी भौतिक व्याख्या गलत सिद्ध होती है, और अपने इस निष्कर्ष के आधार पर उसने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि कोई भी विद्वत्तापूर्ण व्यक्ति कभी मार्क्सवादी नहीं हो सकता, पर मूल्यों के सम्बन्ध में उसका जो दृष्टिकोण था, उसे देखते हुए मार्क्सवादियों के मूल्य सम्बन्धी विचारों को चुनौती देने का उसे अधिकार नहीं था। यह वास्तव में एक आश्चर्य की बात है कि, जबकि स्ट्रॉस और वोगेलिन दोनों ने वेबर को एक महान् विद्वान माना है—स्ट्रॉस ने वेबर को, 'हमारी शताब्दी का सबसे महान समाजशास्त्री' बताया है और वोगेलिन ने उसकी रचनाओं को 'उत्कृष्ट' बताते हुए कहा है कि, "समझने से अधिक वे अनुभव करने की वस्तु हैं"—इन दोनों ने ही उसकी रचनाओं के केन्द्रीय विचारों को समझने में भूल की है।

स्ट्रॉस, वोगेलिन और उन्हीं जैसे विचार रखने वाले अन्य विद्वान वेबर के विचारों के सम्बन्ध में यह भूल कदापि नहीं करते यदि उन्होंने उसकी रचनाओं को ठीक से पढ़ने का कष्ट किया होता। इसमें सन्देह नहीं कि इन रचनाओं को पढ़ना कष्ट-साध्य अवश्य है। ब्रेख्ट ने वेबर के विचारों के अपने विश्लेषण में यह स्पष्ट कर दिया है कि उसने मूल्यों को कभी भी समान नहीं माना था। उसका कहना तो यह था कि प्रामाणिकता स्थापित करने की दृष्टि से सभी मूल्य समान रूप से असमर्थ हैं, और यह बात भी उसने केवल 'अन्तिम' मूल्यों के सम्बन्ध में कही थी, न कि सभी मूल्यों के सम्बन्ध में। इसी प्रकार, वेबर का कभी भी यह विश्वास नहीं था कि मूल्यों की समस्या को समझने में विज्ञान कोई योग दे ही नहीं सकता। इसके बिलकुल विपरीत, उसने इस बात से इनकार किया था कि "किसी व्यापक वैज्ञानिक विवेचन से मूल्य सम्बन्धी निर्णयों का हटाया जाना आवश्यक है।" उसकी मान्यता तो यह थी कि, "मूल्य-सम्बन्धी निर्णयों की उपस्थिति में यह आवश्यक नहीं है कि हम अपनी आलोचना वृत्ति को निलम्बित कर दें।" जहाँ तक विचारों की असंगति का आरोप है, वेबर के द्वारा 'निर्दयता' शब्द का प्रयोग अथवा अन्य लेखकों के द्वारा 'नैतिकता', 'धर्म', 'कला' अथवा 'सभ्यता' जैसे शब्दों का प्रयोग, जहाँ तक इन शब्दों का प्रयोग उन अर्थों में किया जाता है जिनमें वे सामान्य रूप में समझे जाते हैं; यह सिद्ध नहीं करता कि उनके पीछे मूल्य-सम्बन्धी कुछ निर्णय हैं। मार्क्सवाद के सम्बन्ध में वेबर ने केवल यह कहा था कि यदि केवल इस आधार पर उसकी प्रशंसा की जाती है कि उसने इतिहास की सही व्याख्या दी थी तो यह आधार सही नहीं है। उसका अर्थ केवल इतना था कि इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या को वैज्ञानिक दृष्टि से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। पश्च-अनुभववादी आनुभविक सिद्धान्तवादियों के विरुद्ध इसी प्रकार का एक आरोप यह लगाते हैं कि वे सत्य में विश्वास रखते हैं, और सत्य अपने आप में एक मूल्य है, परन्तु यह विचार प्रकट करना

कि कोई वस्तु सत्य है अथवा असत्य, किसी प्रकार भी, एक मूल्य-बद्ध निर्णय नहीं माना जा सकता।

अनुभववादियों की आलोचना में एक और तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि वे, राजनीतिक घटनाओं के मूल्य-निरपेक्ष विश्लेषण की आड़ में, अपने सिद्धान्तों में स्वयं अपने मूल्यों का समावेश कर देते हैं, और ये मूल्य प्रायः ऐसे होते हैं जिनमें उदार लोकतन्त्र के एक विशेष संस्करण के सम्बन्ध में —जिसे स्ट्रौस ने 'लोकतन्त्रशाही' (democratism) का नाम दिया है—कट्टर प्रतिबद्धता रखते हैं। स्ट्रौस लिखता है, "नया राजनीति-विज्ञान मानव व्यवहार के सम्बन्ध में ऐसे नियमों की तलाश में है जिनकी जानकारी केवल ऐसी आधार-सामग्री के द्वारा प्राप्त की जा सकती है जिसे शोध की कुछ निश्चित तकनीकों के द्वारा, जिनमें चरम वस्तुनिष्ठता का आश्वासन दिया गया हो, परीक्षण किया जा चुका हो। इसका परिणाम यह होता है कि इसमें ऐसी वस्तुओं के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता है जो लोकतान्त्रिक समाजों में प्रायः दिन-प्रतिदिन होती रहती हैं, और जिनके सम्बन्ध में प्रश्नावलियों के उत्तर प्राप्त किये जा सकते हैं, अथवा साक्षात्कार की पद्धति को अपनाया जा सकता है, और यह निश्चित है कि इस प्रकार की पद्धति का प्रयोग उनके लिए नहीं किया जा सकता जो अब जीवित नहीं हैं या जेलखानों में बन्द हैं।'[8] आनुभविक सिद्धान्तवादी इस बात से इनकार नहीं करते कि वे जनतन्त्र और खुली जांच पड़ताल का समर्थन करते हैं, और इसका एक बड़ा कारण वह यह बताते हैं कि केवल लोकतान्त्रिक प्रशासनों में ही जांच पड़ताल की उस स्वतन्त्रता का निर्वाह किया जा सकता है जो किसी भी आनुभविक सिद्धान्त के लिए आवश्यक है। यह वास्तविकता है कि आनुभविक शोध, किसी भी अन्य व्यवस्था की तुलना में, उदार लोकतन्त्र में अधिक आसानी से की जा सकती है, और, क्योंकि इस प्रकार की शोध अधिकतर अमरीका में की गयी है जहां उदार लोकतन्त्र पाया जाता है, इसका अधिकतर प्रयोग लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं और विशेषकर चुनाव सम्बन्धी व्यवहार और लोकमत, के अध्ययन तक सीमित रहा है। केवल इस आधार पर किसी सिद्धान्त को गलत नहीं ठहराया जा सकता कि उसने अपने अध्ययन का केन्द्र किसी एक विशेष प्रकार की व्यवस्था को बनाया है। मूल प्रश्न तो यह है कि क्या ऐसा तो नहीं हुआ है कि शोध-कर्ता के मूल्यों ने उसकी आनुभविक खोजों को एक विकृत रूप दे दिया है। यदि ऐसा हुआ है तो आनुभविक सिद्धान्तवादी जोर देकर इस बात को कहना चाहते हैं कि शोध-कर्ता को इस आरोप से कभी भी बरी नहीं किया जा सकता कि वह मूल्य-निरपेक्ष शोध के मापदण्डों को प्राप्त करने में असफल रहा है।

परा-अनुभववादियों ने अपने पक्ष के समर्थन में एक तर्क यह भी दिया है कि वैज्ञानिक पद्धति के लिए तथ्यों और मूल्यों दोनों से सन्तोषजनक ढंग से निपट सकना सम्भव होना चाहिए। इस तर्क का समर्थन करने वालों में जोन डिवी और फेलिक्स कौफमान प्रमुख हैं। इस बात से इनकार करते हुए कि कोई ऐसे मूल्य हो सकते हैं जिन्हें 'अन्तिम' माना

[8] लिओ स्ट्रौस, पी० उ०, पृ० 326।

जा सकता हो, डिवी अपना यह विचार प्रगट करता है कि मूल्यों के सम्बन्ध में निर्णय एक विशेष परिस्थिति में लिया जाता है, और वह परिस्थिति सदा ही अन्य परिस्थितियों से भिन्न होती है। वह लिखता है, "प्रत्येक क्रिया सदा ही विशिष्ट, स्थूल, व्यक्तिगत और अनन्य होती है और इसके परिणामस्वरूप, निर्णय भी इसी प्रकार विशिष्ट होते हैं।" इसी आधार पर उसने अपना यह विचार व्यक्त किया है कि विशिष्ट परिस्थितियों ही किसी व्यापक परिस्थिति को निर्धारित करती हैं न कि यह कि वे उसके द्वारा निर्धारित की जाती हों। *प्रत्येक वैज्ञानिक निर्णय, अन्तत, एक नैतिक निर्णय होता है।* इस कारण, जब भी हमारे सामने यह प्रश्न हो कि किसी विशिष्ट, स्थूल परिस्थिति में हमारे लिए सब से अधिक 'मूल्यवान' कार्य क्या है तो यह आवश्यक नहीं होना चाहिए कि हम वैज्ञानिक निर्णयों में सिद्धान्त कर पीछे हट जाएं।[9] मूल्यों और तथ्यों, अनुभूतियों और अनुभवों को एक दूसरे के साथ मिला देने का डिवी का यह प्रयत्न स्पष्टत. गुमराह करने वाला है। उसका यह तर्क कि परिणामों के परीक्षण से यह वैज्ञानिक निर्णय बनाना सम्भव हो जाता है कि अनेक प्रतिस्पर्द्धी मूल्यों में से कौन-सा मूल्य अधिक श्रेष्ठ है, न्याय-संगत नहीं माना जा सकता। वैज्ञानिक निर्णय का संकेत कुछ भी क्यों न हो, यह व्यक्ति के स्वयं तय करने का प्रश्न है कि किस मूल्य के आधार पर वह किसी एक विशिष्ट कार्य को, उस कार्य की तुलना में जिसे उसे श्रेष्ठ मानना चाहिए, पूरा करे। व्यक्तिगत कार्यों का सम्बन्ध, वास्तव में, व्यक्ति के अपने मूल्यों से होता है, और उनका निपटारा विज्ञान के आधार पर नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार कौफमान ने बताया है कि, हम तथ्यों का विवेचन कर रहे हों अथवा मूल्यों का, हमारे लिए यह सदा ही सम्भव होना चाहिए कि (1) हम, किसी मामले में हमारा विशिष्ट निर्णय क्या है और वह व्यापक प्रस्थापना क्या है जिसमें से उस विशिष्ट निर्णय का उद्भव हुआ है, इन दोनों की स्थिति में अन्तर कर सकें, और (2) इस बात का पता लगा सकें कि वह व्यापक प्रस्थापना अपने आप में सच भी या नहीं। उसका विश्वास था कि यदि हम इन दोनों में अन्तर कर सकने की स्थिति में हैं तो तथ्यों के परीक्षण से सम्बन्ध रखने वाले दोनों ही प्रकार के प्रश्नों को एक पद्धति के अन्तर्गत ले सकना हमारे लिए कठिन नहीं होना चाहिए।[10] कौफमान की पहली बात तो ठीक है, परन्तु दूसरी बात स्पष्टत. इस दृष्टि से गलत है कि विचारों से, विशेषकर परस्पर विरोधी विचारों से, जिन पर अन्तिम मूल्य सम्बन्धी निर्णयों की स्वीकृति निर्भर रहती है उसी प्रकार निपटा जा सकता है जिस प्रकार तथ्यात्मक घटनाओं से। जब भी कोई व्यापक प्रस्थापना तथ्यों पर स्थापित होती है, अथवा किसी सिद्धान्त का सहारा तथ्यों

[9] जॉन डिवी के विस्तार से व्यक्त किये गये विचारों के लिए देखिए उसकी 'रिकंस्ट्रक्शन इन फिलॉसफी', परिवर्धित संस्करण, बोस्टन, 1948, 'प्रोब्लेम्स ऑफ मैन', न्यूयार्क, 1946, और 'दि क्वेस्ट फॉर सर्टेनटी, ए स्टडी ऑफ दि रिलेशन ऑफ नॉलेज टु एक्शन', न्यूयार्क, 1929।

[10] फेलिक्स ई० कौफमान, 'दि नेचुरल ला थियोरी', 'अमेरिकन पोलिटिकल साइंस रिव्यू,' खण्ड 51, 1957।

के विश्लेषण के लिए किया जाता है, तो हम उसे सभी ज्ञात तथ्यों के आधार पर समझने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु जब उस व्यापक प्रस्थापना में कोई मूल्यात्मक निर्णय अन्तर्हित होता है तो उसके परीक्षण के लिए निर्विवाद रूप से हमें एक विभिन्न पद्धति का सहारा लेना पड़ता है।

आनुभविक सिद्धान्तवादियों के विरुद्ध परा-अनुभववादी एक और तर्क उपस्थित करते हैं। उनका कहना है कि यह क्यों आवश्यक होना चाहिए कि विज्ञान को हम उतने संकीर्ण रूप में लें जैसा, उनके अनुसार, अनुभववादियों ने किया है। उनका अपना विचार है कि विज्ञान की संकल्पना को इतना व्यापक बना देना चाहिए कि उसमें मूल्यात्मक निर्णय भी समाहित किये जा सकें—यह एक ऐसा तर्क है जिसे साधारणतः फ्रांसीसी दार्शनिक जैक्स मैरिटेन जैसे नव-टोमसवादियों ने तो अपनाया ही है, वोगेलिन जैसे अनेक प्रमुख विद्वानों ने भी जो टोमसवादी नहीं हैं, प्रतिपादित किया है।[11] उनका कहना है कि यदि सेन्ट टोमस विज्ञान की अपनी व्याख्या में अत्यानुभविक (supra-empirical) और अति-बौद्धिक (supra-rational) प्रकार के ज्ञान को समाविष्ट कर सका तो आधुनिक विज्ञानवादियों के लिए ऐसा करना क्यों सम्भव नहीं हो सकता। मैरिटेन पूछता है, विज्ञान को उसके आनुभविक-तात्त्विक, अर्थात्, भौतिक-गणितीय, रूप तक ही सीमित कर देना क्यों आवश्यक माना जाय? वह मांग करता है कि विज्ञान का एक रूप ऐसा भी होना चाहिए जिसका आधार आनुभविकता पर न हो। उसका यह भी आग्रह है कि तात्त्विक संकल्पनाओं को भी विज्ञान की इस व्यापक परिभाषा में सम्मिलित किया जाना चाहिए। वोगेलिन ने भी इस बात का समर्थन किया है कि तत्त्व-मीमांसा, अथवा कम से कम सत्ता-मीमांसा, की गिनती विज्ञान में की जानी चाहिए, और अपना यह विचार व्यक्त किया है कि मूल्यों की व्यवस्था को तात्त्विक सन्दर्भ में रखने के यूनानी दार्शनिकों और मध्यकालीन ईसाई विद्वानों के प्रयत्नों को 'पुनर्जीवित' और पुनः स्थापित करना चाहिए, जिससे परिणामस्वरूप मूल्यों की व्यवस्था को राजनीति-विज्ञान में समाविष्ट करके उसे एक नया जीवन प्रदान किया जा सके। इस आश्चर्यजनक तर्क के उत्तर में तो केवल यही कहा जा सकता है कि विज्ञान अथवा वैज्ञानिक पद्धति के सम्बन्ध में आधुनिक संकल्पना उस संकल्पना से बिलकुल भिन्न है जिसका प्रतिपादन सेन्ट टोमस जैक्स मैरिटेन अथवा एरिक वोगेलिन जैसे विद्वानों ने किया है। यह सच है कि मूल्यों और तथ्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का यह सारा वाद-विवाद, वैज्ञानिक स्तर से ऊंचा उठ कर, दार्शनिक स्तर का स्पर्श करता हुआ दिखायी देता है, परन्तु परम्परागत और व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान के भेद को समझने के लिए वह, निसन्देह, एक आवश्यक वैचारिक पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत करता है।[12]

[11]जैक्स मैरिटेन, 'दि राइट्स ऑफ मैन एण्ड नेचुरल लॉ', अनु० डोरिस सी० एन्सोन, न्यूयार्क, 1943; स्कोलेस्टिसिज्म एण्ड पोलिटिक्स, अनु० मोर्टिमर जे० एडलर, डबलडे एण्ड कं०, इन्क, 1960।

[12]राजनीति विज्ञान में "व्यवहारवादी क्रान्ति" की एक व्यापक विवेचना के लिए देखिए, डेविड बी० ट्रूमैन, 'दि इम्पैक्ट ऑन पोलिटिकल साइन्स' ऑफ दि रिवोल्यूशन इन दी बिहेवियरल साइंसेज', 'रिसर्च फ्रंटियर्स इन पोलिटिक्स एण्ड गवर्नमेंट,' वाशिंगटन, डी० सी०, ब्रुकिंग्स इन्स्टीट्यूशन, 1955,

'व्यवहारवाद' बनाम 'व्यवहारपरकवाद'

'व्यवहारवाद' शब्द का प्रयोग आरम्भ में, जैसा ईस्टन ने लिखा है, उस मनोवैज्ञानिक सङ्कल्पना के अर्थ में किया गया था जिसका आरम्भ जे० बी० वॉटसन ने किया था और जिसका उद्देश्य वैज्ञानिक शोध में से उद्देश्यों, इरादों, इच्छाओं और विचारों जैसी सभी व्यक्तिपरक सामग्री को हटा देना था। उस अर्थ में व्यवहारवाद केवल उन्हीं तथ्यों को उपयोगी मानता था जिनका आधार इन्द्रियों अथवा यान्त्रिक उपकरणों के माध्यम से प्राप्त प्रेक्षणों पर स्थित हो। धीरे-धीरे स्वयं मनोविज्ञानशास्त्री यह मानने लगे कि बाहरी उद्दीपन और उस प्रक्रिया के बीच जिसे इन्द्रियों द्वारा अनुभव किया जाता है बहुत से व्यक्तिगत अनुभव आ जाते हैं जो उद्दीपन की व्याख्या और परिणामों को प्रभावित करते हैं, और इस प्रकार प्रतिक्रिया की प्रकृति को एक नया रूप दे देते हैं—इस प्रकार प्रेरणा-प्रतिक्रिया प्रतिमान (stimulus response paradigm) का स्थान प्रेरणा-व्यक्तित्व प्रतिक्रिया प्रतिमान (stimulus-organism response paradigm) ने ले लिया। राजनीतिशास्त्रियों ने कभी भी प्रेरणा और प्रतिक्रिया के बीच में आने वाले व्यक्तित्व की भावनाओं, इच्छाओं आदि के अध्ययन के महत्त्व की उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा था। इस कारण उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन से सम्बन्ध रखने वाली राजनीति विज्ञान की नयी प्रवृत्तियों को उस अर्थ में व्यवहारवादी (behaviourist) कहना ठीक नहीं होगा जिसमें वॉटसन ने उसका प्रयोग किया था, परन्तु व्यवहारपरकवादी (behaviouralist) के अर्थ में, जैसा कि अनेक संस्थाओं—स्टैनफोर्ड में "दि सेन्टर फॉर एडवान्स्ड स्टडी इन दी बिहेवियरल साइंसेज," फोर्ड संस्था का "बिहेवियरल साइंस डिवीजन", कोलोरेडो विश्वविद्यालय की "इन्स्टीट्यूट ऑफ बिहेवियरल साइंसेज"—और पत्रिकाओं, जैसे "बिहेवियरल साइंस" और "दि अमेरिकन बिहेवियरल साइन्टिस्ट"[13] के नाम से स्पष्ट होता है। ईस्टन का कहना है

में पृ० 202 231 पर, रौबर्ट ए० डाल, "दि बिहेवियरल एप्रोच इन पॉलिटिकल साइंस एपिटाफ फॉर ए मोन्यूमेंट टु ए सक्सेसफुल प्रोटेस्ट, अमेरिकन पोलिटिकल साइंस रिव्यू,' खण्ड 55, दिसम्बर 1961 में पृ० 763 772 पर, ग्लेन एस कर्कपैट्रिक, "दि इम्पैक्ट ऑफ दि बिहेवियरल एप्रोच ऑन ट्रेडीशनल पोलिटिकल साइंस," ऑस्टिन रैनी द्वारा सम्पादित, 'एसेज ऑन दि बिहेवियरल स्टडी ऑफ पॉलिटिक्स, अर्बाना, इलीनोय विश्वविद्यालय प्रेस, 1962 में पृ० 1-29 पर, डेविड ईस्टन, "दि करेंट मीनिंग ऑफ बिहेवियरलिज्म इन पॉलिटिकल साइंस" जेम्स सी० चार्ल्सवर्थ द्वारा सम्पादित, कॉन्टम्परेरी पोलिटिकल एनालिसिस, न्यूयार्क, फ्री प्रेस, 1967 में पृ० 11-31 पर; एल्बर्ट सोमित और जोसेफ टैननहॉस, 'पॉलिटिकल साइंस इन एनलैंड डिमिनिशिंग बिहेवियरलिज्म", डेवेलपमेंट ऑफ अमेरिकन पोलिटिकल साइंस फ्रोम बर्गेस टु बिहेवियरलिज्म, बोस्टन, एलीन और बेकन, 1967, में पृ० 173-194 पर, हीन्ज यूलाओ, 'पोलिटिकल बिहेवियर", इन्टर्नेशनल एनसाइक्लोपीडिया ऑफ दि सोशल साइंसेज न्यूयार्क, मैकमिलन और फ्री प्रेस, 1968।

[13] राजनीतिक व्यवहार' शब्द का प्रयोग अमरीकी राजनीतिशास्त्रियों के द्वारा प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से ही किया जाने लगा था। किसी पुस्तक के शीर्षक में इसका प्रयोग सम्भवतः एक पत्रकार फ्रैंक केंट, के द्वारा 1928 में प्रकाशित पुस्तक 'पोलिटिकल बिहेवियर, दि हिथर्टुनरिटन अनरिटन लॉज,

कि 'बिहेवियरल' के बदले यदि हम 'बिहेवियरिस्टिक' शब्द का प्रयोग करें तो जिस संस्थान अथवा प्रकाशन के लिए हम इस शब्द का प्रयोग करेंगे उसके कार्यक्षेत्र और उद्देश्यों के सम्बन्ध में एक गलत धारणा बन सकती है।[11] इस कारण यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस पुस्तक के शेष भाग में 'व्यवहारवाद' शब्द का प्रयोग 'व्यवहारपरकवाद' के अर्थ में किया गया है।

व्यवहारवाद का अर्थ : रॉबर्ट डाल

व्यवहारवाद (बिहेवियरलिज्म के अर्थ में) से हमारा तात्पर्य क्या है ? रॉबर्ट डाल ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है कि "वह राजनीति-विज्ञान के अन्तर्गत एक ऐसा विरोध-आन्दोलन है जिससे अनेक ऐसे राजनीतिशास्त्री, विशेषकर अमरीकी, सम्बद्ध हैं जो" (अ) "परम्परागत राजनीति-विज्ञान की उपलब्धियों, विशेषकर उसके ऐतिहासिक, दार्शनिक और विवरणात्मक-संस्थात्मक उपागमों, से बहुत अधिक असन्तुष्ट हैं," और (ब) "जिन्हें यह विश्वास है कि कुछ अन्य पद्धतियां और उपागम या तो मौजूद हैं अथवा उनका विकास किया जा सकता है, जिनकी सहायता से राजनीति-विज्ञान में आनुभविक प्रस्थापनाओं, और कुछ सीमा तक व्यवस्थित सिद्धान्तों का विकास किया जा सके, जिनका परीक्षण राजनीतिक घटनाओं का अधिक निकट से, और अधिक प्रत्यक्ष और अधिक कठोरता से नियन्त्रित प्रेक्षणों के द्वारा किया जा सके।" उसने आगे चल कर यह भी लिखा है कि यह एक ऐसा आन्दोलन है जिसका उद्देश्य "राजनीतिक अध्ययन को आधुनिक मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में विकसित सिद्धान्तों, पद्धतियों, खोजों और दृष्टिकोणों के निकट सम्पर्क में लाना" है और एक ऐसा प्रयत्न है जो "राजनीति-विज्ञान के आनुभविक तत्वों को अधिक वैज्ञानिकता प्रदान करता है।" इसका उद्देश्य "प्रशासन सम्बन्धी सभी घटनाओं को मनुष्यों के एक ऐसे व्यवहार के रूप में प्रस्तुत करना है जिसका प्रेक्षण कर लिया गया हो अथवा जिसका प्रेक्षण किया जा सकता हो, और प्राविधिक कार्यविधियों प्रेक्षण और सत्यापन की समस्याओं, राजनीतिक संकल्पनाओं परिमाणीकरण और परीक्षणों का सक्रियात्मक अर्थ प्रदान करने, बीच में आने वाले अनुत्पादक परिस्थितियों को हटाने, अन्य सामाजिक विज्ञानों में विकसित की गयी शोध प्रकल्पनाओं और सिद्धान्तों के स्रोतों" के साथ निकट का सम्पर्क स्थापित करने की याचना करता है और राजनीति के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों को समझाने के लिए उन स्पष्टीकरणों की खोज करता है जिनकी पूरी तरह से जांच की जा सकती है, जिनके सम्बन्ध में प्रामाणिक आपत्तियां आसानी से नहीं उठायी जा सकती हैं, जो घटनाओं की गहराई में जाने की अधिक क्षमता रखते हैं और राजनीतिक जीवन की

कण्टेम्पररी ट्रेंड्स इन पॉलिटिकल इन्क्वायरी इन दि यूनाइटेड स्टेट्स' में किया गया था। इस शब्द का एक समानार्थक प्रयोग स्वीडन के राजनीति-विज्ञानवेत्ता हर्बर्ट टिंग्स्टन द्वारा 1937 में प्रकाशित पुस्तक 'पॉलिटिकल बिहेवियर : स्टडीज इन इलेक्शन स्टैटिस्टिक्स' में है।

[11] डेविड ईस्टन, 'दि करेंट मीनिंग ऑफ बिहेवियरलिज्म', जेम्स सी० चार्ल्सवर्थ द्वारा सम्पादित, पी० ब०, पृ० 13।

चिरन्तन समस्याओं के समझने में उनकी तुलना में अधिक उपयोगी हैं जिनके स्थान पर उनका विकास किया जा रहा है।"[15]

डाल ने यह मूल प्रश्न भी उठाया है कि व्यवहारवादी उपागम क्या वास्तव में राजनीति के अध्ययन को सुधारने की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में एक मन स्थिति विशेष मात्र है—वह विरोध और अविश्वास की हो अथवा सुधार और आशावादिता की हो—अथवा उससे कुछ अधिक है जिसका सम्बन्ध राजनीतिक व्यवहार अथवा व्यवहारवादी उपागम से सम्बन्धित निश्चित विश्वासों, अधिमान्यताओं, पद्धतियों अथवा विषयों से है। उसने स्वय इस प्रश्न के कई सम्भावित उत्तर सुझाये हैं। इनमें से एक दृष्टिकोण तो यह है जिसे 1944-45 की सामाजिक विज्ञान शोध परिषद की रिपोर्ट ने सुझाया था और जिसका समर्थन डेविड ईस्टन ने 1953 में प्रकाशित 'पोलिटिकल सिस्टम', नाम की अपनी पुस्तक में किया है। इसके अनुसार व्यवहारवाद एक विशेष मन स्थिति मात्र नहीं है, बल्कि उसमें कुछ अधिक है, इस अर्थ में कि शोध-कर्त्ता जब राजनीतिक व्यवहार की सकल्पना को आधार मान कर कार्य करता है तो वह राजनीतिक व्यवस्थाओं में भाग लेने वाले घटकों को व्यक्तियों के रूप में देखता है जो हमारे समान ही हाड़-मास से बने हुए प्राणी हैं और जिनकी अपनी भावनाएं, रागद्वेष और अधिमान्यताएं हैं। ईस्टन लिखता है, "व्यवहारवादी शोध वास्तविक व्यक्ति पर अपना समस्त ध्यान केन्द्रित करती है।" उसकी मान्यता यह है कि परम्परावादी राजनीतिशास्त्री संस्थाओं को इस दृष्टि से देखते रहे हैं मानो वे उनका निर्माण करने वाले व्यक्तियों से भिन्न और स्वतन्त्र इकाइयां हों।"[16] दूसरा दृष्टिकोण वह है जिसका समर्थन शिकागो विश्वविद्यालय के एक प्राध्यापक एल्फ्रेड डी० ग्राजिया ने किया, जो सा० वि० शो० परिषद की राजनीतिक व्यवहार समिति के सदस्य और 'प्रोड' (PROD) के सम्पादक थे। उनका कहना है कि व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान अपने आप में "एक विषय, एक अन्तःशास्त्रीय विज्ञान, परिमाणीकरण, नयी प्रविधियों के आविष्कार का विशेष प्रयत्न, व्यवहारवादी मनोविज्ञान 'आदर्शवादिता' के विपरीत 'यथार्थवादिता', निगमन पद्धति के विपरीत अनुभववाद, अथवा चुनाव व्यवहार, आदि कुछ नहीं है अथवा यह कहा जा सकता है कि राजनीति-विज्ञान के उस रूप से अधिक कुछ नहीं है जिस रूप में कुछ लोग उसे देखना चाहते हैं।"[17]

इन दोनों परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों के अतिरिक्त एक तीसरा दृष्टिकोण भी है जिसका प्रतिपादन स्वय डाल ने किया है। वह मानता है कि व्यवहारवाद "विषय के आनुभविक तत्त्वों को अधिक वैज्ञानिक बनाने के प्रयत्न से अधिक कुछ नहीं है।" दूसरे

[15]रोबर्ट ए० डाल, 'दि बिहेवियरल एप्रोच इन पोलिटिकल साइंस,' जेम्स ए० गोल्ड और विंसेंट वी० थर्सबी द्वारा सम्पादित, 'कान्टम्पोरेरी पोलिटिकल थॉट : ईशूज इन स्कोप, वैल्यू एण्ड डायरेक्शन', होल्ट, राइनहार्ट और विन्स्टन, इंक०, न्यूयार्क, 1969, में पृ० 118-119 पर।

[16]डेविड ईस्टन, 'दि पोलिटिकल सिस्टम, एन इन्क्वायरी इन्टू दी स्टेट ऑफ पोलिटिकल साइंस,' कलकत्ता, साइंटिफिक बुक एजेन्सी, 1953, पृ० 201-202।

[17]एल्फ्रेड डी० ग्राजिया, 'स्टडी इन पोलिटिकल बिहेवियर,' प्रोड, जुलाई 1958।

शब्दो मे, यह केवल एक ऐसा 'उपागम' है जिसका उद्देश्य राजनीतिक जीवन के आनुभविक पक्ष को ऐसी प्रणालियो, सिद्धान्तो और कसौटियो के द्वारा, जो आधुनिक आनुभविक विज्ञान के अधिनियमो, अभिसमयो, और अभिग्रहो को पूरा करती हो, स्पष्ट करना है। वह मानता है कि यह "विषय के आनुभविक तत्त्वो को वैज्ञानिक बनाने का, जिस अर्थ मे उसकी गणना हम आनुभविक विज्ञानो मे करते है, एक प्रयत्न मात्र है।"[18] इसी दृष्टिकोण का समर्थन हमे डेविड ट्रूमैन की रचनाओ मे भी मिलता है। 1951 मे शिकागो विश्वविद्यालय मे राजनीतिक व्यवहार सम्बन्धी शोध पर आयोजित एक सगोष्ठी मे उसने राजनीतिक व्यवहार की व्याख्या करते हुए यह बताया कि "उसमे मनुष्यो और समूहो की वे सभी *क्रियाए और अन्त क्रियाएं, जिनका सम्बन्ध प्रशासन की प्रक्रिया* से है, समाविष्ट है।" उसके बाद उसने कहा, "अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि यह दृष्टिकोण राजनीतिक व्यवहार के अन्तर्गत उन सभी मानवी गतिविधियो को ले आता है जिन्हे प्रशासन का अग माना जा सकता है।" इस दृष्टि से राजनीतिक व्यवहार को समाज-विज्ञान, अथवा राजनीति-विज्ञान का एक विशिष्ट 'क्षेत्र' नही माना जा सकता। ट्रूमैन लिखता है, "राजनीतिक व्यवहार एक विशिष्टता नही है और न उसे ऐसा माना ही जाना चाहिए क्योकि वह तो केवल एक ऐसी अभिवृत्ति अथवा ऐसे दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है जिसका उद्देश्य शासन की सभी घटनाओ को मनुष्यो के प्रेक्षित और प्रेक्षण योग्य व्यवहार के सन्दर्भ मे समझाना है।" इसका प्रमुख उद्देश्य '*राजनीति-विज्ञान के अधिकाश परम्परागत क्षेत्रो' को ही अन्तत एक नया और विस्तृत रूप* देना है।[19]

व्यवहारवाद का अर्थ डेविड ट्रूमैन

डेविड ट्रूमैन के इस दृष्टिकोण के अनुसार व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान मे केवल दो बाते आती है (अ) 'शोध व्यवस्थित होनी चाहिए,' और (ब) "उसका प्रमुख आग्रह आनुभविक प्रणालियो के प्रयोग पर होना चाहिए।" व्यवस्थित शोध से ट्रूमैन का अर्थ '*प्राक्कल्पनाओ को सुनिश्चित ढग से व्याख्या करना और साक्ष्य सामग्री को कठोरता* के साथ व्यवस्थित रूप देना" है। आनुभविक प्रणालियो को उस अपरिपक्व अनुभववाद से, जिसके पीछे पर्याप्त सिद्धान्तो का अभाव हो, अथवा 'उस अटकलबाजी से जिसके पीछे आनुभविक परीक्षण न हो", भिन्न करके देखना आवश्यक है। राजनीतिक व्यवहार के विद्यार्थी का अतिम लक्ष्य राजनीतिक प्रक्रिया के एक विज्ञान का विकास करना है। ट्रूमैन ने उग्र व्यवहारवादियो के, जो राजनीति विज्ञान और अन्य सामाजिक विज्ञानो मे किसी प्रकार का अन्तर मानने को तैयार नही है अथवा अधिकतम परिमाणीकरण और *गणितीकरण मे विश्वास रखते है, अथवा मूल्यो को राजनीतिक अध्ययन से सर्वथा*

[18] रोबर्ट ए० डाल, पी० उ०, पृ० 12(।

[19] डेविड ट्रूमैन, 'दि इम्प्लिकेशन्स आफ पोलिटिकल बिहेवियर रिसर्च',' सोशल साइंस रिसर्च काउन्सिल द्वारा प्रकाशित, 'आइटेम्स', दिसम्बर 1951, पृ० 37-39 ।

निकाल देना चाहते है, और उग्र परम्परावादियों के, जो राजनीति-विज्ञान का किसी भी अन्य विज्ञान से तनिक भी सम्बन्ध रखना नही चाहते, जो परिमाणीकरण के सभी प्रयत्नों को असम्बद्ध और निरर्थक मानकर ठुकरा देते हैं और मूल्यों को राजनीति के अध्ययन का एक अपरिहार्य अंग मानते हैं, बीच का एक मार्ग चुना है। वह राजनीति-विज्ञान के दूसरे सामाजिक विज्ञानों पर बहुत अधिक निर्भर रहने पर, अथवा परिमाणीकरण को, बहुत अधिक महत्त्व नही देता। वह मानता है कि राजनीति-विज्ञान को दूसरे सामाजिक विज्ञानों की खोजों से सीखने के लिए तैयार रहना चाहिए, परन्तु साथ ही यह भी मानता है कि यह काम अविवेकपूर्ण ढंग से नही किया जाना चाहिए। परिमाणीकरण के प्रयोग के सम्बन्ध में उसकी धारणा है कि राजनीतिशास्त्री को अपने "निष्कर्ष" परिमाणीकरण के आधार पर निकालने चाहिए, यदि यह सम्भव हो, और गुणात्मक ढंग से, यदि यह आवश्यक हो जाय।" यह मानते हुए भी कि 'मनुष्यों को किस प्रकार कार्य करना चाहिए इसकी जांच-पड़ताल" राजनीतिक व्यवहार में शोध से कोई सम्बन्ध नहीं रखती थी, ट्रूमैन यह नही मानता कि मूल्यों की भूमिका को राजनीति-विज्ञान के अध्ययन से बिलकुल ही हटाया जा सकता था। 'मनुष्य के व्यवहार के स्पष्टतः ही महत्त्वपूर्ण निर्धारक तत्त्व" होने के कारण, मूल्यों को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। सामाजिक विज्ञानों में अध्ययन के विषयों को चुनने और जांच-पड़ताल की दिशा का निरूपण करने में शोध-कर्ता के मूल्य उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने प्राकृतिक विज्ञानों में। उससे यह अपेक्षा अवश्य की जा सकती है कि वह अपने मूल्यों को यथासम्भव पृष्ठभूमि में रखे, परन्तु दूसरे लोगों के राजनीतिक व्यवहार में समरूपता की खोज करने के अपने प्रयत्नों में भी उसके लिए यह जान लेना आवश्यक है कि इस प्रकार का व्यवहार उन राजनीतिक मूल्यों की व्यवस्था को, जिनमें उसकी व्यक्तिगत रुचि है, कहां तक मजबूत बनाता है अथवा कमजोर करता है। इसके साथ ही ट्रूमैन यह भी मानता है कि व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्री के लिए यह आवश्यक नही है कि वह ऐतिहासिक ज्ञान को तिरस्कार की दृष्टि से देखे। ऐतिहासिक ज्ञान 'राजनीतिक व्यवहार का समकालीन दृष्टि से देखने का एक अनिवार्य पूरक" था, और इस दृष्टि से उसे परिश्रम के साथ उपलब्ध करना और उसके आधार पर आवश्यक निष्कर्षों को निकालना अपने आप में महत्त्वपूर्ण था। यह सुझाव देते हुए भी कि राजनीति-विज्ञान के अध्ययन में परिवर्धन और परिमार्जन आवश्यक था, ट्रूमैन परम्पराओं को नष्ट करने के विरुद्ध था। उसने लिखा, 'किसी भी रचनात्मक शास्त्र में जो भी नयी बातें जोड़ी जाएं वे प्राचीन काल की *उपलब्धियों के आधार पर स्थित होनी चाहिए। राजनीति-विज्ञान का अधिकांश* वर्तमान साहित्य धारणाओं पर आधारित होते हुए भी, व्यापक है, और अन्तर्दृष्टियों से धनी। उस साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंगों को ठीक से समझे बिना व्यावहारिक शोधज्ञान-शून्य और अनुत्पादक सिद्ध हो सकती है।[20] ट्रूमैन के इस प्रबन्ध को 'बुद्धिमानीपूर्ण, व्यापक और कुछ समय पहले तक उपेक्षित" बताते हुए डाल ने उसके इन विचारों के

[20]डेविड ट्रूमैन, वही।

साथ अपनी सम्पूर्ण सहमति व्यक्त की और कहा कि व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान की इन विशेषताओ को व्यवहारवादी उपागम के समर्थको और आलोचको के द्वारा यदि ठीक से समझा जाता और स्वीकार किया जाता तो व्यवहारवादी उपागम के सम्बन्ध मे पिछले दस वर्षों मे किये गये अधिकाशत असम्बद्ध, निरर्थक और अज्ञान पर आधारित वाद-विवाद उठते ही नही, अथवा कम से कम एक अधिक परिष्कृत और ऊचे बौद्धिक स्तर पर उठाये गये होते।"[21]

परम्परावादी बनाम व्यवहारवादी उपागम

ईस्टन ने व्यवहारवाद के लिए कुछ अभिग्रह और उद्देश्य निर्धारित किये है जिन्हे उसने एक ऐसी बौद्धिक आधारशिला (intellectual foundation stones) का नाम दिया है जिसके आधार पर इस समस्त आन्दोलन का भवन खड़ा किया गया है। वे है· (1) नियमितताए (regularities), (2) सत्यापन (verification), (3) तकनीक (techniques), (4) परिमाणीकरण (quantification), (5) मूल्य (values), (6) व्यवस्थापन (systematization), (7) शुद्ध विज्ञान (pure science), और (8) समायोजन (integration)।

हम व्यवहारवाद की इन व्यवस्थाओ को तथा उस वाद-विवाद को, जो 1950 व 1960 के दशको मे परम्परावादियों और व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्रियो के बीच मे चला, समझने और उसका विश्लेषण करने का प्रयत्न कर सकते है। यह वाद-विवाद वास्तव मे विभिन्न शोध प्रणालियो के सम्बन्ध मे था, और यह माना जा सकता है कि अब उसकी कडवाहट लगभग समाप्त हो चुकी है। परम्परावादी अब यह मानने लगे हैं , व्यवहारवादियो ने राजनीति-विज्ञान को अधिक सचेत और आलोचनात्मक बनाया है, शक्तिशाली अन्त शास्त्रीय प्रभावो के लिए द्वार खोल दिये हैं, और शोध सम्बन्धी प्रणालियो को अधिक परिष्कृत बनाया है। वे यह भी जानते है कि व्यवहारवादी अब अपने सिद्धान्तो और वैचारिक सरचनाओ की मर्यादाओ और उनके कार्य-क्षेत्र की सकुचित स्थिति के सम्बन्ध मे अधिक सचेत हो गये है, और इस सबका परिणाम यह निकला है कि इन दोनो ने एक दूसरे के साथ मैत्री और सद्भावना के साथ रहना सीख लिया है। यदि अब भी ऐसे व्यवहारवादी हैं जो इस उदार दृष्टिकोण का समर्थन करने मे अपने को असमर्थ पाते हैं तो उनके सम्बन्ध मे हास और केकर की यह आलोचना उचित प्रतीत होती है, "हमारे विचार मे जिन परम्परावादियो ने 1950 के दशक मे व्यवहारवादी मन.स्थिति को ठीक से समझने से इनकार किया था वे बौद्धिक दृष्टि से उन व्यवहारवादियो से कुछ कम पिछडे हुए थे जिन्होने 1960 के दशक मे परम्परागत दृष्टिकोण का तिरस्कार किया।"[22] इन प्रारम्भिक शब्दो के साथ अब हम व्यवहारवाद के

[21]रोबर्ट ए० डाल, पी० उ०, पृ० 128।

[22]माइकेल हास और थ्योडोर एच० केकर, 'दि बिहेवियरल रिवोल्यूशन एण्ड आफ्टर', माइकेल हास और हेनरी एस० केरियल द्वारा सम्पादित, 'एप्रोचेज टू दी स्टडी ऑफ पोलिटिकल साइस', शैंडलर पब्लिशिंग कम्पनी, 1970, पृ० 480।

उन मूल सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे जिनकी प्रस्थापना डेविड ईस्टन और दूसरे व्यवहारवादियों ने की और जिन्हें लेकर 1950 और 1960 के दशकों में व्यवहारवादियों और व्यवहारवाद के विरोधियों में बड़े जोरों के साथ वाद-विवाद चला।

(1) नियमितताएं - व्यवहारवादी मानते हैं कि राजनीतिक व्यवहार में कुछ ऐसी प्रवृत्तियां पायी जाती हैं जो बार-बार उभरकर सामने आती हैं और जिनके सम्बन्ध में इस प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं अथवा सिद्धान्तों का निरूपण किया जा सकता है, जिनके आधार पर राजनीतिक घटनाओं को समझा जा सके और उनके सम्बन्ध में भविष्यवाणी की जा सके। यह ठीक है कि राजनीतिक व्यवहार इतनी अधिक बातों से निर्धारित होता है कि उसका स्वरूप सदा एक-सा ही नहीं हो सकता, परन्तु यह भी देखा गया है कि मनुष्य विभिन्न अवसरों पर कुछ बातों के सम्बन्ध में एक ही प्रकार के व्यवहार करते हैं। इसका सबसे उपयुक्त उदाहरण चुनाव सम्बन्धी व्यवहार है। यह देखा गया है कि मतदाता एक के बाद दूसरे चुनाव में प्रायः एक ही व्यक्ति अथवा राजनीतिक दल को अपना मत देते हैं और यदि इस व्यवहार को उनकी सामाजिक स्थिति, आर्थिक अवस्था, धन्धों अथवा जाति के प्रति उनकी निष्ठा आदि के साथ जोड़ दिया जाय तो एक स्पष्ट आकृति उभरती हुई दिखाई देती है। व्यवहार की नियमितताओं के आधार पर निकाले गये निष्कर्षों के प्रकाश में राजनीतिक घटनाओं को अधिक आसानी से समझा जा सकता है और उनके सम्बन्ध में भविष्यवाणी की जा सकती है। राजनीति-विज्ञान, इस प्रकार अन्ततः एक ऐसे विज्ञान का रूप ले सकता है जिसमें विश्लेषण और भविष्यवाणी दोनों की ही क्षमता हो। यह तो मानना ही पड़ेगा कि, उसे चाहे कितना ही परिष्कृत क्यों न बना दिया जाय, राजनीति-विज्ञान कभी भौतिक-शास्त्र अथवा रसायन-शास्त्र जैसे प्राकृतिक विज्ञानों की समानता नहीं कर सकेगा, परन्तु जीव-शास्त्र से तो उसकी तुलना ही की जा सकेगी। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि व्यवहारवादी यह मानते हैं कि राजनीतिशास्त्रियों को राजनीतिक व्यवहार की नियमितताओं और उनसे सम्बन्धित अन्य बातों की सतत खोज में लग जाना चाहिए और शुद्ध विवरणात्मक रचनाओं के स्थान पर कठोर विश्लेषणात्मक अध्ययन में जुट जाना चाहिए।

इस तर्क के उत्तर में परम्परावादियों का कहना है कि राजनीति-विज्ञान किसी भी यथार्थवादी अर्थ में न तो विज्ञान है, और न वह विज्ञान बन सकता है। इस दृष्टिकोण के समर्थन में उन्होंने जो दलीलें दी हैं वे इस प्रकार हैं

(अ) राजनीतिक घटनाएं अपने स्वभाव से ही ऐसी होती हैं कि किसी कठोर आधार पर उनका अध्ययन नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए जिस वस्तुनिष्ठता की आवश्यकता होती है उसके आधार पर मानव व्यवहार का, वह चाहे व्यक्तिगत हो अथवा सामाजिक, अध्ययन सम्भव नहीं है।

(ब) राजनीतिक घटनाओं के सम्बन्ध में आनुभविक ज्ञान-पद्धति सम्भव नहीं है। उनमें इतने अधिक तत्त्व और ऐतिहासिक अनिश्चितताएं आ मिलती हैं कि नियमितताओं के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जा सकता है वह एक मोटे तौर से ही सच हो सकता है, और उसमें से तात्त्विक निष्कर्ष निकालना अथवा मानव व्यवहार के सम्बन्ध में स्थायी

नियमों की खोज करना, सम्भव नहीं है।

(स) यदि इस प्रकार के नियमों की खोज कर भी ली जाय तो मनुष्य अपने बुद्धि-कौशल के द्वारा *उन्हें सदा ही अमान्य कर सकता है और ऐसी स्थिति में उनकी सार्थकता* ही नष्ट हो जाती है।

(द) शोध की प्रारम्भिक अवस्थाओं में, जबकि किसी परिकल्पना को लेकर चलने में आपत्ति नहीं की जा सकती, यदि उसके सम्बन्ध में हठधर्मी का दृष्टिकोण अपनाया गया तो शोध का उद्देश्य ही समाप्त हो जायेगा। शुद्ध विवरणात्मक दृष्टिकोण से प्राप्त होने वाले लाभों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। राजनीतिक घटनाओं के विश्लेषण का आधार यदि बारीकी के साथ किये गये विश्लेषण पर हो, और विकास की विभिन्न अवस्थाओं को क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत किया जाय, तो उससे भूतकाल में होने वाली घटनाओं पर बहुमूल्य प्रकाश डाला जा सकता है और राजनीतिक घटनाओं को समझने में भी यह बहुत अधिक सहायक हो सकता है।

कुल मिलाकर परम्परावादियों का मूल तर्क यह है कि राजनीतिक यथार्थता इतने विशिष्ट तत्त्वों का सम्मिश्रण है कि यदि उसमें कुछ नियमितताओं की खोज कर भी ली गयी तो वह लगभग महत्त्वहीन होगी। यह स्पष्ट है कि वे तर्क व्यवहारवादियों के विचारों को बदलने में असमर्थ रहे हैं। व्यवहारवादी यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि केवल इसी कारण, कि कुछ राजनीतिक घटनाएं ऐसी हैं जिनके सम्बन्ध में वैज्ञानिक अन्वेषण और अनुसन्धान सम्भव नहीं है हम इस प्रकार के सभी प्रयत्नों को छोड़ दें। इस प्रकार की स्थितियों में यह आवश्यक हो सकता है कि हम शोध के और भी अधिक परिष्कृत उपकरणों का प्रयोग करें।

(2) सत्यापन—व्यवहारवादी यह भी मानते हैं कि ज्ञान, यदि वह सार्थक है, ऐसी *प्रस्थापनाओं पर आधारित होना चाहिए जिनके सम्बन्ध में आनुभविक परीक्षण किये* जा चुके हैं और जितने भी प्रमाण सामने लाये जायें वे सब प्रेक्षण के आधार पर होने चाहिए। अमरीकी राजनीतिशास्त्रियों ने बार बार इस बात पर जोर दिया है कि उनके अध्ययन का सम्बन्ध प्रमुखतः ऐसी घटनाओं से है जिनका निरीक्षण किया जा सके—उन बातों से जो कही गयी है और उन कार्यों से जो किये गये हैं, तथा व्यक्तियों अथवा राजनीतिक समूहों के व्यवहार से इसके उत्तर में परम्परावादियों का कहना है कि ऐसी घटनाएं जिनका निरीक्षण वास्तव में सम्भव हो समस्त राजनीति का केवल एक छोटा सा अंश है। यदि राजनीतिक घटनाओं को ईमानदारी के साथ समझना है तो हमें उस व्यवहार से, जिसका निरीक्षण किया जा सके, परे जाना होगा। इसके अतिरिक्त, व्यक्ति अथवा समूह किसी न किसी सन्दर्भ में ही काम करते हैं। उनके व्यवहार पर उन संस्थाओं का और समाज का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है जिनके अन्तर्गत वे काम करते हैं। इस कारण व्यवहार को ठीक से समझने के लिए उस पर्यावरण की अच्छी जानकारी होना आवश्यक है जिसमें ये घटनाएं घटित हुई हैं। *उनकी दलील का सार यह है कि जिस* प्रकार हम उन संस्थागत अथवा सामाजिक वातावरण की उपेक्षा नहीं कर सकते जिनमें व्यक्ति और समूह काम करते हैं उसी प्रकार हम उन प्रक्रियाओं की भी उपेक्षा नहीं कर

सकते जो मनुष्य के कामों की सतह के नीचे चलती रहती है, और राजनीतिक जीवन का अधिकांश भाग इन्हीं अज्ञात प्रक्रियाओं से बनता है। केवल इन्द्रियगत ज्ञान के द्वारा उन्हें नहीं समझा जा सकता। इसके विपरीत, व्यवहारवादियों का दावा है कि यह कहना ठीक नहीं होगा कि वे उन तत्त्वों की उपेक्षा कर रहे हैं जो सतह के नीचे काम कर रहे हैं। वे भी इन गतिविधियों में उतनी ही रुचि लेते हैं, परन्तु इस सम्बन्ध में उनकी राय यह है कि उन्हें जानना इतना असम्भव नहीं है जितना कि परम्परावादी सोचते हैं। उनका यह भी दावा है कि उन्होंने पिछले 25 वर्षों में राजनीतिक व्यवहार के पीछे काम करने वाली अभिवृत्तियों का भी गहराई के साथ अध्ययन किया है।

(3) तकनीक—व्यवहारवादी शोध सामग्री का संग्रह करने और उसकी व्याख्या करने में सही ढंग की तकनीकों के प्रयोग को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं, और मानते हैं कि शोध कार्यों में ऐसे उपकरणों और प्रविधियों का प्रयोग करना चाहिए जिनके आधार पर गुणगत, विश्वसनीय और तुलनात्मक सामग्री जुटायी जा सके। शोधकर्ता को अपनी शोध पद्धतियों के सम्बन्ध में सतर्क और आलोचनात्मक बने रहने की दृष्टि से उन्होंने बहुचर विश्लेषण (multivariate analysis), प्रतिदर्श सर्वेक्षण (sample surveys), गणितीय प्रतिरूप (mathematical models), अनुरूपण (simulation) आदि परिष्कृत उपकरणों के प्रयोग का सुझाव दिया है। वे मानते हैं कि यदि ऐसा किया गया तो शोधकर्ता अपनी शोध के सम्बन्ध में योजनाएं बनाने, उन्हें क्रियान्वित करने और उनका सही मूल्यांकन करने में अपनी मूल्य-सम्बन्धी अधिमान्यताओं को निरस्त कर सकेगा। वे मानते हैं कि तकनीक इतनी परिष्कृत और परिमाणीकृत होनी चाहिए कि सामग्री के प्रेक्षण, अभिलेखन और विश्लेषण में कठोर साधनों का प्रयोग किया जा सके। परम्परावादी इन सब दलीलों को काटते हुए यह कहना चाहते हैं कि सामाजिक विज्ञानों में तथ्य कभी वस्तुनिष्ठ हो ही नहीं सकते, और तकनीक को विषय की कीमत पर महत्त्व देना गलत है। उनका कहना है कि शोध प्रणालियों के सम्बन्ध में दुराग्रह को यदि बहुत दूर तक ले जाया गया तो उसका परिणाम यह निकल सकता है कि ज्ञान की खोज में आगे बढ़ने के स्थान पर उसके मार्ग में नयी बाधाएं उठ खड़ी हों। इस प्रकार की अभिवृत्ति को यदि जांच-पड़ताल के क्षेत्र को निर्धारित करने के लिए काम में लिया गया तो, परम्परावादियों का कहना है, राजनीति-विज्ञान के बहुत से महत्त्वपूर्ण क्षेत्र शोध की परिधि से बाहर रह जायेंगे। बहुत से तकनीकी आविष्कार इतने अधिक परिष्कृत और परिमार्जित हो सकते हैं कि जिस अपरिपक्व सामग्री के आधार पर राजनीतिशास्त्रियों को शोध का अधिकतर काम करना पड़ता है उसे देखते हुए वे उनकी पकड़ में ही न आ सकें। इसके उत्तर में व्यवहारवादियों का यह कहना है कि आधार-सामग्री के समुच्चय में भूल और अविश्वसनीयता को पकड़ने के भी कई साधन हैं, और इस कारण वे इस बात को समझने में असमर्थ हैं कि आधार-सामग्री को अधिक से अधिक वस्तुनिष्ठ बनाने का यत्न क्यों नहीं किया जाना चाहिए।

(4) परिमाणीकरण—व्यवहारवादियों की राय में परिमापन और परिमाणीकरण पर अधिक से अधिक निर्भर रहना आवश्यक है। उनकी दलील है कि आधार-सामग्री

की छानबीन के लिए अस्पष्ट गुणात्मक निर्णयों के स्थान पर जब तक परिमापन और अन्य कठोर पद्धतियों का सहारा नहीं लिया जाता राजनीतिक जीवन के सुनिश्चित और सही ज्ञान को प्राप्त करना असम्भव होगा। इस कारण आवश्यक है कि अन्य सामाजिक विज्ञानों के समान ही राजनीति-विज्ञान में भी शोध की आधार-सामग्री का परिमाणीकरण किया जाय और सभी निष्कर्ष परिमाणात्मक आधार-सामग्री पर ही निर्धारित हों। इसके बिलकुल विपरीत, परम्परावादियों का कहना है कि ऐसी वस्तुओं का परिमाणीकरण जो अपने आप में अपरिमाणात्मक है, और परिमापन, जिनका परिमापन किया ही नहीं जा सकता, एक निरर्थक प्रयोग है। साथ ही, इसके लिए इतनी अधिक सुनिश्चित सकल्पनाओं की आवश्यकता होती है जो राजनीति-विज्ञान में उपलब्ध ही नहीं हैं। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कहना है कि वास्तविक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का परिमाणीकरण सम्भव ही नहीं है, यद्यपि महत्त्वहीन प्रश्नों का आसानी से परिमाणीकरण किया जा सकता है। वे पूछते हैं कि जो वस्तु स्वभाव से ही अनिश्चित और अमापनीय है उसे किस प्रकार कोई एक गणितीय रूप में प्रस्तुत कर सकता है? इसके उत्तर में व्यवहारवादियों का यह कहना है कि वे यह तो मानकर ही चलते हैं कि आधार-सामग्री के संग्रह करने की कोई भी प्रक्रिया भूल और अविश्वसनीयता से खाली नहीं हो सकती और इसी कारण वे इस बात पर बहुत जोर देते हैं कि नयी आधार सामग्री की खोज के प्रकाश में पुरानी आधार-सामग्री और प्राक्कल्पनाओं को बार-बार ठीक करते रहना चाहिए और नयी प्राक्कल्पनाओं के प्रकाश में नयी आधार-सामग्री का संग्रह करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(5) मूल्य—अब हम मूल्यों के प्रश्न पर आते हैं। व्यवहारवादियों और परम्परावादियों में मूल्य निरपेक्षता के प्रश्न पर बहुत अधिक वाद-विवाद चलता रहा है। व्यवहारवादियों का यह दृढ़ मत है कि नीति-सम्बन्धी मूल्यांकन आनुभविक विश्लेषण से बिलकुल भिन्न है। मूल्य और तथ्य दो अलग-अलग चीजें हैं, और विश्लेषण की दृष्टि से भी उन्हें अलग-अलग ही रखना चाहिए। उनका अध्ययन चाहे अलग-अलग किया जाय अथवा एक साथ, यह आवश्यक है कि एक को दूसरे के साथ मिला न दिया जाय। लोकतन्त्र, समानता अथवा स्वाधीनता अपने आप में बहुत ऊंचे मूल्य हो सकते हैं, परन्तु उनकी सत्यता अथवा असत्यता को वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस कारण वैज्ञानिक जांच पड़ताल का मूल्य-निरपेक्ष होना बहुत आवश्यक है। वैज्ञानिक विश्लेषण में भी कई बार मूल्यों के अध्ययन को इस कारण बीच में लाना पड़ता है कि वे राजनीतिक व्यवहार को निर्धारित करते हैं, जैसा कि चुनाव में। परन्तु इस प्रकार के मामलों में भी शोधकर्ता के लिए यह आवश्यक है कि अपने व्यक्तिगत मूल्यों को वह अपने अध्ययन से कठोरता के साथ अलग रखें। दूसरे शब्दों में उनका कहना है कि, उसके कृत्यात्मक पक्ष में, राजनीति का वैज्ञानिक अध्ययन आनुभविक प्रणालियों के माध्यम से किया जाने के कारण नैतिक प्रश्नों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। इसके उत्तर में परम्परावादियों का कहना है कि महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न अनिवार्य रूप से नैतिक प्रश्नों के साथ जुड़े होते हैं और राजनीति-विज्ञान के लिए उन्हें वैज्ञानिक

दृष्टि से सुलझा पाना चाहे सम्भव न हो, परन्तु, क्या सही है और क्या गलत, इन प्रश्नों से वह अपना सम्बन्ध बिलकुल हटा नहीं सकता। उनकी राय में यह कहना भी सही नहीं है कि मूल्यों के सम्बन्ध में हम इस स्थिति में नहीं है कि उन्हें सही या गलत सिद्ध कर सकें। परम्परावादियों का यह दावा भी है कि, अपने समस्त प्रयत्नों के बावजूद भी, शोधकर्ता अपने अध्ययन से मूल्य-सम्बन्धी अपनी अधिमान्यताओं को अलग नहीं रख सकता। वे किसी न किसी रूप में उसकी शोध में प्रवेश कर ही लेती हैं। यदि वह जोरों के साथ सामने का दरवाजा बन्द कर देता है तो वे पीछे के दरवाजे से घुस आती हैं। इसके उत्तर में व्यवहारवादियों का कहना है कि यदि शोधकर्ता को इस बात का डर हो तो वह अपने अध्ययन के आरम्भ में ही अपने मूल्यों की घोषणा कर सकता है। उनका दूसरा तर्क यह है कि क्योंकि राजनीतिक-विज्ञान में खोज बराबर चलती रहती है और एक खोज दूसरी खोज पर निर्भर होती है यह सदा ही सम्भव होता है कि कोई दूसरा शोधकर्ता इन खोजों के पुनः परीक्षण के आधार पर अपने पूर्ववर्ती शोधकर्ता की मूल्य सम्बन्धी अधिमान्यताओं का पता लगा सकेगा और, आवश्यक हुआ तो, उन्हें ठीक कर सकेगा। इसके अतिरिक्त व्यवहारवादियों का यह दावा भी है कि यदि पूर्ववर्ती शोध-कर्ताओं के द्वारा मूल्यों को अलग रखने में पर्याप्त सावधानी न भी ली गयी हो तो भी विकसित तकनीकों व प्रविधियों के माध्यम से शोध को सदा ही मूल्य-निरपेक्ष रखा जा सकता है, अथवा मूल्य-सम्बन्धी अधिमान्यताओं का जल्दी से पता लगाया जा सकता है।

(6) व्यवस्थापन—व्यवस्थापन के सम्बन्ध में व्यवहारवादियों का दावा है कि राजनीति-विज्ञान में शोध व्यवस्थित होनी चाहिए, जिससे उनका अर्थ है यह 'सिद्धान्त अभिविन्यस्त" और "सिद्धान्त निदेशित" होनी चाहिए, सिद्धान्त और शोध "ज्ञान की एक संश्लिष्ट और व्यवस्थित समग्रता के परस्पराश्रित सम्बद्ध अंग" होने चाहिए और "शोध यदि सिद्धान्त से अनुप्राणित नहीं है तो वह महत्वहीन हो सकती है, और सिद्धान्त यदि आधार-सामग्री से समर्थित नहीं है तो वह निरर्थक हो सकता है"। व्यवहारवादियों का दावा है कि वे न केवल सिद्धान्त की उपेक्षा नहीं कर रहे हैं, परन्तु परम्परावादियों की तुलना में, सिद्धान्त को और भी अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उन दोनों में अन्तर केवल यही है कि जब कि परम्परावादी मूल्य-परक सिद्धान्त की (value theory) बात करते हैं वे लोग एक कार्य-कारण सिद्धान्त (casual theory) के विकास का प्रयत्न कर रहे हैं। उनकी दृष्टि में सिद्धान्त का अर्थ अटकलबाजी और आत्मनिरीक्षण नहीं है परन्तु विश्लेषण, स्पष्टीकरण और भविष्यवाणी है। एक सुगठित, तार्किक दृष्टि से सुगठित संकल्पनाओं और प्रस्थापनाओं की संरचनाओं के आधार पर ही प्राक्कल्पनाएं प्रस्तुत की जा सकती हैं। प्राक्कल्पनाएं ऐसी होनी चाहिए कि कठोर परीक्षण में से भी शुद्ध सिद्ध हो सकें, और तभी वे नये सिद्धान्तों के लिए आधार बन सकती हैं। सिद्धान्त भी कई प्रकार के हो सकते हैं—(अ) निम्न-स्तरीय, जिसमें केवल सामान्यीकरण हो, (ब) मध्य-स्तरीय, जो समन्वयकारी हों परन्तु जिनकी परिधि तुलनात्मक दृष्टि से संकीर्ण हो, अथवा (स) 'व्यापक', विस्तृत परिधि वाले, व्यवस्थित अथवा सम्पूर्ण, व्यवहारवादी शोध का अन्तिम उद्देश्य सर्वांगीण 'सामान्यीकरणों' का विकास करना है—दूसरे शब्दों में,

ऐसे नियमों का आविष्कार करना है जिनके आधार पर राजनीतिक घटनाओं का विवरण और अन्य घटनाओं से उनका सम्बन्ध इतनी अधिक परिशुद्धता के साथ दिया जा सके जैसी हमें यान्त्रिकी अथवा भौतिकी नियमों में मिलती है। इसके विपरीत, परम्परावादियों का कहना है कि राजनीति-विज्ञान में अभी जब निम्न और मध्य-स्तरीय निरूपण भी सम्भव नहीं हैं तो सर्वांगीण अथवा व्यापक सिद्धान्तों की बात करना हास्यास्पद है। परम्परावादियों के मत में व्यवहारवादियों के द्वारा सर्वांगीण सिद्धान्त की इस खोज का परिणाम केवल यही निकला है कि उन्होंने संकल्पनाओं और वैचारिक संरचनाओं का एक बहुत बड़ा भण्डार अपने पास एकत्रित कर लिया है जिसे सफलता के साथ प्रयोग में लाना असम्भव सिद्ध हुआ है।

(7) **शुद्ध विज्ञान** – व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्री "शुद्ध विज्ञान" के दृष्टिकोण पर बहुत अधिक जोर देते हैं। वे मानते हैं कि किसी घटना को सैद्धान्तिक दृष्टि से *समझने का परिणाम यह हो सकता है कि उसके द्वारा प्राप्त किये गये ज्ञान को जीवन की* समस्याओं में उपयोग में लाया जा सके। सिद्धान्त और प्रयोग में दोनों वैज्ञानिक प्रयत्नों के अंग हैं, परन्तु राजनीतिक व्यवहार को समझना और उसका विश्लेषण करना तार्किक दृष्टि से पहली आवश्यकता है और केवल उसी के आधार पर उस ज्ञान को समाज की *आवश्यक व्यावहारिक समस्याओं में प्रयोग लाने के प्रयत्न किये जा सकते हैं।* इसी कारण वे शुद्ध अनुसन्धान पर बहुत अधिक महत्व देते हैं, यदि उसका प्रयोग विशिष्ट और न्यूनतम सामाजिक समस्याओं में सम्भव न भी हो तो भी उन्हें इसमें आपत्ति नहीं होगी। उन्होंने ऐसी शोध को, जो सुधार के अथवा अन्य प्रकार के कार्यक्रमों को बढ़ावा देने की दृष्टि से की गयी हो, शोध के लिए ही की जाने वाली शोध की तुलना में, नीचा स्थान दिया है, और अपने इस विचार का अनवरत प्रतिपादन किया है कि इस प्रकार की शोध में वैज्ञानिक ज्ञान की मात्रा बहुत कम होती है। इसके विपरीत, परम्परावादी यह मानते हैं कि सिद्धान्त का उस समय तक कोई मूल्य ही नहीं जब तक उसे समाज की वास्तविक राजनीतिक समस्याओं को समझने में प्रयोग में न लाया जा सके, और उनके समाधान की तलाश में वह सहायक न हो। वे मानते हैं कि सामाजिक घटनाओं को समझने के सामाजिक वैज्ञानिकों के प्रयत्नों का एकमात्र उद्देश्य यह पता लगाना होता है कि वर्तमान कठिनाइयों का समुचित समाधान कैसे पाया जा सकता है और उसके आधार पर समाज को कैसे सुधारा जा सकता है। इस कारण, उनकी सम्मति में, प्रयोगात्मक शोध और सार्वजनिक नीति के प्रश्नों में रुचि आवश्यक भी है, और वांछनीय भी।

(8) **समायोजन** – अन्त में, राजनीति-विज्ञान का अन्य सामाजिक-विज्ञानों के *साथ समायोजन का प्रश्न आता है। व्यवहारवादी मानते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक* प्राणी है और, यद्यपि उसकी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और अन्य प्रकार की गतिविधियों के बीच सीमा-रेखाएं खींचने का प्रयत्न किया जा सकता है, इनमें से कोई भी गतिविधि ऐसी नहीं है जिसे सम्पूर्ण जीवन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखे बिना *ठीक से समझा जा सके। इस कारण किसी भी राजनीतिक घटना के अध्ययन के लिए* यह आवश्यक है कि हम समाज में होने वाली आर्थिक, सांस्कृतिक और अन्य घटनाओं

को अच्छी तरह समझ सकें। यदि राजनीतिक मनुष्य को आर्थिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक मनुष्य से विच्छिन्न करके देखने और समझने का प्रयास किया गया तो उसके राजनीतिक व्यवहार के यथार्थ स्वरूप को पहचान पाना सम्भव नहीं हो सकेगा। दूसरी ओर, राजनीति-शास्त्री यदि व्यक्ति के जीवन के एक पक्ष और दूसरे पक्ष के बीच के सम्बन्धों को ठीक से समझता है तो वह उसके सामाजिक जीवन के राजनीतिक पक्ष को भी, जिसके अध्ययन में उसकी प्रमुख रुचि है ठीक से समझ सकेगा। दूसरी ओर, परम्परावादी यह मानने के लिए तैयार हैं कि राजनीतिक घटनाओं के अध्ययन में बहुत से ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें अन्त शास्त्रीय दृष्टिकोण अत्यधिक उपयोगी है, परन्तु यदि राजनीति-शास्त्री उन राजनीतिक घटनाओं को जिनका वे अध्ययन कर रहे हैं, व्यक्ति के व्यवहार के अन्य और अ-राजनीतिक पक्षों के साथ पारस्परिक निर्भरता पर बहुत अधिक जोर देते चले जाते हैं तो उसमें यह खतरा रहता है कि वे जिस बात में अध्ययन में विशेष रूप से संलग्न हैं, अर्थात व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन में, वह उनकी दृष्टि से ओझल हो जायेगी, और वे अन्य उलझनों में अपने को खो देंगे। इस कारण, राजनीतिक विज्ञान के भिन्न व्यक्तित्व और उसकी शुद्धता एवं स्वायत्तता की रक्षा करना आवश्यक हो जाता है। बिना इस बात का ध्यान किये कि वह किसी विशिष्ट अध्ययन से सम्बद्ध है अथवा नहीं, दूसरे विज्ञानों से बहुत अधिक सकल्पनाओं और तरकीबों को अपनाते चले जाना परेशानी का कारण बन सकता है। परम्परावादी यह मानते हैं कि दूसरे सामाजिक विज्ञानों से कौशल, तरकीबों और प्रविधियों को लेने के अपने लाभ हैं परन्तु वे यह नहीं चाहेंगे कि यह दृष्टिकोण शोधकर्ता के आधारभूत राजनीति-विज्ञान के उपागम को ही बदल दे।[13]

व्यवहारवाद के "बौद्धिक आधार-स्तम्भों" की ईस्टन के द्वारा व्याख्या किये जाने के बाद से राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र में व्यवहारवादियों और परम्परावादियों में चलते रहने वाले महान वाद-विवाद को यदि नजदीक से देखने का प्रयत्न किया जाय तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकेगा कि उनके बीच का भेद वास्तव में बहुत गहरा नहीं है। इस वाद-विवाद के समस्त आक्रोश के बावजूद, यह नहीं कहा जा सकता कि परम्परावादियों और व्यवहारवादियों की स्थिति एक दूसरे की विरोधी है। अधिकांशत तो यह झगड़ा

[13] जेम्स सी० चार्ल्सवर्थ द्वारा सम्पादित, पी० उ०, में डेविड ईस्टन, का "दि करेंट मीनिंग ऑफ 'बिहेवियरलिज्म,' कॉन्सेप्ट्स, मेथड्स", और गोल्ड और थर्सबी द्वारा सम्पादित, पी० उ०, में रॉबर्ट डाल का "दि बिहेवियरल एप्रोच इन पोलिटिकल साइंस" शीर्षक लेख व्यवहारवादी दृष्टिकोण के प्रतिपादन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आलोचना की दृष्टि से जेम्स सी० चार्ल्सवर्थ द्वारा सम्पादित, पी० उ०, में पृ० 51-71 पर मलफोर्ड सिबली का "दि लिमिटेशन ऑफ बिहेवियरलिज्म" और गोल्ड और थर्सबी द्वारा सम्पादित, पी० उ०, में क्रिश्चियन बे का "ए क्रिटिकल एवेल्यूएशन ऑफ दि बिहेवियरल लिटरेचर" महत्त्वपूर्ण है। परम्परावादियों के एक तर्कपूर्ण उत्तर और व्यवहारवादियों के प्रत्युत्तर के लिए देखिए श्मिट और टैनेनहौस, पी० उ०, में "बिहेवियरल—ट्रेंड्स इन पोलिटिकल साइंस" हेन्ज और हेराडर, "दि थ्योरी ऑफ पोलिटिकल इन्क्वायरी," और गोल्ड थर्सबी, पी० उ०, पृ० 358-372 पर हैरी एक्सटाइन, "दि कन्सेप्ट एण्ड प्रोसेस ऑफ पॉलिटिकल पॉवर"।

जाना सम्बन्धी है, यद्यपि इन दोनों उपागमों में जो मूलभूत मतभेद है उनकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस सारे वाद-विवाद को शायद अधिक अच्छी तरह से समझा जा सके यदि हम इस तथ्य का ध्यान में रखें कि पिछले पचास-साठ वर्षों में राजनीति-विज्ञान का विकास भी लगभग उसी दिशा में हुआ है जिसमें अन्य सामाजिक-विज्ञानों का। इस विकास की दो प्रवृत्तियों को आसानी से चुना जा सकता है। कारण चाहे कुछ भी क्यों न रहे हों, सभी सामाजिक विज्ञानों में एक ओर तो उन्हें अधिक से अधिक 'वैज्ञानिक' बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है और दूसरी ओर, उन्हें अधिक अन्तः-शास्त्रीय बनाने की आवश्यकता महसूस की जा रही है। मनोविज्ञान और समाज शास्त्र में इन प्रवृत्तियों का विकास, एक के बाद एक करके और कुछ समय के अन्तर से हुआ। पहले अपने को अधिक से अधिक 'वैज्ञानिक' बनाने की प्रवृत्ति का आरम्भ हुआ, और बाद में अन्तःशास्त्रीय आधारों के विकास का प्रयत्न। राजनीति-विज्ञान में इन दोनों प्रवृत्तियों का विकास लगभग एक साथ हुआ। ईस्टन के अनुसार, राजनीति विज्ञान में व्यवहारवाद की प्रगति विज्ञान की दिशा में आगे बढ़ने के प्रयास का उतना परिणाम नहीं है जितना उसे अन्तःशास्त्रीय बनाने का। राजनीति-विज्ञान में, इस प्रकार, तकनीक और सार-वस्तु दोनों में एक साथ ही क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। परम्परावादी व्यवहारवादियों पर प्राविधिक नवीनताओं पर बहुत अधिक जोर देने का इल्जाम लगाते हैं, और शिकायत करते हैं कि वे शोध के उपकरणों को परिष्कृत बनाने पर अधिक ध्यान देते हैं और इस बात पर कम कि शोध का उद्देश्य क्या है। उनकी शिकायत है कि व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्री अपना अधिकांश समय प्रतिमानों और वैचारिक संरचनाओं के निर्माण में अथवा छोटी-छोटी समस्याओं के अध्ययन में लगा देते हैं, और उनमें से बहुत कम ऐसे हैं जो, इन तकनीकों के माध्यम से वास्तव में, समाज की प्रमुख समस्याओं का अध्ययन करना चाहते हैं। राजनीतिक व्यवहार अपने आप में एक अत्यधिक जटिल वस्तु है, जिसके बहुत से अंश सतह के नीचे, और मानस की गहराइयों में छिपे होते हैं और जिन्हें केवल अन्तश्चक्षुओं के द्वारा ही देखा जा सकता है। इस प्रकार के अध्ययन में व्यक्ति-निष्ठ तत्त्वों का प्रवेश अनिवार्य हो जाता है, और उनकी केवल इस कारण उपेक्षा नहीं की जा सकती, और न उपेक्षा की जानी चाहिए, कि वे व्यक्ति-निष्ठ हैं।

इस सम्बन्ध में अब जो एक मतैक्य उभरता हुआ दिखायी दे रहा है वह यह है कि किसी राजनीतिक घटना को यदि ठीक से समझना है तो उसे अनेक दृष्टिकोणों से देखना आवश्यक होगा। उसका जो भाग इन्द्रियों के माध्यम से जाना जा सकता है उसका वैज्ञानिक प्रविधियों के द्वारा और वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जा सकता है। शोध के उन परिष्कृत उपकरणों की सहायता से जिनका तेजी से विकास किया जा रहा है उसे बार-बार उलटा-पलटा जा सकता है, और, तब, प्रत्येक राजनीतिक व्यवहार के पीछे व्यक्ति के मानस की अन्तरतम गहराइयों में क्या है उसे समझने के लिए मनोवैज्ञानिक उपकरणों का सहारा लिया जा सकता है, और, उसके साथ ही, अन्तर्दृष्टि की उस शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है जो भूतकाल से इस प्रकार की घटनाओं के अध्ययन के आधार पर संचित की जा सकी है। यह प्रयत्न यहीं समाप्त नहीं हो जाता। राज-

नीतिक घटनाओं के प्रेक्ष्य भाग को समझने के लिए भी उन अन्तःक्रियाओं का अध्ययन आवश्यक हो जाता है जो राजनीतिक व्यवस्था और उसके सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक पर्यावरण के बीच सदैव चलती रहती हैं। राजनीतिक व्यवहार के अच्छे अध्ययन के लिए इस प्रकार, न केवल राजनीति-विज्ञान में विकसित किये गये परम्परावादी और व्यवहारवादी दोनों ही उपागमों का प्रयोग आवश्यक होगा परन्तु उन सकल्पनाओं और तकनीकों का ज्ञान भी अत्यधिक सहायक होगा जिनका विकास अन्य सामाजिक, और सम्भवतः प्राकृतिक, विज्ञानों ने किया गया है।

परम्परावाद और व्यवहारवाद : सतत मतभेद

परम्परावादी राजनीतिशास्त्री यद्यपि बहुत सी बातों में व्यवहारवादी दृष्टिकोण से सहमत होते हुए दिखायी देते हैं, परन्तु अब भी कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें उनकी बातों को मानने के लिए वे तैयार नहीं हैं।[24] यह मानते हुए भी कि व्यवहारवाद ने, विकास की अपनी विभिन्न अवस्थाओं में, राजनीति के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण योग दिया है, उन्हें इस बात में सन्देह है कि व्यवहारवादी उपागम राजनीतिक व्यवहार अथवा घटनाओं को समझने के लिए अपने आप में पर्याप्त हैं। उनकी मान्यता है कि व्यवहारवादी उपकरण व्यवस्था के अंगों के, अथवा उन अंगों के आपसी सम्बन्धों के, विश्लेषण में कुछ सीमा तक सहायक हो सकते हैं, परन्तु समग्र व्यवस्था की यथार्थताओं को समझने के लिए वे सर्वथा अपर्याप्त हैं। राजनीति-मर्मज्ञ के लिए विज्ञान पर बहुत अधिक आग्रह से बचने के लिए ये राजनीतिशास्त्रियों के लिए इस शब्द का प्रयोग करना चाहेंगे—यह आवश्यक है कि वह व्यवहारवादी से कुछ अधिक हो। उसके लिए इतिहासकार, विधिवेत्ता और नीतिविद होना भी आवश्यक है। मल्फोर्ड सिब्ली ने लिखा है, 'राजनीति को समझने के लिए कलाकार की विशिष्ट अन्तर्दृष्टि का होना उतना ही आवश्यक है जितना वैज्ञानिक की सुनिश्चितता का—अंगों के विश्लेषण के अतिरिक्त सम्पूर्ण के साथ अंगों के अन्तःसम्बन्धों को जानना भी आवश्यक है।"[25] व्यवहारवाद का प्रयोग, जैसा सिब्ली ने लिखा है, "अनिवार्यतः, मूल्य-सम्बन्धी नीतियों के सन्दर्भ में ही किया जा सकेगा, जिसका समर्थन केवल व्यवहारवादी तकनीकों के द्वारा सम्भव नहीं है।"[26]

[24] जेम्स सी० चार्ल्सवर्थ द्वारा सम्पादित, पी० उ०, में सिब्ली ने व्यवहारवाद की सीमाओं की चर्चा की है, पर व्यवहारवाद की बहुत कड़ी आलोचनाओं के लिए देखिए हर्बर्ट जे० स्टोरिंग द्वारा सम्पादित, "एसेज ऑन दि साइंटिफिक स्टडी ऑफ पॉलिटिक्स," पी० उ०, में पृ० 51-71 पर लियो स्ट्रॉस, "एन एपीलॉग," गोल्ड और थर्सबी द्वारा सम्पादित, पी० उ०, में पृ० 137-160 पर और मूल रूप में "अमेरिकन पोलिटिकल साइंस रिव्यू," खण्ड 59, सं० 1, मार्च 1965, में पृ० 39-51 पर "पॉलिटिक्स एण्ड स्टडी, पॉलिटिक्स ए क्रिटिकल एवेल्यूएशन ऑफ सम बिहेवियरल लिटरेचर" शीर्षक से प्रकाशित विलियम के का 'ए क्रिटिकल एवेल्यूएशन ऑफ बिहेवियरल लिटरेचर"; और एरिक वोगेलिन, "दि न्यू साइंस ऑफ पॉलिटिक्स," शिकागो, शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस, 1952।

[25] जेम्स सी० चार्ल्सवर्थ द्वारा सम्पादित, पी० उ०, पृ० 52।

[26] वही, पृ० 54।

राजनीति का अध्ययन, बिना पहले इस बात की व्याख्या किये कि राजनीति क्या है और अ-राजनीतिक वस्तुओ से उसे कैसे भिन्न किया जा सकता है, करने मे, परम्परावादियो की दृष्टि से,. प्रमुख खतरा यह है कि राजनीतिशास्त्री समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान, मनोरोग-शास्त्र आदि क्षेत्रो मे विकसित की गयी सकल्पनाओ को स्वीकार करने के लिए तत्पर हो जाता है, बिना इस बात को समझे हुए कि राजनीति का क्षेत्र समाज अथवा मानव मस्तिष्क के क्षेत्रो से किस प्रकार भिन्न है। सिबली के ही अनुसार, राजनीति के सम्बन्ध मे अपनी स्पष्ट और, आवश्यक हो तो, मूल्य-युक्त सकल्पनाओ के लिए बिना आगे बढने का परिणाम यह हुआ है कि व्यवहारवाद के इस युग में राजनीति-विज्ञान की शोध का नेतृत्व समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान और मनोरोग-विद्वानों के हाथों में चला गया है। सच बात तो यह है कि राजनीति की व्यवहारात्मक ढग से व्याख्या की ही नही जा सकती—उसे तो अन्तर्दृष्टि से ही देखा जा सकता है। सिबली के शब्दो मे " व्यवहारवादी अध्ययनो को हम कितना ही मूल्यवान क्यों न मानें—यहा हम वैज्ञानिक सिद्धान्त और सत्यापन की प्रक्रिया दोनो को ही ले सकते है—उन विचारो का, जिनसे हम वैज्ञानिक अनुसन्धान का आरम्भ करते हैं, और उन सकल्पनाओ का जो हमे उस दिशा मे ले जाती हैं, आधार अन्तत अन्तर्दृष्टि, जिसे लिओ स्ट्रॉस ने प्राग्-वैज्ञानिक ज्ञान कहा है, और कलापरक अनुभव होना चाहिये।"[1] जैसा लिओ स्ट्रॉस ने एक अन्य स्थल पर लिखा है, कुछ वस्तुए ऐसी हैं जिन्हे माइक्रोस्कोप अथवा टेलिस्कोप के माध्यम से ही देखा जा सकता है, परन्तु बहुत सी ऐसी वस्तुए होती है जिन्ह केवल आखो के द्वारा देखना ही ठीक रहता है।

परम्परावादी अब यह मानने लगे है कि, व्यवहारवादी प्रविधियों की सहायता से, वैज्ञानिक अनुसन्धान और वैज्ञानिक प्रागुक्ति के क्षेत्रो मे बहुत सी उपलब्धिया सम्भव हैं। परन्तु वैज्ञानिक प्रागुक्ति का अर्थ यह नही है कि भविष्य में होने वाली सभी बातो के सम्बन्ध मे हम निश्चित रूप से कुछ कह सकते हैं। नकारात्मक प्रागुक्तिया करना आसान है, जिसकी तुलना कार्ल पोपर ने छलनी मे पानी ले जाने के सम्बन्ध मे भविष्यवाणी करने से की थी। राजनीतिशास्त्री की प्रागुक्तिया कितनी भी वैज्ञानिक क्यो न हो, वे 'यदि तो" प्रस्थापनाओ मे आगे नही जा सकती। यदि घटनाए एक निश्चित ढग से होती हैं तो कुछ अन्य घटनाओ के सम्बन्ध मे भविष्यवाणी की जा सकती है—जैसे घनघोर घटाओं के घिर जाने पर वर्षा होने के सम्बन्ध मे, परन्तु निश्चय के साथ नही कहा जा सकता कि भविष्य मे जो कुछ भी होगा वह उसी रूप मे होगा जिसका अनुमान लगाया जा रहा है—घनी से घनी घटाए भी, बिना बरसे, बिखर सकती हैं, और साधारण मेघों के एकत्रित होने पर भी घनी वर्षा हो सकती है। दूसरे शब्दो मे, वस्तुओ को समझने, उनकी व्याख्या करने और उनके सम्बन्ध मे भविष्यवाणी करने के वैज्ञानिक उपकरण ही एकमात्र उपकरण, व्याख्याए अथवा प्रागुक्तिया नही हैं—बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिन्हे समझना राजनीतिशास्त्री के लिए आवश्यक है, और जिनके सम्बन्ध मे व्यवहारवादी उपागम

[1] वही, पृ० 561

तनिक भी सहायक सिद्ध नहीं होते। उदाहरण के लिए, विश्व की समस्त व्यवहारवादी शोध, उसे कितना भी परिष्कृत क्यों न बना दिया जाय, हमें यह नहीं बता सकती कि किन लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना हमारे लिए वांछनीय माना जा सकता है। आर्नोल्ड ब्रेख्त ने अपने प्रसिद्ध "वैज्ञानिक मूल्य सापेक्षवाद" उपागम में यह स्पष्ट किया है कि (1) कोई वस्तु 'मूल्यवान' है अथवा नहीं, इस प्रश्न का वैज्ञानिक उत्तर केवल (अ) उस लक्ष्य अथवा उद्देश्य के सन्दर्भ में दिया जा सकता है जिसे प्राप्त करने की दृष्टि से वह उपयोगी (मूल्यवान) अथवा अनुपयोगी (मूल्यहीन) सिद्ध होती है, अथवा (ब) उस व्यक्ति, अथवा व्यक्तियों के समूह के सन्दर्भ में, जिसके लिए वह मूल्यवान है अथवा नहीं, और, इस कारण, (2) वैज्ञानिक दृष्टि से यह स्थापित करना असम्भव है कि कौन से लक्ष्य अथवा उद्देश्य मूल्यवान हैं, जब तक हम यह न जान लें कि (अ) दूसरे लक्ष्यों अथवा उद्देश्यों को प्राप्त करने की दृष्टि से उनका मूल्य क्या है, अथवा (ब) अन्तिम लक्ष्यों अथवा उद्देश्यों के सम्बन्ध में उस व्यक्ति, अथवा समूह, के अपने विचार क्या हैं।"[28]

अन्त में यह कहा जा सकता है कि यह स्वीकार करते हुए भी कि व्यवहारवादी उपागम की अपनी उपयोगिता है, परम्परावादी मानते हैं कि यह उपयोगिता बहुत अधिक है। हम "वैज्ञानिक प्रविधि" का प्रयोग किसी और सभी समस्याओं में करने के लिए कितने ही आतुर क्यों न हों, मनोविज्ञानवेत्ता जोसेफ आर० रौयस के शब्दों में, "जीवन के विभिन्न खण्डों को एक साथ जोड़ देने का काम सदा ही एक अत्यन्त व्यक्तिपरक और व्यक्तिगत काम होगा जिसका वैज्ञानिकीकरण नहीं किया जा सकता।"[29] इस विचार का समर्थन करते हुए सिबली लिखता है, " 'यदि-तो' व्यवहारवादी विज्ञान हमें राजनीतिक 'यथार्थता' के विराट विश्व से बहुत दूर, शुद्ध वैज्ञानिक परिकल्पनाओं की दिशा में, ले जाता है, और इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि जिस नये जगत में प्रवेश करने का नियन्त्रण व्यवहारवादी वैज्ञानिक हमें देता है वह एक महत्त्वपूर्ण जगत है।" "परन्तु," सिबली आगे चल कर लिखता है, "राजनीति का अध्ययन यदि केवल इसी आधार पर नहीं करना है कि व्यक्ति का व्यवहार निर्दिष्ट परिस्थितियों में क्या हो सकता है परन्तु इस आधार पर भी कि वह आज क्या है, कल क्या था, भविष्य में क्या होगा और कैसा होना चाहिए' तो हमारा काम केवल व्यवहारवाद से नहीं चलेगा, हमें राजनीतिक चिन्तन के इतिहास, नीति-दर्शन, सांस्कृतिक इतिहास, शास्त्रीय परम्परा की परिकल्पना-शील राजनीति-दर्शन, राजनीतिक विवरण, और प्रत्यक्ष राजनीतिक अनुभव, सभी से सहायता लेनी होगी।"[30]

परम्परावादी व्यवहारवादी उपागम की अपर्याप्तता की आलोचना नीति-निर्माण के

[28]आर्नोल्ड ब्रेख्त, 'पोलिटिकल थियरी : दि फाउंडेशन्स ऑफ ट्वेंटिएथ सेंचुरी पोलिटिकल थॉट," प्रिंसटन, प्रिंसटन विश्वविद्यालय प्रेस, 1959, पृ० 117-118।

[29]'अमरिकन साइंटिस्ट,' खण्ड 47, 1959, पृ० 534।

[30]मलफर्ड क्यू० सिबली, पी० उ०, पृ० 66 67।

उस दृष्टिकोण से भी करता है जिसमे उसके नैतिक, आनुभविक और विधि सम्बन्धी सभी पक्ष आ जाते हैं। नैतिक दृष्टि से, जिसमे मूल्यो की श्रेणी-बद्धता के सम्बन्ध मे सतर्कता और उनका निरूपण आते हैं, वह कोई योग नही दे सकता। आनुभविक क्षेत्र मे उसका कुछ उपयोग हो सकता है, परन्तु इस क्षेत्र मे भी वह विभिन्न अगो की प्रक्रियाओ अथवा उनके अन्त सम्बन्धो को, समझ लेने की स्थिति से आगे बढकर सम्पूर्ण को समझने मे, जिसमे ऐतिहासिक राजनीति का अध्ययन सम्मिलित है, समर्थ नही हो पाता। तीसरे, विधि-निर्माण के क्षेत्र म तो उसका उपयोग बिलकुल ही नही है, क्योकि उसका समस्त आधार व्यावहारिक विज्ञान और दर्शन की नीव पर रखा जाता है। इन सब आपत्तियो के उत्तर मे एक दलील यह दी जाती है कि इस प्रकार की समस्याओ को सुलझाना व्यवहारवादी विज्ञान के लिए आज, जब वह अपने विकास के प्राथमिक चरण मे है, चाहे सम्भव न हो, परन्तु जब उसका पर्याप्त विकास हो लेगा और वह बृहत्तर समस्याओ को समझने के लिए अधिक परिष्कृत उपकरणो का आविष्कार कर लेगा तब इन सभी समस्याओ को समझ लेना उसके लिए सरल हो जायेगा। इसके उत्तर मे परम्परावादियो का कहना है कि व्यवहारवादी विज्ञान की कमियो का कारण यह नही है कि उसका अभी पर्याप्त विकास नही हुआ है, ये कमिया तो प्राक्कल्पनात्मक ज्ञान की 'यदि-तो' प्रकृति मे ही अन्तर्निहित है। सक्षेप मे, उसका कहना है, "राजनीति को 'समझने' के लिए व्यवहारवाद से प्राप्त वक्तव्यों से कुछ अधिक की आवश्यकता है किसी वस्तु को समझने के लिए विज्ञान के अतिरिक्त अन्य साधन भी है"[31] यद्यपि इस कथन से परम्परावादियो का अर्थ यह नही है कि उनके अपने उपागमो मे कुछ गम्भीर कमिया नहीं है। एल्फ्रेड कौबन के शब्दो मे, व्यवहारवादी उपागम को अन्य सभी उपागमो से श्रेष्ठ ठहराने के प्रयत्नो, और केवल वैज्ञानिक प्रविधियो पर ही निर्भर रहने का परिणाम यह हुआ है कि राजनीति-विज्ञान आज "एक ऐसी युक्ति बनकर रह गया है, जिसका आविष्कार विश्व-विद्यालय के व्याख्याताओं ने राजनीति के खतरनाक विषय को अपने पाठ्यक्रमो से दूर रखने के लिए किया है, परन्तु उसे विज्ञान बनाने मे वे असफल रहे हैं"।[32]

व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान : विकास की अवस्थाएं

व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान विकास की तीन अवस्थाओ मे से गुजर चुका है। पहली अवस्था में, जो दूसरे विश्व-युद्ध से पहले की अवस्था थी, आनुभविक और परिमाणात्मक प्रविधियो का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। स्टुअर्ट राइस और हैरल्ड गोस्नेल से प्रेरणा लेकर राजनीतिशास्त्री अपनी रचनाओ मे परिमाणात्मक आधार-

[31] वही, पृ० 71।

[32] एल्फ्रेड कौबन, 'दि डिक्लाइन आफ पोलिटिकल थियरी' पालिटिकल साइंस क्वार्टरली,' खण्ड 68, अंक 3, सितम्बर 1953, में पृ० 335 पर। यही लेख गोल्ड और थर्सबी, पी० उ०, मे पृ० 289-303 पर उद्धृत किया गया है।

सामग्री और सांख्यिकी तालिकाओं का अधिक प्रयोग करने लगे थे। परन्तु यह कोई बहुत बड़ा क्रान्तिकारी कदम नहीं था। इस काल में कुछ अधिक परिष्कृत तकनीकों के विकास, और वर्णन की पद्धति के भावात्मक स्तर से हटकर विस्तृत तथ्यात्मक आधार की ओर झुकाव के बावजूद राजनीति-विज्ञान का प्रवाह परम्परागत धाराओं में ही जारी रहा। जैसा लेज़ार्सफेल्ड ने लिखा है, 'नयी प्रविधियों के प्रयोग का उद्देश्य केवल यह था कि राजनीति-विज्ञान के तत्कालीन प्रतिमानों का वर्णन और विश्लेषण अधिक सुनिश्चित ढंग से किया जा सके।"[33] हेरल्ड लास्वेल के द्वारा विषय विश्लेषण का प्रयोग और मनोविश्लेषण के सिद्धान्त में रुचि इस युग की सबसे बड़ी देन थे जिसे पुराने और नये व्यवहारवादियों के बीच एक सेतु माना जा सकता है। दूसरे विश्व-युद्ध के बाद ही आनुभविक और परिमाणात्मक शोध का वास्तविक रूप में विकास हो सका। अनेक लेखकों ने—जिनमें गेब्रीयल आमण्ड, रोबर्ट डाल, डेविड ईस्टन, कार्ल डोयच, हेरल्ड लास्वेल आदि सम्मिलित हैं—बहुत सी सैद्धान्तिक योजनाएं और शोध-प्रतिमानों का विकास किया, और उन्होंने आनुभविक अथवा कार्य-कारण सिद्धान्त के विकास का प्रयत्न किया। व्यवस्था उपागम, निर्णय-निर्मातृ सिद्धान्त, संचारण और अन्य सैद्धान्तिक नवीनताएं, ये सब 1950 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों की देन हैं। उनके परिणामस्वरूप राजनीति-विज्ञान के सभी उपक्षेत्रों में एक महान् परिवर्तन आया। शोध की तकनीकों ने भी इस युग में बहुत अधिक प्रगति की, परन्तु वहीं तक जहां तक सिद्धान्त-निर्माण की दृष्टि से उनका उपयोग आवश्यक था। व्यवस्थित कारक विश्लेषण (case analysis), विषय विश्लेषण, सर्वेक्षण, प्रयोगशाला में किये जाने वाले प्रयोग, समुच्चित सांख्यिकी विश्लेषण, कार्य-कारण प्रतिमान और इस प्रकार के शोध के अन्य अनेक उपकरणों का राजनीतिशास्त्रियों के द्वारा प्रयोग बढ़ने लगा था। अब उनकी यह मान्यता बनने लगी थी कि आनुभविक शोध के आधार पर ऐसी प्रस्थापनाओं का निरूपण किया जा सकता है जिन्हें आनुभविक शोध के ही द्वारा एक बार फिर कठोर परीक्षण की कसौटी पर कसा जा सके। परन्तु यह कहना गलत न होगा कि 1950 के दशक में व्यवहारवादियों की सैद्धान्तिक उपलब्धियां इतनी व्यापक थीं कि उनके द्वारा निर्मित किये जाने वाले सिद्धान्तों के परीक्षण के लिए उपयुक्त और पर्याप्त शोध तकनीकों का विकास काफी पिछड़ गया था।

1960 के दशक ने गणितीय तकनीकों, बहुचर विश्लेषण (multi-variate analysis) और परिमाणात्मक युक्तियों का विकास इतनी तेजी के साथ हुआ कि सैद्धान्तिक उपलब्धियां पीछे रह गयीं। इसका परिणाम यह निकला कि एक ऐसे समय में जब परम्परावादियों और व्यवहारवादियों के बीच की खाई पाटी जा रही थी, स्वयं व्यवहारवादी दो विचारधाराओं में बंट गये एक ओर तो वे सैद्धान्तिक व्यवहारवादी (theoretical behaviouralists) थे, जो इस बात की चिन्ता न करते हुए कि उनकी आधारभूत सामग्री कितनी ठोस थी, सिद्धान्त के ताने-बाने बुनते रहे और दूसरी ओर वे तकनीकात्मक

[33] पॉल एफ० लेज़ार्सफेल्ड और मॉरिस रोज़ेनबर्ग द्वारा सम्पादित, 'द लैंग्वेज ऑफ सोशल रिसर्च,' ग्लैंको, फ्री प्रेस, 1955, पृ० 4 पर।

व्यवहारवादी (positive behaviouralists) जो शोध प्रविधियों की खोज में इतने डूबे हुए थे कि उन्होंने न केवल सिद्धान्तों को बल्कि राजनीति-विज्ञान को ही भुला दिया। इसका परिणाम यह निकला कि दशक की समाप्ति तक सैद्धान्तिक और सकारात्मक व्यवहारवादियों के दृष्टिकोणों में इतना अन्तर आ गया था कि वे अब पिछले दशक के परम्परावादियों और व्यवहारवादियों की तुलना में एक दूसरे के अधिक कट्टर विरोधी थे। 1950 के दशक के बाद के और 1960 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों के परम्परावादी जिस प्रकार व्यवहारवादियों पर यह इल्जाम लगा रहे थे कि वे छोटी-मोटी और नगण्य समस्याओं के अध्ययन के लिए, जिनमें उनके द्वारा निर्मित नये शोध उपकरणों का प्रयोग किया जा सके, राजनीतिक अध्ययन के उन मूल प्रश्नों की उपेक्षा कर रहे थे जिनके लिए दार्शनिक अन्तर्दृष्टि का विकास आवश्यक था, उसी प्रकार 1960 के दशक के बाद के वर्षों में सैद्धान्तिक व्यवहारवादी सकारात्मक व्यवहारवादियों की इस आधार पर आलोचना कर रहे थे कि वे (अ) प्रमुखत मानव व्यवहार के सामान्य अथवा नियमित गुण-धर्मों में ही रुचि ले रहे थे, (ब) राजनीतिक घटनाओं के भावनात्मक वर्णनों की उपयोगिता और सत्यता को तिरस्कार की दृष्टि से देख रहे थे, (स) यथार्थताओं को प्रतिमानों के कठोर शिकंजे में जकड़ने का निरर्थक प्रयास कर रहे थे और इस प्रकार अपनी शोध की सार्थकता के सम्बन्ध में अपने को भ्रम में डाल रहे थे, (द) एक ऐसी कृत्रिम भाषा का आविष्कार कर रहे थे, जो सधारण के मार्ग में रुकावट डाल रही थी और भाषा को कठिन और नीरस बना रही थी, और (इ) नीति-निर्माण के सम्बन्ध में उपयोगी सुझाव देने में असमर्थ थी, आदि आदि।[34] राजनीति-विज्ञान की समकालीन शोध सिद्धान्त के विकास की अपनी खोज में, परिमापन आदि में उलझ जाने और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले गत्यावरोध से मुक्त करने की भी अब चर्चा चल पड़ी थी। हास और बेकर के शब्दों में, व्यवहारवादी 'अपनी नई शोध प्रणालियों के द्वारा उन प्रभीप्सित उद्देश्यों को प्राप्त करने में सर्वथा असफल रहे थे—परम्परागत साहित्य से प्राप्त अन्तर्दृष्टियों का समायोजन करने, वैकल्पिक प्रतिमानों को खोज निकालने, एक ऐसी तकनीकी भाषा का विकास करने जिनमें शब्दों की सायुज्य-पूर्ण व्याख्या की जा सके, और एक ऐसे सुसम्बद्ध परीक्षित सिद्धान्त का निरूपण करने में जो नीति-निर्माता के लिए उसके काम में सहायक हो।"[35] परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि, अपनी सब कमियों के बावजूद, इन लोगों ने राजनीति-विज्ञान को उसकी गहरी तन्द्रा से जगा दिया था और उसमें शोध के लिए नये आयामों को खोला था और नयी तकनीकों का विकास किया था।

[34] इस वाद विवाद को उसके विस्तृत रूप में समझने के लिए देखिए हास और बेकर द्वारा सम्पादित और शेंडलर पब्लिशिंग कम्पनी द्वारा 1970 में प्रकाशित 'एप्रोचज टु पोलिटिकल साइन्स' में, पृ० 485-503 पर हास और बेकर," 'दि बिहेवियरल रिवोल्यूशन एण्ड आफ्टर" ।

[35] वही, पृ० 503।

उत्तर व्यवहारवादी क्रान्ति

1960 के दशक की समाप्ति से पहले डेविड ईस्टन के द्वारा, जो स्वयं व्यवहारवादी क्रान्ति के प्रमुख प्रतिपादकों में से था, व्यवहारवादी स्थिति पर एक शक्तिशाली आक्रमण किया गया।[39] उसकी जड़ में उस प्रकार के राजनीतिक अनुसन्धान और शिक्षण से, जो 1950 व 1960 के दशकों में अमरीकी विश्वविद्यालय में प्रचलित था और जो राजनीति के अध्ययन को, प्राकृतिक शोध प्रणालियों के आधार पर, एक अधिक कठोर वैज्ञानिक अनुशासन का रूप देना चाहता था, एक गहरा असन्तोष था।

व्यवहारवादी, जिन्होंने अब उत्तर व्यवहारवादियों का रूप ले लिया था, यह मानते हैं कि उनके द्वारा नगण्य, और प्रायः निरर्थक, शोध पर बहुत अधिक समय खर्च कर दिया गया था। जब कि वे वैचारिक संरचनाओं, प्रतिमानों सिद्धान्तों, और अधि-सिद्धान्तों के निर्माण में लगे हुए थे, उनको अपनी, पाश्चात्य दुनिया की तीव्र सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संकटों का मुकाबला करना पड़ रहा था, और वे स्वयं उनके सम्बन्ध में सर्वथा अनजान थे। जब कि वे प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों के शानदार प्रांगणों में अपने वातानुकूलित पुस्तकालयों में बैठे स्थिरता, स्थायित्व, सन्तुलन, प्रतिमान-संरक्षण, आदि की समस्याओं में उलझे हुए थे और आधार-सामग्री और विश्लेषण के लिए निर्माण की गयी विशिष्टीकृत तकनीकों के आधार पर कभी-कभी लोकानुसन्धान भी कर लेते थे, बाहर का समाज विघटन और टूट-फूट की स्थितियों में से गुजरता हुआ दिखायी दे रहा था। आणविक अस्त्रों का आतंक, अमरीका में बढ़ते हुए आन्तरिक मतभेद जिनके कारण गृहयुद्ध और तानाशाही शासन की सम्भावनाएं भी सोची जा रही थीं, वियतनाम में अघोषित युद्ध, जो विश्व की नैतिक अन्तरात्मा पर प्रहार कर रहा था—ये सब ऐसी स्थितियां थीं जिनके सम्बन्ध में व्यवहारवादी अथवा परम्परावादी किसी भी राजनीतिशास्त्री ने कभी कल्पना भी नहीं की थी। उत्तर-व्यवहारवादियों का प्रश्न था कि उस अनुसन्धान की उपयोगिता क्या थी जिसने समाज के इन तीव्र रोगों और समस्याओं पर ध्यान भी नहीं दिया था। उच्च तकनीकी पर्याप्तता और परिष्कृत शोध-उपकरणों के प्रयोग की उपयोगिता क्या थी, यह प्रश्न अब उन्हें कुरेदने लगा था, यदि राजनीतिशास्त्री इस स्थिति में भी नहीं था कि वह समकालीन सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को समझ सके और उनके समाधान की दिशा में योग दे सके। ईस्टन ने अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस एसोसिएशन के 1969 के न्यूयार्क में होने वाले वार्षिक अधिवेशन के अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रश्न किया, "क्या हम अपने विषय के इस अपरिवर्तनीय स्वरूप के प्रति, वह चाहे व्यवहारात्मक हो अथवा और कुछ, निरन्तर

[39] सितम्बर 1969 में न्यूयार्क में होने वाली अमेरिकन पोलिटिकल साइंस एसोसिएशन की 65वीं बैठक में अपने अध्यक्षीय भाषण में। यह भाषण हास और कैरियल द्वारा सम्पादित, पो० उ०, के अध्याय 17 में "दि न्यू रिवोल्यूशन इन पॉलिटिकल साइंस" के नाम से और डेविड ईस्टन की पुस्तक 'दि पॉलिटिकल सिस्टम, एन इन्क्वायरी इन्टू दि स्टेट ऑफ पॉलिटिकल साइंस' के द्वितीय भारतीय संस्करण, कलकत्ता, साइंटिफिक बुक एजेंसी, 1971, में 'एपीलोग' के नाम से भी प्रकाशित हुआ है।

तक प्रतिबद्ध रहेंगे ? क्या हमारा यह कर्त्तव्य नहीं हो जाता कि हम परिवर्तनशील स्थितियों पर ध्यान दें और पुरानी धारणाओं पर फिर से विचार करने के लिए और, यदि आवश्यक हो तो, उनमें संशोधन करने के लिए प्रस्तुत और इच्छुक हों" ?

उत्तर-व्यवहारवाद और परम्परावाद दोनों ही व्यवहारवाद के कट्टर आलोचक होते हुए भी मूल रूप में एक दूसरे से भिन्न हैं। इन दोनों दृष्टिकोणों में मूल अन्तर यह है कि जब कि परम्परावाद व्यवहारवादी उपागम की सार्थकता को ही अस्वीकार करता है और राजनीति-विज्ञान की शास्त्रीय परम्पराओं में अपने विश्वास को दोहराता है, उत्तर-व्यवहारवादी व्यवहारवादी युग की उपलब्धियों को स्वीकार करते हैं, परन्तु राजनीति-विज्ञान के क्षितिज को नये आयामों की दिशा में विस्तृत करने की दिशा में प्रयत्नशील हैं। डेविड ईस्टन के शब्दों में, उत्तर-व्यवहारवाद भविष्य की ओर उन्मुख है, और राजनीति-विज्ञान को नयी दिशाओं की ओर मोड़ने, और उसके उत्तराधिकार *को अस्वीकार करने के स्थान पर उसमें और भी बहुत कुछ जोड़ने, में प्रयत्नशील है।* वह "एक वास्तविक क्रान्ति है, न कि प्रतिक्रिया, विकास है न कि अनुरक्षण, आगे की दिशा में एक कदम है न कि पीछे की ओर हटने की प्रवृत्ति।" वह एक आन्दोलन भी है और एक बौद्धिक प्रवृत्ति भी। उसे किसी विशेष विचारधारा से सम्बद्ध करना गलत होगा, क्योंकि उसके प्रतिपादकों में सभी विचारों और दृष्टिकोणों का समर्थन करने वाले राजनीतिशास्त्री हैं—परले सिरे के रूढ़िवादी और कट्टर वामपन्थी, और विभिन्न प्रकार की प्राविधिक पद्धतियों को मानने वाले, कठोर वैज्ञानिक और समर्पित दार्शनिक तरुण और वयोवृद्ध। राजनीतिक, प्राविधिक और वय-सम्बन्धी सभी असम्भाव्य अनेकताओं के इस समूह को जोड़ने वाली केवल एक भावनात्मक कड़ी है—**अर्वाचीन राजनीतिक शोध की दिशा के सम्बन्ध में एक गहरा असन्तोष।**

व्यवहारवादियों की दो प्रमुख मांगें है—प्रासंगिकता (relevance) और क्रियानिष्ठता (action)। डेविड ईस्टन ने, जिसने किसी समय व्यवहारवाद की आठ *विशेषताओं को गिनाया था और उन्हें आन्दोलन की "बौद्धिक आधार-शिलाओं" का नाम* दिया था, अब उत्तर-व्यवहारवाद की सात प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार है :

(1) राजनीति-विज्ञान की शोध में **तकनीक की तुलना में सार-वस्तु को अधिक उपयोगी माना जाना चाहिए।** अनुसन्धान के लिए परिष्कृत उपकरणों का विकास करना उपयोगी है, परन्तु उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात वह उद्देश्य है जिसके लिए इन उपकरणों को प्रयोग में लाया जा रहा है। जब तक वैज्ञानिक अनुसन्धान समकालीन आवश्यक सामाजिक समस्याओं की दृष्टि से सुसंगत और सारगर्भित नहीं है, उस पर लगाया जाने वाला श्रम समय को बर्बाद करने के समान है। व्यवहारवादियों के इस नारे के प्रत्युत्तर में कि अस्पष्ट होना जितना बुरा या गलत होना उतना नहीं, उत्तर-व्यवहारवादियों ने एक विपरीत नारा उठाया कि **अप्रासंगिक सुनिश्चितता से अस्पष्ट होना कम बुरा था :**

(2) समकालीन राजनीति-विज्ञान का प्रमुख आग्रह सामाजिक परिरक्षण के लिए *नहीं होना चाहिए, जैसा व्यवहारवादियों का था।* उसका ध्यान प्रमुखतः सामाजिक

परिवर्तन पर केन्द्रित होना चाहिए। व्यवहारवादी अपना सारा समय तथ्यों के संग्रह और विश्लेषण पर दे रहे थे, एक व्यापक सामाजिक सन्दर्भ में उन तथ्यों को समझने की दिशा में वे पर्याप्त रूप से प्रयत्नशील नहीं थे, और इस सबका परिणाम यह हुआ था कि व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान ने एक ऐसी "सामाजिक रूढ़िवादिता की विचारधारा" का रूप ले लिया था जिसमें केवल "धीमी गति से होने वाले परिवर्तनों के लिए ही गुंजाइश थी।"

(3) व्यवहारवादी युग में राजनीति-विज्ञान ने "राजनीति की क्रूर यथार्थताओं" से अपना नाता बिलकुल ही तोड़ लिया था। व्यवहारवादी अन्वेषण का लक्ष्य यदि वास्तव में तथ्यों की गहराई तक पहुंचना था तो यह कैसे सम्भव माना जा सकता था कि राजनीतिशास्त्री स्थिति की यथार्थताओं के प्रति अपनी आंखें सर्वथा बन्द रखें ? यह युग संकट और चिन्ता का युग था। अन्धाधुन्ध समृद्धि और तकनीकी साधनों के होते हुए, और मनुष्य की भौतिक सुविधाओं के अविश्वसनीय तेजी के साथ बढ़ने के बावजूद, पश्चिमी समाज में सामाजिक संघर्ष बढ़ते जा रहे थे और भविष्य के सम्बन्ध में आशंकाएं और चिन्ताएं गहरी होती जा रही थीं। मानवता की वास्तविक आवश्यकताओं का पता लगाने का उत्तरदायित्व यदि राजनीति-विज्ञान पर नहीं था तो समाज के लिए उसकी उपयोगिता क्या हो सकती थी ?

(4) व्यवहारवादियों ने मूल्यों के महत्त्व को सर्वथा अस्वीकार न करते हुए भी विज्ञानवाद और मूल्य-निरपेक्ष दृष्टिकोणों पर इतना अधिक जोर दिया था कि, व्यावहारिक दृष्टि से, मूल्यों को सर्वथा उपेक्षणीय मान लिया गया था। यह एक बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति थी। मूल्यों की आधार-शिला पर ही ज्ञान की इमारत खड़ी की जा सकती थी, और मूल्यों को यदि ज्ञान की प्रेरक शक्ति न माना जाय तो सदा ही यह खतरा रहता है कि ज्ञान को गलत उद्देश्यों के लिए काम में लाया जायेगा। राजनीति में मूल्यों का बहुत अधिक महत्त्व है और वैज्ञानिकता के नाम पर राजनीतिक अध्ययन से मूल्यों को बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। ज्ञान का उपयोग यदि सही उद्देश्यों के लिए करना है तो मूल्यों को उनकी केन्द्रीय स्थिति पर फिर से स्थापित करना आवश्यक होगा।

(5) उत्तर-व्यवहारवादियों ने राजनीतिशास्त्रियों को यह भी याद दिलाना चाहा कि बुद्धिजीवी होने के नाते समाज में उनकी अपनी एक भूमिका है—"बड़े कामों को पूरा करने की जिम्मेदारी" उनके ऊपर है। सभ्यता के मानवी मूल्यों के संरक्षण में अधिक से अधिक प्रयत्नशील होना उनका प्रमुख उत्तरदायित्व था। वस्तुनिष्ठ होने के नाते और ऐसी शोधों के नाम पर जिनमें बहुत अधिक समय खर्च होता है राजनीतिशास्त्री यदि अपने को सामाजिक समस्याओं से अलग रखेंगे तो वे "केवल ऐसे तकनीकविद् और यन्त्रवादी बन कर रह जायेंगे जो समाज के साथ खिलवाड़ में लगे हुए हैं," और अन्वेषण की स्वतन्त्रता के नाम पर, समाज की तीखी आलोचनाओं के विरुद्ध, किसी प्रकार की विशेष सुविधाओं का दावा कर सकने की स्थिति में नहीं रहेंगे।

(6) बुद्धिजीवी यदि सामाजिक समस्याओं को समझ सकें और अपने को उनसे

सम्बद्ध मानने लगें तो उनके लिए अपने को क्रिया-निष्ठता से अलग रख पाना असम्भव हो जायेगा। ज्ञान का क्रियात्मक होना आवश्यक है। ईस्टन के शब्दों में, "जानने का अर्थ है कार्य करने का उत्तरदायित्व अपने हाथों में लेना, और कार्यरत होने का अर्थ है *समाज के पुनर्निर्माण में अपने को लगा देना*।" चिन्तनोन्मुख ज्ञान उन्नीसवीं शताब्दी के लिए ठीक रहा होगा, जब राष्ट्रों में एक व्यापक नैतिक सहमति थी, परन्तु समकालीन समाज में, जो आदर्शों और विचारधाराओं की दृष्टि से एक विभाजित समाज था, उसका कोई स्थान नहीं रह गया था। उत्तर-व्यवहारवादियों की मांग है कि चिन्तनोन्मुख ज्ञान के स्थान पर क्रियाशील ज्ञान होना चाहिए, और उनका आग्रह है कि राजनीति-विज्ञान का समस्त अनुसन्धान प्रतिबद्धता और क्रियाशीलता की भावनाओं से प्रेरित और प्रभावित होना चाहिए।

(7) *एक बार यह मान लेने के बाद कि* (अ) समाज में बुद्धिजीवियों की एक महत्त्वपूर्ण निर्माणात्मक भूमिका है, और (ब) यह भूमिका समाज के लिए समुचित उद्देश्यों को निर्धारित करने, और समाज को इन उद्देश्यों की दिशा में प्रेरित करने की है, इस निष्कर्ष पर पहुंचना अनिवार्य हो जाता है कि सभी धन्धों का **राजनीतिकरण** — जिनमें राजनीतिशास्त्रियों की सभी संस्थाएं और विश्वविद्यालय भी आ जाते हैं—न केवल अनिवार्य बल्कि अत्यधिक वांछनीय है।[37]

व्यवहारवादियों के इस तर्क के उत्तर में कि विज्ञान की अपनी कुछ आदर्शात्मक *प्रतिबद्धताएं थीं, और इन प्रतिबद्धताओं में वे पूर्णरूप से सहभागी रहे हैं,* उत्तर-व्यवहारवादियों का कहना है कि विज्ञान के प्रति समर्पित होने का अर्थ यदि यह है कि उसके समर्थक महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं के प्रति अपनी आंखें बन्द कर लें तो विज्ञान के स्वरूप को ही बदल डालना हमारे लिए आवश्यक हो जाता है। विज्ञान के सम्बन्ध में व्यवहारवादियों की कल्पनाएं अब तक ये थीं कि (अ) उसका अर्थ विश्वसनीय ज्ञान की शोध में तकनीकी कुशाग्रता प्राप्त की जाय, (ब) व्यावहारिक समस्याओं से अपने को विच्छिन्न रखते हुए मूलभूत ज्ञान की खोज में निमग्न रहा जाय, और (स) मूल्यों को विज्ञान की परिधि से बाहर मानते हुए उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाय। उत्तर-व्यवहारवादी तकनीकी कुशाग्रता के महत्त्व को अस्वीकार नहीं करते, परन्तु वे यह नहीं मानते कि *विश्वसनीय ज्ञान की शोध में लगे रहने का अनिवार्य परिणाम यह हो सकता* है कि समाज के व्यावहारिक प्रश्नों से वैज्ञानिक अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लें, और न वे यह ही मानते हैं कि मूल्यों को वैज्ञानिक अनुसन्धान से बाहर रखना सम्भव है।

उत्तर-व्यवहारवादियों के अनुसार शोध महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं के साथ सम्बद्ध, प्रयोजनशील, होनी चाहिए। राजनीतिशास्त्री का यह कर्त्तव्य है कि वह समकालीन समस्याओं के लिए समुचित समाधानों की तलाश करे। उसका उद्देश्य स्थायित्व का निर्वाह करना, अथवा वस्तुस्थिति को ज्यों का त्यों बनाये रखना, मात्र नहीं हो

[37]न्यूयार्क में 1969 में होने वाली अमेरिकन पोलिटिकल साइंस एसोसिएशन की वार्षिक बैठक में, जिसकी अध्यक्षता ईस्टन ने की थी और जिसमें लेखक भी उपस्थित था, बार-बार यह मांग उठायी जा रही थी कि एसोसिएशन का राजनीतिकरण किया जाना चाहिए।

सकता। अब समय आ गया था जब राजनीति-विज्ञान अनुदार राजनीतिज्ञों के द्वारा सौंपे गये वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के अनुरक्षण के उस काम से अपने को मुक्त कर ले, जिसकी पूर्ति के लिए उसने अपने शोध के उपकरणों का विकास किया था। शोध महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं से सम्बद्ध होनी चाहिए, और राजनीतिशास्त्रियों का काम, समाधानों या सुझाव देने के अतिरिक्त, यह भी है कि वे अभीप्सित सामाजिक परिवर्तन को लाने के आन्दोलन का क्रियाशील नेतृत्व अपने हाथों में लें। यदि समाज का वर्तमान संकट गम्भीर सामाजिक संघर्षों का परिणाम है तो यह आवश्यक हो जाता है कि उन संघर्षों को समाप्त करने का प्रयत्न किया जाय। इन संघर्षों को दूर करने के लिए यदि वर्तमान राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था को तोड़ना आवश्यक हो तो राजनीतिशास्त्री को साहस के साथ उसकी माँग करनी चाहिए, और उसे केवल सुधारों के, अथवा आवश्यक हो तो क्रांति के, सम्बन्ध में सुझाव देकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, परन्तु इस दृष्टि से समाज का पुनर्निर्माण करने के प्रयत्नों में भी योग देना चाहिए कि वह अभीप्सित लक्ष्यों को प्रभावशाली ढंग से क्रियान्वित कर सके।

व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान: एक सिंहावलोकन

राजनीति-विज्ञान का व्यवहारवादी उपागम उसके परम्परावादी उपागम से चार प्रमुख बातों में भिन्न है—प्रकृति में, लक्ष्यों में, प्रविधियों में और संकल्पनात्मक संरचनाओं में। इसमें अन्वेषण की आनुभविक प्रविधियों का अधिकतम प्रयोग किया जाता है। व्यवहारवादी राजनीतिक विश्लेषण का आग्रह "वैज्ञानिक" प्रविधियों के प्रयोग, राजनीतिक घटनाओं के सम्बन्ध में सही वक्तव्य देने, संयोजित शोध, और ऐसे व्यापक निष्कर्षों पर है जिनके आधार पर, यदि सम्भव हो तो, किसी व्यापक सिद्धान्त की, अथवा कम से कम मध्यस्तरीय सिद्धान्त की, स्थापना की जा सके। इसके अतिरिक्त, यह अन्वेषक की वस्तु-परकता पर भी बहुत अधिक बल देता है। मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र जैसे अन्य सामाजिक विज्ञान और रसायन-शास्त्र और भौतिक-शास्त्र जैसे अन्य प्राकृतिक विज्ञान एक लम्बे अरसे से वैज्ञानिक प्रणालियों को काम में ला रहे थे, और इस कारण राजनीति-विज्ञान को अपने आपको उसी साँचे में ढालने के लिए आवश्यक सामग्री सहज ही प्राप्त हो सकी। जिन "वैज्ञानिक प्रविधियों" का आजकल उसके द्वारा प्रयोग हो रहा है, उनमें समस्या को उसके सही रूप में समझने, विभिन्न कारकों के बीच अन्तः सम्बन्धों की खोज निकालने, सम्बद्ध आधार-सामग्री का संकलन करने, उसके आधार पर प्राक्कल्पनाओं का परीक्षण करने और ऐसे निष्कर्षों तक पहुँचने में है, जो अन्य स्थानों पर उसी प्रकार के कारकों का समुच्चय पाये जाने पर प्रयोग में लाये जा सकें। इसमें सबसे अधिक बल वास्तविक अनुभव अथवा प्रेक्षण पर दिया जाता है, और ऐसी आधार-सामग्री के संकलन को तरजीह दी जाती है जिसे संस्थापन अथवा इन्द्रियातीत अनुभवों अथवा निगमनात्मक तर्क के द्वारा नहीं, अपनी इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त किया गया हो। प्रेक्षणीय घटनाओं के इस प्रकार के वस्तुनिष्ठ अध्ययन के आधार

पर, और आनुभविक प्रविधियों की सहायता से, जो भी प्राक्कल्पनाएं बनायी जाती हैं वे उसी विद्वान, अथवा उस क्षेत्र में दूसरे विद्वानों, के द्वारा, उन्हीं प्रविधियों की सहायता से किये गये शोध कार्यों के द्वारा प्रमाणीकृत अथवा अप्रमाणीकृत ठहरायी जा सकती हैं। इस प्रकार, क्रमशः ज्ञान के विस्तार का उद्भव होता है। पहले की गयी शोध के द्वारा उद्भूत प्राक्कल्पनाओं को, अनवरत शोध के द्वारा, जब बार-बार पुष्ट कर दिया जाता है उसी स्थिति में शोधकर्त्ता राजनीतिक घटनाओं की प्रकृति में एक नियमितता अथवा आवृत्ति की खोज कर सकता है, और यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके बिना सिद्धान्त-निर्माण सम्भव ही नहीं है।

यदि व्यवहारवादी राजनीतिक विश्लेषण की प्रकृति परम्परागत उपागम से भिन्न है तो हम उनके लक्ष्यों में भी एक व्यापक असमानता पाते हैं। व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान का लक्ष्य, जैसी कि व्यवहारवादियों ने उसकी व्याख्या की है, अच्छे जीवन की प्राप्ति नहीं बल्कि राजनीतिक घटनाओं को उनके यथार्थ रूप में समझ लेना और क्यों का क्यों उनका वर्णन करना है, और इसके अतिरिक्त, जैसा कि व्यवहारवादी राज-नीतिज्ञ मानते हैं, भविष्यवाणी करना (और यदि सम्भव हो तो आने वाली परिस्थितियों पर अपना नियन्त्रण स्थापित करना) है, परन्तु उनका प्रमुख उद्देश्य 'ज्ञान के लिए ज्ञान की प्राप्ति' है, जिसका अर्थ, यदि समकालीन राजनीति-विज्ञान की भाषा में उसे स्पष्ट किया जाय तो, 'सिद्धान्त निर्माण' है—सिद्धान्त निर्माण इस अर्थ में नहीं जिसमें राज्य के किसी आदर्श स्वरूप के सम्बन्ध में कल्पना की जाती है, परन्तु उस अर्थ में जिसमें व्यवस्था-विश्लेषण और क्षेत्र-अनुसन्धान जैसे उपकरणों के माध्यम से राज-नीतिक घटनाओं का विश्लेषण सम्भव हो सकता है। इस अर्थ में सिद्धान्त की व्याख्या "ज्ञान के एक ऐसे संग्रह के रूप में दी गयी है, जिसमें यथार्थता के सम्बन्ध में तथ्यों का संकलन रहता है, और उन्हें ऐसा अर्थ और महत्त्व प्रदान करता है जो साधारणतः स्पष्ट नहीं होता"। दूसरे शब्दों में सिद्धान्त-निर्माण का लक्ष्य "प्रेक्षण के माध्यम से तथ्यों के बीच के सम्बन्धों को खोजना और उनका विवरण देना" है। सिद्धान्त-निर्माण के प्रयत्न हमें एक व्यापक व्याख्यात्मक योजना का विकास करने में सहायता पहुंचाते हैं जिसके आधार पर उसी प्रकार की अन्य सैकड़ों घटनाओं को समझा जा सकता है, और उनके सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने की क्षमता भी प्राप्त की जा सकती है (जो केवल व्याख्या की एक अच्छी योजना के आधार पर ही सम्भव है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि अच्छी से अच्छी व्याख्याओं के आधार पर भविष्यवाणी करना सदा सम्भव हो सकता है, और साथ ही यह भी सम्भव है कि अधिक से अधिक विश्वसनीय विश्लेषणों के अभाव में भी भविष्यवाणी करना सम्भव हो सके), अथवा "कारणात्मक तत्त्वों" का आविष्कार, जो अपने आप में एक कठिन कार्य है, किया जा सकता है, और एक [illegible] का उद्-भव सम्भव हो सकता है, जो ज्ञान की प्रगति में एक अत्यन्त आवश्यक पहला कदम है।

व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान अध्ययन में काम में लाये जाने वाली प्रविधियों में भी परम्परागत राजनीति-विज्ञान से भिन्न है। इसमें ऐसी आधार-सामग्री के संकलन और विश्लेषण पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता है जिसका उपयोग किसी प्राक्कल्पना

के समर्थन, अथवा उसे अस्वीकार, करने के लिए साक्षी के रूप में किया जा सके—प्राक्कल्पना की व्याख्या यह कहकर दी गयी है कि "वह एक ऐसा वक्तव्य है जो दो अथवा अधिक कारकों के बीच के सम्भावित सम्बन्धों को स्पष्ट करता है।" व्यवहारवाद आधार-सामग्री के संकलन, विश्लेषण और प्रस्तुतीकरण का कार्य एक अत्यधिक व्यवस्थित ढंग से किये जाने की अपेक्षा करता है। जिस आधार-सामग्री का संकलन *किया गया हो वह उस घटना से जिसका अन्वेषण किया जा रहा है सम्बद्ध होनी चाहिए,* उसका विश्लेषण शोध के अत्यधिक कठोर उपकरणों की सहायता से किया जाना चाहिए—जिसमें दस्तावेज़ी विश्लेषण, प्रेक्षण, साक्षात्कार पद्धतियाँ, प्रयोग और अनुरक्षण आदि सम्मिलित हैं—और निष्कर्ष अत्यधिक सावधानी, समझ-बूझ और वस्तु-निष्ठता के साथ निकाले जाने चाहिए। आधार-सामग्री का विश्लेषण जो किसी समय साधारण तकनीकों *के द्वारा किया जा सकता था अब अत्यधिक जटिल प्रविधियों के द्वारा किया जाता है।* सही निष्कर्षों का निकालना केवल इस बात पर निर्भर नहीं रहता कि सही ढंग की आधार-सामग्री का संकलन किया गया है, परन्तु इस बात पर भी कि विश्लेषण की सही प्रविधियों को काम में लाया गया है। पिछले कुछ वर्षों में तो इसके लिए अत्यधिक परिष्कृत यान्त्रिक और इलेक्ट्रोनिक उपकरणों का उपयोग किया जाने लगा है, जिनकी *सहायता से अब आधार-सामग्री का विश्लेषण अत्यधिक योग्य और सुनिश्चित ढंग से* करना सम्भव हो गया है। इसके साथ ही हमें यह भी ध्यान में रखना है कि अच्छे से अच्छे कम्प्यूटर मानव प्रज्ञा का, जो सही निष्कर्षों तक पहुंचने में एक महत्त्वपूर्ण कारक है, स्थान नहीं ले सकते। अन्वेषक का निर्णय यदि अपरिपक्व है, अथवा उसका विश्लेषण दोषपूर्ण है तो, यह मानते हुए भी कि वह तथ्यों और आंकड़ों के अपने विश्लेषण में वस्तुनिष्ठ रहा है, उसकी खोज की सारी सार्थकता नष्ट हो सकती है।

ऊपर की विवेचना में हमने व्यवहारवादी राजनीतिक अन्वेषण के लक्ष्यों और प्रविधियों का वर्णन करने की चेष्टा की है। प्रविधियों का उल्लेख करते समय हमने उस आधार-सामग्री की प्रकृति के महत्त्व पर जिसका हम संकलन करते हैं, उन प्रविधियों पर जिनके आधार पर तथ्यों का संकलन और प्रक्रमण किया जाता है और उन तकनीकों पर जिनके द्वारा उनका विश्लेषण किया जाता है, बल दिया है। इसके बाद दूसरी समस्या जो हमारे सामने आती है वह यह है कि हम इस जांच-पड़ताल से प्राप्त होने वाली खोजों को एक ऐसे व्यापक प्रतिमान में कैसे समायोजित करें कि उसकी सहायता से हम राजनीति की गुत्थियों को समझ सकें। ईस्टन के अनुसार व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान का अन्तिम लक्ष्य एक व्यवस्थित सिद्धान्त का निर्माण करना है—और भी स्पष्ट शब्दों में एक कारणात्मक सिद्धान्त का (न कि मूल्यात्मक सिद्धान्त का)। कारणात्मक सिद्धान्त "राजनीतिक तथ्यों के बीच के सम्बन्धों को प्रकट करने का प्रयत्न करता है, "और किसी भी विज्ञान में उसका विकास कितना हुआ है इसे उस विज्ञान के विकास की कसौटी, और विश्वसनीय ज्ञान की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक शर्त, माना जाता है। प्राकृतिक विज्ञानों में कारणात्मक सिद्धान्त की खोज के इस प्रकार के प्रयत्न अत्यन्त सामान्य रूप से पाये जाते हैं। प्राकृतिक विज्ञानों के समान ही,

सैद्धान्तिक ज्ञान सचयी (cumulative) होता है, इस अर्थ मे कि प्रयोगो के आधार पर एक वैज्ञानिक के द्वारा विकसित किया गया सिद्धान्त दूसरे वैज्ञानिक द्वारा परीक्षण के लिए उपलब्ध रहता है, और यदि उसके प्रयोगो से भी उसकी पुष्टि होती है तो उसे और भी अधिक प्रमाणित माना जाता है । राजनीतिक घटनाओ को इस प्रकार का व्यवस्थित रूप दिया जा सके कि उसके आधार पर एक सामान्य सिद्धान्त का विकास किया जा सके, यह एक ऐसा विषय है जिसमे परम्परावादी राजनीतिशास्त्री सहमत नहीं होगे, परन्तु व्यवहारवादियो की मान्यता है कि यदि जिन घटनाओ का प्रेक्षण किया जा रहा है वे, बिलकुल उसी तरह से नही तो लगभग उसी तरह, बार-बार होती रहें तो उनके आधार पर ऐसे वक्तव्य दिये जा सकते हैं जो नियम जैसे दिखायी दें, और इसे कारणात्मक सिद्धान्त के विकास के लिए एक अच्छा आधार माना जा सकता है ।

प्राकृतिक विज्ञानो के एक दार्शनिक, नौर्वुड हैन्सन के शब्दो मे, सिद्धान्त का काम "प्रेक्ष्य आधार-सामग्री के लिए एक बुद्धिगम्य, व्यवस्थागत सकल्पनात्मक सरचना का निर्माण करना" है, और इस सरचना का मूल्य "ऐसी घटनाओ को एक-दूसरे के साथ जोडने की उसकी क्षमता मे है जो उस सिद्धान्त के अभाव मे या तो आश्चर्यजनक और अद्भुत दिखायी दें अथवा, ऐसी (महत्त्वहीन) जिन पर किसी का ध्यान ही न जाय।"[38] इस दृष्टि से, सिद्धान्त विवरण-मात्र नही है। यह विश्लेषण की एक युक्ति, नियमों का एक समुच्चय अथवा एक 'संकल्पनात्मक सरचना' है जिसका न्यूनतम दायित्व घटनाओ का स्पष्टीकरण और उसके आधार पर भविष्यवाणी करना है। व्यवहारवादी इस तथ्य से पूर्ण रूप से परिचित हैं कि किसी ऐसे व्यापक सिद्धान्त का विकास करना, जिसके द्वारा सभी घटनाओ को स्पष्ट किया जा सके सरल काम नही है, इस कारण वे कुछ समय तक के लिए यह सन्तोष मान कर बैठ जाने के लिए तैयार हैं कि सिद्धान्त-निर्माण की इस प्रक्रिया मे सिद्धान्त तक पहुचने से पहले उन्हे कई मजिलो को पार करना होगा। यदि व्यक्तियो के व्यवहार मे (उदाहरण के लिए, राजनीतिक दलो के लिए उनके मतदान मे) अथवा व्यक्तियो के समूहो (राजनीतिक दलो) के व्यवहार मे, अथवा व्यक्तियो के द्वारा निर्मित (शासन जैसी) संस्थाओ के व्यवहार मे कुछ नियमितताएं दिखायी दें तो इस प्रकार के व्यवहारो अथवा गतिविधियो के सम्बन्ध मे प्रतिरूपों (models) का निर्माण सम्भव होना चाहिए। इस प्रकार के अनेक प्रतिरूपों की स्थापना सिद्धान्त-निरूपण के काम मे सुविधा प्रदान कर सकती है । जब कि केवल एक ही सिद्धान्त ऐसा हो सकता है जिसके आधार पर राजनीतिक व्यवहार की व्याख्या की जा सके, व्यक्तियों, समूहो और सस्थाओ के व्यवहार के कई वैकल्पिक प्रतिरूप हो सकते हैं, और यह उस विशेष समस्या पर निर्भर होगा जिसका अध्ययन किया जा रहा है । अनेक प्रतिरूपों से हमे सिद्धान्त के लिए एक आनुभविक आधार का विकास करने मे सहायता मिल सकती है। आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त ने इस प्रकार की कई सकल्पनाओ का विकास किया है जिनकी सहायता से अनेक प्रतिरूपों का निरूपण किया जा

[38] नोर्वुड हैन्सन 'दि कौन्सेप्ट ऑफ पोजीट्रोन, कैम्ब्रिज', कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस, 1963, पृ० 44।

सकता है, और व्यवहारवादियों को आशा है कि वे अन्ततः राजनीति-विज्ञान के सिद्धान्त का निर्माण करने में सफल हो सकेंगे।

व्यवहारवादी राजनीति में सकल्पनाओं और प्रतिरूपों का ऐसा मिश्रण, जो सिद्धान्त के निरूपण में सहायक हो सकता है, सकल्पनात्मक सन्दर्भ-संरचना है। जैसा पहले कहा जा चुका है, शोधकर्ता की प्रमुख समस्या व्यवहारवादी अन्वेषण की खोजों को एक व्यापक ढांचे में समायोजित करना है। सकल्पनात्मक संरचना के विकास से इस काम में सहायता मिल सकती है, और घटनाओं के सम्बन्ध में की गयी खोजों को अर्थपूर्ण बनाने के लिए एक आधार मिल सकता है। व्यवस्थागत विश्लेषण, समूह उपागम, भूमिका विश्लेषण—ये सब सकल्पनात्मक संरचनाएं हैं जिनमें से प्रत्येक का राजनीतिक यथार्थता को एक व्यवस्थित रूप देने और राजनीति की प्रकृति और महत्त्व को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में समायोजित करने का अपना तकनीक है। संकल्पनात्मक सन्दर्भ संरचना शोधकर्ता के लिए एक निर्देशक का काम करती है और उसे यह संकेत देती है कि अपने अन्वेषण में उसे किस बात की खोज करनी है तथा एक ऐसी तात्विक योजना भी प्रदान करती है जिसके अन्तर्गत वह अपनी खोजों को समाकलित कर सकता है और उन्हें राजनीतिक घटनाओं के अर्थपूर्ण स्पष्टीकरण के लिए प्रयोग में ला सकता है।

संकल्पनात्मक सन्दर्भ-संरचना दो प्रकार की हो सकती है—(अ) राजनीतिक इकाइयों पर केन्द्रित होती है और (ब) जो राजनीतिक प्रक्रियाओं पर केन्द्रित होती है। अध्ययन की इकाइयां व्यक्ति, समूह अथवा समाज हो सकते हैं और इन इकाइयों की विशेषताओं, व्यवहारों और संगठनों के अध्ययनों पर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है। दूसरी ओर, प्रक्रिया-केन्द्रित संकल्पनात्मक संरचना घटनाओं के सातत्य पर ध्यान देती है और इस सातत्य के आधार पर घटनाओं के विश्लेषण का प्रयत्न करती है। संक्षेप में, जब कि पहले प्रतिमान का सम्बन्ध इकाइयों के कार्यों से होता है, दूसरे का सम्बन्ध घटनाओं के सातत्य से होता है। व्यक्ति को केन्द्रीय इकाई मानकर जो अध्ययन किये गये हैं उन्होंने या तो "भूमिका" की संकल्पना पर जोर दिया है या "समाजीकरण" की संकल्पना पर। जैसा यूलाओ ने लिखा है, व्यक्ति की बहुत सी गतिविधियां इस बात से निर्धारित होती हैं कि समाज के सन्दर्भ में उसकी स्थिति क्या है और उसे क्या भूमिका अदा करनी है। विभिन्न सन्दर्भों में व्यक्तियों की विभिन्न "भूमिकाएं" होती हैं, और केवल इसी आधार पर उनके राजनीतिक व्यवहार की विभिन्नता को समझा जा सकता है। व्यक्तिगत अभिवृत्ति, विचार और व्यवहार, ये सब ऐसी बातें हैं जिन्हें व्यक्ति की भूमिका के दृष्टिकोण से ही समझा जा सकता है। कुछ लेखकों ने भूमिका विश्लेषण को समूहों और समाजों के व्यवहार के अध्ययन में भी प्रयोग में लाने का प्रयत्न किया है। इकाइयों पर केन्द्रित अध्ययन की अभिव्यक्ति व्यक्ति के "समाजीकरण" के अध्ययन में भी प्रयोग में लायी जा सकती है। व्यक्ति समाज में किस प्रकार व्यवहार करता है, यह बहुत कुछ उसकी समाजीकरण की प्रक्रिया से प्रभावित होता है, क्योंकि समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से ही वह अपने मूल्यों, आस्थाओं और आदर्शों को आत्मसात् करता है। समाजीकरण का काम अनेकों संस्थाओं और परिस्थितियों के द्वारा

किया जाता है। यह दावा किया गया है कि किसी समाज की राजनीति, अथवा राजनीतिक गतिविधियो, को व्यक्तिगत भूमिका अथवा समाजीकरण की प्रक्रिया, अथवा इन दोनो पद्धतियो के मिश्रण, के द्वारा ही समझा जा सकता है।

अध्ययन की इकाई किसी विशेष समूह को भी माना जा सकता है। यह हित समूह (interest group) भी हो सकता है, और प्रभावक समूह (pressure group) भी। 1940 और 1950 के दशकों मे राजनीतिशास्त्रियो ने राजनीति मे समूहो की भूमिका का अध्ययन करने मे बहुत अधिक रुचि ली। समूह के सन्दर्भ मे अन्तर्वैयक्तिक व्यवहार के अध्ययन पर बहुत जोर दिया गया, परन्तु विश्लेषण की दृष्टि से यह एक सन्तोषजनक इकाई प्रमाणित नही हुई, और तब राजनीतिशास्त्रियो का ध्यान सम्पूर्ण समाजो के अध्ययन की ओर मुड गया। इसके परिणामस्वरूप व्यवस्था-उपागम का विकास हुआ। 1920 के दशक मे प्राकृतिक वैज्ञानिको के एक समूह ने सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त के रूप मे जिस सकल्पना का प्रारम्भ किया था उसे बहुत जल्दी मानव-विज्ञान के विद्वानो ने अपना लिया। उसके बाद समाजशास्त्रियो ने उसे अपनाया, और अन्त मे राजनीतिशास्त्रियो ने एक व्यापक पैमाने पर उसका प्रयोग आरम्भ कर दिया। डेविड ईस्टन पहला राजनीतिशास्त्री था जिसने राजनीति-विज्ञान के लिए व्यवस्था-उन्मुख सन्दर्भ का विकास किया। वह मानता था कि राजनीतिक व्यवस्था एक ऐसी स्वयसम्पूर्ण और स्वय-नियन्त्रित इकाई है जिसके अन्तर्गत समाज की समस्त राजनीतिक गतिविधियो का सचालन होता है। ईस्टन ने राजनीतिक व्यवस्था के सम्बन्ध मे एक ऐसी सकल्पना का विकास करने का प्रयत्न किया जिसने उसे अनुरक्षण के लिए एक स्वतन्त्र क्षमता प्रदान की, जिसका उपयोग वह, अशत: समाज के द्वारा की जाने वाली मागो के साथ अनुकूलन स्थापित करके और, अशत. प्रतिसम्भरण प्रक्रियाओ की सहायता से व्यवस्था-समर्थक तत्त्वो को मजबूत बनाकर कर सकती थी। राजनीतिशास्त्रियो के एक दूसरे समूह ने समाज का विश्लेषण इकाई के रूप मे एक दूसरे ढग से उपयोग किया। उन्होंने राजनीति को सम्बद्ध मूल्यो, अभिवृत्तियो और आस्थाओ के द्वारा निर्मित सन्दर्भों के प्रकाश मे समझने का प्रयत्न किया। इस उपागम को "राजनीतिक सस्कृति" उपागम का रूप दिया गया, और इसने विभिन्न समाजो के बीच की, और समाजो की आन्तरिक, राजनीतिक विभिन्नताओ को उनकी राजनीतिक सस्कृति की भिन्नताओ के आधार पर समझने का प्रयत्न किया। यहा यह कहना उचित होगा कि जब कि "राजनीतिक समाजीकरण" एक मनोवैज्ञानिक सकल्पना है 'राजनीतिक सस्कृति" एक समाजशास्त्रीय सकल्पना है। विभिन्न सस्थाओ और परिस्थितियो के माध्यम से समाजीकरण की जिस प्रक्रिया मे से व्यक्ति गुजरते है उसी के आधार पर वे समाज की राजनीतिक सस्कृति को एक विशेष स्वरूप प्रदान करते हैं।

जिन सकल्पनात्मक सरचनाओ मे विश्लेषण का आधार राजनीतिक इकाई को माना गया है वह व्यक्ति भी हो सकता है और समूह-विशेष भी। उनके सम्बन्ध मे प्राय यह विश्वास किया जाता है कि वे मूलत. स्थैतिक हैं, इस अर्थ मे कि वे राजनीतिक घटना को एक विशेष समय के सन्दर्भ मे ही समझने का प्रयत्न करती हैं। इसके कारण यह तर्क

प्रस्तुत किया जाता है कि वे राजनीतिक घटनाओं के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ होती हैं। इसी के आधार पर कई अन्य संकल्पनात्मक संरचनाओं का विकास हुआ जो राजनीतिक प्रक्रिया को विश्लेषण का आधार मानने का दावा करती है, और जिनमें से प्रत्येक का यह दावा भी है कि उसने राजनीतिक गत्यात्मक तत्त्वों को पूरी तौर से अपने ध्यान में रखा है। इसी उपागम के परिणामस्वरूप, कार्ल डब्ल्यू० डॉयच के द्वारा विकसित किया गया संचारण-सिद्धान्त, रोबर्ट डाल के द्वारा प्रतिपादित शक्ति की संकल्पना, स्नाइडर के नाम से सम्बद्ध निर्णय-निर्माण उपागम, विकासवादी उपागम और संरचनात्मक प्रकार्यात्मक विश्लेषण की पद्धति जैसी संकल्पनात्मक संरचनाओं का विकास हुआ।

संचरण-सिद्धान्त सूचना के परिमाण और प्रवाह, सदेशों की विषय वस्तु, संचरण के माध्यम और सूचना-संरचनाओं की प्रक्रियाओं के अध्ययन को बहुत महत्त्वपूर्ण मानता है। रोबर्ट डाल ने प्रभाव और शक्ति में भेद बताने का प्रयत्न किया है, यद्यपि उसके विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति को यदि राजनीति का प्रमुख निदेशक तत्त्व माना जाय तो उससे राजनीति के समुचित अध्ययन में कोई विशेष सुविधा नहीं मिल सकेगी। स्नाइडर और उसके उन सहयोगियों ने, जो कोरिया के युद्ध में शामिल होने के अमरीका की सरकार के निर्णय के अध्ययन में उसके साथ थे, राजनीतिक संरचनाओं और व्यक्तिगत व्यवहार को अधिक अच्छी तरह समझने के लिए उन घटनाओं के सन्दर्भ के अध्ययन को जिन में निर्णय लिया जाता है, बहुत अधिक महत्त्व दिया है। आमण्ड ने राजनीतिक विकास के अपने पूर्ववर्ती प्रतिमान को, जिसे उसने पावेल के सहयोग से संशोधित किया और जिसमें समाजों, विशेषकर विकासोन्मुख समाजों, में होने वाले राजनीतिक परिवर्तन को तुलनात्मक राजनीति के दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न किया जाता है, और समाज के सांस्कृतिक पर्यावरण की विशेषताओं के सन्दर्भ में सामाजिक और राजनीतिक विकास को समझने का प्रयत्न किया जाता है, विकासवादी उपागम (developmental approach) का नाम दिया। संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक विश्लेषण व्यवस्था विश्लेषण से बड़े निकट रूप में सम्बन्धित है, परन्तु इन दोनों में मूल अन्तर यह है कि जब कि व्यवस्था-विश्लेषण इस बात पर जोर देता है कि राजनीतिक व्यवस्था किस प्रकार सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक पर्यावरण से आने वाली चुनौतियों का सामना करती है और अपना अनुरक्षण करने में समर्थ होती है, संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक विश्लेषण का अधिक आग्रह उन पद्धतियों के अध्ययन पर रहता है जिनके द्वारा विभिन्न व्यवस्थाओं में विभिन्न संरचनाओं के द्वारा विभिन्न प्रकार्यों को सम्पन्न किया जाता है और इस सारी जाँच-पड़ताल में उनका उद्देश्य विभिन्न संरचनाओं और उनके प्रकार्यों को निर्दिष्ट करना और यह बताना होता है कि वे एक-दूसरे से भिन्न क्यों हैं। इनमें से किसी भी संकल्पनात्मक संरचना को सिद्धान्त का दर्जा नहीं दिया जा सकता, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि आधार-सामग्री को संकलित और व्यवस्थित रूप देने और राजनीतिक घटनाओं को एक संश्लिष्ट और व्यवस्थित ढंग से समायोजित करने की दृष्टि से वे सभी उपयोगी उपकरण हैं।

भाग दो

आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण
(MODERN POLITICAL ANALYSIS)

अध्याय 3

अभिजन समूह और शक्ति : संकल्पनात्मक संरचनाओं की दृष्टि से

(ELITE, GROUP AND POWER AS CONCEPTUAL FRAMEWORK)

अभिजन सिद्धान्त, समूह सिद्धान्त और शक्ति सिद्धान्त, ये तीनों सिद्धान्त अमरीका में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के वर्षों में बहुत लोकप्रिय हुए और इनमें से प्रत्येक ने अपने आप में एक सम्पूर्ण राजनीतिक 'सिद्धान्त (theory) होने का दावा किया। अभिजन सिद्धान्त का आधार इस बात पर था कि प्रत्येक समाज में, मोटे तौर पर, दो भिन्न वर्ग होते हैं : (1) कुछ ऐसे थोड़े से लोगों का वर्ग जिनके पास क्षमता होती है और, इस कारण, जिन्हें समाज के सर्वोच्च नेतृत्व का अधिकार मिला होता है, और (2) असंख्य जन-साधारण, जिनके भाग्य में शासित होना लिखा होता है। यद्यपि इस सिद्धान्त का आरम्भ जनतन्त्र और समाजवाद के सिद्धान्तों के प्रत्युत्तर के रूप में केन्द्रीय और पश्चिमी योरोपीय देशों में हुआ था, अमरीका में अनेक लेखकों के द्वारा एक ऐसा रूप दे दिया गया जिसके सम्बन्ध में यह दावा किया गया था कि उसके आधार पर उनके देशों की, बल्कि यह कहना चाहिए कि सभी लोकतान्त्रिक देशों की, राजनीतिक प्रक्रियाओं का समुचित विश्लेषण किया जा सकता था। योरोपीय उद्गम के इस सिद्धान्त की तानाशाही में गड़ी हुई जड़ों की यह कहकर सफाई दी गयी कि जिसे हम शासक वर्ग का नाम देते हैं उसमें शासन करने वाले अभिजन वर्ग के अतिरिक्त एक प्रति-अभिजन वर्ग भी होता है, जिसके हाथों में जनता, यदि शासक वर्ग की शासन करने की क्षमता में उसका विश्वास उठ जाय, सत्ता सौंप सकती है। इसका अर्थ यह निकलता है कि शासक वर्ग पर जनसाधारण का, चाहे कितना ही अप्रत्यक्ष क्यों न हो, कुछ न कुछ नियन्त्रण अवश्य रहता है, यद्यपि तथ्य यह है कि शक्ति की प्रतिस्पर्द्धा में किसी प्रकार की रुचि न रखने के कारण उनका वास्तविक प्रभाव बहुत सीमित रहता है।[1] बहुत अधिक संगठित

[1]अभिजन सम्बन्धी अध्ययनों के सैद्धान्तिक आधार की आलोचना के लिए देखिए रोबर्ट डाल, 'हू गवर्न्स', येल विश्वविद्यालय प्रेस, 1961, और नेलसन डब्ल्यू० पोल्सबी, 'कम्यूनिटी पॉवर एण्ड पोलिटिकल थियरी,' येल विश्वविद्यालय प्रेस, 1963, और इस सिद्धान्त की सामान्य आलोचना के लिए जेम्स बर्नहम, 'दि मैक्यावेलियन्स : डिफेन्डर्स ऑफ फ्रीडम,' लन्दन, पुटनैम एण्ड् कम्पनी, 1963; जेम्स एच० मईसेल, 'दि मिथ ऑफ दी रूलिंग क्लास, गीटानो मोस्का एण्ड दी द्र्‌ एलीट,' मिशीगन विश्वविद्यालय प्रेस, 1948, सुज़ान केलर, 'बियोंड दी रूलिंग क्लास स्ट्रैटेजिक एलीट्स इन माडर्न सोसाइटी,' रैण्डम हाउस, 1963, टी० बी० बोटोमोर, 'एलीट्स एण्ड सोसाइटी', पेंगुइन्स बुक्स, 1941।

होना यदि अभिजन वर्ग के लिए नितान्त आवश्यक न माना जाय तो यह कहा जा सकता है कि वह अनेक सामाजिक समूहों से मिलकर बनता है। इस विचार को समूह सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने अपना लिया और उन्होंने कहा कि प्रत्येक समाज में बड़ी संख्या में ऐसे समूह पाये जाते हैं जो सत्ता के संघर्ष में, और एक दूसरे पर अपना आधिपत्य स्थापित करने की प्रतिस्पर्द्धा में, लगे रहते हैं। समूह सिद्धान्त के उन्नायकों का यह कहना था कि ये समूह अनवरत रूप से एक-दूसरे को सन्तुलित और सीमित करने की प्रक्रिया में लगे रहते हैं, जिससे परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न हितों में, जिनकी अभिव्यक्ति इन समूहों के द्वारा की जाती है, सामंजस्य स्थापित किया जाता रहता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों का कहना था कि यदि हम राजनीति को समझना चाहते हैं तो हमें विभिन्न समूहों की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं को समझना चाहिए। इनका यह भी दावा था कि समूह सिद्धान्त के द्वारा राज्य और समाज की क्रियाओं को सन्तोषजनक रूप से समझाया जा सकता है।[1] अभिजन-सिद्धान्त और समूह-सिद्धान्त दोनों से कुछ हटकर शक्ति-सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने यह बताने की चेष्टा की कि राजनीतिक अभिजन वर्ग अथवा अभिजन समूहों को राजनीति में सक्रिय भाग लेने की प्रेरणा सत्ता प्राप्त करने की उस भावना से मिलती है जो सभी मनुष्यों में अनिवार्य रूप से पायी जाती है और जिसे दबाना सम्भव नहीं है। इन लेखकों के अनुसार, राजनीति शक्ति का खेल था और क्योंकि व्यक्ति ही, समाजीकरण और मूल्यों को ग्रहण करने की विभिन्न पद्धतियों के द्वारा, शक्ति की इस प्रेरणा को अभिव्यक्ति दे सकता है, उन्होंने अभिजन वर्ग और समूहों के स्थान पर व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया। उनका कहना था कि राजनीतिक अध्ययन का उद्देश्य इस बात का पता लगाना था कि कब, किसे, कैसे, और कितनी राजनीतिक शक्ति प्राप्त होती है।

इन तीनों सिद्धान्तों का गहराई में जाकर अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अभिजन सिद्धान्त और समूह सिद्धान्त इन दोनों ही के पीछे शक्ति मुख्य और प्रेरक तत्त्व है। शक्ति के अध्ययन के लिए विकसित उपयुक्त संकल्पनात्मक आधार के बिना ये दोनों सिद्धान्त सर्वथा महत्त्वहीन हो जाते हैं। शक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा ही व्यक्तियों को समूहों का निर्माण करने के लिए बाध्य करती है, और इन समूहों के माध्यम से ही वे अपनी शक्ति का उपयोग करते हैं। अनेक लेखकों ने, जिनमें रेन्जो, सेरेनो और रॉय सी० मैक्रिडिस प्रमुख हैं, इस तथ्य पर प्रकाश डाला है। सेरेनो ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि अभिजन सिद्धान्त राजनीति के अध्ययन को शक्ति-सम्बन्धों के अध्ययन का रूप दे देता है, और मैक्रिडिस ने समूह-विश्लेषण के सम्बन्ध में भी यही

[1]समूह-सिद्धान्त के आधारभूत साहित्य के लिए देखिए आर्थर एफ० बेण्टले, 'दि प्रोसेस ऑफ गवर्नमेण्ट : ए स्टडी ऑफ सोशल प्रेशर्स,' शिकागो, शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस, 1908; डेविड ट्रूमैन, 'दि गवर्नमेंटल प्रोसेस, पोलिटिकल इन्ट्रेस्ट्स एण्ड पब्लिक ओपिनियन,' न्यूयार्क, एल्फ्रेड नौफ, 1951; बर्ट्रम लेथम, 'ग्रुप बेसिस ऑफ पोलिटिक्स,' कोर्नेल विश्वविद्यालय प्रेस, 1952; डोर्विन कार्टराइट और एल्विन जैण्डर द्वारा सम्पादित, 'ग्रुप डाइनेमिक्स : रिसर्च एण्ड थियरी,' द्वितीय संस्करण, हार्पर एण्ड रो, 1960।

विचार व्यक्त किया है ।[3] यदि राजनीति को समझने के लिए शक्ति सिद्धान्त अपर्याप्त सिद्ध हो जाता है, जैसा कि दिखायी दे रहा है, तो अभिजन सिद्धान्त और समूह सिद्धान्त दोनों का आधार ही समाप्त हो जाता है।

राजनीतिक अभिजनों का सिद्धान्त

'राजनीतिक अभिजन सिद्धान्त' का विकास 1950 के दशक में अमरीका में समाज विज्ञानवादियों—शुम्पीटर जैसे अर्थशास्त्रियों, लासवेल जैसे राजनीतिशास्त्रियों और सी० राइट मिल्स जैसे समाजशास्त्रियों के द्वारा[4] विभिन्न रूपों में हुआ, और उसने मूल फासीवाद के पूर्व के अनेक योरोपीय विचारकों, जिनमें इटली के निवासी, विलफ्रेडो पैरेटो और गीटानो मोस्का, स्विस-जर्मन, रॉबर्ट मिचेल्स, और स्पेनवासी जॉर्ज ऑर्टेगा वाई० गैसेट प्रमुख थे।[5] पैरेटो (1848-1923)[6] की मान्यता थी कि प्रत्येक समाज का शासन एक ऐसे अल्प-सङ्ख्यक वर्ग के हाथों में होता है जिसके पास सम्पूर्ण सामाजिक और राजनीतिक सत्ता पर अपना अधिकार स्थापित कर लेने के आवश्यक गुण होते हैं। जो लोग समाज और राज्य के उच्चतम शिखरों तक पहुंच पाते हैं वास्तव में वही सदा सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति होते हैं। उन्हें अभिजन का नाम दिया गया है। अभिजन वर्ग में उन सभी सफल व्यक्तियों की गणना की जा सकती है जो प्रत्येक धन्धे में और समाज के *प्रत्येक स्तर पर शिखर पर पाये जाते है . वकीलों के, वैज्ञानिकों के, और यहां तक कि* चोरों और वेश्याओं के भी अपने-अपने अभिजन होते हैं। पैरेटो यह भी मानता है कि विभिन्न धन्धों और सामाजिक स्तरों पर पाये जाने वाले अभिजन प्राय. समाज के एक ही वर्ग से आते है—जो अमीर है वही बुद्धिमान भी है, और जो बुद्धिमान हैं उनके पास गणित-शास्त्र को समझने, संगीत में पारंगत होने और ऊंचा नैतिक चरित्र रखने आदि

[3] रॉय सी० मैक्रिडिस और बर्नार्ड ई० ब्राउन, 'कम्परेटिव पोलिटिक्स. नोट्स एण्ड रीडिंग्स,' संशोधित संस्करण, इलीनोय, दि डर्सी प्रेस, इन्क०, 1964, पृ० 139।

[4] जे० ए० 'शुम्पीटर, इम्पीरीयलिज्म एण्ड सोशल क्लासेज, 'ऑक्सफोर्ड, बेसिल ब्लैकवेल, 1951, हैरल्ड डी० लासवेल, डेनियल लर्नर और सी० ई० रोथवेल, 'दि कम्परेटिव स्टडी ऑफ एलीट्स,' हूवर इस्टीट्यूट स्टडीज, माला ब, एलीट्स सं० 1, स्टैनफोर्ड, 1952; सी० राइट मिल्स, 'दि पॉवर एलीट,' न्यूयार्क, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस 1956।

[5] विल्फ्रेडो पैरेटो, 'दि माइण्ड एण्ड सोसाइटी,' 4 खण्ड, लन्दन, जोनाथन केप, 1935; गीटानो मोस्का दि रूलिंग क्लास न्यूयार्क, मैग्रा-हिल, 1939; रोबर्टो मिचेल्स, 'पोलिटिकल पार्टीज, सोशियोलोजिकल स्टडी ऑफ दी ओलिगार्किकल टेंडेंसीज ऑफ डेमोक्रेसी,' ईडन और सीडार पोल द्वारा अनुवादित डोवर पब्लिकेशन्स, दी फी प्रेस, 1949; ओर्टेगा वाई० गैसेट, दि रिवोल्ट ऑफ दी मासेज,' न्यूयार्क नोर्टन, 1932।

[6] पैरेटो के अधिक विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए जोर्ज सी० होमन्स और चार्ल्स पी० कर्टिस, जू०, 'एन इन्ट्रोडक्शन टू पैरेटो,' न्यूयार्क, नोफ, 1934; लोरेन्स, जे हैंडर्सन, 'पैरेटोज जनरल सोशियोलोजी,' कैम्ब्रिज, मैसे० हार्वर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1935; फ्रैंज बोर्केनो 'पैरेटो', लन्दन, चैपमेन एण्ड हॉल, 1936।

की क्षमता पायी जाती है। पैरेटो के अनुसार इस प्रकार समाज में दो वर्ग होते हैं: (1) एक ऊंचा वर्ग जिसे हम अभिजन वर्ग कहते हैं और जो शासक अभिजन और शासन के बाहर के अभिजन, इन दो उपवर्गों में बांटे जा सकते हैं, और (2) एक निम्न वर्ग, अथवा गैर अभिजन वर्ग। पैरेटो के अध्ययन का केन्द्र शासक अभिजन वर्ग था, जिसके सम्बन्ध में उसका विश्वास था कि यह बल प्रयोग और चालाकी दोनों के मिश्रित आधार पर शासन करता है। पैरेटो ने इन दोनों में से बल प्रयोग को अधिक महत्त्व दिया है।

सिद्धान्त के मूल स्रोत

पैरेटो ने अभिजन वर्ग में परिवर्तन (circulation) होते रहने की संकल्पना का भी विकास किया। वह मानता है कि इतिहास कुलीन वर्गों का श्मशान है। प्रत्येक समाज में व्यक्ति और अभिजन वर्ग अनवरत रूप से ऊंचे स्तर से नीचे स्तर की ओर, और नीचे स्तर से ऊंचे स्तर की ओर, जाते रहते हैं, जिसके परिणामस्वरूप "उन वर्गों में, जिनके हाथों में सत्ता होती है, पतनशील तत्वों की संख्या बढ़ती रहती है और, दूसरी ओर, शासित वर्गों में ऊंचे गुणों से सम्पन्न तत्त्व उभरते रहते हैं।" इस प्रक्रिया के माध्यम से समाज का प्रत्येक अभिजन वर्ग अन्ततः नष्ट हो जाता है। पैरेटो की सबसे बड़ी चिन्ता इस बात की थी कि अभिजन वर्ग के नष्ट हो जाने के कारण समाज में जो असन्तुलन की स्थिति आ जाती है उसे कैसे रोका जाए। पैरेटो ने अपनी रचनाओं में अभिजन वर्ग में होने वाले विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों-प्रत्यावर्तनों की बात कही है—कभी शासक वर्ग के विभिन्न समूहों तक ही परिवर्तन की यह प्रक्रिया सीमित रहती है और कभी अभिजन वर्ग और गैर अभिजन वर्गों के बीच परिवर्तन-प्रत्यावर्तन होता दिखायी देता है। दूसरे प्रकार के परिवर्तन का अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति निम्न स्तर से ऊपर उठ कर तत्कालीन अभिजन वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं और निम्न वर्ग के व्यक्ति मिल कर नये अभिजन वर्गों का निर्माण करते हैं और शासक अभिजन वर्ग के विरुद्ध शक्ति के संघर्ष में जुट पड़ते हैं। शासक वर्ग की जिस अवनति के कारण सामाजिक सन्तुलन बिगड़ जाता है और नये अभिजन वर्ग की सृष्टि होती है उसके कारणों की व्याख्या करते हुए पैरेटो ने लिखा है कि "विभिन्न प्रकार के अभिजन वर्गों के मनोविज्ञान में समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। इस सम्बन्ध में पैरेटो ने अपनी "अवशेषों" (residues) की संकल्पना का विकास किया है। इस संकल्पना का आधार सामाजिक जीवन में व्यक्तियों के व्यवहार को पैरेटो के द्वारा तार्किक और तर्क-शून्य (अथवा विवेक-सम्मत और अविवेकी) इन दो भागों में बांटा जाना है। तार्किक कार्यों से उसका अर्थ ऐसे कार्यों से है जो प्राप्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किये जाते हैं और जिनके लिए ऐसे साधनों का प्रयोग होता है जो उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपयुक्त हों। तर्क-शून्य कार्यों से उसका अर्थ ऐसे कार्यों से है जो किसी निश्चित उद्देश्य के लिए किये जाते हैं जिन्हें प्राप्त करना सम्भव नहीं होता अथवा जिन्हें प्राप्त करने के लिए ऐसे साधनों का प्रयोग किया जाता

है जिनके द्वारा उनकी प्राप्ति सम्भव नही होती। "अवशेषो" से पैरेटो का तात्पर्य वास्तव मे उन गुणो से है जिनके द्वारा मनुष्य जीवन मे ऊचा उठ सकता है, और यद्यपि उसने 'अवशेषो' के छः गुणो की एक तालिका तैयार की है वह दो प्रकार के गुणो को, जिन्हे उसने "मिश्रित तत्त्व" (combination) और "समुच्चय-सातत्य" (persistence of aggregates) का नाम दिया है, अधिक महत्त्वपूर्ण "अवशेष" मानता है, क्योंकि इन्ही की सहायता से शासक वर्ग अपने को सत्ता मे बनाये रखने मे सफल होता है।

सीधी-सादी भाषा मे कहा जाय तो "मिश्रित तत्त्वो" के नाम अवशिष्ट का अर्थ होगा चालाकी और "समुच्चय-सातत्य" नाम के अवशिष्ट का अर्थ होगा बल-प्रयोग। पैरेटो ने अभिजनो के इन दो वर्गों को "सटोरियो" (speculators) और "किरायाजीवियो" (rentiers) का नाम भी दिया है. एक वे है जो बल प्रयोग के आधार पर शासन करते है और दूसरे वे जो चालकी के आधार पर। यह हमे सहज ही मैकियावेली द्वारा सुझाये गये उन दो शासक वर्गों की याद दिलाता है जिन्हे उसने 'सिंहों' और 'लोमडियो' का नाम दिया था। बल प्रयोग को न्यायोचित अथवा विवेक-सम्मत ठहराने के लिए अभिजन 'शब्द साधनो' (derivations) अथवा 'मिथको' (myths) का निर्माण करते हैं जिनके द्वारा जनता की दृष्टि मे उनके ये काम तर्क-सम्मत कामो की श्रेणी मे गिने जाय, और वे जनता को अपने नियन्त्रण मे रख सकें। सामाजिक सन्तुलन के अनुरक्षण मे रुचि रखने के कारण पैरेटो ने यह आवश्यक माना कि अभिजनो मे समय-समय पर परिवर्तन-प्रत्यावर्तन होता रहना चाहिए। उसने लिखा, "क्रान्तिया तभी आती हैं जब या तो प्रत्यावर्तन की प्रक्रिया धीमी पड जाय या अभिजनों के उन 'अवशेषो' से वचित हो जाने के कारण जिनके द्वारा वे अपने को शक्ति मे रख सकते थे, या बल प्रयोग करने मे उनकी आनाकानी के कारण, समाज के उच्च स्तरों पर (अभिजन वर्ग मे) बहुत अधिक जमाव हो जाता है, जबकि इस बीच समाज के निम्न वर्गों मे ऊचे गुणो से सम्पन्न ऐसे लोग सामने आने लगते हैं जिनमे शासन के प्रकार्यों को पूरा करने के आवश्यक अवशेष पर्याप्त मात्रा मे पाये जाते हैं और जिन्हे बल प्रयोग मे सकोच नही होता"।[7] यह स्पष्ट था कि पैरेटो शासक वर्ग मे शक्ति का प्रयोग करने की क्षमता और तत्परता पर काफी जोर दे रहा था।

समाजशास्त्री और मनोविज्ञानशास्त्री होने की दृष्टि से पैरेटो ने जिस राजनीतिक अभिजन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, गीटानो मॉस्का (1858-1941) ने एक राजनीतिशास्त्री की दृष्टि से उसका और भी अधिक विकास किया।[8] मोस्का ने अरस्तू के समय से आने वाले इस सिद्धान्त को, कि प्रशासनो को राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र, इन तीन भागो मे बाटा जा सकता है, मिथ्या बताते हुए इस बात पर जोर दिया कि वास्तव मे, सभी शासन एक ही प्रकार के होते हैं, और उनका नियन्त्रण सदा ही अभिजन वर्ग के हाथ मे होता है। उसने लिखा, "सभी समाजो मे—उन समाजों से लेकर जिनका

[7] विल्फ्रैडो पैरेटो, पी० उ०, खण्ड 3, पृ० 1431।
[8] मोस्का की रचनाओ की सूची और उसके विचारों के एक आलोचनात्मक विवरण के लिए देखिए जेम्स एच० मजील, पी० उ०।

बहुत कम विकास हुआ है और जो अभी तक सभ्यता की पहली किरणों का संस्पर्श भी ठीक से नहीं कर पाये हैं, उन समाजों तक जो सबसे अधिक प्रगतिशील और शक्तिशाली है सभी समाजों में केवल दो वर्गों के लोग पाये जाते हैं—एक उस वर्ग के लोग जो शासन करते हैं और दूसरे उस वर्ग के जिन पर शासन किया जाता है। पहला वर्ग, जो संख्या में सदा ही कम होता है, सभी प्रकार के राजनीतिक कार्यों का नियन्त्रण अपने हाथ में रखता है, सत्ता पर अपना एकाधिकार रखता है और सत्ता से प्राप्त होने वाले सभी लाभों का पूरा उपभोग करता है, जब कि दूसरा वर्ग जो संख्या में बहुत बड़ा होता है, पहले वर्ग के द्वारा निर्देशित और नियन्त्रित रहता है। इन दोनों के बीच के सम्बन्ध, अधिक अथवा कम मात्रा में, कभी वैधता पर आधारित रहते हैं और कभी स्वेच्छाचारिता अथवा हिंसा पर ...।"*

पैरेटो के समान मोस्का भी अभिजन वर्ग में प्रत्यावर्तन के सिद्धान्त में विश्वास रखता है। आदेश देने की अभिवृत्ति और राजनीतिक नियन्त्रण का प्रयोग करने की क्षमता को वह अभिजन वर्ग की सबसे बड़ी विशेषता मानता है। शासक वर्ग में जब यह अभिवृत्ति कम हो जाती है और शासक वर्ग के बाहर के लोग बड़ी संख्या में इन अभिवृत्तियों का विकास कर लेते हैं तब पुराने शासक वर्ग की पदच्युति और, उसके स्थान पर, नये शासक वर्ग की स्थापना अनिवार्य हो जाती है। मोस्का मानता है कि यह एक प्रकार का नियम है कि काफी समय तक शासन कर लेने के बाद शासक वर्ग या तो जनसाधारण को आवश्यक सुविधाएं प्रदान करने में असमर्थ हो जाता है, अथवा वे सुविधाएं जो वह उन्हें देता है, उनकी दृष्टि में, महत्वहीन हो जाती हैं, अथवा एक नये धर्म का उत्थान होता है, अथवा समाज को प्रभावित करने वाली सामाजिक शक्तियों में इसी प्रकार का कोई परिवर्तन होता है, और ऐसी स्थिति में सत्ता का परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। मोस्का न केवल परिवर्तन के लिए पैरेटो के द्वारा उत्तरदायी ठहराये गये मनोवैज्ञानिक कारणों को लेता है, वह उनके अतिरिक्त कुछ सामाजिक कारणों का उल्लेख भी करता है। उसने सामाजिक परिस्थितियों और व्यक्तिगत गुणों में होने वाले परिवर्तनों के बीच किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा भी की है। समाज में नये हित और नये आदर्शों का निरूपण होता है, नई समस्याएं खड़ी होती हैं, और इन सबके परिणामस्वरूप अभिजन वर्गों के बीच प्रत्यावर्तन की प्रक्रिया तेज हो जाती है। मोस्का आदर्शवाद और मानववाद का भी उतना बड़ा आलोचक नहीं है जितना पैरेटो, और बल प्रयोग पर भी उसका उतना अधिक आग्रह नहीं है। वह एक गतिशील समाज में, और समझाने-बुझाने के द्वारा परिवर्तन लाने के तरीके में, विश्वास रखता प्रतीत होता है। उसने शासक अभिजनों को यह सलाह भी दी है कि वे जनमत में होने वाले परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक व्यवस्था को धीरे-धीरे उन परिवर्तनों के समकक्ष लाने का प्रयत्न करें।

एक अल्प-संख्यक वर्ग बहु-संख्यक वर्ग पर शासन करने में कैसे सफल हो जाता है

*गीटानो मोस्का, पी० उ०, पृ० 50।

इसका कारण बताते हुए मोस्का ने लिखा है कि अल्प-सख्यक वर्ग सगठित होता है, *जबकि बहु-सख्यक वर्ग का प्रत्येक व्यक्ति उसके सामने अकेला होता है*—इसके अतिरिक्त यह तथ्य तो है ही कि अल्प-सख्यक वर्ग मे प्राय श्रेष्ठ व्यक्तियो की बहुलता होती है। पैरेटो ने यह तो कहा था कि राजनीतिक वर्ग विभिन्न सामाजिक समूहो से मिल कर बनता है, परन्तु इन समूहो के गठन का विस्तार से परीक्षण नही किया था। मोस्का ने अभिजन वर्ग मे सम्मिलित सामाजिक समूहो के गठन की गहराई से व्याख्या की है और अन्य 'सामाजिक शक्तियो' को सन्तुलित करने और उनके प्रभाव को सीमित करने मे उन सामाजिक शक्तियो की, जिन्हे पैरेटो ने 'शासक वर्ग के बाहर' का अभिजन वर्ग बताया था, भूमिका को स्वीकार किया है। मोस्का ने *'उप-अभिजन' की सकल्पना भी दी जिससे उसका अर्थ लोक सेवको, औद्योगिक व्यव*-स्थापको, वैज्ञानिको और विद्वानो के नये मध्यम वर्ग से था, और जिसे उसने समाज के प्रशासन का एक आवश्यक तत्व बताया। इसके सम्बन्ध मे उसने लिखा है, "किसी भी राजनीतिक अवयव का स्थायित्व नैतिकता, कुशाग्रबुद्धि और कार्यकुशलता के उस स्तर पर निर्भर करता है जिसे समाज का यह दूसरा स्तर प्राप्त कर चुका होता है। "मोस्का ने *अपनी राजनीतिक सूत्रोक्ति" (political formula) पर, जिसकी तुलना पैरेटो के* "शब्द-साधन' से की जा सकती है, बहुत अधिक जोर दिया है। मोस्का मानता है कि प्रत्येक समाज मे शासक वर्ग अपने को सत्ता मे बनाये रखने के लिए एक नैतिक और कानूनी आधार खोज निकालने का प्रयत्न करता है, और उन्हे "उन सिद्धान्तो और विश्वासो के, जो सामान्य रूप से मान्यता-प्राप्त और स्वीकृत हैं, तर्क सम्मत और आवश्यक परिणाम के रूप मे, "प्रस्तुत करता है।"[10] *मोस्का की दृष्टि मे यह आवश्यक नही* है कि 'राजनीतिक सूत्रोक्ति' का आधार सम्पूर्ण सत्य पर टिका हुआ हो, और प्रायः ऐसा होता भी नही है। कई बार तो उसका आधार समीचीन और तर्क-सम्मत दिखायी देने वाली ऐसी युक्तियो पर होता है जिन पर सहज मे जनता के विश्वास को प्राप्त किया जा सकता हो। मोस्का यह मानने के लिए तैयार नही है कि यह एक स्पष्ट और सीधी धोखेबाजी के अतिरिक्त और कुछ नही है जिसका सहारा अभिजन वर्ग जनता को अपने नियन्त्रण मे रखने के लिए लेता है। शासक वर्ग की नीतिया, चाहे उनका निरूपण उनके अपने स्वार्थ के लिए ही क्यो न किया गया हो, एक नैतिक और कानूनी आवरण के साथ जनता के सामने रखी जाती हैं, यह तथ्य मोस्का के अनुसार एक निश्चित सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति करता है और मानव की इस गहरी अनुभूति को सन्तुष्ट करता है कि उस पर किये जाने वाले शासन का आधार केवल बल प्रयोग नही, कोई नैतिक सिद्धान्त ही हो सकता है। यह भावना राजनीतिक सस्थाओ, जनसाधारण और सभ्यताओं को एक-दूसरे के साथ जोडने मे भी सहायक होती है। इस कारण मोस्का राजनीतिक सिद्धान्त को नैतिक ससक्तता का एक उपकरण मान लेता है।

जिन अन्य व्यक्तियों ने अभिजन सिद्धान्त को आगे बढाया है उनमे रोबर्टो मिचेल्स

[10] वही, पृ० 70।

(1876-1936) और ओटेगा वाई॰ गैसेट (1883-1955) के नाम प्रमुख हैं। रौबर्टो मिचेल्स का नाम 'स्वल्पतन्त्र के लोह-नियम' (Iron Law of Oligarchy) के सिद्धान्त के साथ जुड़ा हुआ है जिसे वह इतिहास के लोह-नियमों में से एक ऐसा नियम मानता है "जिसके पंजों से अधिक से अधिक लोकतान्त्रिक आधुनिक समाजों, और उन समाजों में अधिक से अधिक प्रगतिशील राजनीतिक दल के लिए भी छूटकर नहीं निकल सके हैं।"[11] इस नियम को सबसे बड़ा समर्थन संगठन के तत्त्व के द्वारा मिलता है। संगठन के बिना आधुनिक युग में कोई भी आन्दोलन अथवा राजनीतिक दल सफलता प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकता। 'संगठन' वास्तव में 'स्वल्पतन्त्र' का ही दूसरा नाम है। मिचेल्स लिखता है, "मनुष्यों के प्रत्येक ऐसे संगठन में, जो निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं, अन्तर्वर्ती स्वल्पतान्त्रिक प्रवृत्तियां मौजूद रहती हैं . . . स्वल्पतन्त्र . . . महान सामाजिक समुच्चयों के सामान्य जीवन का एक पूर्व-निश्चित रूप होता है . . . । मनुष्यों के बहुमत के लिए, गुलामी की अपनी शाश्वत मनोवृत्ति के कारण, . . . एक अल्प-संख्यक वर्ग के प्रभुत्व को मानना उनकी अपनी पूर्व नियति है। सामाजिक जीवन के सभी रूपों में नेतृत्व एक आवश्यकता है। सभी व्यवस्थाओं और सभ्यताओं में कुलीन-तन्त्र की विशेषताओं का प्रदर्शन होता है।"[12] होता यह है कि जैसे-जैसे किसी आन्दोलन अथवा राजनीतिक दल का विस्तार बढ़ता है यह आवश्यक हो जाता है कि अधिक से अधिक उत्तरदायित्व नेताओं के एक आन्तरिक समूह के हाथों में सौंप दिये जायें और समय के साथ-साथ संगठन के सदस्य उन्हें निर्देशित और नियन्त्रित करने में असमर्थ होते जाते हैं, और परिणामतः अधिकारी अपने कार्यों में अधिक स्वतन्त्र हो जाते हैं और अपनी स्थिति को मजबूत बनाना उनका निहित स्वार्थ बन जाता है। अपनी नयी शक्तियों और विशेष अधिकारों की रक्षा के लिए वे इतने दुःसाहसी हो जाते हैं कि उन्हें उनके स्थान से हटाना लगभग असम्भव हो जाता है। मिचेल्स ने इस प्रकार की स्थिति की आलोचना नहीं की है बल्कि मुक्त भाव से उसका समर्थन किया है। जन-मानस (mass mind) की अपनी संकल्पना के आधार पर, मिचेल्स मानता है कि अधिकांश मनुष्य स्वभाव से उदासीन, आलसी और गुलाम वृत्ति वाले होते हैं, और शासन में सक्रिय भाग लेने में वे स्थायी रूप से असमर्थ रहते हैं। समय-समय पर यदि उनकी प्रशंसा कर दी जाय तो वे सन्तुष्ट रहते हैं और शक्ति के सामने वे सदा ही विनम्र और आज्ञाकारी बन जाते हैं। यह स्वाभाविक है कि नेता अपने आपको सदा सत्ता में बनाये रखने की दृष्टि से, जनता के इन 'गुणों' का लाभ उठायें। जनता को मूर्ख बनाने के लिए ये नेता, खुशामद, अनुनय-विनय, और भावनाओं को उभारना आदि सभी प्रकार के उपायों को काम में लाते रहते हैं। ये नेता एक बार जब शक्ति के शिखर पर पहुंच जाते हैं तो कोई भी उन्हें उनके स्थान से हटा नहीं सकता। "नेताओं के प्रभुत्व को नियन्त्रित करने के लिए यदि कानून बनाये जाते हैं तो धीरे-धीरे वे कानून कमजोर पड़ जाते हैं, परन्तु

[11] एल्फ्रेड डि ग्रेज़िया, रौबर्टो मिचेल्स फर्स्ट लेक्चर्स इन पोलिटिकल सोशियोलोजी, मिनियापोलिस, मिनेसोटा विश्वविद्यालय प्रेस, 1949, पृ॰ 142।
[12] रौबर्टो मिचेल्स, पी॰ उ॰, पृ॰, 11, 32, 390, 400 और 402।

नेताओं के प्रभुत्व मे किसी प्रकार की कमी नहीं आती।[13] मिचेल्स ने इस बात को स्वीकार किया है कि इतिहास में कभी-कभी क्रान्तिया होती हैं और आततायी शासकों को उनके स्थान से हटा दिया जाता है, परन्तु थोड़े समय बाद आततायियों का एक नया वर्ग शक्ति अपने हाथ मे ले लेता है, और दुनिया अपनी हमेशा की रफ्तार मे चलती रही है। वह कहता है कि "इतिहास की लोकतान्त्रिक प्रवृत्तिया समुद्र से उठने वाली लहरों के समान हैं। वे सदा छिछले किनारे से टकरा कर टूट और बिखर जाती हैं।"[14]

राजनीतिक अभिजन सिद्धान्त को ऑर्टेगा वाई० गैसेट ने जन-समूह के अपने एक सिद्धान्त के द्वारा और भी आगे बढ़ाया।[15] ऑर्टेगा ने यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की कि कोई भी राष्ट्र महान तभी होता है जब उसकी "जनता," "जन-सामान्य," "जन-समूह", "सर्वसाधारण" कुछ चुने हुए लोगो को अपना प्रतीक मान लेते हैं और अपने शक्तिशाली उत्साह का समस्त कोष उनके समर्थन मे लुटा देने के लिए तैयार हो जाते हैं। ये चुने हुए व्यक्ति 'वे हैं जो समाज मे प्रमुख स्थान रखते हैं और वे ही "जन-साधारण" का, *जिनमे चुने हुए लोग नही होते, नेतृत्व करने का अधिकार रखते हैं।* ऑर्टेगा लिखता है, "समाज मे पूर्णरूप से प्रभावशाली बनने के लिए मनुष्य के व्यक्तिगत गुण उतने आवश्यक नहीं हैं जितनी वे सामाजिक ऊर्जाएं जो जनसाधारण के द्वारा उनमे प्रस्थापित की जा रही हैं।"[16] "राष्ट्र जनसाधारण का एक ऐसा सगठित समूह है जिसे चुने हुए व्यक्तियो के एक अल्प-मख्यक वर्ग के द्वारा सरचना का रूप प्रदान किया जाता है। राष्ट्र अपने लिए किसी भी कानूनी स्वरूप को क्यों न चुने, वह लोकतान्त्रिक हो अथवा साम्यवादी, उसका कार्यान्वयन और वैध सविधान के बाहर की उसकी समस्त गतिविधियो का सचालन, सदा एक अल्प-मख्यक वर्ग के द्वारा होता है। यह एक प्राकृतिक नियम है जो सामाजिक सस्थाओं के जीवन विज्ञान की दृष्टि से उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना भौतिक विज्ञान मे घनत्व का नियम"।[17] ऑर्टेगा आगे लिखता है, "असख्य लोगो की भीड को नेताओ और अनुगामियो के रूप मे सगठन का रूप देना एक प्रमुख सामाजिक तथ्य है, और उसका आधार इस मान्यता पर है कि कुछ मे नेतृत्व देने की

[13]वही, पृ० 406।

[14]वही, पृ० 408।

[15]ऑर्टेगा अनेकों विद्वानों के द्वारा स्पेनिश-भाषी ससार का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक माना जाता है। उसकी रचनाओं का सग्रह 'ओब्राम कम्पलीटास' के नाम से छ खण्डो में प्रकाशित हुआ है। पिछले कुछ वर्षों में उसकी सम्पादित रचनाएं छ ग्रन्थो में प्रकाशित की गयी हैं, और निकट भविष्य में और भी अनेक ग्रन्थों के प्रकाशित होने की आशा है।

[16]मैन्युएल मान्डोनेडो-डेनिस, 'ऑर्टेगा वाई० गैसेट एण्ड दि थियरी ऑफ दि मासेज', जेम्स डी० बाउन्टन, जू०, और डेविड के० हार्ट द्वारा सम्पादित 'पर्सपेक्टिव्ज् ऑन पोलिटिकल फिलौसफी, मार्क्स थ्रू रूमाजे, होरिस्डेल, इलो०, दि ड्रायडन प्रेस, 1973, मे, पृ० 246 पर, ऑर्टेगा वाई० गैसेट, 'ओब्राम कम्पलीटास,' 6 खण्ड, चौथा सस्करण, मैड्रिड, रेविस्टा ड ओक्सीडेंटे, 1947, खण्ड 3, पृ० 91 से।

[17]वही, पृ० 247।

एक निश्चित क्षमता होती है, और कुछ अन्य में अनुगमन करने की निश्चित क्षमता।"[18] शासक वर्ग जब भ्रष्ट और अयोग्य सिद्ध हो जाता है तब जनसाधारण उसके विरुद्ध विद्रोह भी करते है, परन्तु विद्रोह का कारण यह नही होता कि अल्प-सख्यक वर्ग के द्वारा शासित किये जाने मे उन्हे आपत्ति है, बल्कि यह होता है कि ये अधिक कुशल अल्प-संख्यक वर्ग के द्वारा शासित होना चाहते हैं। "जब किसी समाज मे ऐसी स्थिति आती है कि बहु-सख्यक लोगों को अपने नियन्त्रण मे रखने के लिए एक अल्प-सख्यक वर्ग मौजूद नही होता, अथवा जनसाधारण मे यह तत्परता नही रह जाती कि वे अल्प-सख्यक वर्ग के आदेशो का पूरी निष्ठा के साथ पालन करें, तब वह समाज समाज नही रह जाता।"[19] जब किसी राष्ट्र की जनता यह मानने लगे कि अल्प-सख्यक वर्ग के नेतृत्व के बिना वह अपना काम चला सकती है तब उस राष्ट्र की अवनति अनिवार्य हो जाती है। इस भ्रम से छुटकारा पाने पर जनता एक नये नेतृत्व का सहारा टटोलती है, और तब एक नये अल्प-सख्यक वर्ग का उदय होता है। मॉस्का की मान्यता है कि "इतिहास सदैव दो प्रकार के युगों मे से गुजरता रहता है—एक वह युग जब कुलीनतन्त्र उभर कर सामने आता है और उसके साथ-साथ समाज निर्माण के पथ पर आगे बढ़ता है और दूसरा वह युग जब वही कुलीनतन्त्र विघटित होने लगता है और उसके साथ-साथ समाज टूटने लगता है"[20]

अभिजन सिद्धान्त, फासीवाद और लोकतन्त्र

राजनीतिक अभिजन सिद्धान्त को, उस रूप मे जिसमे पश्चिमी यूरोप है उसके प्रतिपादकों ने उसे प्रस्तुत किया है, फासीवाद कहना शायद पूर्ण रूप से सही न हो, परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नही कि फासीवाद के समान ही उसकी अभियुक्तियां भी लोकतन्त्र-विरोधी और समाजवाद-विरोधी हैं। पैरेटो को फासीवाद नही कहा जा सकता, यह तो इसी से स्पष्ट हो जाता है कि उसने हड़ताल के अधिकार को न्यायोचित ठहराया है और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को सत्य की खोज के लिए आवश्यक माना है। पैरेटो ने साम्राज्यवाद की आलोचना की है और योरोपीय राष्ट्रों की, उनके इस धोखेबाजी पूर्ण दावे के लिए भर्त्सना की है कि वे अपनी जनता पर अत्याचार और दमन उनके भले के लिए कर रहे हैं। पैरेटो लिखता है, "बिल्ली चूहे को पकड़ती है और खा जाती है, परन्तु वह यह बहाना नही करती कि वह यह चूहे की भलाई के लिए कर रही है। वह इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करती कि सभी प्राणी समान हैं, और आकाश की ओर देख कर इस आधार पर ईश्वर की आराधना करने का ढोंग नहीं रचती है कि वह हम सबका पिता है।"[21] यह सब होते हुए भी पैरेटो एक अल्प-संख्यक वर्ग के प्रभुत्व मे विश्वास रखता था। वह हिंसा को न्यायोचित मानता था, और समाजवाद, शांतिवाद और मानवतावाद से

[18]वही।
[19]वही।
[20]वही, पृ० 248।
[21]विल्फ्रेडो पैरेटो, पी० ज०, खण्ड 2 पृ० 626-27।

घृणा करता था। 'लोकतन्त्र उसकी दृष्टि मे भ्रष्टाचार, *यान्त्रिक राजनीति* (machine politics) और गुण्डागर्दी के अतिरिक्त और कुछ नही था। प्रगति के विचार को ही वह अनास्था की दृष्टि से देखता था। इन विषयो पर इतने कडे विचार प्रस्तुत करके *शायद वह यह बताना चाहता था कि आदर्शवाद की वे कमजोरिया उसमे नही थी जिन्हे* उसने शान्तिवाद, समाजवाद, मानवतावाद और लोकतन्त्र का अनिवार्य अग माना था, और यह भी कि वह एक विवेकपूर्ण, स्पष्टभाषी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाला व्यक्ति था।

मौस्का भी लोकतन्त्र विरोधी था, परन्तु फासीवादी नही था। आदर्शवाद और मानववाद के प्रति उसका दृष्टिकोण उतना आलोचनात्मक भी नही था जितना पैरेटो का, और उसने नग्नरूप मे बल-प्रयोग की तुलना मे, आज्ञापालन, धर्म और देशभक्ति की वृत्तियों के आधार पर शासन करने पर अधिक जोर दिया। मौस्का ने युद्ध को न्यायोचित ठहराया, *सैनिक विजय के उद्देश्य से नही, परन्तु इस आधार पर कि सशक्त संघर्ष के,* अथवा कम से कम उसके लिए आवश्यक सैनिक तैयारी के बिना, और देशभक्ति की ज्वलन्त भावना अथवा अपनी सुरक्षा की इच्छा और क्षमता के बिना, नागरिको के निष्क्रिय और शिथिल हो जाने की आशका रहती है। मौस्का वैधानिक प्रशासन को पसन्द करता था, एक ऐसे प्रशासन को जिसमे मन्त्रिमण्डल के सदस्य राज्य के अध्यक्ष के प्रति उत्तरदायी हो। उसने वैधानिक प्रशासन को इस आधार पर सबसे अच्छी व्यवस्था माना कि उसके द्वारा स्वतन्त्रता का अधिक से अधिक सरक्षण होता है। लोकतन्त्र की उसकी आलोचना का आधार यह भी था कि सम्पत्तिहीन बहु-सख्यक वर्ग के हितो का प्रतिनिधित्व करने के कारण भी वह स्वतन्त्रता का शत्रु हो सकता है। बर्न्स ने ठीक ही लिखा है, "मौस्का, कावूर, बिस्मार्क और हीगल के समान अनुदारवादी तो था परन्तु तानाशाही मे उसका विश्वास नही था, और जिस लोकतन्त्र के विरुद्ध वह सघर्ष कर रहा *था वह रूसो की कल्पना का तानाशाही लोकतन्त्र था,* न कि उस प्रकार का उदारवादी लोकतन्त्र जैसा स्विट्जरलैण्ड इगलैण्ड और अमरीका मे उसके समय मे मौजूद था।"[22]

मिचेल्स समाजवाद का कट्टर विरोधी था, परन्तु लोकतन्त्र का नही। वशानुगत राजतन्त्र *की तुलना मे, जिसे वह भीडतन्त्र की निकृष्टतम तानाशाही से भी अधिक निकृष्ट* मानता था, उसने लोकतन्त्र का समर्थन किया, यह जानते हुए भी कि उसके सफल होने की तनिक भी आशा नही की जा सकती थी। मिचेल्स के अनुसार वह प्रशासन आदर्श था जिसमे सद्गुणो और बुद्धिमानी से पूर्ण अल्पसख्यक के हाथ मे शासन की बागडोर हो, परन्तु क्योकि इस प्रकार का शासन सम्भव नही था, वह लोकतन्त्र को सबसे कम बुराई के रूप मे स्वीकार करने को लिए तैयार था। उसकी दृष्टि मे लोकतन्त्र की सबसे बडी कमी जनता मे चरित्र का अभाव, उसकी मूर्खता और नि.सहायता था, और इस कारण उसने लिखा है कि यह आवश्यक था कि जनता के शैक्षणिक स्तर को ऊंचा उठाया जाय

[22]एडवर्ड मैक्नाल बर्न्स, 'आइडियाज' इन कौनफ्लिक्ट, दि पोलिटिकल थियरीज ऑफ दी कौंटेम्परेरी वर्ल्ड,' लन्दन, मैथ्युए एण्ड कम्पनी, 1960, पृ० 85-86।

और उसमे से कुछ लोगों को तैयार किया जाय जो अल्पतन्त्रात्मक प्रवृत्तियों पर कुछ नियन्त्रण रख सकें। मिचेल्स इस बात को मानता था कि (जनता पर शासन करने की दृष्टि से बनाये गये अल्प-संख्यक वर्ग के) 'संगठन' लोकतन्त्र के साथ-साथ नहीं चल सकते थे, वे लोकतन्त्र को भी नष्ट कर सकते थे, परन्तु वह यह भी मानता था कि उनके द्वारा लोकतन्त्रीकरण के मार्ग को सरल बनाया जा सकता था।[23] लोकतन्त्र के पक्ष में प्रकट किये गये उसके इस प्रकार के विचारों के होते हुए भी यह कहना ठीक नहीं होगा कि लोकतन्त्र में उसका विश्वास नहीं था। वह एक कल्पना के संसार में खोया हुआ क्रान्तिकारी था, अथवा पैतृक अधिकार में विश्वास करने वाला एक वैज्ञानिक। उसकी मान्यता थी कि 'संगठन' के द्वारा ऐसे नेताओं का सत्ता में आना और सत्ता में बने रहना सुविधाजनक बनाया जा सकता था जो अपनी अनुगामी जनता की प्रकट इच्छाओं को अभिव्यक्त करने के लिए समर्थ और इच्छुक हों। इस दृष्टि से हम देखें तो यह कहा जा सकता है कि पैरेटो, मोस्का और मिचेल्स इन तीनों में से कोई भी विचारक उस हद तक लोकतान्त्रिक समाजवाद का विरोधी नहीं था जिस हद तक बाद के फासीवादी चिन्तक चले गये।

लोकतन्त्र और अभिजनों की बहुलता

राजनीतिक अभिजन के द्वारा शासन का समर्थन करने वाली एक बाद की पीढ़ी ने, जिसने एटलांटिक महासागर के उस पार अपने विचारों का विकास किया, लोकतन्त्र के एक नये सिद्धान्त के निर्माण का प्रयत्न किया जिसे राजनीतिक अभिजन सिद्धान्त के साथ समायोजित किया जा सकता था। लोकतन्त्र की परिभाषा उन्होंने एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था के रूप में दी जिसमें राजनीतिक दलों का प्रमुख काम अपनी विचारधाराओं का प्रचार करना उतना नहीं था जितना मतदाताओं के अधिक से अधिक मतों को प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्द्धा करना था, जिसमें अभिजन वर्ग के दरवाजे नये आगन्तुकों के लिए, तुलनात्मक दृष्टि से, 'खुले' रखे गये थे और केवल गुणों के आधार पर ही उन्हें प्रवेश दिया जाता था, और समाज पर शासन करने के कामों में जनसाधारण इस अर्थ में भाग ले सकते थे कि दो या अनेक प्रतिद्वन्द्वी अभिजनों में से किसी एक को चुन लेने का उन्हें अधिकार था। कार्ल मैनहाइम (1893-1947) की, जिसने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में अभिजन सिद्धान्तों को फासीवाद और बुद्धिवाद के विरोध के साथ सम्बद्ध किया था, अभिजन सिद्धान्त को जनतन्त्र के साथ समायोजित करने में बहुत बड़ी भूमिका रही। उसने लिखा, "नीति-निर्माण का वास्तविक काम अभिजनों के हाथों में रहता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस प्रकार का समाज लोकतान्त्रिक नहीं है। लोकतन्त्र के लिए यह पर्याप्त है कि यद्यपि नागरिकों को प्रशासन के कामों में प्रत्यक्ष

[23]इन परस्पर-विरोधी दिखायी देने वाले दृष्टिकोणों की विस्तृत विवेचना के लिए देखिए जॉन डी० मे, 'डेमोक्रेसी ऑर्गेनाइजेशन,' मिचेल्स, काउन्टन, जू०, और हार्ट द्वारा सम्पादित, पी० उ०, पृ० 227-43।

भाग लेने से सदा ही रोका जाता है, उनके सामने कुछ अवसरों पर अपनी आकाक्षाओ को प्रभावपूर्ण बनाने की कम से कम सम्भावना तो रहती है . . . लोकतन्त्र मे शासित वर्ग के लिए यह सदा ही सम्भव रहता है कि वे अपने नेताओ को हटा सकें अथवा उन्हे ऐसे निर्णय लेने के लिए विवश कर सकें जो बहु-सख्यक वर्ग के हितो मे हो।"[24] मैनहाइम यह मानने लगा था कि पैरेटो की यह बात ठीक थी कि राजनीतिक शक्ति सदा ही अल्प-सख्यको (अभिजन) के हाथ मे रहती है, और मिचेल्स की यह मान्यता भी ठीक थी कि दलीय सगठनो की अनिवार्य प्रवृत्ति यह होती है कि उनका नियन्त्रण एक छोटे से वर्ग के हाथ मे आ जाता है, और अपनी बाद की रचनाओ मे उसने अपना यह दृष्टिकोण प्रतिपादित किया कि राजनीतिक अभिजन सिद्धान्त और लोकतन्त्र मे किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नही था। एक सर्वाधिकारवादी व्यवस्था मे और लोकतन्त्र मे अन्तर यह था कि, जबकि सर्वाधिकारवादी व्यवस्था मे अल्प-सख्यक वर्ग स्वेच्छाचारिता के आधार पर शासन करता है, लोकतन्त्र मे बहु-सख्यक वर्ग के द्वारा उसे हटाया जा सकता है, अथवा उसके हितो मे निर्णय लेने के लिए विवश किया जा सकता है। मैनहाइम की दृष्टि मे दोनो व्यवस्थाओ की प्रकृति मे अन्तर होने का मूल कारण यह था कि लोकतान्त्रिक अभिजनों की जड़ें जनसाधारण मे होती है, उनके चुनाव की पद्धति भिन्न होती है, और समाज मे अपनी भूमिका के सम्बन्ध मे उनका दृष्टिकोण भी भिन्न होता है।[25]

लोकतन्त्र के सम्बन्ध मे एक बिलकुल ही नया विचार शुम्पीटर (1883-1950) ने दिया, जिसका बहुत अधिक प्रभाव पश्चिमी देशो के लोकतन्त्र सम्बन्धी आधुनिक दृष्टिकोणो पर पड़ा। वह मानता था कि लोकतन्त्र का विकास पूजीवाद अर्थव्यवस्था के साथ हुआ, उन दोनो का कार्य-कारण का सम्बन्ध है और इस कारण उसे इसी सन्दर्भ मे ठीक से समझा जा सकता है।[26] उसकी दृष्टि मे अधिक से अधिक मतो को प्राप्त करने का राजनीतिज्ञो का प्रयत्न वैसा ही था जैसा तेल के व्यापारी का अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने का। शुम्पीटर ने इसे 'लोकतन्त्र का एक दूसरा सिद्धान्त' कहा है, शायद इसलिये कि वह इसमे और लोकतन्त्र की शास्त्रीय सकल्पना मे भेद करना चाहता था, अन्य अर्थशास्त्रियों ने इसे 'लोकतन्त्र के आर्थिक सिद्धान्त' का नाम दिया है। एन्थनी डाउन्स लिखता है, "लोकतान्त्रिक राजनीति मे राजनीतिक दलो का वही स्थान है जो अर्थव्यवस्था मे आर्थिक लाभ की खोज मे सलग्न उद्योगपतियो का। जिस प्रकार व्यापारी उद्योगपति उन्ही पदार्थों का अधिक उत्पादन करते हैं जिनसे उन्हे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने की आशा होती है, उसी प्रकार राजनीतिक दल भी उन्ही नीतियो का प्रतिपादन करते है जिनके आधार पर उन्हे अधिक से अधिक मत प्राप्त

[24] कार्ल मैनहाइम, आइडियोलोजी एण्ड यूटोपिया, एन इन्ट्रोडक्शन टु दी सोशियोलोजी ऑफ नोलेज,' लुइ वर्थ और एडवर्ड शील्स द्वारा अनुवादित, हार्पर एण्ड ब्रदर्स, 1936, पृ० 119।

[25] कार्ल मैनहाइम, एसेज ऑन दी सोशियोलोजी ऑफ कल्चर', लन्दन, रूटलेज एण्ड कीगन पौल, 1956।

[26] जे० ए० शुम्पीटर, 'कैपिटेलिज्म, सोशियलिज्म एण्ड डेमोक्रेसी,' न्यूयार्क, हार्पर एण्ड रो, 1950 पृ० 285।

करने की आशा होती है।"[27] मनुष्यों के विभिन्न समूह जिस आधार पर जन-साधारण का समर्थन करने के लिए भिन्न-भिन्न साधनों का प्रयोग करते हैं, उसी आधार पर विभिन्न राजनीतिक दलों का निर्माण होता है, और वे एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्द्धा में जुट पड़ते हैं। इसका परिणाम लोकतान्त्रिक समाजों में अभिजनों की बहुलता और नियन्त्रण और सन्तुलन की एक विशेष प्रकार की व्यवस्था के रूप में प्रकट होता है, और इसी कारण ऐसे समाजों को बहुलवादी समाज कहा गया है। पेशेवर और राजनीतिक दोनों ही प्रकार के अनेक संगठन बन जाते हैं, और प्रशासन उनके बीच किये जाने वाले समझौतों के आधार पर ही चल पाता है। रेमण्ड एरन ने भी इस बात पर जोर दिया है कि अभिजनों की बहुलता, जिसमें उत्पादन के साधनों के स्वामियों और मजदूर संघों के नेताओं के बीच सार्वजनिक संघर्ष का शोरगुल सुनायी देता है, और जहां सभी व्यक्तियों को संगठन बनाने की स्वतन्त्रता और प्रत्येक संगठन को अपने हितों की रक्षा करने का अधिकार रहता है, लोकतान्त्रिक समाजों और अन्य प्रकार के समाजों के बीच का मुख्य अन्तर है।[28]

यदि गहराई से देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकतन्त्र के सिद्धान्त को राजनीतिक अभिजन सिद्धान्त के साथ संयोजित करने का प्रयत्न लोकतन्त्र की कल्पना को ही एक विकृत रूप दे देना है। लोकतन्त्र के सम्बन्ध में पैरेटो और मोस्का, मिचेल्स और मैनहाइम, अथवा शुम्पीटर और डाउन्स, कुछ भी क्यों न कहें, लोकतन्त्र का अर्थ उसके शास्त्रीय स्वरूप में यह रहा है कि वह एक ऐसी अनवरत प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत राजनीतिक अधिकारों और सामाजिक नीतियों के निर्णयों को प्रभावित करने की शक्ति धीरे-धीरे समाज के उन सभी वर्गों को प्राप्त होती चली जाती है जो पहले उससे वंचित थे। दूसरे शब्दों में, लोकतन्त्र कुलीन और धनी वर्गों के प्रभुत्व के विरुद्ध समाज के निम्न वर्गों का एक राजनीतिक आन्दोलन है। बीसवीं शताब्दी के सिद्धान्तवादियों ने मनमाने ढंग से लोकतन्त्र का अर्थ 'एक ऐसी दैनिक राजनीतिक व्यवस्था से लगाया है जिसमें अभिजनों को समय-समय पर होने वाले चुनावों के द्वारा अपने शासन की वैधता को बनाये रखने की जनसाधारण की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है। यदि हम लोकतन्त्र की शास्त्रीय व्याख्या को लें तो हमें मानना पड़ेगा कि संगठित राजनीतिक दलों अथवा व्यवस्थित अभिजन समूहों का अस्तित्व जनतान्त्रिक व्यवस्था के लिए न तो आवश्यक है और न पर्याप्त। एक अच्छे लोकतान्त्रिक राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह धीरे-धीरे एक वर्गहीन समाज के लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करे और यदि सामाजिक वर्गों को समाप्त कर दिया जाता है तो राजनीतिक दलों के संगठन का आधार ही गिर जाता है। कार्ल मैनहाइम का यह विचार कि किसी राजनीतिक व्यवस्था में नागरिकों के लिए यह सम्भावना मात्र कि वे "कुछ निश्चित अवसरों पर अपनी आकांक्षाओं का

[27] एन्थनी डाउन्स, 'एन इकॉनामिक थियरी ऑफ डेमोक्रेसी,' हार्पर एण्ड रो, 1957, पृ० 295-96।
[28] रेमण्ड एरन, 'सोशल स्ट्रक्चर एण्ड दि रूलिंग क्लास", ब्रिटिश जर्नल ऑफ सोशियोलौजी, खण्ड 1, मार्च 1950, पृ०, 10।

प्रभाव उस पर डाल सकते है" उसे लोकतान्त्रिक मानने के लिए पर्याप्त है सही नही है। शूम्पीटर, एरन और कुछ अन्य लेखको ने लोकतन्त्र को सफलता से चलाने के लिए लोकतान्त्रिक आत्म-नियन्त्रण जैसी कुछ शर्तों का उल्लेख किया है। परन्तु ये शर्तें अधिकाश पाश्चात्य लोकतन्त्रो मे से भी अनेक मे पूरी नही होती। पाश्चात्य लोकतन्त्रो मे शासक वर्ग आज भी समाज के परम्परागत ऊचे वर्गों मे से ही आता है। अरस्तू का सकेत इसी ओर था जब उसने लिखा, "जन्म से ही कुछ लोग गुलामी के लिए और कुछ शासन के लिए, निर्दिष्ट होते हैं।" राजनीतिक अभिजनो के सिद्धान्त को आत्मसात् करने के इस प्रयत्न मे, जान पडता है, आधुनिक लोकतन्त्र समाज के दो वर्गों के बीच के मूल सघर्ष को भुलाने का प्रयत्न कर रहा है। लोकतन्त्र को यदि हम उसके वास्तविक रूप मे समझना चाहे तो यह आवश्यक हो जाता है कि उसमे नागरिको के बीच धन और आमदनी का न्यायोचित वितरण हो, सभी को शिक्षा के समान अवसर मिलें, और शासक वर्ग का जीवन-स्तर सादगी की ओर झुका हुआ हो। सच तो यह है कि समाजवाद की दिशा मे आगे बढना लोकतन्त्र की पूर्णता के लिए नितान्त आवश्यक है।

अभिजन सिद्धान्त और समाजवादी समाज

कुछ लेखको ने यह बताने की चेष्टा की है कि वर्गहीन समाजवादी समाज मे भी सत्ता वास्तव मे थोडे से लोगो के हाथो मे ही होती है। वही वास्तव मे उसके औद्योगिक सस्थानो को चलाते हैं, उसकी सेना का सचालन करते है, यह निर्णय करते है कि राष्ट्रीय साधनो का किस प्रकार उपयोग किया जाय, और पारिश्रमिक की दरें निश्चित करते हैं। एरन ने साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्थाओ के सन्दर्भ मे लिखा है, "लोकतान्त्रिक समाज के राजनीतिक शासको की तुलना इस अल्प-सख्यक वर्ग के हाथो मे कही अधिक शक्ति है, क्योकि उनके हाथों मे राजनीतिक और आर्थिक शक्तिया केन्द्रित है . . . राजनीतिक, श्रमिक सघो के नेता, सार्वजनिक अधिकारी, सेनाध्यक्ष और व्यवस्थापक, सब एक ही राजनीतिक दल के सदस्य और एक सर्वाधिकारवादी सगठन के अग होते हैं। इस सगठित अभिजन वर्ग के हाथो मे सम्पूर्ण और असीमित शक्ति होती है। बीच की सभी सस्थाए, व्यक्तियो के सभी समूह, और विशेषकर व्यावसायिक समूह, अभिजन वर्ग के इन सदस्यो के द्वारा जिन्हें आप चाहे तो राज्य के प्रतिनिधि का नाम दे सकते हैं, नियन्त्रित किये जाते हैं . . । एक वर्गहीन समाज मे जनसाधारण के पास अभिजन वर्ग से अपनी रक्षा का कोई भी साधन शेष नही रह जाता।"[29] एरन की दृष्टि मे शक्ति-सम्पन्न अभिजनों के द्वारा विचारधारा के एकाधिकार को अपने हाथों में सुरक्षित रखना इस प्रकार की व्यवस्था मे अन्तर्निहित है और उसे समस्त आर्थिक व राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीकरण से और उस केन्द्रीकरण को समस्त समष्टिवादी अर्थनीति की योजना-बद्धता से भिन्न नहीं किया जा सकता।[30] अन्य

[29] वही, खण्ड 1, स० 2, जून 1950, पृ० 131।
[30] वही, पृ० 131-32।

लेखकों ने भी—जिनमें मैक्स वेबर और मिलोवान जिलास ने दल की तानाशाही, और थॉर्सटाइन वेबलेन और जेम्स बर्नहम ने 'प्रबन्धकीय क्रान्ति' (managerial revolution) के सन्दर्भ में लिखा—यह बताने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार समाजवाद की स्थापना का एकमात्र परिणाम यह हुआ है कि इन देशों में सार-शक्ति एक अभिजन वर्ग के हाथों में केन्द्रित हो गयी है। इस प्रकार के इल्जाम बड़े धार्मिक जोश के साथ लगाये गये हैं, इस कारण यह आवश्यक हो जाता है कि थोड़ा गहराई में जाकर उनका परीक्षण किया जाय।

मैक्स वेबर पहला व्यक्ति था जिसने कार्ल मार्क्स के विचारों के विरुद्ध अपनी रचनाओं में यह बताने का प्रयत्न किया था कि नौकरशाही केवल पूंजीवादी देशों में ही नहीं बल्कि साम्यवादी देशों में भी गतिशील होती है। मार्क्स के इस तर्क के उत्तर में कि आधुनिक समाजों में उत्पादन के साधनों के एक छोटे पूंजीवादी वर्ग के हाथों में केन्द्रित होने की प्रवृत्ति पायी जाती है, वेबर ने यह बताया था कि साम्यवादी देशों में प्रशासन के साधनों के नौकरशाही के एक छोटे वर्ग के हाथों में केन्द्रित होते जाने की इसी प्रकार की प्रवृत्ति पायी जाती है।[31] वेबर का विश्वास था कि न तो लोकतान्त्रिक व्यवस्था में और न साम्यवादी व्यवस्था में ही राजनीतिक अधिकारियों के लिए नौकरशाही की शक्ति को नियन्त्रित रख पाना सम्भव हो जाता है। मिलोवान जिलास ने वेबर के इन विचारों की व्याख्या साम्यवादी व्यवस्था के सन्दर्भ में की।[32] जिलास ने सामान्य नौकरशाही में और 'अफसरों के विशेष वर्ग में' जो प्रशासनिक अधिकारी तो नहीं होते परन्तु नौकरशाही के प्राण (अथवा एक नया वर्ग) होते हैं, में भेद किया है। जिलास ने उसे एक दल अथवा राजनीतिक नौकरशाही का नाम दिया है, और उनकी व्याख्या इन शब्दों में की है कि "यह एक नया वर्ग (new class) है जिसमें वे लोग सम्मिलित हैं जिनके पास, उनके प्रशासनिक एकाधिकार के कारण, विशेष अधिकार और आर्थिक अधिमान्यताएं हैं।" यह वर्ग राजनीतिक दल का उपयोग एक आधार के रूप में करता है और "समय के साथ यह वर्ग अधिक शक्तिशाली बनता जाता है जबकि राजनीतिक दल अधिक कमजोर होता जाता है।" यह स्पष्ट है कि जिलास राजनीतिक नेतृत्व को नौकरशाही का एक वर्ग मान रहा था, जो स्पष्टतः गलत था। जैसा बॉटोमोर ने लिखा है, राजनीतिक नेता राजनीतिक योग्यता के आधार पर अपने दल में ऊंचे स्थान प्राप्त करते हैं न कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सिद्धान्तों में परीक्षाएं पास करके। उनके पास जो शक्ति होती है वह राजनीतिक शक्ति है न कि नौकरशाही की शक्ति। जिलास का यह विचार भी कि राजनीतिक दल कमजोर होता जाता है किसी भी ऐसे देश के साम्यवादी दल के इतिहास से, जहां उसके हाथ में सत्ता आयी हो, सही प्रमाणित नहीं होता। अन्त में, यह मानना भी गलत होगा कि साम्यवादी देशों में राजनीतिक दल की शक्ति का आधार उनके द्वारा

[31]मैक्स वेबर, "पॉलिटिक्स एज ए वोकेशन", एच० एच० गर्थ और सी० राइट मिल्स द्वारा सम्पादित, 'फ्रॉम मैक्स वेबर,' लन्दन केगन पॉल, 1947 में।

[32]मिलोवान जिलास, 'दि न्यू क्लास,' लन्दन, टेम्स एण्ड हडसन, 1957।

उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण है, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण उनके हाथों में इस कारण है कि राजनीतिक शक्ति उनके पास है।[33] यह तो मानना पड़ेगा कि रूस और अन्य साम्यवादी देशों में राज्य के ऊंचे अधिकारी प्रभावशाली हैं, परन्तु उन्हें ही शासक वर्ग मान लेना गलत होगा।

साम्यवादी देशों में 'प्रबन्धकीय क्रान्ति' के परिणामस्वरूप सारी सत्ता प्रबन्धकों के हाथ में आ गयी, इस सिद्धान्त की चर्चा में सबसे पहले वेबलेन का नाम आता है। वेबलेन मार्क्स से इस बात में तो सहमत था कि उत्पादन की व्यवस्था के रूप में पूंजीवाद का ह्रास अनिवार्य है परन्तु इस बात में सहमत नहीं था कि उसके बाद मजदूर वर्ग का शासन स्थापित हो सकेगा और अन्ततः एक वर्गहीन समाज का उदय होगा। इसके विपरीत, वेबलेन की यह मान्यता थी कि 'अभियन्ता', अथवा तकनीकी विशेषज्ञ, जो परिस्थितियों के कारण समाज के आर्थिक कल्याण के रक्षक बन जाते हैं, वर्ग चेतना का प्रादुर्भाव होते ही पूंजीपतियों को हटा कर समाज के आर्थिक कल्याण का नेतृत्व अपने हाथों में ले लेंगे।[34] इस प्रकार के सिद्धान्त का, जिसे प्रायः 'प्रबन्धकीय क्रान्ति' का नाम दिया गया है, पूरा विकास जेम्स बर्नहम ने किया। वेबलेन के द्वारा सुझाये गये तर्कों के आधार पर, परन्तु विस्तार की बातों में उससे थोड़ा भिन्न मत रखते हुए, बर्नहम ने यह विचार व्यक्त किया कि पूंजीवादी समाज की समाप्ति के बाद जो व्यवस्था जन्म लेगी वह न तो मजदूर वर्ग की क्रान्ति होगी और न सर्वहारा की तानाशाही, बल्कि एक 'प्रबन्धकीय क्रान्ति' होगी और उसके फलस्वरूप एक प्रबन्धकीय समाज का निर्माण होगा। बर्नहम का कहना है कि 1917 की क्रान्ति रूस में समाजवादी समाज की स्थापना में सफल नहीं हुई और अधिकांश अन्य प्रगतिशील औद्योगिक देशों में भी, जहां इस प्रकार की क्रान्ति लाने का प्रयत्न किया गया, वे असफल रहीं। साम्यवादी देशों में, बर्नहम के अनुसार, जिन प्रबन्धकों के हाथ में सत्ता आयी वे एक ओर तो वैज्ञानिक और तकनीकी व्यक्ति थे और दूसरी ओर उत्पादन की प्रक्रिया के निदेशक और संयोजक। इस दूसरे वर्ग के लोगों को उसने (वेबलेन के द्वारा निर्देशित 'अभियन्ताओं' को नहीं) वास्तविक माना है, चाहे उनमें से अनेक के पास वैज्ञानिक और तकनीकी योग्यता भी रही हो। बर्नहम का कहना है कि आज के औद्योगिक समाजों में उद्योग के स्वामित्व और नियन्त्रण के बीच एक गहरा विभाजन दिखायी देता है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि, उद्योग का स्वामित्व चाहे पूंजीपतियों के हाथ में रहा हो, उसका नियन्त्रण धीरे-धीरे प्रबन्धकों के हाथ में जा रहा है। बर्नहम के अनुसार, प्रबन्धक न केवल एक विशिष्ट सामाजिक समूह के रूप में उभरे हैं परन्तु शक्ति के संघर्ष में जैसे-जैसे अपने हितों के प्रति उनकी सतर्कता बढ़ी है वे एक शाश्वत समूह का रूप लेते जा रहे हैं।[35]

[33] टी० बी० बोटोमोर, पी० उ०, पृ० 84।
[34] थोर्स्टाइन वेबलेन, 'दि इंजीनियर्स एण्ड दि प्राइस सिस्टम, न्यूयार्क,' दि वाइकिंग प्रेस, 1921, पृ० 74।
[35] जेम्स बर्नहम, 'दि मैनेजीरियल रिवोल्यूशन,' लन्दन, पुटनम एण्ड कम्पनी, 1943।

शक्ति अभिजन बनाम शासक वर्ग

रूस की साम्यवादी क्रान्ति के प्रबन्धकीय क्रान्ति में परिवर्तित हो जाने के सम्बन्ध में वेबलेन और बर्नहम के तर्क उतने ही अविश्वसनीय प्रमाणित होते हैं जितनी मैक्स वेबर और जिलास की यह धारणा कि रूस में नौकरशाही ने सत्ता पर अधिकार कर लिया है। साम्यवादी दल में दूसरी कमियां हो सकती हैं परन्तु, विचारधारा में कट्टर और व्यवहार में स्वेच्छाचारी होते हुए भी, उसका नेतृत्व निःसन्देह शक्ति-अभिजन की, मोस्का से लासवेल तक अनेक लेखकों की परिभाषा में दी गयी भूमिका को निभाता हुआ नहीं पाया जाता। सी० राइट मिल्स ने, इस वाद-विवाद में प्रवेश न करते हुए कि साम्यवादी देशों में अभिजन सिद्धान्त खरा उतरता है अथवा नहीं, पश्चिमी समाजों में समानान्तर स्थितियों का उल्लेख किया है और यह प्रमाणित करना चाहा है कि यह सिद्धान्त कम से कम वहां सही सिद्ध हुआ है। मिल्स ने इस विचार को गलत ठहराते हुए कि आधुनिक औद्योगिक समाजों विशेषकर अमरीका में, प्रभुत्व और नियन्त्रण में किसी प्रकार का विभाजन है, लिखा है, "उद्योगों के प्रमुख संचालक और समाज का अत्यधिक समृद्ध वर्ग दो भिन्न सामाजिक समूह नहीं है, जिन्हें एक दूसरे से स्पष्ट रूप में अलग किया जा सके। सम्पत्ति और सुविधाओं की दुनिया में वे एक-दूसरे के साथ घुल-मिल गये हैं...।"[36] उसने आंकड़ों की सहायता से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि प्रमुख अधिशासियों, अथवा प्रबन्धकों की नियुक्ति समाज के उन्हीं उच्चतम और उच्चतर मध्यम वर्गों में से होती है जिनमें से उद्योगपतियों का उद्भव होता है। इस सामग्री के आधार पर मिल्स ने यह स्थापित करने का प्रयत्न किया कि उच्च प्रबन्धक और उद्योगपति दोनों एक ठोस सामाजिक समूह के रूप में एक दूसरे के साथ सम्बद्ध हैं, और इस वर्ग को मिल्स ने शक्ति अभिजन (power elite) का नाम दिया है।

अन्य लेखकों, विशेषकर कार्ल जे० फ्राईड्रिश ने इस विचार को ही चुनौती दी है कि शासक वर्ग के लिए एक संसक्त वर्ग का रूप लेना सम्भव हो सकता है।[37] इस सम्बन्ध में इंगलैण्ड में किये गये एक दूसरे अध्ययन से ही यह स्पष्ट होता है कि, "शासकों को हम एक सीमित और संगठित वर्ग का सदस्य नहीं मान सकते। वे लोक-व्यवस्था के केन्द्र उतने नहीं हैं जितना अन्तर्ग्रथित वृत्तों के समूह का एक भाग, जिनमें से प्रत्येक अधिकांशत: अपने-अपने व्यवसायों और विशेष कार्यों में लगा होता है और कभी-कभी किसी एक छोर पर वे एक-दूसरे का संस्पर्श करते हैं ... वे एक प्रतिष्ठान नहीं बल्कि प्रतिष्ठानों का एक पुंज हैं, जिनमें आपस में बहुत कम सम्बन्ध होता है, विभिन्न वृत्तों में संघर्ष और सन्तुलन के आधार पर ही लोकतन्त्र का सारा ढांचा टिका हुआ है। कोई भी एक व्यक्ति केन्द्र नहीं है, बल्कि वास्तव में कोई केन्द्र है ही नहीं।"[38] अभिजन सिद्धान्त के प्रतिपादक

[36]सी० राइट मिल्स, 'दि पॉवर एलीट,' न्यूयार्क, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1956, पृ० 119।

[37]कार्ल जे फ्राईड्रिश, 'दि न्यू इमेज ऑफ दी कोमन मैन,' बोस्टन, बीकन प्रेस, द्वितीय संस्करण, 1950, पृ० 259-60।

[38]एन्थनी सैम्पसन, 'एनाटोमी ऑफ ब्रिटेन,' लन्दन, होडर एण्ड स्टाउटन, 1962, पृ० 624।

यह स्थापित करने में सर्वथा असफल रहे हैं कि प्रकृति का कोई ऐसा नियम है जिसके अनुसार, समाजवादी अथवा लोकतान्त्रिक, किसी भी प्रकार की व्यवस्था से यह अनिवार्य हो जाता है कि एक सशक्त अभिजन वर्ग अपने हाथों में समस्त शक्ति, सत्ता और नियन्त्रण केन्द्रित करने में सफल हो जाय। अभिजन वर्ग का सारा सिद्धान्त मार्क्स के शासक-वर्ग के सिद्धान्त के प्रतिरोध में खड़ा किया गया था, परन्तु उस सिद्धान्त को वह गलत सिद्ध नहीं कर सका है।

अब हम मार्क्स के शासक वर्ग के सिद्धान्त पर दृष्टि डालें, और यह जानने का प्रयत्न करें कि अभिजन सिद्धान्त उससे किस प्रकार श्रेष्ठ है। मार्क्स की मान्यता थी कि (1) प्रत्येक समाज में दो वर्ग होते हैं, (अ) शासक-वर्ग और एक अथवा अधिक शासित वर्ग, (2) शासक वर्ग, आर्थिक उत्पादन के प्रमुख उपकरणों पर अपने अधिकार के कारण राजनीतिक प्रभुत्व का उपभोग भी करता है, (3) शासक वर्गों और शासित वर्ग अथवा वर्गों के बीच एक चिरस्थायी संघर्ष चलता रहता है जिसकी प्रकृति और दिशा पर तकनीक में होने वाले परिवर्तनों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है, (4) वर्ग-संघर्ष उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है जब एक ओर सम्पत्ति के और दूसरी ओर गरीबी के अत्यधिक केन्द्रीकरण के कारण, और मध्यवर्गीय सामाजिक स्तरों के धीरे-धीरे लुप्त हो जाने के परिणामस्वरूप, सारा समाज दो कट्टर और विरोधी वर्गों के रूप में एक-दूसरे के सामने खड़ा होता है, और (5) पूंजीवादी समाज के बीच के इस वर्ग-संघर्ष का अन्त केवल मजदूर वर्ग की विजय में ही सम्भव है, और उसके बाद एक वर्गहीन समाज का उद्भव होता है।

सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण के संदर्भ में मार्क्स द्वारा विकसित शासक वर्ग के इस सिद्धान्त के निहित स्वार्थों का कटु आलोचक होने के कारण यह स्वाभाविक था कि विभिन्न दिशाओं में उसकी आलोचना की जाती और उन आलोचकों में शायद शक्ति-अभिजन सिद्धान्त के प्रतिपादक सबसे अधिक प्रमुख हैं। इसमें से अधिकतर आलोचनाओं, उदाहरण के लिए मोस्का और पैरेटो की आलोचना, का आधार तो यह था कि इतिहास की भौतिकवादी व्यवस्था के सम्बन्ध में मार्क्स के द्वारा दिये गये विकृत रूप पर आधारित होने के कारण यह एक ऐसा एक-कारण प्रधान (mono-causal) सिद्धान्त था जो ऐतिहासिक परिवर्तनों की जटिलता की ठीक से व्यवस्था नहीं कर सकता था, जबकि तथ्य यह है कि मार्क्स ने कभी भी यह नहीं कहा था कि आर्थिक तत्त्व ही परिवर्तन का एकमात्र कारण होते हैं। अन्य लेखकों, विशेषकर शूम्पीटर और वेबर, ने आलोचना का एक विभिन्न आधार चुना। उन्होंने विस्तार से यह समझाने का प्रयत्न किया कि सामाजिक परिवर्तन प्राय: गैर-आर्थिक तत्त्वों के परिणामस्वरूप भी हुआ है, परन्तु उन्होंने मार्क्स के *सिद्धान्त के केन्द्र-बिन्दु पर ध्यान नहीं दिया। मैक्स वेबर ने यूरोप में* सामन्तवाद और पूंजीवाद के विकास में प्रोटेस्टेंट नीतिवाद की भूमिका को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना है। परन्तु यह स्थापित करने में कि उसकी अपने आप में एक स्वतन्त्र भूमिका थी, वह सफल नहीं हुआ है, और न मार्क्स की इस स्थापना को अस्वीकृत ही

कर सका है कि उसमें आर्थिक कारणों का महत्वपूर्ण योगदान था।[39]

यह सच है कि इतिहास ने मार्क्सवादी सिद्धान्त का पूर्ण रूप से समर्थन भी नहीं किया है। मार्क्स का यह विचार कि पूंजीपति वर्ग धीरे-धीरे एक शासक वर्ग के रूप में अपने को सुदृढ़ बना लेगा सत्य नहीं हुआ है। सामन्तशाही की तुलना में आज का पूंजीपति वर्ग शासक वर्ग के रूप में कहीं कम सशक्त है। सैनिक, राजनीतिक और आर्थिक शक्ति एक साथ एक ही वर्ग के लोगों के हाथों में कहीं भी केन्द्रित दिखायी नहीं देती, और विभिन्न आन्तरिक समूहों के समय-समय पर एक दूसरे के साथ संघर्ष की स्थिति में आ जाने की सम्भावना भी प्रायः बनी रहती है। मार्क्स ने यह कल्पना की थी कि पूंजीवादी समाज धीरे-धीरे दो पारस्परिक विरोधी वर्गों में विभाजित हो जायेगा, परन्तु उसके स्थान पर आज हम देखते हैं कि कुछ नये मध्यम वर्ग उभर कर सामने आये हैं और उनकी शक्ति धीरे-धीरे बढ़ती गयी है। इसका कारण यह रहा है कि मार्क्स ने एक सर्वव्यापी वयस्क मताधिकार के परिणामों के सम्बन्ध में गहराई से नहीं सोचा था और यद्यपि उसने उसे एक क्रान्तिकारी कदम के रूप में देखा था और अपना यह विचार भी प्रकट किया था कि कुछ देशों में सत्ता, वयस्क मताधिकार के माध्यम से, मजदूर वर्ग के हाथों में सौंपी जा सकती है। अपने सामान्य सिद्धान्त की विवेचना में उसने इस पर अधिक ध्यान नहीं दिया था। आज भी हम देखते हैं कि, यद्यपि एक ओर समाज में नये मध्यम वर्गों का अस्तित्व एक यथार्थता है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि लोकतान्त्रिक देशों में मजदूर वर्गों के हाथों में सत्ता का हस्तान्तरण शान्तिपूर्ण उपायों के द्वारा सम्भव हो सकेगा।[40] परन्तु इस तथ्य से तो इन्कार किया ही नहीं जा सकता कि वयस्क मताधिकार के आ जाने से शासक वर्ग के लिये यह आवश्यक हो गया है कि वह समय-समय पर जनता के साथ सम्पर्क स्थापित करे और उससे सहयोग की मांग करे और इसका परिणाम यह हुआ है कि राजनीतिक नियन्त्रण, पहले की तुलना में अधिक उदार और कम दमनात्मक बना है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण की इन कमजोरियों को स्वीकार करते हुए भी शक्ति-अभिजन सिद्धान्त को सामाजिक परिवर्तन का एक सन्तोषजनक विश्लेषण मानने में बहुत बड़ी कठिनाइयां हैं। मार्क्स का समस्त आग्रह इस बात पर था कि जिन दो वर्गों में समाज विभाजित हो गया है उनके बीच एक अनवरत संघर्ष का सम्बन्ध है और उसका समा-

[39] मैक्स वेबर, 'दि प्रोटेस्टेंट एथिक एण्ड दी स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज़्म, टैलकोट पार्संन्स द्वारा अनुवादित, चार्ल्स स्क्रिबनर्स सन्स, 1958।

[40] जॉन स्ट्रैची अपनी खोजों के आधार पर तथा अन्य विद्वानों के द्वारा किये गये अध्ययनों की सहायता से—उदाहरण के लिए, डगलस जे, 'दि सोशलिस्ट केस,' और डडले सीयर्स, 'दि लेवेलिंग ऑफ इनकम सिन्स 1938' और 'हैज दि डिस्ट्रीब्यूशन इनकम बिकम मोर ईक्वल?' कॉन्टेम्पेरेरी कैपिटलिज़्म' नाम की अपनी पुस्तक, लन्दन, गौलांज, 1956 में इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि ब्रिटेन में उच्च वर्गों ने अपने आर्थिक हितों पर किये जाने वाले प्रहारों का सफलतापूर्वक प्रतिकार किया है। अन्य लोकतान्त्रिक देशों—उदाहरण के लिए, स्कैंडिनेवियायी देशों का अनुभव भी इसी दिशा की ओर संकेत करता है। लोकतान्त्रिक देशों में, वास्तव में, उच्च वर्गों की शक्ति में उतना ह्रास नहीं हुआ है जितना श्रमिक वर्गों की उग्र मनोवृत्ति में।

औद्योगिक समाजों में ही महत्त्व रखते हैं, चर्चा नहीं करते परन्तु बुद्धिजीवी व्यक्तियों की भूमिका की बहुत चर्चा करते हैं। बुद्धिजीवी कौन हैं? साधारणतः यह माना जाता है कि प्रत्येक समाज में व्यक्तियों के छोटे समूह होते हैं जो विचारों के सृजन, सम्प्रेषण और विवेचन में लगे रहते हैं और जिनमें लेखक, कलाकार, वैज्ञानिक और सामाजिक कार्यकर्त्ता सम्मिलित किये जा सकते हैं। इन्हें बुद्धिजीवी नाम दिया जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी समाजों में और इतिहास के सभी युगों में बुद्धिजीवियों का एक ऐसा वर्ग पाया जाता रहा है; चीन में शिक्षितों का समाज में बड़ा आदर था और भारत में ब्राह्मणों का। आधुनिक समय में बुद्धिजीवी प्रायः उन विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध रहे हैं जो मध्यकालीन यूरोप, विशेषकर फ्रांस में स्थापित किये गये थे और जिनकी प्रबुद्ध विचारों के प्रसारण में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। बुद्धिजीवियों की, इतिहास में, सामाजिक आलोचकों और क्रान्तिकारी आन्दोलनों के प्रणेताओं की भूमिका रही है। उन लेखकों ने भी जिनका दृष्टिकोण सदा अनास्था का रहा है, बुद्धिजीवियों की भूमिका के महत्त्व को स्वीकार किया है और उसकी प्रशंसा की है। मोस्का ने बुद्धिजीवियों को लगभग स्वतन्त्र व्यक्तियों का एक ऐसा समूह माना है जो बूर्जवा और सर्वहारा वर्गों के बीच में स्थित है, और उसकी मान्यता यह थी कि यदि समाज में कोई ऐसा वर्ग है जिसमें, कम से कम कुछ समय के लिए अपने व्यक्तिगत हितों को अलग रखते हुए निर्लिप्त भाव से समाज के व्यापक हितों को देखने की क्षमता हो सकती है तो वह यह वर्ग है। अर्वाचीन समाजशास्त्रियों में कार्ल मैनहाइम ने सामाजिक दृष्टि से अप्रतिबद्ध बुद्धिजीवियों को समाज का एक ऐसा समूह माना है जो तुलनात्मक रूप में समाज का एक वर्गहीन स्तर है, जिसकी जड़ें अधिकाधिक रूप में सामाजिक जीवन के एक विशेष क्षेत्र में पायी जाती है, जो शिक्षा के द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और जो (सामाजिक जीवन के प्रतीक सभी व्यापक हितों का) प्रतिनिधित्व करता है।[41] इस प्रकार का गठन होने के कारण, बुद्धिजीवियों से यह आशा की जा सकती थी कि वे समाज के सम्बन्ध में, तुलनात्मक दृष्टि से, समग्र और वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण का विकास करेंगे और अधिक व्यापक सामाजिक हितों को बढ़ाने में स्वतन्त्रता के साथ काम कर सकेंगे। बुद्धिजीवियों के सम्बन्ध में दिये गये इन विवरणों में कुछ सच्चाई होते हुए भी यह कहना आवश्यक है कि विभिन्न देशों में सामाजिक परिवर्तन लाने में बुद्धिजीवियों की विभिन्न प्रकार की भूमिका रही है और प्रायः यह भी देखा गया है कि उनकी भूमिका उनके सामाजिक उद्गम पर अधिक निर्भर रही है, उनके बुद्धिजीवी होने पर कम।

विकासोन्मुख देशों के सन्दर्भ में, जहां बुद्धिजीवियों की सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन लाने में प्रमुख भूमिका निभाने की बात स्वीकार की जाती है, उन्हें निम्न समूहों में बांटा जा सकता है—(1) वंशगत अभिजन, (2) औपनिवेशिक प्रशासक, और (3) राष्ट्रवादी नेता। वंशगत अभिजनों और औपनिवेशिक प्रशासकों को प्रायः ऐसे वातावरण का निर्माण करने का श्रेय दिया जाता है जिसमें प्रभावशाली प्रशासनिक और

[41] कार्ल मैनहाइम, 'आइडियोलॉजी एण्ड यूटोपिया,' पी० उ०, पृ० 136।

न्यायिक संस्थाओं की स्थापना की जा सकी, आधुनिक शिक्षा का विकास किया जा सका, बैंकिंग व्यवस्था और वाणिज्य को प्रोत्साहन दिया जा सका और कुछ उद्योग-धन्धे स्थापित किये जा सके, जिनके परिणामस्वरूप इन देशों का आर्थिक विकास सम्भव हो सका। परन्तु गहराई से देखें तो पता लग सकता है कि इन प्रवृत्तियों में उनकी भूमिका बहुत सीमित रही है। मध्यम वर्ग, जिसमें सरकारी नौकर, वेतन भोगी कर्मचारी और शिक्षा सम्बन्धी व्यवसायों में लगे व्यक्ति आते हैं, और क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों और राष्ट्रवादी नेताओं की कुछ अधिक बड़ी भूमिका रही है। *अधिकांश एशियाई और* अफ्रीकी देशों के राष्ट्रवादी नेताओं ने अपने देशों के अथवा विदेशी विश्वविद्यालयों में पश्चिमी शिक्षा प्राप्त की है, परन्तु उन्हें बुद्धिजीवी अथवा क्रान्तिकारी कहना शायद सही न हो। इसके विपरीत, हम यह देखते हैं कि उनका उत्थान प्रायः परम्परागत पृष्ठभूमि में से हुआ, और इनमें से बहुतों ने, प्रतिक्रियावादी नीतियों का सहारा लेकर, अपने देश की प्रगति को पीछे भी धकेला है।[43] क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी प्रायः उन्हें माना गया है जो मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रभाव में हैं। परन्तु विकासशील देशों में बहुत कम ने विकास के साम्यवादी मार्ग को चुना है, और इसके परिणामस्वरूप अधिकांश क्रान्तिकारी *बुद्धिजीवी शासनेतर अभिजनों अथवा प्रति-अभिजनों में हैं। कई विकासोन्मुख देशों में* समय-समय पर सेनाध्यक्षों ने एक नये अभिजन वर्ग में सत्ता अपने हाथ में लेने का प्रयत्न किया है, परन्तु इस सम्बन्ध में सामान्य अनुभव यही रहा है कि वह अधिक समय तक सत्ता को अपने हाथ में रखने में सफल नहीं हुआ है। सेनाध्यक्षों ने प्रायः जनसाधारण के नाम पर प्रशासन को चलाया है और समय आने पर किसी न किसी प्रकार की प्रतिनिधि सरकार के हाथों में सत्ता सौंप दी है।

बुद्धिजीवियों का यदि हम एक समग्र दृष्टि से अध्ययन करें तो यह मानना पड़ेगा कि उनमें एक निर्दिष्ट वर्ग का निर्माण करने के मूल गुण का अभाव रहा है, और सजातीयता *अथवा संसक्तता की भावना सभी अन्य समूहों की अपेक्षा कम रही है।* विभिन्न देशों में और विभिन्न युगों में उनका गठन, चरित्र और स्वभाव बदलता रहा है। उदाहरण के लिए, अधिकांश अन्य देशों की तुलना में फ्रांस में उनकी भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण रही है। उनके विचारों पर स्वभावतः उन सामाजिक स्थितियों का प्रभाव पड़ा है जिनमें से उनका उद्गम हुआ। प्रारम्भिक वर्षों में उनका सम्बन्ध अधिकतर वामपन्थी आन्दोलनों से रहा। पश्चिमी *योरोपीय देशों और अमरीका के अधिकांश बुद्धिजीवियों का झुकाव* आज दक्षिणपन्थियों की ओर है। उच्च शिक्षा के प्रसार के साथ आज सभी देशों में बुद्धिजीवियों की संख्या बढ़ी है। शक्ति बुद्धिजीवियों की व्यापक कोटि में आने वाले समूहों में से कभी एक समूह के हाथों में रही और कभी दूसरे समूह के। प्रारम्भिक युगों में अधिक महत्त्व उन बुद्धिजीवियों का था जो कला और साहित्य में विशेषज्ञ थे, बाद में

[43]विकासोन्मुख देशों, प्रमुखत भारत, पाकिस्तान, इण्डोनेशिया, घाना और नाइजीरिया, में राजनीतिक प्रक्रियाओं को मूर्त रूप देने में बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिका की एक अच्छी विवेचना के लिए देखिए प्रशाम मगूर, 'प्रोसेस ऑफ इन्डोनेशिया,' लन्दन, रूटलेज एण्ड कीगन पॉल, 1962।

सार, जिन विज्ञानों के विशेषज्ञों ने उनका स्थान ले लिया, और अब, जहां तक शासन पर प्रभाव का प्रश्न है, उसका नेतृत्व प्राकृतिक विज्ञानों के विशेषज्ञों के हाथों में चला गया है। परन्तु बुद्धिजीवी अभिजन वर्ग की ये सारी विशेषताएं उनके एक विशिष्ट संगठित स्वरूप अथवा विचारधारा के विकास के मार्ग में बाधक रही हैं। आज विकसित देशों की तुलना में विकासोन्मुख देशों में उनकी भूमिका निस्सन्देह अधिक महत्त्वपूर्ण है, परन्तु विकासोन्मुख विश्व में भी उन्हें वास्तविक शक्ति अभिजन की कोटि में रखना सत्य नहीं होगा। विकास, अपने व्यापक अर्थों में किसी समूह विशेष का विकास नहीं, सम्पूर्ण समाज के विकास का नाम है।

समूह राजनीति के आधार के रूप में

अभिजन सिद्धान्त के असफल हो जाने के बाद, राजनीतिशास्त्रियों का ध्यान एक ऐसे बहुलवादी प्रारूप की ओर गया जिसमें शक्ति के सम्बन्ध में यह कल्पना की गयी कि वह किसी एक समूह अथवा वर्ग के हाथों में केन्द्रित न होकर बहुत से स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करने वाले ऐसे समूहों में बिखरी हुई पायी जाती है जो एक दूसरे के साथ सत्ता की प्रतिस्पर्द्धा में लगे हुए हैं। 'समूह सिद्धान्त' के नाम से प्रख्यात इस सिद्धान्त की बौद्धिक जड़ें बहुलवाद के उन मतों में पायी जाती हैं जिनका विकास बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अंग्रेज लेखकों —विशेषकर जॉन फिगिस, एफ० डब्ल्यू मेटलैंड और जी० डी० एच० कोल—ने किया था। जिस प्रकार बहुलवादियों के विचार एक ओर व्यष्टि-प्रधान उदारवाद के प्रमुख सिद्धान्तों (जिनका प्रतिपादन लॉक और बैन्थम ने किया था) और दूसरी ओर, आदर्शवादी समाजवाद (जिसके व्याख्याता ग्रीन और बोसांके थे) की प्रतिक्रिया के रूप में सामने आये उसी प्रकार, बाद के वर्षों में, समूह-सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने व्यक्ति के स्थान पर समूह को राजनीति के अध्ययन की मूल इकाई के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न किया। जबकि बहुलवादियों ने समाज के समूह में आधारित होने के सम्बन्ध में कुछ तेजस्वी अन्तर्दृष्टियों का विकास किया था और सामूहिक सम्बद्धताओं और निष्ठाओं को एक बहुविध प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया था, समूह सिद्धान्तवादियों ने इस प्रतिमान में प्रशासन के प्रक्रियात्मक आधार को देखा। समूह सिद्धान्त का उद्गम उस रूप में जिसमें यह आज पाया जाता है, आर्थर एफ० बेन्टले द्वारा लिखी गयी और 1908 में प्रकाशित 'दि प्रोसेस ऑफ गवर्नमेंट' नाम की पुस्तक में हुआ। परन्तु इस सिद्धान्त को बाद में भुला दिया गया, और उसकी पुनःस्थापना केवल 1940 के दशक के बाद के और 1950 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में डेनियल ट्रूमैन, अर्ल लैथम और कुछ अन्य लेखकों के द्वारा उस समय की गयी जब उन्होंने उसे राजनीति के एक सिद्धान्त का सम्भावित आधार बनाने का प्रयत्न किया और विधानसभाओं के कार्यों

के विश्लेषण मे व्यापक रूप से उसका प्रयोग किया।[13]

बैन्टले, जो एक प्रकार से व्यवहार-परक राजनीति-शास्त्र का आचार्य माना जाता है, राजनीतिक विश्लेषण मे सस्थागत दृष्टिकोण के प्रयोग के विरुद्ध था, क्योकि वह इसे बहुत अधिक औपचारिक और स्थैतिक मानता था। बैन्टले ने अपनी रचनाओं मे गत्यात्मकता और प्रक्रियाओ को राज्य के कार्यों की प्रमुख विशेषता माना। समाज के सम्बन्ध मे उसकी धारणा यह थी कि उसमें विशेष सस्थाओ (सरचनाओ) अथवा आधारभूत विषयो (मूल्यो) की तुलना में गतिशील प्रक्रियाओ (कार्यो) का अधिक महत्त्व था। विचार, चिन्तन, भावनाए, नियम, सवैधानिक सम्मेलनो की कार्यवाहिया, प्रबन्ध और भाषण सभी तब महत्त्वपूर्ण हैं जब तब उनका सम्बन्ध क्रियात्मकता से हो। बैन्टले ने लिखा, 'कोई विचार ऐसा नही है जो किसी सामाजिक गतिविधि का प्रतिबिम्ब न हो। कोई भावना ऐसी नही है जिसे व्यक्ति उसके सामाजिक रूप से अलग रख कर समझ सके।" *समूह के महत्त्व को बताते हुए बैन्टल ने लिखा, "वह सामग्री जिसका हम* (राजनीति मे) अध्ययन करते है, किसी एक व्यक्ति मे नही पायी जाती। कुछ व्यक्तियो को कुछ दूसरे व्यक्तियो के साथ जोडकर भी उसे व्यवस्थित रूप देना सम्भव नही होता। उसे समझने के लिए बहुत से व्यक्तियो के द्वारा समूह मे किये गये कार्यों को देखना होगा।" यह मनुष्यों के बीच का सम्बन्ध है—अथवा मनुष्यो का अन्य मनुष्यो के *साथ अथवा उन पर किया गया 'कार्य' है। राजनीति मे परिमाणात्मक पद्धति के* प्रारम्भिक प्रतिपादको मे से एक होने के नाते बैन्टले यह तो मानता ही था कि यदि हम राजनीति का वैज्ञानिक ढग से अध्ययन करना चाहते है तो हमे राजनीतिक 'कार्यो' मे महत्त्वपूर्ण मापनीय सख्याओ को खोजना होगा। विचारो का परिमापन 'कार्यों' के सन्दर्भ मे ही किया जा सकता है। जहा तक 'कार्य' का सम्बन्ध है, बैन्टले मानता था *कि वह 'सदा और अनिवार्यत' एक समूह-प्रक्रिया है—जो न तो किसी एक व्यक्ति मे* कभी पायी जाती है और न बहुत से व्यक्तियो के कामो को एक दूसरे के साथ जोड देने मे। उसका अस्तित्व बहुत से व्यक्तियो के मिल-जुल कर समूहो के रूप मे काम करने से बनता है। समाज, राष्ट्र, सरकार—विधि निर्माण, राजनीति प्रशासन—ये सभी "व्यक्तियो के समूह द्वारा और प्रत्येक समूह के *अन्य बहुत से समूहो के साथ अन्त-क्रियाओ के द्वारा किये जाने वाले कामो का परिणाम है।" ये सभी समूह निरन्तर* एक दूसरे के सम्पर्क मे आते रहते हैं और राजनीति का अर्थ ही यह है कि "कुछ व्यक्तियों के व्यवहार की दिशा को अन्य व्यक्ति किसी नयी दिशा मे मोड दें, इस प्रकार के प्रयत्नो के प्रतिरोध का सामना करने के लिए कुछ शक्तिया जुट जायें, अथवा शक्तियों के एक समूहीकरण को कोई दूसरा समूह छिन्न-भिन्न कर दे"।

बैन्टले का प्रमुख लक्ष्य *सस्थाओ के महत्त्व को कम बताना और प्रक्रियाओ के महत्त्व* को अधिक बताना था। इस कारण उसने समूह की कल्पना भी व्यक्तियो के समूह के

[13]विधायी क्रियाओ के विश्लेषण के एक अच्छे उदाहरण के लिए देखिए बर्ट्रम गौस, 'दि लेजिस्लेटिव स्ट्रगल,' न्यूयार्क, 1953।

रूप में नहीं, गतिविधियों के समूह के रूप में की। समूह की व्याख्या करते हुए उसने लिखा कि वह "किसी समाज के लोगों में से कुछ का ऐसा संगठन है जिसकी कल्पना हम उन लोगों को अन्य दूसरे लोगों से अलग करके नहीं, परन्तु गतिविधियों के एक ऐसे समूह की दृष्टि से ही कर सकते हैं, जिसमें एक समूह में भाग लेने वाले व्यक्तियों का बहुत से अन्य समूहों की गतिविधियों में भाग लेना सम्भव हो जाता है। समूह, इस प्रकार एक स्थैतिक वस्तु नहीं थी बल्कि प्रक्रियाओं का एक प्रतिमान था, और इस कारण उसका उद्भव तभी सम्भव हो पाता है जब उसके व्यक्तिगत सदस्यों में अन्तः-क्रियाएं, तुलनात्मक दृष्टि से, सतत रूप से चलती रहती हों और उनका स्वरूप ऐसा हो जो उनके एक निश्चित दिशा में गतिमान होने का स्पष्ट संकेत दे सके। एक ही व्यक्ति कई समूहों का सदस्य हो सकता है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समूह की गति-विधियां उसके संरचनात्मक स्वरूप से अधिक महत्वपूर्ण मानी गयी थीं। समूह को यदि गतिविधियों का एक पुंज मान लिया जाय तो प्रश्न यह उठता है कि उसे अपनी गति-विधियों के लिए दिशा कहां से मिलती है। यह समझने के लिए हमें बेन्टले के हितों की संकल्पना से सहायता मिलती है जिसे बेन्टले ने राजनीतिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए अनिवार्य माना। वह सहभाजित अभिवृत्ति है जो सामाजिक व्यवस्था में किसी एक समूह को दूसरे समूहों के विरुद्ध मांग अथवा मांगें प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित करती है। समूह, इस प्रकार गतिविधियों के उस संग्रह का नाम है जो हितों से प्रेरणा ग्रहण करता है, और सामाजिक व्यवस्था, जिसका निर्माण अनेक समूहों के मिल जाने से होता है, वह क्षेत्र है जिसमें विभिन्न समूहों की गतिविधियां एक दूसरे के साथ सम्पर्क में आती हैं। हितों का विचार, इस प्रकार, बेन्टले के द्वारा समूह सिद्धान्त के साथ, जिस रूप में उसने समूह सिद्धान्त की कल्पना की थी, अभिन्न रूप से जोड़ दिया गया है। हितों के आधार पर ही समूहों का संगठन होता है। यह कल्पना करना कठिन नहीं है कि समाज में बहुत से ऐसे हित भी हो सकते हैं जिन्हें किसी समूह के रूप में अभिव्यक्ति नहीं मिली है। इस कारण, समूह सिद्धान्त के अन्तर्गत हम वर्तमान समूहों के अतिरिक्त, ऐसे समूहों की भी कल्पना कर सकते हैं जो अभी तक बने नहीं हैं परन्तु जिनमें बनने की सम्भावना है, ऐसे समूहों की जो अप्रकट रूप में मौजूद हैं, और ऐसे समूहों की भी जो बनने की प्रक्रिया में हैं।"[44]

समूह सिद्धान्त को यदि हम राजनीति को समझने का आधार मान लें तो सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक व्यवहार के सम्बन्ध में भी कुछ विशिष्ट धारणाओं को हमें स्वीकार करना पड़ेगा। बेन्टले के शब्दों में समाज 'समूहों के एक जाल-जाल के अति-रिक्त, जो मिल कर उसका निर्माण करते हैं, और कुछ भी नहीं' है,[45] और समूह सिद्धान्त के एक दूसरे प्रमुख प्रतिपादक ट्रूमैन के शब्दों में वह "समूहों की केवल एक

[44] विस्तृत विवेचन के लिए देखिए आर्थर एफ० बेन्टले, पी० उ०, उसके मूल विचार की अधिक विस्तृत व्याख्या के लिए 'रिलेटिविटी इन मैन एण्ड सोसाइटी', न्यूयार्क, पुटनम, 1926।

[45] आर्थर बेन्टले, 'दि प्रोसेस ऑफ़ गवर्नमेंट', पी० उ०, पृ० 222।

कलाकृति" है।[46] समाज व्यवस्था वह माध्यम मात्र है जिसके द्वारा विभिन्न समूह अपने हितो को प्राप्त करने अथवा उनकी वृद्धि करने के प्रयत्नों मे लगे रहते हैं। समूह सिद्धान्त के एक दूसरे प्रतिपादक अर्ल लेथम के शब्दो मे, समाज "उन समूहो का, जो परिवर्तनो की अथक प्रक्रिया मे लगे हुए एक दूसरे के साथ जुडते हैं, टूटते हैं, और शक्ति के अनेक सघ और सगठन बनाते-बिगाडते रहते हैं।"[47] समूहो के बीच चलते रहने वाले धक्कों और प्रतिरोधो" के आधार पर ही समाज को गतिमान रखा जाता है। अन्य व्यवहार-विज्ञान वादियो के समान समूह सिद्धान्त के प्रतिपादको का लक्ष्य भी समाज को "बनाये रखना" है, तब प्रश्न यह उठता है कि जब उसके अन्तर्गत ऐसे अनेक समूह हैं जो सब अपने-अपने हितो को प्राप्त करने के लिए एक दूसरे के साथ चिरन्तन सघर्ष मे जूझ रहे हैं, समाज अपने को बनाये कैसे रख पाता है ? इसके उत्तर मे समूहवादियो ने 'समूह के दबावो का सन्तुलन' (balance of group pressures) के नाम से एक सिद्धान्त का विकास किया है जिसके अनुसार समूहो के इन सारे सघर्षों के बावजूद उनका एक दूसरे पर निरन्तर दबाव स्वत. एक शक्ति सन्तुलन की स्थिति उत्पन्न कर देता है और यह शक्ति बराबर बनी रहती है।

समूह सिद्धान्त के प्रतिपादको ने विभिन्न प्रकार के समूहो के आन्तरिक सगठन और उनकी प्रक्रियाओ मे बडी रुचि ली है, और उनकी सीमा, आकार, प्रादेशिकता और एकीकरण के स्वरूपों आदि के सम्बन्ध मे काफी गहराई से सोचा है। उन्होने उन प्रश्नों की भी चर्चा की है जिनका सम्बन्ध विभिन्न समूहो मे संगठन की मात्रा, नियन्त्रण की पद्धतियो और सदस्यता के परिवर्तनशील होने से है। ट्रूमैन ने साधारण समूहो (groups) और सस्थाओ (associations) मे अन्तर किया है और संस्थाओं के सम्बन्ध मे कहा है कि वे *"ऐसे समूह हैं जो मूर्त्त सम्बन्धो के आधार पर बनाये गये हैं।"* *विभिन्न समूह* जब ऐसे अन्य समूहो के सम्पर्क मे आते हैं, जिनके हित उनके समान हैं अथवा उनके *विरुद्ध तभी उनका वास्तविक महत्त्व प्रगट होता है। उदाहरण के लिए, एक मजदूर* समूह जब दूसरे मजदूर समूह के सम्पर्क मे आता है तब उसका व्यवहार एक प्रकार का *होना है, और जब वही समूह मालिको के संगठनो के सम्पर्क मे आता है तब दूसरे प्रकार* का। डेविड ट्रूमैन के अनुसार, "समूह व्यक्तियों का ऐसा समुच्चय है जो, एक अथवा *अधिक सहभाजित अभिवृत्तियो के आधार पर, समाज के अन्य समूहों से इन सहभाजित* अभिवृत्तियो मे अन्तर्निहित व्यवहार के रूपो की स्थापना तथा उनके अनुरक्षण और *सवर्द्धन की मांग करते हैं। सहभाजित अभिवृत्तियां ही* हितो का निर्माण करती हैं।"[48] इस प्रकार प्रत्येक समूह मूलतः एक हित समूह है।

विभिन्न प्रकार के समूह एक ही स्तर पर काम कर सकते हैं, और अनेक स्तरो पर भी। उनके सदस्य अन्य समूहो के सदस्य भी हो सकते हैं, और समूह अपने स्तर पर

[46] डेविड ट्रूमैन, पी० उ०, पृ० 32।
[47] अर्ल लेथम, पी० उ०, पृ० 49।
[48] डेविड ट्रूमैन, पी० उ०, पृ० 33-34

काम करने वाले दूसरे समूहों अथवा उनके संगठनों के साथ, अथवा उनके विरुद्ध, अपने आपको संगठित कर सकते हैं। अन्य समूहों को प्रभावित करने के लिए वे सदा ही भिन्न प्रकार की तकनीकों और तरीकों का सहारा लेते हुए दिखायी देते हैं। संगठनों की शक्ति का आधार केवल उनकी सदस्य संख्या, विशेष हितों में उनकी रुचि की गहराई और संगठन के स्वरूप पर ही निर्भर नहीं होती, परन्तु इस पर भी कि उनका नेतृत्व कैसा है, प्रचार के किन साधनों का वे उपयोग करते हैं, अथवा शासन को मोड़ देने और अन्य समूह पर दबाव डालने की उनकी क्षमता कितनी है? समूह सिद्धान्त का आधार इस विचार पर टिका हुआ है कि समाज न तो विशिष्ट संस्थाओं से बनता है और न सारभूत मूल्यों से, बल्कि गतिशील प्रक्रियाओं से। बैन्टले की दृष्टि में "इन समूहों के विश्लेषण में राजनीति और राजनीतिक व्यवहार का समस्त अध्ययन समाविष्ट है।" उसने लिखा, "यदि समूहों का पूरा विवरण दे दिया जाए तो उसमें देश की राजनीति का समस्त विवरण आ जाता है। मैं जब समस्त विवरण की बात करता हूं तो मेरा अर्थ समस्त विवरण से ही है।"[49] विधि निर्माण, राजनीति और प्रशासन ये सब समूहों के आपसी संघर्ष के परिणाम हैं। बैन्टले के शब्दों में, "विधान सभा समूहों के संघर्ष में निर्देशक (referee) काम करती है सफल गठबन्धनों की विजय की उद्घोषणा करती है, अपने बनाये हुए कानूनों में पराजयों, समझौतों और विजयों को प्रतिबिम्बित करती है," प्रशासन "उन सन्धियों को जिनके सम्बन्ध में संसदों में सौदेबाजी की है और अन्त में स्वीकार किया है," कार्यान्वित करने की प्रक्रिया का नाम है, और सरकारी कर्मचारी उन "सेनाओं के समान हैं जिन्हें विजयी संगठन के द्वारा विजित प्रदेशों में उनके संरक्षण के लिए छोड़ दिया जाता है।"

समूह सिद्धान्त की कुछ प्रमुख कमियां

समूह सिद्धान्त के प्रतिपादकों का यह दावा रहा है कि समूहों के संघर्ष के सन्दर्भ में, और केवल उसी सन्दर्भ में, राजनीति और राजनीतिक व्यवहार को समझा जा सकता है, परन्तु राजनीति की कोई स्पष्ट परिभाषा हमें देने में वे सर्वथा असमर्थ रहे हैं। बैन्टले की दृष्टि में राजनीति ऊंचे स्तर पर चलने वाली एक ऐसी गतिविधि थी जिसका संचालन साधारणतः उन समूहों के हाथ में था जो समाज की अन्तर्निहित शक्तियों को प्रतिबिम्बित अथवा उनका प्रतिनिधित्व करते थे, और इस क्षेत्र में मोटे तौर से जिन दबाव विषयों की गणना की जा सकती थी उन्हें राजनीति का नाम देने मात्र से सन्तुष्ट दिखायी देता है[50] परन्तु, क्योंकि समूहों की गतिविधियां राजनीति तक ही सीमित नहीं मानी जा सकती हैं—राजनीति से बाहर भी वे क्रियाशील रहते हैं—राजनीतिक गतिविधियों को समूहों की समस्त गतिविधियों का केवल एक अंश ही माना जा सकता है। समूह सिद्धान्त

[49]आर्थर बैन्टले, पी० उ०, पृ० 119।
[50]वही, पृ० 209।

के सन्दर्भ में यदि हम राज्य के स्वरूप को समझना चाहें तो हमारे सामने कई प्रश्न उपस्थित होते हैं। ये समूह किसी पूर्व निर्धारित राजनीतिक सन्दर्भ में काम करते हैं अथवा उनकी कार्य-विधियों का राजनीतिक पक्ष ही राजनीतिक सन्दर्भ का रूप ले लेता है ? इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर उन्होंने नहीं दिया है। राजनीतिक गतिविधियों की व्याख्या करते हुए ट्रूमैन लिखता है कि "वे ऐसी गतिविधियां है जिनके द्वारा समूह, सरकार की संस्थाओं के माध्यम से अथवा उन पर" अपनी मांगों या दावों की मांग करते हैं।"[51] परन्तु 'सरकार' क्या है, इसकी कोई परिभाषा वह नहीं देता। लेथम जब राजनीति को समाज की उन प्रक्रियाओं से जोड़ देता है जो शक्ति की संरचनाओं के माध्यम से मूल्यों का आवंटन करती है तो वह राजनीति का एक अधिक व्यापक दृष्टिकोण लेता दिखायी देता है, परन्तु राज्य के सम्बन्ध में उसके विचार भी स्पष्ट नहीं हैं।[52] समूह सिद्धान्त के प्रतिपादक यद्यपि राज्य अथवा राजनीति की स्पष्ट परिभाषा देने से सर्वथा असमर्थ रहे हैं, उन्होंने उसे स्पष्टतः शक्ति और समूहों के संघर्षों की क्रियाओं, और शक्ति सन्तुलन की दृष्टि से किये जाने वाले समझौतों के साथ जोड़ा है। इसका यह अर्थ हुआ कि, उनकी दृष्टि में राजनीतिक व्यवहार एक दूसरे के साथ संघर्षों में जुटे हुए ऐसे समूहों का व्यवहार है जो शक्ति के प्रयोग के द्वारा अपने दावों को पूरा करना चाहते हैं।

ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि सरकार का दायित्व क्या है और समूहों के संघर्षों में उसकी भूमिका क्या हो सकती है ? समूह सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने जिस प्रकार राजनीति की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं दी उसी प्रकार उन्होंने सरकार की अपनी संकल्पना को भी न तो स्पष्ट किया है और न उसकी कोई व्याख्या दी है। कुछ स्थानों पर उन्होंने सरकार को समूहों के आपसी संघर्षों में बीच-बचाव का काम करते हुए और नियमों और नियन्त्रणों के स्रोत के रूप में प्रस्तुत किया है। ट्रूमैन ने लिखा है "सरकार का काम समूहों के आपसी सम्बन्धों में एक प्रकार की व्यवस्था स्थापित करने और उसे बनाये रखने का है।"[53] सरकार को कुछ लेखकों ने एक ऐसे सन्दर्भ के रूप में प्रस्तुत किया है जिसके भीतर, कुछ व्यापक क्षेत्रों और मर्यादाओं में रहते हुए, समूह संघर्ष को जारी रखा जा सकता है। एक प्रकार की सरकार और दूसरे प्रकार की सरकार में अन्तर समायोजन की उन प्रविधियों और प्रक्रियाओं के आधार पर किया जा सकता है जिनका उपयोग वे राजनीतिक हित-समूहों में चलते रहने वाले संघर्षों का निपटारा करने में करते हैं।[54] कुछ अन्य लेखकों का कहना है कि सरकार स्वयं समूहों के एक समूह से अधिक कुछ नहीं है, जिसकी संरचना के भीतर व्यापकतर सामाजिक प्रक्रियाओं, हितों और दावों का प्रतिनिधित्व होता है, और इस प्रकार बाहर के समूहों के लिए यह सम्भव हो जाता है कि वे उस पर दबाव डाल सकें, और वैसे दबाव के लिए

[51] डेविड ट्रूमैन, पी० उ०, पृ० 505।
[52] बर्ट्रेम लथम, पी० उ०, पृ० 12-16।
[53] डेविड ट्रूमैन, पी० उ०, पृ० 45।
[54] आर्थर बेंटले, पी० उ०, अध्याय 12।

वह उन्हें सुविधा भी प्रदान करता है।[55] तब उन समूहों से जो सरकार का अंग हैं और अन्य समूहों में, जो सरकार के बाहर हैं, हम कैसे अन्तर करें? लेथम ने इस सम्बन्ध में, सरकार के बाहर के समूहों की दृष्टि में सरकार की अधिकारपूर्ण स्थिति को स्पष्ट रूप से बताने के लिए 'आधिकारिकता' (officiality) शब्द का प्रयोग किया है जब कि अन्य लेखकों ने इस प्रकार के अन्तर को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया है।

यदि समाज और राजनीति राजनीतिक समूहों के अनवरत संघर्ष के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तो प्रश्न यह उठता है कि यह सारी व्यवस्था चल कैसे रही है और संघर्ष के इस बोझ से टूट क्यों नहीं जाती? समूह सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने इस सम्बन्ध में कोई तर्कसंगत स्पष्टीकरण नहीं दिया है। उन्होंने केवल 'एक अचेतन सन्तुलन प्रक्रिया' की बात की है। उनकी ऐसी मान्यता प्रतीत होती है कि चूंकि विभिन्न समूह विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और विभिन्न कारणों से एक दूसरे के साथ संघर्ष की स्थिति में रहते हैं वे किसी न किसी प्रकार एक दूसरे को नियन्त्रित रखने में सफल हो जाते हैं।[56] सरकार भी समूहों के संघर्ष में समायोजन की भूमिका निभाती रहती है। सन्तुलन यदि फिर भी बिगड़ा रहता है और यह खतरा रहता है कि कुछ विशेष हितों को, जो अपने को अभी तक संगठित नहीं कर पाये हैं, नुकसान पहुंचेगा तो (अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नये शक्तिपुंजों के समान) नये समूहों का तुरन्त निर्माण हो जाता है, वे सन्तुलन का निर्वाह कर लेते हैं, और इस प्रकार यह सारी प्रक्रिया स्थिरता को बनाये रखने में सफल होती है। राजनीतिक व्यवस्था में स्थायित्व को बनाये रखने का एक दूसरा कारण ट्रूमैन ने यह बताया है कि चूंकि वही व्यक्ति विभिन्न समूहों के सदस्य होते हैं और यह उनके हित में होता है कि सन्तुलन बिगड़ने नहीं पाये, वे उसे बनाये रखते हैं। अनेक समूहों के सदस्य होने के नाते व्यक्ति ऐसे समूहों को जो उनके हितों को नुकसान पहुंचाने वाले हों, अधिक शक्तिशाली नहीं बनने देते। यह भी कहा गया है कि संघर्षों की संख्या इतनी अधिक है और उन्हीं व्यक्तियों की सदस्यता विभिन्न समूहों में इस प्रकार बंटी रहती है कि यह सम्भव नहीं हो पाता कि कोई भी एक संघर्ष सीमा का अतिक्रमण कर सके, और इस सबका परिणाम यह होता है कि गतिशील सन्तुलन की एक स्थिति बराबर बनी रह सकती है। इन सब कारणों के अतिरिक्त एक और कारण यह भी दिया गया

[55]इस प्रकार की 'अधिमान्यता' की समस्या के एक व्यापक विवेचन के लिए देखिए डेविड ट्रूमैन, पी० उ०, 264-70।

[56]इसकी तुलना अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में स्वचालित शक्ति-सन्तुलन के उस सिद्धान्त से भी की जा सकती है जिसके सम्बन्ध में रूसो ने लिखा था कि "यह (शक्ति-सन्तुलन) मनुष्य के प्रयत्नों का फल उतना नहीं है जितना प्रकृति के द्वारा निर्धारित," जो "अपने को, बिना किसी प्रयत्न के, इस प्रकार बनाये रखता है कि यदि कभी उसका एक पलड़ा नीचे झुकने लगता है तो दूसरा पलड़ा शीघ्र ही स्वतः उसी के बराबर आ जाता है।" एक दूसरे लेखक हर्बर्ट बटरफील्ड, ने उसे "यान्त्रिक रूप में स्वयं-समायोजित और स्वयं-परिशोधित" बताया, इस अर्थ में कि "ज्यों ही किसी बिन्दु पर शक्ति-सन्तुलन बिगड़ता है, व्यवस्था के अन्तर्गत किसी दूसरे भाग में प्रतिपूरक प्रक्रिया स्वतः ही उभर कर सामने आ जाती है," (उदाहरण के लिए देखिए इनिस एल० क्लोड, जू०, 'पॉवर एण्ड इन्टरनेशनल रिलेशन्स,' न्यूयार्क, रेण्डम हाउस, 1962; पृ० 43-45।

है जिसे "खेल के नियम" (rules of the game) का नाम दिया गया है, परन्तु जिसे बेंटले ने *"पुरानी आदत" (habit background) का नाम दिया है। अव्यवस्थित रहते हुए* भी ये "खेल के नियम" वे हित हैं जिन्हें सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है, और ये समूहों के आपसी संघर्षों के लिए कुछ ऐसी कसौटियों का निर्धारण करते हैं जो सभी को स्वीकार होती हैं। ओरन यंग लिखता है, "यद्यपि ये नियम उन समूहों की अन्तःक्रियाओं में, जिनसे मिल कर समाज बनता है प्रायः गुप्त अवस्था में पाये जाते हैं, ये सरकार के द्वारा साधारणतः व्यवहार में लायी जाने वाली समायोजन की कार्यविधियों की व्याख्या और उनके समर्थन का काम करते हैं, और क्योंकि ये बहुत अधिक प्रभावशाली समूहों को भी प्रभावित करने की स्थिति में होते हैं, ये जनसाधारण के द्वारा निर्मित समूहों की कार्य-विधियों पर रोकथाम रखने में सफल होते हैं।"[67] यह मानना पड़ेगा कि इनमें से कोई भी कारण सन्तोषजनक दिखायी नहीं देता।

समूह-सिद्धान्त : सिंहावलोकन

समूह सिद्धान्त की और भी बहुत सी कमियाँ हैं। उसकी एक बड़ी कमी तो यह है कि उसके प्रतिपादकों ने उन शब्दों की कोई सन्तोषजनक परिभाषा देने का प्रयत्न नहीं किया है जिन्हें वे लगातार काम में लाते रहे हैं। 'समूह' शब्द को ही लें। बेंटले ने उसे मनुष्यों के बीच एक प्रकार का 'सम्बन्ध' बताया है—एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से जोड़ने की प्रक्रिया। परन्तु यह ऐसी परिभाषा है जिसका कोई अर्थ ही नहीं निकलता। बेंटले ने समूहों के परिमाण, उनके घनत्व और उनके तकनीक के सम्बन्ध में लिखा है कि वे इन सभी बातों में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। कुछ समूह बड़े हो सकते हैं और कुछ छोटे, हितों की महत्ता की मात्रा में विभिन्न समूहों में अन्तर हो सकता है और उनके काम करने की पद्धति भी एक दूसरे से भिन्न—प्रचार, अनुनय-विनय और रिश्वत से लेकर बुरी से बुरी हिंसा तक—हो सकती है। परन्तु यह 'सम्बन्ध' ठीक किस प्रकार का है जो मनुष्यों को समूहों में बदल देता है, अथवा समूहों की सदस्यता कितनी व्यापक होनी चाहिए, अथवा उनके हितों की सघनता कितनी गहरी, ये सब ऐसे मुद्दे हैं जिनके सम्बन्ध में बेंटले ने कुछ भी बताने का कष्ट नहीं किया है। बेंटले ने जिस प्रकार 'समूह' शब्द की कोई व्याख्या नहीं दी है उसी प्रकार उसने 'हितों' को भी अस्पष्ट छोड़ दिया है। उसने 'समूह' और 'हितों' को एक दूसरे का पर्यायवाची *मान लिया जान पड़ता है। वह लिखता है, "कोई समूह ऐसा नहीं है जिसका कोई* हित न हो। हित समूह का पर्यायवाची है।" हित समूहों को सगठित रूप लेने के लिए प्रेरित करते हैं, *अथवा पहले समूह बन जाता है और वह हितों के सन्दर्भ में अपने को* न्यायसंगत सिद्ध करने का प्रयत्न करता है, यह भी सर्वथा अस्पष्ट छोड़ दिया गया है।

[67]ओरन यंग, 'सिस्टम्स ऑफ पोलिटिकल साइंस,' एंगलवुड क्लिफ्स, न्यू जर्सी, प्रेंटिस-हॉल, इन्क०, 1968, पृ० 87।

बैन्टले का दृष्टिकोण यह दिखायी पड़ता है कि वह इस बात को न तो जानता है और न यह जानने योग्य ही है। वह तो केवल यही कहता है कि दोनों परिवर्तनीय हैं। बैन्टले यह सोच भी नहीं सकता कि समूह के बाहर भी व्यक्तियों के अपने राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अथवा आवश्यक हित हो सकते हैं। वह स्वीकार करता है कि समूह के प्रति निष्ठा अपने आप में एक अत्यधिक जटिल समस्या है, परन्तु उसका कोई समाधान उसके पास नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अनेक समूहों में सम्बद्ध रहता है, जो उसके अनेक हितों को पूरा करते हैं, परन्तु यदि उसके हितों की कोई सीमा ही नहीं है तो क्या यह सम्भव नहीं है कि समाज में उतने ही समूह बन जायें जितने व्यक्ति ? यह स्पष्टतः एक असम्भव स्थिति है।

समूह सिद्धान्त के प्रतिपादकों में बैन्टले ही ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसने स्पष्ट परिभाषाएं देने के प्रश्न को टाला है। डेविड ट्रूमैन की रचनाओं में भी हम यही बात पाते हैं। समूह की व्याख्या देते हुए एक अवसर पर वह लिखता है कि "यह ऐसे व्यक्तियों का एक जमाव है जिनमें कुछ विशेषताएं एक दूसरे के समान हैं," परन्तु उसे तुरन्त ही यह प्रतीत हो जाता है कि यह परिभाषा पर्याप्त नहीं है और तब वह सामान्य हित की आवश्यकता पर जोर देना आरम्भ करता है। परन्तु उसकी रचनाओं में भी 'हित' उतने ही अस्पष्ट और व्याख्याहीन स्थिति में छोड़ दिये गये हैं जिसमें बैन्टले ने उन्हें छोड़ा था। ये 'हित' आखिर हैं क्या जो व्यक्तियों के एक समूह को एक दूसरे के समीप आने की प्रेरणा देते हैं ? अच्छा स्वास्थ्य, विश्व शान्ति अथवा सुरक्षा की भावना, ये सब क्या अपने आप में अच्छे भले 'हित' हैं, शायद अन्य बहुत से हितों की तुलना में श्रेष्ठ, परन्तु यदि इन्हें हम समूहों के निर्माण के लिए प्रेरक उद्देश्य समझें तो हमें सम्भवतः सारी मानवता को ही एक समूह के रूप में सोचने के लिए विवश होना पड़ेगा। सभी जीवित व्यक्तियों में जिस प्रकार "सन्तुलन" की प्राप्ति को जीवन-निर्वाह की एक आवश्यक शर्त माना जाता है, उसी प्रकार समूहों के सभी संघर्षों का भी उसे ही चरम लक्ष्य माना गया है। परन्तु यह यहीं भी स्पष्ट नहीं होता कि "सन्तुलन" से समूह सिद्धान्त के प्रतिपादकों का वास्तविक अर्थ क्या है ? लैथम ने "सन्तुलन" की परिभाषा 'मतदान के अवसर पर प्रतिस्पर्द्धा में लगे हुए समूहों के बीच शक्ति के सन्तुलन' के रूप में की है और सार्वजनिक नीति को 'किसी निश्चित समय पर समूहों के संघर्ष में प्राप्त किये गये "सन्तुलन" के रूप में, परन्तु यह यहीं भी स्पष्ट नहीं होता कि इस संघर्ष में कौन लोग प्रतिस्पर्द्धा में लगे हुए हैं, और कौन से हित उन्हें एक विशेष ढंग से मतदान करने के लिए, अथवा एक अथवा दूसरे प्रकार के निर्णय-निर्माण में अपनी शक्ति लगा देने के लिए, प्रेरित कर रहे हैं, अथवा अपने इन कार्यों के माध्यम से वे प्राप्त क्या करना चाहते हैं ?

एक और शब्द जिसका प्रयोग समूह सिद्धान्त में प्रतिपादकों ने व्यापक रूप से किया है, वह है 'अधिगम्यता (access) जिसका अर्थ है 'निर्णय निर्माताओं तक पहुंच,' परन्तु, इस सम्बन्ध में भी यह स्पष्ट रूप से नहीं बताया गया है कि 'निर्णय-निर्माताओं तक पहुंच' रखने वाले 'समूह' निर्णय-निर्माताओं की परिधि के बाहर से उन पर दबाव डालते हैं अथवा उनका अस्तित्व उनके भीतर ही है, और न यह बताया गया है कि किस

पर्यावरण में यह संघर्ष चल रहा है, अथवा वह बिन्दु कौन सा है जिस पर पहुंच कर *'सन्तुलन' की स्थिति को प्राप्त किया जा सकेगा। पर्यावरण के सम्बन्ध में* जानकारी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि एक प्रकार के पर्यावरण में शायद केवल हिंसात्मक दबाव ही अधिक प्रभावशाली सिद्ध हो सकें परन्तु दूसरे प्रकार के पर्यावरण में व्यक्तियों का नैतिक प्रभाव अथवा अनुनय-विनय आवश्यक 'सन्तुलन' की प्राप्ति में निर्णायक सिद्ध हो। इसके *अलावा भी एक प्रश्न यह उठता है कि क्या सभी निर्णय समूहों के दबाव के कारण ही* लिये जाते है? पीटर ओडेगार्ड ने यह प्रश्न उठाया है कि क्या एक अमरीकी राष्ट्रपति के बर्नार्ड बरुच की 'सलाह' पर काम करने अथवा दूसरे के एल्बर्ट आइन्सटाइन के 'प्रभाव' में मैनहट्टन योजना आरम्भ करने को भी हम सामूहिक राजनीति का नाम देंगे, *अथवा हम स्पष्ट रूप से इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं कि एक ऐसे अवसर* पर जब राष्ट्रपति का किसी न किसी कारण से इस प्रकार की 'सलाह' को सुनने अथवा 'सुझावों' पर अमल करने के सम्बन्ध में सहानुभूति का दृष्टिकोण था, वह बर्नार्ड बरुच अथवा एल्बर्ट आइन्सटाइन से 'प्रभावित' हुआ और उसके इन निर्णयों में किसी भी *समूह का कोई हाथ नहीं था?*[58] *एक दूसरा शब्द जो समूह सिद्धान्त के प्रतिपादक प्रायः* उस समायोजन के सन्दर्भ में प्रयोग में लाते रहे हैं जिसे प्रत्येक समूह को, 'यदि उसे बने रहना है और विकास करना है' तो, अपने पर्यावरण के साथ स्थापित करना पड़ेगा 'सन्तुलन' है। समूह इस 'सन्तुलन' को प्राप्त करने के लिए कई प्रकार के उपाय काम में *लाता है—वह 'पर्यावरण पर नियन्त्रण लगाने' का कार्य करता है, अथवा उसे 'निरस्त'* कर देना चाहता है, अथवा उसके साथ समझौता करके उसके साथ मित्रता के सम्बन्ध कायम कर लेता है। परन्तु, समूह सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने यह जानने का प्रयत्न नहीं किया कि कौन इस काम को प्रभावशाली और यथार्थवादी ढंग से कर सकता है, समूह अथवा व्यक्ति? यह बिलकुल सम्भव है कि स्वयं समूह ही उस पर्यावरण का एक भाग हो जो सन्तुलन को बिगाड़ रहा है और व्यक्ति उसे नियन्त्रित, निरस्त अथवा आश्वस्त बनाने का प्रयत्न कर रहा है।

समूह सिद्धान्त के प्रतिपादक 'विचार', 'भावना', 'लोकचरित्र', 'सामान्य इच्छा', 'सामान्य कल्याण', और यहां तक कि 'कानून' और 'न्याय' जैसे शब्दों के प्रति भी उपेक्षा का दृष्टिकोण अपनाते आये हैं। वे 'अस्पष्ट बातें' बताते हैं—बैंटले के शब्दों में "अस्तित्वहीन (spooks) जिनका उस व्यक्ति से कोई सरोकार नहीं हो सकता जो शोध-सामग्री के आधार पर प्रशासन की प्रक्रियाओं के गम्भीर अध्ययन में लगा हुआ है।" इसके विपरीत वे 'कार्य', 'दबाव', 'शक्ति', और 'तनाव' आदि में दिलचस्पी रखते हैं, जहां तक उनका सम्बन्ध व्यक्तियों से नहीं समूहों की कार्यविधियों से है। परन्तु, समस्त राजनीतिक प्रक्रियाओं को कार्य, शक्ति अथवा तनाव के सन्दर्भ में समझ पाने की असमर्थता के कारण उन्हें 'अव्यक्त समूह,' 'असंगठित हित,' 'खेल के नियम,' 'सर्व-

[58]पीटर ओडेगार्ड, 'ए ग्रुप बेसिस ऑफ पोलिटिक्स : ए न्यू नेम फॉर एन एंशियेन्ट मिथ," 'वेस्टर्न पोलिटिकल क्वार्टरली,' खण्ड 11, सं० 3, सितम्बर 1958, में।

सम्मति', 'आधिकारिकता,' 'सन्तुलन', जैसे शब्दों का सहारा लेना पड़ा है। नियम का अन्ततः "नियम को समर्थन देने के लिए जनता की स्वीकृति और समझ-बूझ," "कौन किसके प्रति क्या करता है इसकी सामाजिक जानकारी", "नियम," "वे सर्वस्वीकृत सिद्धान्त जो उस मतैक्य के पीछे है जिस पर राजनीतिक समुदाय का आधार रखा गया है," जैसे शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है जिनका वास्तव में कोई अर्थ नहीं निकलता। समूह सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने विवेक, ज्ञान और समझ-बूझ को भी सरकारी प्रक्रियाओं में से बहिष्कृत कर देने का प्रयत्न किया है, क्योंकि वे मानते हैं कि सारा सरकारी काम-काज शक्ति, तनाव और दबाव के कारण ही होता है। समूह सिद्धान्त को यहां तक तो स्वीकार किया जा सकता है कि राजनीति एक बहुत बड़ा आधार दबाव, शक्ति, धमकियों और स्वार्थ-भावना पर टिका हुआ है, परन्तु यह मान लेना किसी के लिए भी बहुत कठिन होगा कि निर्णय-निर्माण की प्रक्रियाओं में विवेक और तर्क का कोई स्थान है ही नहीं।

समूह सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रमुख आलोचना यह की गयी है कि यह सारी राजनीति को समूहों की कार्य-विधियों तक सीमित कर देता है और उसकी विवेचना में न तो व्यक्ति का कोई स्थान रह जाता है और न समाज का। ट्रूमैन ने इन तर्कों को काटने की चेष्टा की है परन्तु इसमें वह सफल नहीं हुआ है। यह कहना कि समूह पर आधारित विश्लेषण में व्यक्ति की उपेक्षा की गयी है, उसकी दृष्टि में, यह मान कर चलने जैसा है कि 'व्यक्ति' में और 'समूह' नाम के समुच्चय में कोई मूलभूत अन्तर अथवा संघर्ष है। ट्रूमैन का यह भी कहना है कि इस आलोचना के पीछे यह भ्रामक विश्वास दिखायी देता है कि समाज व्यक्तियों का एक संग्रह मात्र है जिसमें प्रत्येक का अपना स्वतन्त्र 'अस्तित्व' है जो उसे दूसरों से 'अलग' करता है। इस आलोचना के पीछे यह मान्यता बतायी गयी है कि जब व्यक्ति समूह के सदस्य के रूप में काम करता है तो किसी अज्ञात ढंग से उसका व्यक्तित्व भिन्न हो जाता है। ट्रूमैन ने इन सभी मान्यताओं को निराधार ठहराया है। उसका कहना है कि व्यक्ति तो समूहों के अतिरिक्त कहीं भी नहीं पाये जाते। समूह से भिन्न करके उनकी कल्पना करना असम्भव है। यदि हम व्यक्ति को विभिन्न समूहों में अलग-अलग ढंग से काम करते हुए पाते हैं—कहीं यह दंगे फसाद में मारपीट करता हुआ दिखायी देता है और कहीं गिरजाघर में श्रद्धा से सिर झुकाये प्रार्थना में रत, तो इसका यह अर्थ नहीं है, कि समूह में काम करने से उसकी अभिवृत्तियां और व्यवहार किसी प्रकार बदल गये हैं। इसका कारण यही है कि उसके चरित्र के जो दो भिन्न स्वरूप हैं, जिनमें से प्रत्येक वास्तविकता लिये हुए है, उन्हें विभिन्न प्रकार के वातावरण में भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्ति मिलती है।

इसी प्रकार ट्रूमैन के अनुसार, 'व्यक्ति' और 'समाज' में भी कोई मूलभूत संघर्ष नहीं है। ट्रूमैन ने व्यक्तिवादी-स्पेन्सरवादियों, मार्क्सवादियों, बहुलवादियों और बैन्टले जैसे समूहवादियों के सम्बन्ध में मैकाइवर की इस आलोचना का उल्लेख किया है कि उन्होंने राज्य के समायोजन के कार्यों की मांग को है अथवा उसके इस प्रकार के कार्य को अस्वीकार किया है, और इस विचार को ही चुनौती दी है कि समग्र राज्य का अपना

कोई ऐसा हित हो भी सका है जो उसमे सम्मिलित विभिन्न समूहों के हितो से भिन्न और श्रेष्ठतर हो, और जिसकी सिद्धि के लिए वह सदा प्रयत्नशील रहता हो। इस विचार की तुलना उसने लोकतान्त्रिक प्रशासन के सम्बन्ध मे प्रचलित उन विश्वासो से की है जिनका आधार इस विचारधारा पर रखा गया है कि यदि व्यक्ति वास्तव मे स्वतन्त्र हों और सभी 'तथ्य' उन्हे उपलब्ध हो तो वे किसी एक राजनीतिक परिस्थिति मे एक ही वस्तु को प्राप्त करना चाहेगे। वह कहता है कि इस प्रकार का विचार मनुष्यो के उस व्यवहार से, जो एक जटिल समाज मे हमे दिखायी देता है, मेल नही खाता। "मनुष्यों के अनुभव और दृष्टिकोण एक दूसरे से इतने भिन्न है कि उनके कारण उनमे केवल वैयक्तिकता का विकास ही नही होता परन्तु . . . अनिवार्य रूप से *विभिन्न अभिवृत्तियों और परस्पर विरोधी समूह निष्ठाओं का भी . . ।"* वह लिखता है, युद्ध मे भी हमे सदा ऐसे शान्तिवादी, अथवा अन्तरात्मा के नाम पर युद्ध के सम्बन्ध मे आपत्ति उठाने वाले, अथवा जासूस और षड्यन्त्रकारी, मिल जाते है जिनके वास्तविक हित 'समग्र राष्ट्र के हितो' से मेल नहीं खाते। ट्रूमैन आगे चलकर लिखता है, "हमारे लिये किसी ऐसे हित को खोज निकालने की तनिक भी आवश्यकता नही है जो किसी एक व्यक्ति का हित हो, क्योकि इस प्रकार का व्यक्तिगत हित कभी होता ही नही।" ट्रूमैन इस तथ्य से तो इनकार नही कर सकता कि राजनीतिक व्यवस्था को प्रायः समाज के एक व्यापक वर्ग का समर्थन अथवा स्वीकृति मिले होने के कारण ही उसे सभी वर्तमान समूहों का एक सकलन मात्र नही माना जा सकता। वह यह भी जानता है कि राजनीति मे सवैधानिकता, नागरिक स्वातन्त्र्य अथवा प्रतिनिधिक उत्तरदायित्व जैसे आदर्श और परम्पराए हैं, परन्तु उसकी दृष्टि मे वे ऐसे 'हित' मात्र हैं जो समय आने पर समूहो का रूप ले सकते है और इस समय समूह 'बनने' की प्रक्रिया मे हैं। परन्तु यदि समूहो के रूप मे अभी तक उनका सगठन नही हुआ है तो इसका यह अर्थ नही है कि उनका कोई अस्तित्व ही नहीं है।

ट्रूमैन के तर्कों से इन आरोपों का खण्डन नहीं होता कि समूह सिद्धान्त एक ओर तो व्यक्ति विरोधी है और दूसरी ओर समाज अथवा सरकार जैसे बड़े घटकों को भी उपेक्षा की दृष्टि से देखता है, परन्तु यह मानना कठिन प्रतीत होता है कि समूह, उनकी संख्या चाहे कितनी ही क्यों न हों, व्यक्ति के सभी पक्षो का अथवा प्रकट और अप्रकट सभी हितो का, प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। व्यक्ति एक बहुत ही जटिल घटना है। उसमे सामाजिक प्रेरणाएं होती हैं, जिनके कारण वह समूहो का निर्माण करता है, परन्तु समूह मे अपने व्यक्तित्व को मिटा देने के विरुद्ध एक अन्तर्निहित प्रतिरोध की भावना भी पायी जाती है। समूह सिद्धान्त, इस प्रकार, व्यक्ति के व्यवहार के एक बहुत बडे अंश का स्पर्श तक नही करता। इसके अतिरिक्त, राजनीतिक विश्लेषण के लिए प्रतिपादित की गयी इसकी पद्धति से बहुत सी समस्याएं बिलकुल छूट जाती है, जो समूहों की कार्य-विधि के दृष्टिकोण से तो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं हो, परन्तु जिन्हे केवल व्यक्तिगत व्यवहार के सन्दर्भ मे ही ठीक से समझा जा सकता है। इनमे व्यक्तिगत नेतृत्व, अभि-वृत्तियों और दृष्टिकोणों के स्रोत, और समाज मे व्यक्ति की भूमिका और स्थिति जैसी

कई महत्त्वपूर्ण बातें आती हैं। गहराई से देखा जाय तो, समूह स्वयं कुछ भी नहीं करते, व्यक्ति ही उन्हें अभीप्सित दिशाओं में ले जाते हैं, और अपने लक्ष्यों तक पहुँचने के लिए उपयुक्त तरकीबें सुझाते हैं। समूह सिद्धान्त के विरुद्ध एक बड़ा आरोप यह भी है कि यद्यपि यह व्यावहारिक शोध पर आधारित होने का दावा करता है परन्तु व्यक्ति के व्यवहार पर पड़ने वाले उन अदृश्य प्रभावों के सम्बन्ध में सर्वथा मौन है जिन्हें बैन्टले ने "सरल मनोविज्ञानपरता" (simple psychologism) कह कर टालने का प्रयत्न किया है, और ऐसे व्यवहार को, जो प्रत्यक्ष है और बाहर से देखा जा सकता है, यह आवश्यकता से बहुत अधिक महत्त्व देता है। इन तथाकथित अदृश्य प्रभावों के सम्बन्ध में अब शोध की इतनी नयी और परिष्कृत प्रविधियों का विकास किया जा चुका है कि इस सम्बन्ध में बैन्टले के तर्कों को गम्भीरता से नहीं लिया जा सकता। समूह सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण आलोचना यह है कि उसने समूहों ने अपने अध्ययन में जहाँ एक ओर व्यक्ति की उपेक्षा की है वहाँ दूसरी ओर समाज के अस्तित्व की ओर भी ध्यान नहीं दिया है। ओरन यंग ने यह ठीक ही लिखा है कि इस सिद्धान्त का झुकाव स्पष्टतः समाज को एक उप-व्यवस्था को समझने की ओर है, और उसमें सार्वजनिक कल्याण, सामान्य हित अथवा सामान्य इच्छा जैसे सिद्धान्तों के लिए कोई स्थान नहीं है। राजनीतिक संस्कृति को 'खेल के नियम' अथवा 'परम्परागत अभ्यास' कह कर टाल दिया गया है। सरकार की एक ऐसी संस्था के रूप में कहीं भी कल्पना नहीं की गयी है जो समाज में विभिन्न हितों, दावों और लक्ष्यों के निरूपण का काम करती हो। इस समस्त सिद्धान्त के अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों के बहुलवाद ने एक ओर व्यक्तिवादी उदारवाद और दूसरी ओर आदर्शवादी समाजवाद को जो चुनौतियाँ दी थीं, उनकी छाया आज भी समूह सिद्धान्त के प्रतिपादकों पर आच्छादित है।[39]

समूह सिद्धान्त में अन्य बहुत सी और कमियाँ भी हैं। समाज में 'सन्तुलन' बनाये रखने में अपनी गहरी आस्था प्रकट करते हुए भी वह सन्तोषजनक ढंग से यह बताने में असमर्थ है कि 'सन्तुलन' का निर्वाह वास्तव में होता कैसे है। अर्थशास्त्र के शास्त्रीय सिद्धान्तों के समान समूह सिद्धान्त भी सब कुछ किसी 'अदृश्य शक्ति' (वह ईश्वर हो अथवा प्रकृति) के हाथ में छोड़ता प्रतीत होता है। यह मान कर चलना कि उन्हीं व्यक्तियों का कई समूहों का सदस्य होना सामाजिक सन्तुलन को बनाये रखने के लिए काफी है, इस व्यर्थ की आशा में कि उसके कारण संघर्ष को निरस्त किया जा सकेगा, *अथवा इस काम को सम्भाव्य समूहों पर छोड़ देना, इस अपेक्षा के साथ कि वे 'खेल के* नियमों' पर देखरेख रख सकेंगे, तर्कसंगत नहीं माना जा सकता।[40] वास्तव में जब तक

[39]ओरन यंग, पी० उ०, पृ० 91-92।

[40]इस सम्बन्ध में स्टैनले रौथमेन के 'अमेरिकन पोलिटिकल साइंस रिव्यू' खण्ड 54, 1960 के पृ० 15-33 पर प्रकाशित 'सिस्टेमेटिक पोलिटिकल थियरी : ऑब्ज़र्वेशन्स ऑन दी ग्रुप एप्रोच" नाम के अपने लेख में और सिडनी वर्बा ने 'जनरल ऑफ पोलिटिक्स' खण्ड, 27, 1965 में पृ० 467-97 पर

हम यह न मान लें कि विभिन्न प्रकार्यों मे समायोजन का काम सरकार का है, यह समझना कठिन है कि समूहों का आपसी सघर्ष कैसे सुलझाया जा सकता है। समूहो की जो कल्पना हमारे सामने रखी गयी है कि उनमे से प्रत्येक अपने निहित स्वार्थों को प्राप्त करने मे पूरी शक्ति के साथ जुटा हुआ है, जिसके कारण दूसरे समूहो के साथ, जो अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए उतनी ही कट्टरता के साथ लगे हुए हैं, उनका सघर्ष लगातार चलता रहता है, उसे ध्यान मे रखते हुए इन सघर्षों के निपटाये जाने की कल्पना तब तक नही की जा सकती जब तक हम सरकार अथवा ऐसी किसी अन्य समानान्तर संस्था की कल्पना न करें जिसका काम उन पर नियन्त्रण रखना है। इस सिद्धान्त की एक और भी बडी असफलता यह है कि जब कि समूहो के लिए लक्ष्यो को महत्त्वपूर्ण माना गया है, और लक्ष्यों को प्राप्त करना समूहो का प्रमुख कर्त्तव्य माना गया है, यह समझाने का कोई प्रयत्न नही किया गया है कि विभिन्न समूहो के द्वारा इन लक्ष्यों के निर्धारण, उनकी अभिव्यक्ति और उनकी स्वीकृति के साधन क्या है। यह तो कहा गया है कि प्रत्येक समूह की गतिविधिया उसके अपने हित विशेष के द्वारा सचालित होती हैं, परन्तु यह नहीं बताया गया कि वह हित कैसे निर्धारित किया जाता है, और किस उद्देश्य से। जो सिद्धान्त लक्ष्यों की व्याख्या तक कर पाने मे असमर्थ हो, सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण करने की उसकी क्षमता पर कैसे विश्वास किया जा सकता है ? यह भी आश्चर्य की बात है कि जबकि समूह सिद्धान्त के प्रतिपादक लगातार "असख्य गतिविधियो" और "गतिशील प्रक्रियाओ" की बात करते हैं, जिसका अर्थ यह निकाला जा सकता है कि परिवर्तन समूह सिद्धान्त के प्रमुख तथ्यो मे से एक है, किसी भी मूलभूत अथवा व्यवस्थागत परिवर्तन को समझने, उसका विश्लेषण करने, अथवा दिशा-निर्देश करने का समूह सिद्धान्त ने कोई प्रयत्न नही किया है। जिन परिवर्तनो की बात इस सिद्धान्त मे कही गयी है वे सभी प्रमुखत. स्थिरता पर आधारित व्यवस्था की सीमाओ मे ही रहते हैं और *उनका सकेत अधिक से अधिक व्यवस्था के भीतर ही समूहों के बदलते हुए सन्तुलनो की* ओर होता है।

इस दृष्टिकोण की इतनी भयकर असफलताओ के बाद उसे एक सिद्धान्त का नाम देना कठिन हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि स्वय बेंटले ने, जिस उपागम का वह प्रतिपादन कर रहा था, उसे कभी सिद्धान्त का नाम नही दिया। उसने अपने काम के बारे मे केवल यह दावा किया कि वह राजनीति का अध्ययन करने के लिए "एक उपकरण का निर्माण करने का प्रयत्न" कर रहा था और उसने यह भी स्पष्ट रूप मे लिखा कि उसके द्वारा दिये गये उदाहरण परिभाषा के रूप मे उतने नही थे जितने चित्रण के रूप मे। बेंटले का दावा केवल इतना था कि समूह के दृष्टिकोण से यदि राजनीतिक घटनाओ को देखा जाय तो उन्हें एक व्यवस्थागत रूप देना सम्भव हो सकेगा और उसके द्वारा कुछ प्रश्न और प्राक्कल्पनाए ऐसी सामने आयेंगी जिनका बाद मे विस्तृत परीक्षण किया जा

प्रकाशित "ऑर्गेनिजेशनल मेम्बरशिप एण्ड डेमोक्रेटिक कन्सेन्सस" नाम के अपने एक लेख में विस्तार से लिखा है।

सकेगा। यह भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि समूह सिद्धान्त के किसी अन्य प्रतिपादक ने, यहां तक कि ट्रूमैन ने भी इस दृष्टिकोण के एक पूर्ण विकसित सिद्धान्त होने का कभी दावा नहीं किया था, यद्यपि 'सिद्धान्त' शब्द का प्रयोग उन्होंने प्रायः किया है। समूह उपागम को यदि हम व्यावहारिक शोध का एक साधन मात्र मान कर ही चलें तो भी हमारे सामने अनेक कठिनाइयां खड़ी होती है। समूह को कार्य-विधियों का एक संकलन मात्र माना जाय और व्यक्तियों का एक सकलन नहीं, तब तो आनुभविक अन्वेषण का काम और भी कठिन हो जाता है, क्योंकि व्यक्तियों के कार्यों का तो अन्वेषण किया जा सकता है परन्तु कार्य-विधियों का नहीं। यदि यह मान लिया जाय कि समूह व्यक्तियों के हितों की रक्षा करने में समर्थ है तो व्यक्तियों को अपने हितों की चिन्ता क्यों हो? परन्तु यदि सभी व्यक्ति यह मान कर चलने लगें तो समूह की कार्य-विधियों का निर्देशन कौन करेगा?

वास्तव में, आनुभविक अन्वेषण व्यक्ति के व्यवहार का ही किया जा सकता है। यदि समूह को हम व्यक्तियों के सन्दर्भ में नहीं देखते हैं तो उसकी सीमाओं, संगठन के स्वरूपों, अथवा अन्य समूहों के साथ उसकी नीतियों को हम ठीक से समझ कैसे सकते हैं? समूह सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने समूह के हितों की कल्पना ही इस ढंग से की है कि उसका प्रयोग राजनीतिक घटनाओं के विवरण में तो हो सकता है, किसी सिद्धान्त के निर्माण में नहीं। सिद्धान्त के निर्माण के लिए एक बड़े विस्तृत ढंग से सम्प्रत्ययीकरण (conceptualization) और संवर्गीकरण (categorization) आवश्यक होता है। मानव व्यवहार को समझने के लिए सिद्धान्त हमें कुछ नये परिप्रेक्ष्य भी देता है। समूह उपागम की प्रामाणिकता को यथार्थ जीवन से बहुत से उदाहरण देकर स्थापित किया जा सकता है, परन्तु इसकी उपयोगिता इससे अधिक नहीं है। अन्त में, यह भी कहना पड़ेगा कि अमरीका की राजनीतिक प्रक्रियाओं की उपज होने के कारण यह सिद्धान्त विशेष रूप से संस्कृति-बद्ध है और एक विभिन्न वातावरण में उसका उपयोग सम्भव नहीं है।[81] दूसरे शब्दों में, यह एक अमरीकी सिद्धान्त है, अमरीकी राजनीतिशास्त्रियों के द्वारा अमरीकी राजनीतिक घटनाओं को समझने के लिए एक अत्यधिक विभेदीकृत, आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक आधुनिक, और प्रमुखतः पूंजीवादी, सामाजिक व्यवस्था में ही, जैसी आज अमरीका में मौजूद है, इस प्रकार के सिद्धान्त का विकास हो सकता था। बहुत कम अन्य देश ऐसे हैं (विकासोन्मुख समाजों में ही नहीं साधारण महत्व के भी ऐसे समूह, पश्चिमी विश्व में भी) जिनके सदस्य एक साथ ऐसे ही अनेक समूहों के, जो एक दूसरे के साथ व्यापक संघर्षों में, परन्तु ऐसे संघर्षों में जिन्हें निपटाया जा सकता है, लगे रहते हैं, इतनी

[81] डेविड ट्रूमैन ने समूहों की व्याख्या अमरीकी राजनीति के एक "अंग" के रूप में ही की है, क्योंकि, उसी के शब्दों में, वे "उन सांविधानिक समूहों—विधान सभाओं, प्रमुख कार्यकारिणियों, प्रशासनिक अभिकरणों, यहां तक कि न्यायालयों के, जो मिलकर सरकार नाम की संस्था का निर्माण करते हैं, दिन प्रति दिन के प्रकार्यों से इतने निकट रूप से सम्बद्ध हैं कि उनका तब तक समुचित वर्णन किया ही नहीं जा सकता जब तक इन के आपसी सम्बन्धों को, ताने-बाने के समान, उनसे गुंथा हुआ ही न मान लिया जाय।

बडी सख्या मे पाये जाते हैं। संसक्तता और सहमति की वह अन्तर्निहित धारणा, समूह सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने जिसे 'खेल के नियम' अथवा 'पुराने स्वभाव' का नाम दिया है, अमरीका के अतिरिक्त बहुत कम आधुनिक समाजों मे पायी जाती है। इस सबका यह अर्थ नही है कि समूह सिद्धान्त का कोई महत्व ही नही है—सभी सिद्धान्त सस्कृति-बद्ध होते हैं—*कुछ सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तो की तुलना मे अधिक सस्कृति-बद्ध हैं* परन्तु इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इस सिद्धान्त की सकल्पनाओ और सवर्गों का प्रयोग किसी ऐसे समाज मे जो अमरीका के समान असख्य समूहो मे बटा हुआ नही है, बहुत अधिक सावधानी के साथ करना चाहिए।

राज्य का शक्ति-सिद्धान्त

"राज्य के शक्ति-सिद्धान्त" का, जिसका प्रमुख आग्रह राज्य के द्वारा प्रभावशाली सैनिक शक्ति का विकास रहा है, प्रतिपादन सबसे पहले जर्मनी मे 19वी शताब्दी मे हाइनरिख वॉन ट्रीट्स्के जैसे इतिहासकारो और फ्राइडरिश नीत्शे जैसे दार्शनिकों के द्वारा किया गया और उसके बाद बीसवीं शताब्दी के बहुत से लेखको ने उसका समर्थन किया। ऐरिख कॉफमान ने 1911 मे एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमे उसने लिखा कि "राज्य का सत्त्व शक्ति के विकास, उसकी वृद्धि और उसके प्रदर्शन (machtenfaltung) मे है, जिसके साथ अपने को बनाये रखने और दूसरो पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की उसकी दृढ इच्छा भी सम्मिलित है।" इस सिद्धान्त के पीछे भावना यह थी कि राज्य का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्र की बौद्धिक और नैतिक शक्तियो को बढाना उतना नही था जितना अपने को अधिक से अधिक शक्तिशाली बनाना। उसने लिखा, राज्य का वास्तविक सामाजिक विचार "स्वतन्त्रचेता व्यक्तियो के समुदाय का निर्माण करना" नही था (जैसा कुछ अन्य जर्मन लेखको ने लिखा था) "परन्तु युद्ध मे विजय प्राप्त करना था"। कॉफमान लिखता है, "युद्ध मे राज्य का वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है, युद्ध राज्य की श्रेष्ठतम कृति है, जिसमे उसका विशेष स्वभाव अपने चरम विकास का स्पर्श करता हुआ दिखायी देता है।"[62]

मध्य यूरोप मे बाद के वर्षों मे जब इस प्रकार की रचनाओ से प्रेरणा पाकर तानाशाही व्यवस्थाओ की स्थापना हुई तो उसकी प्रतिक्रिया के रूप मे अनेक पश्चिमी राजनीतिशास्त्रियों और दार्शनिकों ने शक्ति के विरुद्ध भी लिखा। चार्ल्स मेरीयम ने सिल्ट द्वीप के अपने प्रवास मे एक पुस्तक लिखी जिसमे उसने राजनीति मे शक्ति के विचार को वह स्थान देना चाहा जो *बेन्टले ने 'हितों' को दिया था, और उसकी तुलना* भौतिकशास्त्र मे घनत्व और ऊर्जा के स्थान से की। मेरीयम ने इस पुस्तक की जो योजना बनायी उसके अन्तर्गत उसने यह बताने का प्रयत्न किया कि "किन परिस्थितियों

[62]आर्नोल्ड ब्रेक्त, 'पोलिटिकल थियरी, दि फाउण्डेशन्स ऑफ़ ट्वेन्टिएथ सेंचुरी पोलिटिकल थॉट,' टाइम्स ऑफ़ इण्डिया प्रेस, बम्बई, 1970, में पृ० 354 पर उद्धृत।

में शक्ति का उद्भव होता है; किस प्रकार से (उसे प्राप्त करने के लिए) अनेक प्रतिस्पर्द्धी निष्ठाएं सामने आती हैं; शक्ति के प्रयोग से कैसी-कैसी शर्मनाक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं; शक्ति की अनधिकारिकता और अविश्वसनीयता; शक्ति को बनाये रखने की वे कुछ तकनीकें जो वे लोग काम में लाते हैं जो शक्ति के संघर्ष में अपने को बचाये रख पाने में सफल होते हैं; और वे कुछ साधन जो वे लोग जिन पर शक्ति का प्रयोग किया जाता है अपने बचाव के लिए काम में लाते हैं; शक्ति की निःसहायता; अधिकार का विघटन, ह्रास और पतन; हमारे समय में शक्ति की उभरती हुई प्रवृत्तियां।"[63] पुस्तक की योजना के अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी होते हुए भी मेरीयम की इस पुस्तक में शक्ति की संकल्पना के विश्लेषण के सम्बन्ध में बहुत कम नयी बातें मिलती हैं। शक्ति के सम्बन्ध में मेरीयम ने जो कुछ लिखा है उसकी एक बड़ी कमी यह है कि वह शक्ति और प्राधिकार में किसी प्रकार का अन्तर नहीं बता पाया है। शक्ति बल प्रयोग का एक साधन है, और उसका प्रभाव शारीरिक होता है; प्राधिकार का आधार स्वीकृति होते हुए भी प्रायः वह अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है। बहुत सी ऐसी राजनीतिक और सामाजिक संस्थाएं हैं जिनका अधिकार क्षेत्र बहुत बड़ा है परन्तु जिनका आधार मुख्यतः स्वीकृति पर ही है। शिक्षक, पत्रकार, अथवा सार्वजनिक कार्यकर्ता के अधिकार के पीछे कोई शक्ति नहीं होती, फिर भी उन्हें बड़े आदर के साथ देखा जाता है। मेरीयम ने इन दोनों शब्दों का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में किया है, और क्योंकि वह शक्ति और प्राधिकार का भेद स्पष्ट नहीं कर सका है, उसने शक्ति के अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण पर जोर दिया है।

दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल वह पहला प्रमुख चिन्तक है जिसने राजनीति में शक्ति के स्थान की कड़े से कड़े शब्दों में भर्त्सना की है।[64] रसेल का विश्वास था कि मानव की स्वाधीनता के लिए धन की समानता अथवा वितरण से अधिक महत्त्व उस समानता का था जो शक्ति के वितरण से प्राप्त होती है। वह मानता था कि राज्य में, चाहे वह पूंजीवादी हो अथवा साम्यवादी, राजनीतिक शक्ति का केन्द्रीकरण मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण से कहीं अधिक घातक था। बर्ट्रेंड रसेल मानता था कि जहाँ, जिस मात्रा में भी, अधिकार का प्रयोग होता है वहां, उसी मात्रा में स्वतन्त्रता समाप्त होती जाती है। वह सभी प्रकार के संगठित जीवन के विरुद्ध था, चाहे वह धर्म के क्षेत्र में हो अथवा अर्थनीति अथवा राजनीति के क्षेत्र में, और उसे *व्यक्ति की स्वतन्त्र सृजनशीलता के लिए बाधा मानता था। बर्ट्रेंड रसेल ने मानव*

[63] चार्ल्स ई० मेरीयम 'पोलिटिकल पॉवर,' न्यूयार्क, 1934।

[64] अपनी 'फ्री मैन्स वर्शिप' से लेकर, जो लन्दन में 1902 में प्रकाशित हुई थी, 'अथोरिटी एण्ड दि इन्डिविजुअल,' लन्दन, जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन, 1949 के रूप में प्रकाशित उसकी 'रीथ व्याख्यानमाला' तक बर्ट्रेंड रसेल ने शक्ति के विरोध में अपना अभियान जारी रखा, परन्तु केवल अपनी 'पॉवर : ए न्यू सोशल एनालिसिस,' लन्दन, जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन 1937, नाम की पुस्तक में उसने शक्ति की संकल्पना का विस्तार से विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है।

प्रकृति के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा शक्ति के विरुद्ध दिये गये अपने तर्कों का समर्थन किया।[65] वह मानता था कि राज्य की शक्ति में वृद्धि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी उतनी ही खतरनाक थी जितनी घरेलू राजनीति के क्षेत्र में—वह उन्हें भी जो उसका प्रयोग करते हैं, उतना ही नुकसान पहुंचाती है, जितना उन्हें जिनके विरुद्ध उसका प्रयोग किया जाता है। "जिन व्यक्तियों को अधिकार के प्रयोग की आदत पड जाती है वे विदेशी सरकारों के साथ मित्रतापूर्ण वार्ताओं के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हो जाते है।"[66] दूसरी ओर, राज्य के संगठन की व्यापकता नागरिकों के मन में "नि:सहायता की भावना और सभी बड़ी समस्याओं के प्रति सम्पूर्ण नपुंसकता" का निर्माण करती है। "प्राचीन यूनान और मध्यकालीन इटली के नगर राज्यों से बिल्कुल विपरीत, आधुनिक राज्यों में व्यक्ति के लिए किसी काम में पहल करना कठिन हो जाता है और अधिकांश लोगों के मन में यह भावना घर कर लेती है कि वे स्वयं अपने राजनीतिक भाग्य को नियन्त्रित करने की दृष्टि से सर्वथा असमर्थ हैं।"[67] एक और स्थान पर उसने लिखा, "शक्ति के प्रयोग की आदत प्रतिस्पर्द्धा की प्रवृत्ति अथवा आवेश को दृढ बनाती है, इस कारण वह राज्य जिसमें शक्ति का केन्द्रीकरण होता है, उस राज्य की तुलना में जिसमें वह विकीर्ण होती है, अधिक युद्ध प्रिय होता है।"[68] शक्ति के असीम अधिकार के प्रयोग के कारण ही वह साम्यवाद के विरुद्ध था। साम्यवाद को वह एक ऐसा 'नौकरशाही कुलीनतन्त्र" मानता था "जिसके हाथों में समस्त शक्ति केन्द्रित थी, और जिसने एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया था जो पूंजीवाद के समान ही निर्मम और क्रूर थी।"[69] रसेल मानता था कि साम्यवादी तानाशाही और उसके हिंसा के साधन दोनों ही उन उद्देश्यों के लिए खतरनाक थे जिन्हें साम्यवादी प्राप्त करना चाहते है और यह खतरा वास्तव में उस "शक्ति के केन्द्रीकरण में अन्तर्निहित" था जो दोनों ही व्यवस्थाओं में अनिवार्य था। अपने समस्त जीवन में रसेल ने राजनीतिक जीवन को इस प्रकार से व्यवस्थित करने का प्रतिपादन किया कि वह एक छोटे समूह के हाथों में केन्द्रित न हो जाय।

राजनीति-शास्त्र में जॉर्ज कैटलिन वह पहला व्यक्ति था जिसने एक ऐसे व्यवस्थित सिद्धान्त अथवा सकल्पनात्मक संरचना का विकास किया जिसमें शक्ति को केन्द्रीय स्थान पर रखा गया था। कैटलीन ने कहा कि राजनीति को "सरकार का अध्ययन" माना जा सकता है यदि सरकार का अर्थ "नियन्त्रण" से हो। कैटलीन ने राजनीति के सम्बन्ध में मैक्स वेबर की उस परिभाषा को स्वीकार किया है जिसमें उसे "शक्ति के लिए संघर्ष

[65]बर्ट्रेण्ड रसेल, 'ह्यूमन नेचर इन एथिक्स एण्ड पोलिटिक्स,' लन्दन, जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन, 1954।

[66]बर्ट्रेण्ड रसेल, 'प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल रिकन्स्ट्रक्शन,' लन्दन, जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन, 1920, पृ० 47।

[67]वही, पृ० 44।

[68]बर्ट्रेण्ड रसेल, 'दि प्रैक्टिस एण्ड थियरी ऑफ बोल्शेविज्म,' लन्दन, जॉर्ज एलन एण्ड अनविन, 1920, पृ० 90।

[69]वही, पृ० 92।

अथवा उन लोगों को जो शक्ति में हैं प्रभावित करने की प्रक्रिया" बताया गया है। उसकी दृष्टि में राजनीति-शास्त्र का क्षेत्र "सामाजिक नियन्त्रणों के अध्ययन, अथवा अधिक स्पष्ट रूप से कहा जाय तो, मानवी, और यहां तक कि पाशविक इच्छाओं के भी, सम्बन्धों को नियन्त्रित करने का क्षेत्र" है।[70] "राजनीतिकरण" जिससे उसका अभिप्राय "नागरिक प्रशासन के क्षेत्रों के अतिरिक्त दूसरे क्षेत्रों में भी नियन्त्रण के स्पष्टतः राजनीतिक प्रकार्य के अध्ययन में इस उपागम के प्रयोग" से था, और शक्ति की प्रावकल्पना के प्रयोग को कैटलीन ने राजनीतिशास्त्र में हाल के वर्षों में होने वाले "शायद ऐसे दो क्रान्तिकारी परिवर्तन" माना है "जिन्होंने राजनीति-विज्ञान की प्रकृति को ही बदल दिया है।"[71] कैटलीन ने इस बात पर जोर दिया है कि "नियन्त्रण की प्रत्येक प्रक्रिया "राजनीति-विज्ञान का एक घटक" है। राजनीति, इस प्रकार, "इच्छाओं का वह सम्बन्ध" है "जिसका आधार नियन्त्रण पर है।"[72] कैटलीन का दावा है कि वह अपने को उस अर्थ में बिना किसी झिझक के मनोवैज्ञानिक माना जाना चाहेगा जिसमें ग्राहम वैलास और जेम्स ब्राइस मनोवैज्ञानिक थे और उसने अपने शक्ति के सिद्धान्त को मनोविज्ञान की सहायता से न्यायोचित ठहराने का प्रयत्न किया है। कैटलीन के अनुसार, राजनीतिशास्त्र "नियन्त्रण की उस स्थिति का अध्ययन है जो शक्ति (प्राप्त करने) के लिए एक मूलभूत, पर अनभिज्ञात, प्रेरणा के द्वारा निर्धारित होती है।" राजनीतिशास्त्र को "शक्ति का विज्ञान" कहने में भी कैटलीन को संकोच नहीं है।[73]

शक्ति की केन्द्रीयता के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा चुका था पर कैटलीन से पहले किसी राजनीतिशास्त्री ने उसका बहुत गहराई के साथ विश्लेषण करने का प्रयत्न नहीं किया था। कैटलीन ने यह प्रयत्न किया है। वह मानता था कि "शक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा" सदा मनोवैज्ञानिक ही नहीं होती, कई बार वह मानसिक विकृति और मानसिक रोग का परिणाम भी हो सकती है। परन्तु यह कह कर कि वह सदा बुरी होती है, उसका तिरस्कार भी नहीं किया जा सकता (जैसा रसेल ने किया था)। म इस प्रकार के उदाहरण जिनमें हम व्यक्ति को नियन्त्रित किये जाने की इच्छा अथवा पलायनवाद के कारण अपने "भीतर सिमटता हुआ" और "निष्क्रिय" रहता पाते हैं, ऐसे कारण ही सिद्ध किये जा सकते हैं जो इस सिद्धान्त को असत्य प्रमाणित करते हैं। वास्तव में शक्ति का प्रयोग कभी-कभी अपने को उससे हटा लेने के द्वारा अधिक प्रभावशाली ढंग से होता है (जैसा गांधी ने किया), उसे प्राप्त करने की तुलना में। कैटलीन मानता है कि समस्त सामाजिक संगठन का आधार नियन्त्रण पर है—एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर नियन्त्रण, अथवा एक समूह का एक व्यक्ति पर नियन्त्रण, अथवा एक समूह का

[70]जॉर्ज ई० जी० कैटलीन, 'पोलिटिकल थ्योरी : व्हाट इज इट,' जेम्स ए० गोल्ड और विन्सेण्ट वी० थर्सबी द्वारा सम्पादित, 'कोंटेम्परेरी पोलिटिकल थॉट, इशूज इन स्कोप, वैल्यू एण्ड डायरेक्शन,' होल्ट, राइनहार्ट एण्ड विंस्टन, इन्क०, 1969, पृ० 28।

[71]वही, पृ० 29।

[72]वही, पृ० 30।

[73]वही, पृ० 31।

दूसरे समूह पर नियन्त्रण, और इन्ही नियन्त्रणो को व्यवस्थित करने के लिए सस्थाओ का सगठन किया जाता है। कैटलीन लिखता है, "इस प्रकार के नियन्त्रण केवल इस कारण ही व्यवहार मे नही आते कि प्रकृति से निर्दोष और उदारचेता आदिम मानव की विकारहीन प्रवृत्ति पर सभ्यता के एक उपकरण मे उन्हे लाद लेने की समाज की कोई विवशता है, परन्तु वे मनुष्य की उन स्वाभाविक मागो का भी परिणाम है जिन्हे वह अपने लिये अधिक सम्पूर्ण स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए आवश्यक समझता है।"[74] कैटलीन का यह दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य की प्रकृति को इन नियन्त्रणो की न केवल आवश्यकता है, परन्तु उनकी वह माग भी करती है। वह मानता है कि ऊपर से परस्पर विरोधी दिखायी देने वाली स्वतन्त्रता और अधिकार की मागों का आपसी सम्बन्ध उसी प्रकार राजनीतिशास्त्र का आधार है जिस प्रकार माग, पूर्ति और प्रतिस्पर्द्धा के द्वारा निश्चित किया गया मूल्य अर्थशास्त्र का। शक्ति की सकल्पना के अपने विश्लेषण मे कैटलीन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि शक्ति से उसका अर्थ 'प्रभुत्व' की स्थिति अथवा सैनिक शक्ति से नही है। मॉर्गेन्थो की उस प्रसिद्ध उक्ति की आलोचना करते हुए जिसमे उसने कहा था, "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के चाहे अन्तिम उद्देश्य कुछ भी क्यो न हो, उसका तात्कालिक उद्देश्य शक्ति प्राप्त करना होता है", कैटलीन ने सुझाव दिया कि सहयोग भी शक्ति का एक रूप हो सकता है, "जिसका निर्माण शायद अधिक सूक्ष्म और कठिन काम हो, परन्तु जो प्रभुत्व से अधिक स्थायी हो।"[75]

शक्ति सिद्धान्त का सबसे विस्तृत विश्लेषण हमे लासवेल और कैपलन की रचनाओ मे मिलता है। वे लिखते है, "शक्ति की सकल्पना सम्भवतः समस्त राजनीति-शास्त्र की मूल सकल्पना है; राजनीतिक प्रक्रिया का अर्थ है शक्ति को आकार देना, शक्ति वितरण करना और शक्ति का उपयोग करना।"[76] लासवेल ने कैटलीन के इन विचारो का प्रशसा के साथ उल्लेख किया है कि "राजनीति-विज्ञान, एक सैद्धान्तिक अध्ययन के रूप मे, मनुष्यों के आपसी सम्बन्धो के साथ जुडा हुआ है, ऐसे सम्बन्धो के साथ जिनका उद्देश्य समूहबद्धता और प्रतिस्पर्द्धा के क्षेत्र मे हो सकता है और आज्ञाकारिता और नियन्त्रण के क्षेत्र मे भी, जहा तक वे किसी वस्तु के उत्पादन और उपभोग की खोज मे लगे हुए नही हैं परन्तु दूसरे मनुष्यो को अपनी इच्छा के सामने झुकाना चाहते है।. . राजनीतिक सम्बन्धो का लक्ष्य सदा ही मनुष्यो के द्वारा शक्ति की खोज है।"[77] लासवेल शक्ति की व्यापक सकल्पना और उसके उस विशिष्ठ रूप मे जिसमे राजनीति मे उसका प्रयोग होता है, अन्तर करता है। रसेल की शक्ति की यह परिभाषा कि वह "अभीसिप्त प्रभावो की सृष्टि" है, व्यक्तियो और समूहो दोनो के सम्बन्ध मे व्यवहार

[74]वही, पृ० 33।

[75]वही, पृ० 36।

[76]हैरल्ड डी० लासवेल और अब्राहम कैप्लन, 'पॉवर एण्ड सोसाइटी : ए फ्रेमवर्क ऑफ पोलिटिकल इन्क्वायरी,' न्यू हेवन और लन्दन, येल विश्वविद्यालय प्रेस, 1950, पृ० 75।

[77]जॉर्ज ई० जी० कैटलीन, 'साइन्स एण्ड मैथड ऑफ पोलिटिक्स,' एल्फ्रेड ए० नोफ, 1927, पृ० 262।

में लायी जा सकती है, परन्तु राजनीतिक दृष्टि से जब हम शक्ति की बात करते हैं तो उसका अर्थ एक व्यापक रूप में अभीप्सित प्रभावों की सृष्टि नहीं होता परन्तु केवल उन प्रभावों की सृष्टि होता है जिनका सीधा सम्बन्ध दूसरे मनुष्यों से होता है : इस प्रकार राजनीतिक शक्ति में, जो अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करती है, और प्रकृति के ऊपर की शक्ति में अन्तर किया जाना आवश्यक है। फ्राइडरिश ने शक्ति की परिभाषा "एक विशेष प्रकार के मानवी सम्बन्ध" के रूप में दी है[78] और टौनी ने उसे किसी एक व्यक्ति, अथवा व्यक्तियों के समूह, की दूसरे व्यक्तियों अथवा समूहों के व्यवहार को उस दिशा में जिसमें शक्ति का उपयोग करने वाला चाहता है, मोड़ देने की क्षमता बताया है।[79] शक्ति का अर्थ निर्णयों के निर्माण में सहभागिता बताते हुए लासवेल लिखता है, "निर्णयों का निर्माण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका सम्बन्ध अन्य व्यक्तियों से होता है; उसमें यह निश्चय किया जाता है कि निर्धारित नीतियों पर ये अन्य व्यक्ति कैसे चलेंगे।"[80] वह इस सम्बन्ध में फ्राइडरिश से सहमत है कि "न केवल वस्तुएं, और न केवल विचार, अपने आप में शक्ति हैं। उन्हें शक्ति में परिवर्तित करने के लिए शक्ति को खोज करने वाले व्यक्ति के लिए उन व्यक्तियों की तलाश करना आवश्यक है जिनकी दृष्टि में प्राप्त होने वाली वस्तुओं का इतना अधिक मूल्य है कि वे, बदले में, उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए तत्पर हो जाते हैं।[81]

शक्ति के सम्बन्ध में केवल यही प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है कि "शक्ति किसके लिए" है परन्तु यह भी कि शक्ति का प्रयोग किन परिस्थितियों में हो रहा है।" यह सम्भव है कि के सन्दर्भ में अ और ब दोनों ही शक्तिशाली हों, परन्तु उनका प्रभाव स के व्यवहार के विभिन्न क्षेत्रों पर हो सकता है। साथ ही, हमें यह भी सोचना है कि "दूसरे व्यक्तियों पर अभीप्सित प्रभाव डालने के लिए," उस स्थिति में जबकि अभीप्सित परिणाम सामने न आ रहे हों, सामर्थ्य की उपलब्धता और और आधार क्या हैं। इस सामर्थ्य को काम में लाने की धमकी ही शक्ति को सामान्य रूप से प्रभाव से भिन्न करती है। लासवेल ने इन दोनों के बीच के अन्तर को स्पष्ट करते हुए बताया है कि शक्ति "प्रभाव को प्रयोग में लाने का विशिष्ट उदाहरण" है, "दूसरों की नीतियों को अभीप्सित नीतियों के समरूप न लाये जाने की स्थिति में (वास्तविक दण्ड प्रयोग अथवा उसकी धमकी के द्वारा) उन्हें स्वीकृत कराने की प्रक्रिया।"[82] लासवेल इस बात में तो मेरीयम से सम्पूर्णतः सहमत है कि वह यह आवश्यक नहीं मानता कि शक्ति के प्रयोग का आधार हमेशा ही, अथवा सामान्य रूप से, हिंसा पर होता है, अथवा बल प्रयोग को, हिंसा और शारीरिक क्रूरता के अर्थों में, शक्ति की स्थिति का निचोड़ माना जा सकता

[78] सी० जे० फ्राइडरिश, 'कॉन्स्टीट्यूशनल गवर्नमेंट एण्ड पॉलिटिक्स,' हार्पर, 1937, पृ० 12-14।
[79] आर० एच० टौनी, 'इक्वेलिटी' हारकोर्ट, ब्रेस, 1931, पृ० 230।
[80] हेरल्ड डी० लासवेल, पी० उ०, पृ० 75-76।
[81] सी० जे० फ्राइडरिश, पी० उ०, पृ० 12।
[82] वही, पृ० 76।

है।[83] शक्ति का आधार विश्वास और निष्ठाएं, आदत और निष्क्रियता भी उतना ही हो सकते हैं जितना हितों की खोज। यह भी आवश्यक नहीं है कि जब कभी नियन्त्रण लगाये जाएं उनका रूप हिंसा का ही हो। शक्ति का तो केवल यही अर्थ है कि (दूसरे की) नीतियों पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखा जा सके; इस नियन्त्रण को प्रभावशाली बनाने के साधन अनेक और विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। राजनीति-विज्ञान का सम्बन्ध, सामान्य रूप से, शक्ति के साथ है, उसके व्यापक रूप में भी और उन विशिष्ट रूपों में भी जिनमें वह प्रयोग में लायी जाती है। राजनीतिक शक्ति, वास्तव में एक ऐसी जटिल संकल्पना है जिसके पीछे सदा ही यह मान्यता होती है कि उसके कई रूप हो सकते हैं, जैसे सम्पत्ति, शस्त्रास्त्र, नागरिक अधिकार, जनमत पर प्रभाव—जिनमें से किसी को भी किसी दूसरे पर आश्रित नहीं माना जा सकता। राजनीतिक मनुष्य की संकल्पना, जिसमें व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने सभी मूल्यों के सन्दर्भ में अपनी शक्ति को अधिक से अधिक बढ़ा लेना चाहता है, जो शक्ति के प्रयोग के द्वारा और अधिक शक्ति को प्राप्त करने की अपेक्षा करता है, और जो सभी अन्य व्यक्तियों को अपनी शक्ति की वृद्धि का साधन मात्र मानता है, एक ऐसा प्रारूप है जिसके इतिहास में कुछ लोग तो पहुंच सके हैं पर जिसे सम्पूर्णतः कोई भी प्राप्त नहीं कर सका है और उसका राजनीति-विज्ञान में वही स्थान है जो गम्भीर आर्थिक सिद्धान्त के इतिहास में आर्थिक व्यक्ति की संकल्पना का। हॉब्स का यह विचार कि सभी मनुष्यों में "अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करने की एक ऐसी चिरन्तन और अथक इच्छा है जिसका अन्त केवल मृत्यु से ही होता है,"[84] और मिचेल्स के द्वारा उसकी यह आधुनिक व्याख्या कि "जिसने शक्ति प्राप्त कर ली है वह सदा ही उसे अधिक दृढ़ और व्यापक बनाने के प्रयत्नों में जुटा रहता है,"[85] ऐसे वक्तव्य हैं जिन्हें केवल यह निर्णय करने के लिए कि कोई विशिष्ट स्थिति उसके सैद्धान्तिक रूप से कितनी भिन्न है मापदण्डों के रूप में काम में लिया जा सकता है। पर, इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें व्यक्ति ने आदर, सम्पत्ति और अन्य इच्छित मूल्यों के लिए शक्ति का परित्याग किया है। यह कहना भी गलत होगा कि शक्ति को केवल शक्ति के द्वारा ही मर्यादित किया जा सकता है। शक्ति के क्षेत्र, वजन और गहराई की सीमाएं अनेक तकनीकी तत्त्वों, समाज व्यवस्था अथवा लोकाचार के द्वारा भी सीमित की जा सकती हैं। "शक्ति वितरणात्मक है और राजनीति-विज्ञान का लक्ष्य यह निर्धारित करना है कि उसका वितरण कैसे और किस आधार पर हो।"[86]

"अभिजन सिद्धान्त", "समूह सिद्धान्त" और "शक्ति सिद्धान्त" इन तीनों का एक

[83]चार्ल्स मेरीयम ने लिखा था, 'मानव सम्बन्धों और संगठनों में परार्थवाद और स्वार्थवाद दोनों ही के लिए स्थान है, और सहयोग भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना बल प्रयोग।" 'पोलिटिकल पॉवर', मैग्रा-हिल, 1934, पृ० 20।

[84]टॉमस हॉब्स, 'लेवियाथन,' 1951, अध्याय 11।

[85]रॉबर्टो मिचेल्स, 'पोलिटिकल पार्टीज,' हार्ट इन्टरनेशनल लायब्रेरी, पृ० 207।

[86]हेरल्ड डी० लासवेल, पी० उ०, पृ० 96।

दूसरे के साथ निकटतम सम्बन्ध है। गहराई से विश्लेषण करने पर हम यही पायेंगे कि इन तीनों का सम्बन्ध शक्ति से है। अभिजन सिद्धान्त को हम लें, विशेषकर उसके प्रारम्भिक रूप में, तो राजनीति का अध्ययन शक्ति सम्बन्धों का अध्ययन मात्र रह जाता है। समूह सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी यही बात सत्य प्रतीत होती है। रॉय सी० मैक्रिडिस के शब्दों में "शक्ति की प्राप्ति के लिए ही प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष-रत हित अपने को समूह के रूप में संगठित करते हैं।"[37] *शक्ति का अध्ययन करने के लिए जब तक हमारे* पास एक पर्याप्त सकल्पनात्मक आधार न हो, हम न तो अभिजन सिद्धान्त को ठीक से समझ सकते हैं और न समूह सिद्धान्त को। परन्तु, जैसा कि लासवेल और कैपलन दोनों की इस सम्बन्ध में एक स्पष्ट व्याख्या देने की असमर्थता से सिद्ध हो जाता है, शक्ति एक ऐसी अत्यधिक कठिन संकल्पना है कि उसकी व्याख्या करना सम्भव नहीं है। यदि हम राजनीति के क्षेत्र में शक्ति की तुलना अर्थनीति के क्षेत्र में धन से करें तो हमारे सामने तुरन्त यह कठिनाई आती है कि जबकि धन के द्वारा सभी भौतिक वस्तुएं खरीदी जा सकती हैं, राजनीतिक जीवन के बहुत से क्षेत्र ऐसे हैं जहां शक्ति सम्पूर्णतः प्रभावहीन दिखायी देती है, जब कि अनेक अन्य क्षेत्र ऐसे हैं जहां वह उतनी ही अधिक प्रभावपूर्ण है।

ऊपर जिन सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है उन सभी का आधार वास्तव में उन समस्याओं को ठीक से न समझने पर है जिनके सुलझा पाने की अपेक्षा राजनीति-विज्ञान से की जाती है। *राजनीतिक विचारक काफी समय से यह महसूस करने लगे हैं कि 'राजनीति' के सारभूत तत्त्वों की न तो व्याख्या की जा सकती है और न उन्हें निर्दिष्ट ही* किया जा सकता है। दूसरी ओर इन सिद्धान्तों के प्रतिपादक 'राजनीति के एक सिद्धान्त' की खोज में हैं, जो एक अन्तहीन खोज है। राजनीति स्पष्टतः एक घटना नहीं है। वह गतिविधियों के एक व्यापक क्षेत्र की ओर संकेत मात्र करती है, परन्तु यह आवश्यक *नहीं है कि उनमें से किसी भी गतिविधि को राजनीति के 'मूल अर्थ' के साथ बहुत निकट* से सम्बद्ध किया जा सके। मीहान ने लिखा है, "किसी शास्त्र की परिभाषा उसके उद्देश्य के सन्दर्भ में नहीं की जा सकती, वह राजनीति-शास्त्र हो अथवा भौतिकशास्त्र, और राजनीति के एक सिद्धान्त की मांग उतनी ही निरर्थक है जितनी भौतिकशास्त्र के एक सिद्धान्त की मांग।"[38] इनमें से कोई भी उपागम एक 'सिद्धान्त' के स्तर तक नहीं पहुंच *सका है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनके महत्त्व को किसी प्रकार कम करके आंका* जा सकता है। अभिजन, समूह और शक्ति, राजनीतिक घटनाओं को आकार देने में इन सभी की प्रमुख भूमिकाएं हैं। राजनीति को तब तक ठीक से नहीं समझा जा सकता जब तक शासक वर्ग अथवा शासक और शासित अभिजनों को हम निर्दिष्ट कर पाने और उनकी अपनी-अपनी भूमिकाओं का मूल्यांकन कर पाने की स्थिति में न हों। यह *भी सच है कि राजनीति की अधिकांश गतिविधियां समूहों के रूप में हमारे सामने*

[37] रॉय सी० मैक्रिडिस और बर्नार्ड ई० ब्राउन, पी० उ०, पृ० 139।

[38] यूजीन जे० मीहान, 'कण्टेंपरेरी पोलिटिकल थॉट : ए क्रिटिकल स्टडी,' होमवुड, इलीनोय, दि डोर्सी प्रेस, 1967, पृ० 104।

आती हैं, यद्यपि जैसा पहले कहा जा चुका है, ऐसे समूह अपने आप मे चाहे कितने ही महत्त्वपूर्ण क्यो न हो, न तो व्यक्ति को और न समाज को ही हम दृष्टि से ओझल कर सकते हैं। मॉर्गेन्थो ने यह तो ठीक ही कहा था कि "शक्ति की सकल्पना हमें राजनीति-विज्ञान के नक्शे का एक प्रकार का तर्कसम्मत खाका खीचने मे मदद पहुचाती है," परन्तु उसका यह वक्तव्य गलत है कि उसके आधार पर राजनीति के आदर्शात्मक और विश्लेषणात्मक दोनो उद्देश्यो को समझा जा सकता है।[89] इस सारी विवेचना से हम इस परिणाम पर पहुचते है कि, राजनीति की व्याख्या करने की दृष्टि से, अभिजन, समूह और शक्ति, ये तीनों केवल विवरणात्मक सकल्पनाएं हैं, परन्तु इनमे से किसी को भी राजनीति की एक सकल्पनात्मक सरचना मान लेना ठीक नही होगा, और उनमे से *किसी को भी एक 'सिद्धान्त' के रूप मे तो कभी भी स्वीकार नही किया जा सकता।* राजनीतिक घटनाओ को उनके सम्पूर्ण रूप मे न तो अभिजनो की भूमिका के सन्दर्भ मे समझा जा सकता है—जन साधारण उनसे कही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—न समूह की दृष्टि से, जब तक हम समूह को उतना व्यापक न मान लें जितना बैन्टले ने मानने का प्रयत्न किया था, जो एक सर्वथा असफल प्रयत्न था, और न शक्ति को ही हम—मॉर्गेन्थो के समान—राजनीति को आकार देने मे एक-मात्र, अथवा प्रमुख, तत्त्व ही मान सकते है।

[89]हैंस मोर्गेन्थो, "पॉवर एज ए पोलिटिकल कॉन्सेप्ट," रोनल्ड यग द्वारा सम्पादित 'एप्रोचेज टू दी स्टडी ऑफ पोलिटिक्स,' इवान्स्टन, इलीनोय, नॉर्थवेस्टर्न विश्वविद्यालय प्रेस, 1958।

अध्याय 4

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त और राजनीतिक विश्लेषण
(GENERAL SYSTEMS THEORY AND POLITICAL ANALYSIS)

डेविड ईस्टन और गैब्रियल आमण्ड के सिद्धान्त

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त की संकल्पना सबसे पहले 1920 के दशक में लुडविग वोन बर्टेलनफी नाम के प्रसिद्ध जीव-विज्ञानशास्त्री की रचनाओं में पायी जाती है।[1] यद्यपि विज्ञानों के एकीकरण की आवश्यकता पर दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अनेक शास्त्रों में बहुत से लेखकों ने लिखना शुरू किया और वास्तव में यही संकल्पना सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त की जड़ में भी था। इस दृष्टिकोण के प्रतिपादकों का कहना था कि ज्ञान को विभिन्न क्षेत्रों में कठोरता के साथ विभाजित कर दिया गया था, जिसके परिणामस्वरूप ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में तो एक दूसरे के साथ आदान-प्रदान की प्रक्रिया रुक ही गयी थी, ज्ञान के प्रत्येक विशिष्ट क्षेत्र की प्रगति में भी बाधा आ रही थी। यह स्थिति उत्पन्न हो गयी थी कि एक विज्ञान में होने वाले विकास की सहायता से दूसरे विज्ञानों की उसी प्रकार की समस्याओं को समझ पाना सम्भव नहीं रह गया था। प्रत्येक विज्ञान में आरम्भ से ही स्वयं अपनी विशिष्ट समस्याओं पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित करने और ऐसे व्यापक सैद्धान्तिक चिन्तन से, जिसके दायरे में अन्य विज्ञानों को भी लिया जा सके, अपने को दूर रखने की प्रवृत्ति के अत्यधिक प्रबल होने के समान प्रत्येक विज्ञान को स्वयं अपनी सैद्धान्तिक संकल्पनाओं, नियमों और दार्शनिक दृष्टिकोणों का निर्माण करने के लिए विवश होना पड़ रहा था। सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने इस प्रवृत्ति का सशक्त विरोध किया। उन्होंने अपनी यह मान्यता प्रकट की कि विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में बहुत सी समानताएं थी जिनके आधार पर एक ऐसे व्यापक सिद्धान्त की खोज की जा सकती थी जिसकी सहायता से प्रत्येक विज्ञान को अपनी समस्याएं अधिक अच्छी तरह समझने में सहायता मिल सकती थी और जिसका प्रयोग वह अपने क्षेत्र में विस्तृत खोजों में सफलता के साथ कर सकता था। 1950 के दशक के मध्य तक इस विचारधारा ने एक निश्चित आन्दोलन का रूप ले लिया था। अनेक सभाओं व समितियों में, जिनमें प्रायः

[1]"जनरल सिस्टम," खण्ड 1, 1956, में पृ० 1-10 पर प्रकाशित लुडविग वोन बर्टेलनफी के "जनरल सिस्टम्स" नाम के लेख से सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त को, उसके सही परिप्रेक्ष्य में, समझने में उपयोगी सहायता मिलती है।

विभिन्न विज्ञानो के जानकार मौजूद रहते थे, इस बात पर गम्भीरता से विचार किया जा रहा था कि सभी विज्ञानो को एक दूसरे से जोडने वाली कडी क्या हो सकती थी। इसके परिणामस्वरूप व्यापक व्यवस्था सिद्धान्त के विकास मे सहायता पहुँचाने के लिए "सोसाइटी फॉर दि एडवान्समेंट ऑफ जनरल सिस्टम्स रिसर्च" नाम की एक सस्था की स्थापना हुई। इस सोसाइटी ने 1956 मे एक वार्षिक ग्रन्थ का प्रकाशन आरम्भ किया। उसी वर्ष रॉय आर० ग्रिंकर के द्वारा सम्पादित पुस्तक "टुवर्ड ए यूनिफाइड थियरी ऑफ ह्यूमन बिहेवियर" का प्रकाशन हुआ।[2] सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त के सम्बन्ध मे स्थापित सोसाइटी के द्वारा प्रकाशित वार्षिक ग्रन्थो और ग्रिंकर की इस पुस्तक ने मिल कर उन बहुत सी सकल्पनाओ को स्पष्ट और प्रसारित किया जिन्हे हम बाद मे व्यापक व्यवस्था सिद्धान्त के रूप मे विकसित होते हुए देखते हैं।

व्यवस्थाओ की सकल्पना सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त का केन्द्रीय और निदेशक विचार है। व्यवस्था किसे कहते है ? व्यवस्था की जो अनेक परिभाषाए हम देखते हैं उन मे विशेष कर जिन बातो पर जोर दिया गया है वे ये हैं "बहुत से ऐसे तत्त्वो का एक साथ पाया जाना जिनका एक दूसरे के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्बन्ध हो।"[3] "विभिन्न वस्तुओ का एक ऐसा सकलन जिनके उद्देश्यों और गुणो मे निकट का सम्बन्ध हो।"[4] अथवा "एक ऐसी सम्पूर्ण इकाई जो अनेक भागों से मिलकर बनती है—और अनेक गुणों का मिश्रण है।"[5] इन सब परिभाषाओ के पीछे हमे यह विचार दिखायी देता है कि व्यवस्था वस्तुओ अथवा तत्त्वो का एक ऐसा सकलन है जो कुछ विशेष सरचनात्मक सम्बन्धो मे एक दूसरे के साथ जुडा होता है और कुछ विशेष प्रक्रियाओ के आधार पर एक दूसरे को प्रभावित करता रहता है। यह मान भी लें कि व्यवस्था विभिन्न वस्तुओं अथवा तत्त्वो का एक ऐसा समुच्चय है जो एक विशेष सरचनात्मक सम्बन्ध मे एक दूसरे के साथ जुडे हुए है और कुछ विशेष प्रक्रियाओ के आधार पर एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं तब भी इस सारी स्थिति को 'व्यवस्था' का नाम देने से पहले क्या यह जान लेना आवश्यक नही हो जाता कि विभिन्न वस्तुओ अथवा तत्त्वो की, जिनके समुच्चय से व्यवस्था का निर्माण होता है, आपसी सम्बन्धो की गहराई अथवा प्रगाढता कितनी है और उसकी विभिन्न उप-व्यवस्थाओ की पारस्परिक अन्त.क्रियाओं का परिमाण कितना है। दूसरे शब्दो मे, मूल प्रश्न यह है कि विभिन्न तत्त्वो के आकस्मिक रूप से एक दूसरे के सम्पर्क मे आ जाने और उनमे व्यवस्था का रूप लेने मे क्या अन्तर है ?

इस प्रश्न के दो भिन्न-भिन्न उत्तर दिये गये हैं। एक ओर तो वे लोग हैं जिनकी *आस्था सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त के निरपेक्ष (absolute) रूप मे है* और जो यह विश्वास करते है कि कुछ ऐसी मूलभूत अभिविन्यासी (orienting) सकल्पनाएं हैं,

[2]रॉय आर० ग्रिंकर, "टुवर्ड ए थियरी ऑफ ह्यूमन बिहेवियर," न्यूयार्क, बेसिक बुक्स, 1956।
[3]लुडविग वोन बर्टलनफी, पी० उ०, पृ० 31।
[4]ए० हॉल और आर फेगन, "डेफिनीशन ऑफ ए सिस्टम," 'जनरल सिस्टम,' पी० उ०, पृ० 181।
[5]कौलिन चेरी, 'ऑन ह्यूमन कम्यूनिकेशन,' न्यूयार्क, विली, 1961, पृ० 307।

चाहे वे अमूर्त हों, जो सभी प्रकार की व्यवस्थाओं में सामान्य प्रकार से पायी जाती हैं। इस विचारधारा के लोगों ने समरूपता (isomorphic) और अन्तर्ग्रथित व्यवस्थाओं (interlocking systems) की संकल्पनाओं का विकास किया है। समरूपता (isomorphism) का अर्थ है कि "सभी व्यवस्थाओं में वस्तुओं के बीच एक ही प्रकार की क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं होती हैं, जो उनके सम्बन्धों को सुरक्षित रखती हैं।"[6] अन्तर्ग्रथित व्यवस्थाओं (interlocking systems) का अर्थ है कि सभी व्यवस्थाओं में निदेशक सिद्धान्तों और प्रक्रियाओं में कुछ मूलभूत समानताएं हैं और जिनकी उपव्यवस्थाओं का एक समुच्चय अथवा एक से अधिक समुच्चय हैं जिनके आपसी सम्बन्ध भी सभी व्यवस्थाओं में एक ही प्रकार के पाये जाते हैं। व्यवस्था सिद्धान्त के सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण, जिसे साधारण तौर पर उसका "रचनात्मक" दृष्टिकोण कहा जाता है, यह मानता है कि हमें उसके दार्शनिक पक्ष को ध्यान में न लेते हुए अपने शोध के कार्यों में व्यवस्था सिद्धान्त का व्यावहारिक उपयोग कर लेना चाहिए। जब भी हमें कुछ तत्त्वों का एक ऐसा संग्रह दिखायी दे जो हमारी उत्सुकता को बढ़ाता हो, शोध की दृष्टि से, कम से कम तथ्यों के संकलन और प्रारम्भिक विश्लेषण की दृष्टि से, उसे एक व्यवस्था मान सकते हैं। उसके पीछे वास्तव में 'व्यवस्था' का अस्तित्व है अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय विश्लेषण की बाद की मंजिलों पर ही लिया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि यह दूसरा दृष्टिकोण उतना परिष्कृत अथवा सुसंस्कृत नहीं है जितना पहला दृष्टिकोण। यह मूल तत्त्वों की खोज और सैद्धान्तीकरण की वैचारिक प्रक्रियाओं को दूर रखना चाहता है जिसके कारण शोधकर्ता को अपनी सामग्री को व्यवस्थित रूप देने और अपनी शोध के प्रारम्भिक चरणों में तथ्यों का वर्गीकरण करने में कुछ कठिनाई उत्पन्न हो सकती है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसने सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त को प्रयोग की दृष्टि से अधिक सुसम्बद्ध और उपयोगी रूप दिया है।

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त : उद्गम और प्रारम्भिक विकास

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त की आधारभूत प्रकृति और उसकी प्रमुख प्रचालन (operating) संकल्पनाओं के विश्लेषण में प्रवेश करने से पहले यह उपयोगी होगा कि हम इस सिद्धान्त के उद्गम और उसके प्रारम्भिक विकास के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त कर लें। सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त का आरम्भ, सैद्धान्तिक रूप में, प्राकृतिक विज्ञानों और विशेषकर जीव-विज्ञान में हुआ, परन्तु सामाजिक विज्ञानों में उसका व्यवहार सबसे पहले मानव-विज्ञान में होना आरम्भ हुआ। इसके बाद समाजशास्त्र में, उसके कुछ समय बाद मनोविज्ञान में, और काफी समय बाद राजनीति-विज्ञान में उसे प्रयोग में लाया गया। कुछ राजनीतिशास्त्रियों ने, विशेष कर डेविड ईस्टन ने, यह दावा किया कि राजनीति-विज्ञान में व्यवस्थात्मक उपागम की प्रेरणा उन्होंने सीधे उस आन्दोलन से ली जो विज्ञान के सभी क्षेत्रों में एकीकरण का विकास करने के लिए

[6]वही।

आरम्भ किया गया था, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहना अधिक सही होगा कि सामाजिक शास्त्रो मे उसका आरम्भ सबसे पहले सामाजिक मानव-विज्ञान मे एमिली दुर्कहाइम की रचनाओ मे अन्तर्निहित रूप मे और ए० आर० रैडक्लिफ ब्राउन और ब्रोनिसलॉ मालीनाओस्की की रचनाओ मे स्पष्ट रूप से हुआ।[7] सामाजिक मानव-विज्ञान के क्षेत्र मे इन दोनो लेखको ने जो सैद्धान्तिक आविष्कार किये उनका प्रभाव राजनीतिशास्त्र पर दो समाजशास्त्रियो—राबर्ट के० मर्टन और टैलकॉट पार्सस के माध्यम से आया और इनमे से पार्सन्स का प्रभाव अधिक पडा।[8] 1960 के दशक के मध्य तक यह दृष्टिकोण राजनीति-विज्ञान की खोज और विश्लेषण की प्रमुख प्रविधि बन गया था, और कुछ बहुत अधिक प्रभावशाली राजनीतिशास्त्री यह मानने लगे थे कि यह उनके क्षेत्र मे सैद्धान्तिक विकास की दृष्टि से सबसे अधिक उपयोगी दृष्टिकोण था। जिन प्रमुख राजनीतिशास्त्रियो ने राजनीति-विज्ञान के क्षेत्रो मे इस सिद्धान्त के विकास मे महत्त्वपूर्ण काम किया वे है—राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे डेविड ईस्टन और ग्रेब्रियल आमण्ड और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे मॉर्टन कैप्लन।

व्यवस्था सिद्धान्त ने, इस प्रकार, जीव-विज्ञान से मानव-विज्ञान और समाजशास्त्र के मार्गों द्वारा अन्य सामाजिक विज्ञानो मे प्रवेश किया। सामाजिक विज्ञानो मे व्यवस्था सिद्धान्त का पहला बडा प्रभाव हमे 1922 मे दिखायी देता है जब मनोविज्ञान के दो प्रसिद्ध विद्वानो—ब्रोनिसलॉ मालीनाओस्की और रैडक्लिफ ब्राउन की पुस्तकें, "एग्रोनॉट्स ऑफ द वैस्टर्न पैसिफिक" और "अण्डमन आईलैण्ड्स" एक साथ प्रकाशित हुईं। यहा इस बात की चर्चा करने की आवश्यकता प्रतीत नही होती कि मानव-विज्ञान के इन दो विद्वानो के दृष्टिकोणो मे क्या अन्तर था। दोनो ने समान रूप से जिस बात पर जोर दिया था, और जो हमें राजनीतिक विश्लेषण मे व्यवस्था सिद्धान्त के समस्त प्रयोगो मे एक सूत्र के रूप मे दिखायी देती हैं, वह यह थी कि किसी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन मे यह पता लगाना उतना महत्त्वपूर्ण नही था कि व्यवहार के किसी प्रतिमान का आरम्भ कैसे हुआ जितना यह जान लेना कि व्यवस्था के अनुरक्षण मे उसका क्या योग था। मानव-विज्ञान के मूल दृष्टिकोणों मे अब एक परिवर्तन आने लगा था। जहा पहले उसका काम समाज के विकास की विभिन्न स्थितियो के सम्बन्ध मे अटकलें लगाना था वहा अब इस बात का

[7]एमिली दुर्कहाइम, सोशियोलॉजी एण्ड फ़िलोसफ़ी, अनु० डी० एफ़० पीकोक, ग्लैंको, इली०, फ्री प्रेस, 1953; ए० आर० रैडक्लिफ ब्राउन, 'स्ट्रक्चर एण्ड फक्शन इन प्रिमिटिव सोसाइटी,' फ्री प्रेस, 1956, और 'ए नेचुरल साइंस ऑफ सोसाइटी,' फ्री प्रेस, 1957, ब्रोनिसला मालीनाओस्की, 'दि डायनैमिक्स ऑफ कल्चरल चेंज,' येल विश्वविद्यालय प्रेस, 1945, और 'ए साइंटिफ़िक थियरी ऑफ़ कल्चर,' ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1945।

[8]रॉबर्ट के० मर्टन, 'सोशल थियरी एण्ड सोशल स्ट्रक्चर,' फ्री प्रेस, 1949, परिशोधित और परिवर्द्धित सस्करण, 1957, टैलकॉट पार्सन्स, दि सोशल सिस्टम' फ्री प्रेस, 1951, 'एसेज इन सोशियोलोजिकल थियरी,' परिशोधित सस्करण, फ्री प्रेस, 1954, और 'सोशल स्ट्रक्चर एण्ड पर्सनलिटी,' फ्री प्रेस ऑफ ग्लैंको, इन्क०, 1964।

संक्रियात्मक (operational) अध्ययन किया जाने लगा कि सम्पूर्ण व्यवस्था के अनुरक्षण में उपव्यवस्थाओं का क्या योग रहता है। इसने मानव-विज्ञान के अध्ययन को एक नयी और उपयोगी दिशा प्रदान की, इस अर्थ में कि पहले जहां उसके विद्वान आदिम जातियों के रीति-रिवाज, रहन-सहन और आचार-विचार का अध्ययन इस दृष्टि से करते थे कि उनमें और पश्चिमी समाजों में क्या विभिन्नताएं हैं, अब वे उनका अध्ययन इस दृष्टि से करने लगे कि किस प्रकार व्यवस्था के निर्माण व अनुरक्षण में उनका एक महत्वपूर्ण योग रहा था। इसका एक परिणाम यह भी निकला कि मानव व्यवहार के अध्ययन को अध्येता के राग-द्वेषों से मुक्त कर दिया गया और मानव-विज्ञान को एक अधिक वैज्ञानिक रूप दिया जा सका। इसके साथ ही साथ इस प्रवृत्ति को भी प्रोत्साहन मिला कि वस्तु स्थिति को, वह जैसी थी उसके उसी रूप में न्यायोचित और विवेक सम्मत माना जाने लगा। मालीनाओस्की और रैडक्लिफ ब्राउन के दृष्टिकोणों में बहुत अन्तर होते हुए भी यह एक बड़ी स्पष्ट समानता थी। मालीनाओस्की ने लिखा, "प्रत्येक सभ्यता में प्रत्येक रिवाज, पार्थिव वस्तु, विचार अथवा विश्वास किसी न किसी मूल आवश्यकता को पूरा करता है। वह एक निश्चित उद्देश्य को लेकर चलता है, और इस कारण सक्रिय व्यवस्था का एक अनिवार्य अंग बन जाता है।"[9] इस दृष्टिकोण के पीछे यह विचार, जो बाद में सारे व्यवहारपरक राजनीति-विज्ञान पर छा गया, स्पष्ट था कि समाज में प्रत्येक वस्तु का अपने निर्दिष्ट स्थान पर होना इसी कारण आवश्यक है कि सम्पूर्ण समाज वही बना रह सके जो वह है। रैडक्लिफ ब्राउन ने कुछ स्थानों पर तो सभ्यता में पायी जाने वाली प्रत्येक चमत्कार अथवा मनोरोग को अनिवार्य मानने की बात का मजाक उड़ाया है, परन्तु दूसरे स्थान पर वही लिखता है कि "प्रत्येक ऐसी गतिविधि की जो अपने को दुहराती रहती है, वह चाहे अपराध के लिए सजा देना हो अथवा दाह संस्कार, उपयोगिता इसी में है कि वह सामाजिक जीवन की समग्रता में और इस कारण उसके संरचनात्मक प्रवाह के अनुरक्षण में एक महत्वपूर्ण योग देती है।"[10] कोई गतिविधि सामाजिक जीवन की समग्रता में एक महत्वपूर्ण योग देती है, इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि इस कारण वह उसके संरचनात्मक प्रवाह के अनुरक्षण में सहायक होती है, स्पष्टतः तर्क-सम्मत नहीं दिखायी देता, परन्तु व्यवस्था सिद्धान्त की जड़ें इसी विश्वास में आरोपित की गयी थीं।

मानवशास्त्रियों के इन विचारों का अध्ययन करने के पश्चात, जिनमें हमें व्यवस्था सिद्धान्त के बीज दिखायी देते हैं, प्रमुख समाजशास्त्रियों के विचारों का अध्ययन हमारे लिए आवश्यक हो जाता है, परन्तु इसके पहले हम उन दो विचारधाराओं पर भी एक नजर डाल लें जिन्होंने राजनीतिक विश्लेषण में व्यवहारपरक दृष्टिकोण के निर्माण की दिशा में महत्वपूर्ण प्रभाव डाला। वे हैं तार्किक प्रत्यक्षवाद (Logical Positivism)

[9] ब्रोनिसला मालीनाओस्की, 'एन्थ्रोपोलोजी,' 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका,' 1926, अनुपूरक खण्ड I, पृ० 132।

[10] ए० आर० रैडक्लिफ ब्राउन, 'स्ट्रक्चर एण्ड फंक्शन इन प्रिमिटिव सोसाइटी,' पी० उ०, पृ० 180।

और भाषावैज्ञानिक दर्शन (Linguistic Philosophy)। तार्किक प्रत्यक्षवाद उस आन्दोलन का नाम है जो 1920 के दशक मे वियना केन्द्र (Vienna Centre) के नाम से जाने वाले दार्शनिको, वैज्ञानिको और गणितज्ञों के एक समूह के द्वारा चलाया गया था। इस समूह का नेतृत्व कुछ प्रख्यात विद्वानो, के हाथ मे था—जिनमे मॉरिट्ज शिलक, रूडोल्फ कार्नेप, ऑटो वॉन न्यूराथ, विक्टर फैफ्ट और हर्बर्ट फीग्ल जैसे नाम गिनाये जा सकते हैं—और उसे उतने ही प्रख्यात अन्य विद्वानो का समर्थन प्राप्त था, जिनमे लुडविग विज्जेन्स्टाइन, हैन्स कॅल्सन और कार्ल पॉपर प्रमुख थे। विद्वान होने के नाते उनके वैज्ञानिक और राजनीतिक विचारो मे गहरा अन्तर था—उनमे से बहुत से तो वामपन्थी विचारों के थे—परन्तु उन सब मे इस मूल दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे समानता थी कि किस प्रकार के वक्तव्यो को ज्ञान का नाम दिया जा सकता है और वे सब इस सम्बन्ध मे भी एक विचार के थे कि परम्परागत दर्शनशास्त्र को ज्ञान का दर्जा नही दिया जा सकता। उन्होने उन सब वस्तुओ को चुनौती दी जो अनुभव से परे थी। रूडोल्फ कार्नेप ने लिखा, "तत्त्व-मीमासा शास्त्रियो के लिए यह स्वाभाविक है कि वे सदा ऐसी प्रस्थापनाएं प्रस्तुत करें जिनका परीक्षण सम्भव नही है, क्योंकि यदि वे ऐसा न करें तो उनके सिद्धान्तो की सत्यता अथवा असत्यता अनुभव पर निर्भर हो जायेगी, और इस प्रकार वे तत्त्व-मीमासा का अग न रह कर आनुभविक विज्ञान के क्षेत्र मे आ जायेंगे।"[11] परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त जिसमें व्यक्ति और समुदाय के अच्छे जीवन के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत किये गये थे, इस आधार पर तिरस्कृत कर दिया गया कि उसका परीक्षण नही किया जा सकता था और इस कारण वे अर्थहीन (निरर्थक) थे। तार्किक प्रत्यक्षवाद का समकालीन राजनीति-विज्ञान पर, विशेषकर हर्बर्ट साइमन और हैरल्ड लासवेल की रचनाओं पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

एक दूसरी विचारधारा जिसने व्यवहारपरक दृष्टिकोण के विकास मे बहुत अधिक सहायता दी, भाषावैज्ञानिक दर्शन की विचारधारा थी। इस विचारधारा के प्रतिपादको मे तार्किक प्रत्यक्षवादियो से भी अधिक आपसी मतभेद थे, परन्तु इस सम्बन्ध मे वे उतने ही कट्टर थे जितने तार्किक प्रत्यक्षवादी, कि सभी तत्त्व-मीमासा सम्बन्धी वक्तव्यो को विज्ञान के क्षेत्र से बहिष्कृत माना जाना चाहिए। वे केवल 'मूल्यबद्ध निर्णय' थे और उनका महत्त्व केवल रागात्मक (emotive) था, संज्ञानात्मक (cognitive) नही। दर्शनशास्त्र को उन्होने एक "द्वितीय श्रेणी का अध्ययन" घोषित किया, जिसका सम्बन्ध केवल सकल्पनात्मक खोज से था न कि किसी मौलिक-खोज से।[12] यह शायद एक सयोग मात्र नही था कि भाषा वैज्ञानिक दर्शन के बहुत से प्रतिपादक स्पष्टत. अनुदार विचारो के लोग थे। टी० डी० वैल्डन, जिसकी "वोकेब्युलरी ऑफ पॉलिटिक्स" नाम की पुस्तक भाषा वैज्ञानिक दर्शनशास्त्रियो की बाइबिल मानी जाती थी, अंग्रेज अनुदारवादिता की

[11] रूडोल्फ कार्नेप, 'फिलॉसफी एण्ड लौजिकल सिन्टैक्स,' लन्दन, 1935, पृ० 17।

[12] अर्नेस्ट गेलनर, 'वर्ड्स एण्ड थिंग्स, लन्दन,' 1959, पृ० 100-101।

कट्टरता का एक प्रतिनिधि था।[13] वैल्डन की मान्यता थी कि राजनीतिक जीवन के लिए दार्शनिक रचनाओं का कोई महत्त्व नहीं। उसकी दृष्टि में दर्शनशास्त्र का वास्तविक उद्देश्य "भाषा विज्ञान सम्बन्धी भ्रान्तियों को खोल कर रख देना और उनका स्पष्ट विवेचन करना था।" दर्शन का काम केवल इतना ही था कि वह उन भ्रान्तियों को स्पष्ट कर दे जो तथ्यों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करते समय अब तक इस कारण से उत्पन्न हुई हैं, और भविष्य में भी हो सकती हैं कि भाषा की संरचना और उसका उपयोग इस समय एक अत्यन्त ही अवैज्ञानिक स्थिति में है।" उनका सारा दृष्टिकोण वैल्डन के इन शब्दों में स्पष्ट किया जा सकता था, "आधुनिक राजनीतिक दार्शनिक उपदेश देने का काम नहीं करते, यह काम तो 19वीं शताब्दी में किया जाता था। हम तो स्पष्टवादी, ईमानदार व्यक्ति हैं जिनका काम केवल भ्रान्तियों को दूर करने का है और इसके अतिरिक्त उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं है।"[14] "शाब्दिक भ्रांतियों को दूर कर देने के बाद राजनीतिक दार्शनिक का काम केवल यह था कि वह स्थिति से अपने को अलग कर लें।"[15] भाषा वैज्ञानिक दर्शन में सबसे खराब बात यह थी कि उसका समस्त ढांचा एक असीम आत्मश्लाघा की भावना पर खड़ा था। तार्किक प्रत्यक्षवाद और भाषा वैज्ञानिक दर्शन के अधिकांश प्रतिपादक गम्भीरता से यह मानते प्रतीत होते थे कि विट्जेन्सटाइन और वियना केन्द्र के दार्शनिक विचारों का अधिकांश भाग गलत ढंग की खोज में, जिसका उद्देश्य गलत प्रश्नों का उत्तर तलाश करना था, लगा हुआ था, और अब समय आ गया था जब अरस्तू के इस विचार के स्थान पर कि दर्शन का आरम्भ 'आश्चर्य' की भावना में हुआ था, यह विचार प्रतिपादित किया जाय कि परम्परागत दर्शन का आरम्भ शाब्दिक भ्रान्तियों में हुआ था। आर० जी० कौलिंगवुड ने तार्किक प्रत्यक्षवाद और भाषागत विज्ञान की समस्त अभिमान्यताओं को एक व्यंग्यात्मक टिप्पणी में व्यक्त करने का प्रयत्न किया जब उसने लिखा, "साठ पीढ़ियों तक विचारों का सतत मन्थन करते रहने वाले दार्शनिकों के सारे प्रयत्न व्यर्थ रहे और समझदारी का एक शब्द भी उस समय तक नहीं कहा गया था जब तक हम मंच पर नहीं आये।"[16]

समाजशास्त्रियों में राजनीतिक विश्लेषण में व्यवस्था सिद्धान्त के उपयोग की दृष्टि से सबसे अधिक प्रभाव रॉबर्ट के० मर्टन और टैलकाट पार्संस का पड़ा। मर्टन और पार्संस दो भिन्न दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। मर्टन की अधिक रुचि विशिष्ट

[13]टी० डी० वेल्डन की, 'दि वोकेब्युलरी ऑफ पौलिटिक्स एन इन्क्वायरी इन टू दी यूज एण्ड ए यूज ऑफ लैंगुएज इन दी मेकिंग ऑफ पौलिटिकल थियरीज,' पेंगुइन बुक्स, 1953।

[14]वही, पृ० 92।

[15]एक आलोचक ने व्यंग्य के साथ लिखा, "प्राचीन ढंग के दार्शनिक भाषा की चिन्ता नहीं करते थे, उन्हें विश्व की चिन्ता थी। भाषा वैज्ञानिक दार्शनिक मानते दिखायी देते हैं कि विश्व तो जैसा है ठीक है, उन्हें भाषा की चिन्ता है।" अर्नेस्ट गेलनर, पी० उ०, पृ० 98।

[16]आर० जी० कौलिंगवुड, 'एसे ऑन फिलॉसोफिकल मैथड,' कैंब्रिज, ऑक्सफर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1953, पृ० 225।

घटनाओ मे, और वास्तविक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले तथ्यो के सीमित स्पष्टीकरण मे, दूसरे शब्दो मे, "मध्यम-स्तरीय सिद्धान्तीकरण" (middle-range theory) मे है, जबकि पार्सन्स का लक्ष्य एक 'सामान्य सिद्धान्त' और सवर्गों के ऐसे समुच्चय का विकास करना है जिसके आधार पर घटनाओ के किसी भी समुच्चय को समझा जा सके। इसी कारण, पार्सन्स को जर्मन दार्शनिको से प्रेरणा प्राप्त पुरानी विचारधारा का "व्यवस्था-निर्माता" माना गया है। मर्टन ने उन प्रक्रियाओ का गहरा अध्ययन किया है जिनका प्रभाव सम्पूर्ण समाजों पर पडता है—अमरीका मे एक ओर दादागीरी (bossism) और दूसरी ओर अप्रतिमानता (anomie) की प्रक्रियाओं के उसके *विश्लेषण गहरे अध्ययन के शास्त्रीय उदाहरण हैं। मर्टन और पार्सन्स मे खास अन्तर यह* है कि जबकि मर्टन कृत्यवाद (functionalism) का प्रयोग विश्लेषण को अधिक स्पष्ट *बनाने और शोध-सामग्री मे से निष्कर्ष निकालने के साधन के रूप मे करता है, पार्सन्स* को ज्यादा दिलचस्पी ऐसे सवर्गों और सम्बन्धो का विकास करने मे है जिनके आधार पर तथ्यों का वर्गीकरण और व्यवस्थापन किया जा सके। उनके लिखने की शैलियो मे भी बडा अन्तर है। मर्टन एक स्पष्ट विचारक है और उसका दृष्टिकोण "सोशल थियरी एण्ड सोशल स्ट्रक्चर" मे बडी कुशलता के साथ अभिव्यक्त किया गया है। पार्सन्स की रचनाए, चाहे वे स्वतन्त्र रचनाए हो अथवा अन्य समाजशास्त्रियो अथवा अर्थशास्त्रियो के साथ मिलकर लिखी हुई, एक दर्जन से अधिक ग्रन्थो मे बिखरी हुई हैं और उसकी शैली इतनी अधिक जटिल है और सोचने का ढग इतना उलझा हुआ है कि उन्हे पढना कठिन हो जाता है। परन्तु राजनीतिशास्त्रियो पर इन दोनो समाजशास्त्रियो के प्रभाव की तुलनात्मक समीक्षा की जाय तो यह मानना पडेगा कि उन पर मर्टन की अपेक्षा पार्सन्स का प्रभाव अधिक है।[18]

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त : मूल संकल्पनाएं

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त की व्यापक रचनाए विकसित की गयी सकल्पनाओं को तीन भागो मे बाटा जा सकता है। पहले भाग मे हम उन सकल्पनाओं को ले सकते है जो

[17] रॉबर्ट आर० मर्टन, पी० उ०।

[18] टैल्कौट पार्सन्स की प्रमुख रचनाए निम्न हैं : दि स्ट्रक्चर ऑफ सोशल एक्शन, मैग्रा-हिल बुक कम्पनी, इन्क० 1937, जिसका पुनः मुद्रण फ्री प्रेस ने 1949 में किया; एडवर्ड शील्स के साथ 'टुवर्ड ए जनरल थियरी ऑफ एक्शन,' भाग 1 व 2, हार्वर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1951; रॉबर्ट एफ० बेल्स और एडवर्ड शील्स के साथ, 'वर्किंग पेपर्स इन दि थियरी ऑफ एक्शन,' फ्री प्रेस 1953; ऐसेज इन सोशियोलोजिकल थियरी,' परिशोधित सस्करण, फ्री प्रेस, 1954, रॉबर्ट एफ बेल्स, जेम्स ओल्ड्स, मोरिस जेल्डिक और फिलिप स्लेटर के साथ, 'फैमिली, सोशिएलाइजेशन एण्ड इन्टर-एक्शन प्रोसेस,' फ्री प्रेस, 1955, नील जे० स्मेलसर के साथ, इकोनोमी एण्ड सोसाइटी, फ्री प्रेस, 1954,' सोशल स्ट्रक्चर एण्ड पर्सनलिटी' फ्री प्रेस ऑफ ग्लैंको, इन्क०, 1964। कृत्यवाद पर अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं : मेरियन जे० लेवी०, जू०, 'दि स्ट्रक्चर ऑफ सोसाइटी,' प्रिंसटन विश्वविद्यालय 1952, जोर्ज सी० होमन्स, 'दि ह्यूमन ग्रुप,' हार्कोर्ट, ब्रेस एण्ड कम्पनी, 1950।

एक प्रकार की व्यवस्था और दूसरे प्रकार की व्यवस्था के बीच के अन्तर को स्पष्ट करती हैं—जैसे खुली व्यवस्थाओं (open systems) और बन्द व्यवस्थाओं (closed systems), अथवा जैविक (organismic) और अजैविक (inorganismic) व्यवस्थाओं के बीच के अन्तर को। व्यवस्थाओं का श्रेणिबद्ध वर्गीकरण भी किया जा सकता है—उदाहरण के लिए, उप-व्यवस्थाओं, अन्तः क्रियाओं के क्रम-बन्धन और अनुमाप प्रभावों (scale effects) के रूप में। इसी विवरणात्मक ढंग की संकल्पनाओं के आधार पर हम व्यवस्थाओं के आन्तरिक संगठन की प्रक्रियाओं को यह पता लगाने की दृष्टि से कि उनमें सादृश्य, विभिन्नता, अन्तर्निर्भरता अथवा केन्द्रीकरण की मात्रा कितनी है—समझने का प्रयत्न कर सकते हैं। व्यवस्थाओं की पर्यावरण के साथ अन्तः क्रियाओं के सम्बन्ध में सीमा निवेश (inputs) और निर्गत (outputs) आदि की संकल्पनाएं आ जाती हैं। विभिन्न व्यवस्थाओं का इस आधार पर भी वर्गीकरण किया जा सकता है कि उनके विकास की दिशा और प्रकृति क्या है—उनमें से कुछ तो विकास के स्वयं निर्धारित प्रतिमानों का सहारा लेती है और अन्य को बाहरी तत्वों पर निर्भर होना पड़ता है।

दूसरे भाग की संकल्पनाओं की सहायता से हम यह समझने का प्रयत्न कर सकते हैं कि कौन से तत्त्व विभिन्न व्यवस्थाओं के नियन्त्रण और अनुरक्षण के लिए उपयोगी हैं। यहां हम स्थिरता (stability) सन्तुलन (equilibrium) और समस्थिति (homeostasis) की संकल्पनाओं से परिचित होते हैं। व्यवस्थाओं के नियन्त्रण और अनुरक्षण के सम्बन्ध में हमारे सामने और कई संकल्पनाएं आती हैं जिनका सम्बन्ध प्रक्रियात्मक परिवर्तनों से है—जैसे प्रति-सम्भरण (feed-back) और उसके विभिन्न स्वरूप, पुनर्निर्माण और पुनःगठन, और नि.सारता (entropy) आदि के विचार। तीसरे भाग में वे संकल्पनाएं आती हैं जिनका सम्बन्ध परिवर्तन अथवा गत्यात्मकता से है। परिवर्तन दो प्रकार का हो सकता है, एक ऐसा जो व्यवस्था को हानि न पहुंचाता हो और दूसरा जिसमें उस पर आघात किया गया हो। ऐसा परिवर्तन जिससे व्यवस्था को हानि न पहुंचती हो, पर्यावरण की बदली हुई स्थितियों की प्रतिक्रियाओं के रूप में आया जा सकता है। इस प्रकार के परिवर्तन दो प्रकार के हो सकते हैं—जो बदले जा सकें और जो बदले न जा सकें—इस स्थिति में हमारा सम्पर्क अनुकूलन (adaptation), अधिगम (learning) और विकास (growth) की संकल्पनाओं से होता है। इस प्रकार के परिवर्तनों के सम्बन्ध में हम व्यवस्थात्मक उद्देश्यों, लक्ष्यों और प्रयोजनों का अध्ययन कर सकते हैं। परन्तु सभी परिवर्तन ऐसे नहीं होते जिनमें व्यवस्था पर आघात न होता हो। परिवर्तन विनाशकारी भी हो सकता है और यहां पर हमें विध्वंस (disruption) विघटन (dissolution) और टूटफूट (break-down) की संकल्पनाओं में बारीकी से भेद करना पड़ता है। इसके साथ ही साथ हमें व्यवस्थात्मक संकट (systemic crisis), दबाव और तनाव (stress and strain), अतिभार (over-load) अथवा पतन (decay) की संकल्पनाओं का भी प्रयोग करना पड़ता है।

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त और राजनीतिक विश्लेषण

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त की सरचना के अन्तर्गत विकसित की गयी मूल सकल्पनाओ ने नये प्रश्नों को जन्म दिया है और शोध के नये आयामो की सृष्टि की है और उनमे से अनेक का उपयोग राजनीतिशास्त्रियो ने राजनीतिक घटनाओ के अपने विश्लेषण मे अत्यन्त प्रभावशाली ढग से किया है। विवरणात्मक भाग को लेने पर ज्यो ही हम खुली और बन्द व्यवस्थाओ मे अन्तर करते हैं हमारे सामने अनेक प्रश्न उठ खडे होते है—खुली और बन्द व्यवस्थाओं मे विभाजन-रेखा कहा तक खीची जा सकती है, खुली व्यवस्था को बन्द व्यवस्था से भिन्न करने वाले तत्त्व कौन से हैं, खुली व्यवस्था अथवा बन्द व्यवस्था स्थिरता, सन्तुलन और प्रभावशील, अथवा अस्थिरता, असन्तुलन और प्रभावहीनता, की स्थितियो से कैसे निपटती है, आदि-आदि। ज्यो ही राजनीतिशास्त्री स्थिरता और सन्तुलन के सम्बन्ध मे सोचना आरम्भ करता है उसकी खोज अधिक सुनिश्चित और प्राविधिक हो जाती है। स्थिरता सन्तुलन पर निर्भर हो सकती है, परन्तु स्वय सन्तुलन अपने आप मे स्थिर भी हो सकता है और अस्थिर भी, और स्थिरता, एक ओर, तात्कालिक अथवा निकटस्थ स्थिरता हो सकती है और, दूसरी ओर, सम्पूर्ण स्थिरता। व्यवस्था की स्थिरता को समझने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम उन बहुत से उपकरणों का अध्ययन करें जो स्थिरता को मजबूत अथवा कमजोर बनाते हैं।

व्यवस्था मे परिवर्तन अथवा व्यवस्था के टूटने की प्रक्रियाओ को समझने के लिए भी व्यवस्था-सिद्धान्त उपयोगी है, यद्यपि व्यवहारपरक राजनीतिशास्त्रियों ने अब तक व्यवस्था के नि सत्व हो जाने की स्थिति, उस पर आने वाले गम्भीर सकटो अथवा उसके टूटने की प्रवृत्तियो का, विकासशील समाजों के हाल के वर्षों के कुछ अध्ययनों को छोड कर विशेष अध्ययन नही किया है। राजनीतिक व्यवस्थाओ को कभी-कभी अनेक प्रकार के संकटों का सामना करना पडता है, जिसका कारण उन पर अतिभार, अथवा उनके समर्थन के स्रोतो का सूख जाना होता है। व्यवस्थाए टूटती भी हैं, यद्यपि इस प्रकार की घटनाए बहुत कम होती हैं, परन्तु विभिन्न स्तरो पर उनकी कार्यकुशलता मे बहुत सी कमियां दिखायी दे सकती हैं, जिनका अध्ययन भी आवश्यक है। अपने को सकटो मे से बचा ले जाने की क्षमता इस पर निर्भर हो सकती है कि व्यवस्था मे नयी परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढाल लेने की तत्परता कितनी है, और अपने को परिस्थितियो के अनुकूल ढाल लेने का यह दबाव व्यवस्था मे आन्तरिक परिवर्तनो के कारण भी हो सकता है और बाहर से आने वाले परिवर्तनो के कारण भी। व्यवस्था विश्लेषण का एक और लाभ यह भी है कि एक प्रकार की व्यवस्था के अध्ययन से प्राप्त होने वाला ज्ञान और अन्तर्दृष्टि हमे दूसरे प्रकार की व्यवस्था को समझने मे सहायक होते हैं। समरूपता (isomorphism) की संकल्पना तो व्यवस्था विश्लेषण का मुख्य आधार ही है। एक व्यवस्था को यदि हम ठीक से समझ लेते हैं तो उसके आधार पर न केवल दूसरी व्यवस्था को समझने की हमारी क्षमता बढ जाती है परन्तु हम व्यवस्था के एक स्तर को समझने से प्राप्त होने वाले ज्ञान का उपयोग उसी व्यवस्था के दूसरे स्तर को समझने मे कर सकते हैं, अथवा किसी उपव्यवस्था को समझने से प्राप्त होने वाले ज्ञान का उपयोग व्यवस्था

को समझने, अथवा व्यवस्था को समझने से प्राप्त होने वाले ज्ञान का उपयोग उपव्यवस्था को समझने में कर सकते हैं। व्यवस्था विश्लेषण हमें सूक्ष्म विश्लेषणात्मक अध्ययन को समष्टि-विश्लेषणात्मक अध्ययन के साथ जोड़ देने का बड़ा अच्छा अवसर देता है। आनुभविक शोध में उपयोगी होने के अतिरिक्त व्यवस्था विश्लेषण निष्कर्षात्मक अथवा उपदेशात्मक उद्देश्यों की दृष्टि से भी उपयोगी है—इस अर्थ में कि यदि समय रहते उपचारात्मक कदम उठा लिये जायें तो व्यवस्था को टूटने से बचाया जा सकता है। राजनीतिक विश्लेषण की दृष्टि से व्यवस्था सिद्धान्त की उपयोगिता बहुत अधिक है, परन्तु इस तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि यह समस्त उपागम रूढ़िवादिता और प्रतिक्रियावादिता के गहरे प्रभाव में है, जिसका अनुभव हमें उन अनेक राजनीति-विज्ञान के अध्ययनों में होता है जो व्यवस्था सिद्धान्त की सामान्य संरचना के अन्तर्गत विकसित की गयी शोध प्रविधियों की सहायता से किये गये हैं।

संरचनात्मक-कृत्यात्मक विश्लेषण और उसकी उपयोगिता

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त के प्रभाव के परिणामस्वरूप राजनीतिशास्त्र में विश्लेषण की जिस पद्धति का प्रयोग किया जा रहा है उसे कृत्यवाद (functionalism), 'संरचनात्मक-कृत्यवाद' (structural-functionalism) अथवा 'व्यवस्था विश्लेषण (systems analysis) कहा गया है—जिनमें से 'संरचनात्मक कृत्यवाद' शब्द का सबसे अधिक प्रयोग हो रहा है। राजनीति-विज्ञान को प्रभावित करने से पहले संरचनात्मक-कृत्यवाद ने समाज-शास्त्रीय शोध की एक प्रमुख संरचना का रूप ले लिया था। 1960 के आसपास समाजशास्त्र ने इस संरचना का परित्याग करना आरम्भ कर दिया था, परन्तु राजनीति-विज्ञान में, विशेषकर तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में, इसी समय उसे बड़े उत्साह के साथ अपनाया जा रहा था। संरचनात्मक कृत्यवादी विश्लेषण कुछ संकल्पनाओं के इर्दगिर्द घूमता है—उनमें अधिक महत्वपूर्ण कृत्यों और संरचनाओं की संकल्पनाएं हैं। इस सम्बन्ध में तीन मूल प्रश्न हमारे सामने उठते हैं: (1) किसी व्यवस्था में किन मूलभूत कृत्यों का पूरा किया जाना आवश्यक है? (2) वह व्यवस्था इन कृत्यों को किन संरचनाओं के माध्यम से पूरा करती है? (3) और किन परिस्थितियों में? कृत्य की परिभाषा साधारणतः यह दी गयी है कि वह "किसी (सामाजिक अथवा राजनीतिक) व्यवस्था में होने वाली प्रक्रियाओं का वस्तुपरक परिणाम" है।[11] कृत्य का सम्बन्ध इस प्रकार व्यवस्था में होने वाली प्रक्रियाओं के वस्तुपरक परिणामों से है। इस सम्बन्ध में कृत्यों (functions), जिन्हें मेरियन जे० लेवी ने सुकृत्यों (eu-functions) का नाम दिया है, और अप-कृत्यों (dys-functions) में अन्तर करना आवश्यक हो जाता है। रॉबर्ट के० मर्टन के शब्दों में "कृत्य तो वे प्रेक्षित परिणाम हैं जो किसी भी व्यवस्था की अनुकूलन (adaptation) अथवा समायोजन (adjustment) में सहायता देते हैं, और अपकृत्य वे प्रेक्षित परिणाम हैं जो व्यवस्था की अनु-

[11] ओरन यंग, 'सिस्टम्स ऑफ पोलिटिकल साइंस' एनग्लवुड क्लिफ्स, न्यू जर्सी, प्रेंटिस-हॉल, इन्क०, 1968, पृ० 291।

कूलन अथवा समायोजन की क्षमता को कम करते है।"[20] इसका यह अर्थ नही हुआ कि कृत्यात्मक और अपकृत्यात्मक परिणाम आवश्यक रूप से भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों से उत्पन्न होते है, अथवा ये भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य व्यवस्था के एक ही स्तर पर सम्पन्न होते हैं। यह बिलकुल सम्भव है कि बहुत से ऐसे काम हो जो सम्पूर्ण सामाजिक दृष्टि से तो कृत्यात्मक हैं परन्तु बहुत से व्यक्तियो और समूहो की दृष्टि से अपकृत्यात्मक। इसी प्रकार हम इसकी विपरीत स्थिति की भी कल्पना कर सकते हैं। मर्टन ने प्रकट (*manifest*) और *अप्रकट* (*latent*) *कृत्यों मे एक बड़ा उपयोगी अन्तर बताया है।* प्रकट कृत्यो का सम्बन्ध उन कार्यों से है जिनके परिणाम उनमे भाग लेने वालो के लिए अभीष्ट (intended) और अभिज्ञात (recognised) होते है। अप्रकट कृत्य का सम्बन्ध उन कार्यों से है जिनके परिणाम उसमे भाग लेने वालो की दृष्टि मे से अनभीष्ट (unintended) और अनभिज्ञात (unrecognised) होते हैं। बीच की भी कई स्थितियां हो सकती हैं जैसे अनभीष्ट किन्तु अभिज्ञात, अथवा अभीष्ट किन्तु अनभिज्ञात। शोधकर्ता के लिए अप्रकट कृत्यों की खोज निकालना अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वे *प्रकट कृत्यों की तुलना मे, जो स्पष्ट व सुपरिचित होते है, बहुत अधिक जटिल होते हैं।*

संरचनात्मक-कृत्यात्मक विश्लेषण मे कृत्य (function) की सकल्पना के अतिरिक्त एक दूसरी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सकल्पना सरचना (structure) की है जब कि कृत्यों का सम्बन्ध परिणामो से होता है—जिनमे उद्देश्य और प्रक्रियाएं दोनो आ जाते हैं। संरचनाएं व्यवस्था के अन्तर्गत उन प्रबन्धो या सकेत देती है जिनके द्वारा कृत्य किये जाते हैं। *मर्टन मानव-विज्ञानशास्त्रियों के समान यह नही मानता कि प्रत्येक कृत्य एक विशेष सर-*चना के द्वारा ही किया जाता है, अथवा प्रत्येक सरचना केवल एक विशेष कृत्य को ही पूरा करती है। उसकी दृष्टि में यह बिलकुल सम्भव है कि विभिन्न संरचनाओं का एक जटिल सम्मिश्रण एक ही कृत्य को करने मे लगा हुआ हो, जिस प्रकार यह सम्भव है कि एक ही सरचनात्मक प्रबन्ध के द्वारा बहुत से ऐसे कृत्य किये जा रहे हो जिनकी व्यवस्था पर अनेक प्रकार के प्रभाव पड रहे हो। मर्टन ने मानव-विज्ञान मे प्रचलित अपरिहार्यता के इस परम्परागत विचार को चुनौती दी है कि प्रत्येक सरचना के लिए यह आवश्यक *है कि यह एक महत्त्वपूर्ण कृत्य को पूरा करें।* उसके स्थान पर उसने अपना यह विचार प्रस्तुत किया है कि एक कृत्य अनेक विभिन्न सरचनात्मक व्यवस्थाओ द्वारा भी किया जा सकता है। अन्य सभी समाजशास्त्रियो के समान मेरियन लेवी की प्रमुख रुचि भी इस समस्या का निदान निकालने की है कि व्यवस्था का अनुरक्षण कैसे किया जाय, और इस दृष्टि से उसने उन पूर्वापेक्षित, अथवा आवश्यक, कृत्यों की सकल्पना का विकास किया—जिन्हें वह व्यवस्था की मूल विशेषताओ के अनुरक्षण की दृष्टि से आवश्यक *मानता है।* लेवी ने किसी भी सामाजिक व्यवस्था के अनुरक्षण की दृष्टि से पूर्वापेक्षित *कृत्यों की ओर न केवल सकेत ही किया,* किन्तु उनकी एक सूची बनाने का प्रयत्न भी

[20] रॉबर्ट के० मर्टन, पी० उ०, पृ० 51।

किया।[21] उसका अनुकरण करते हुए अनेक विश्लेषणकर्ताओं ने ऐसी ही सूचियां तैयार कीं, यद्यपि उनमें से अधिकांश ने यह स्वीकार किया है कि विशेष परिस्थितियों में उनमें थोड़ा बहुत अन्तर करने की सदा गुंजाइश रहती है। उदाहरण के लिए, आमण्ड ने परिवर्तन कृत्यों (conversion functions) क्षमतावर्धक (capabilities) कृत्यों और अनुकूलन (adaptative) और अनुरक्षण (maintenance) कृत्यों को राजनीतिक व्यवस्था के पूर्वापेक्षित कृत्य माना है।[22] अन्य राजनीतिशास्त्रियों ने अन्य सूचियां तैयार की हैं, परन्तु यह कहने में हमें संकोच नहीं होना चाहिए कि इस प्रकार की सूचियों ने गम्भीर शोध को आगे बढ़ाने की दिशा में बहुत कम योग दिया है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि संरचनात्मक-कृत्यात्मक विश्लेषण से प्राप्त होने वाले लाभ क्या हैं? हमें सबसे पहले इस तथ्य को स्वीकार कर ही लेना चाहिए कि विश्लेषण की इस पद्धति का आग्रह प्रमुखतः स्थैतिक (static) सम्बन्धों के अध्ययन पर यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि परिवर्तन अथवा गतिशीलता के अध्ययन की उसमें गुंजाइश है ही नहीं। मर्टन की यह बात तो ठीक थी कि 'अप-कृत्यों' (dys-functions) की संकल्पना, जिसमें संरचनात्मक स्तर पर खिंचाव, दबाव और तनाव (strain, stress and tension) की संकल्पनाएं भी सन्निहित हैं, गतिशीलता और परिवर्तन के अध्ययन के लिए एक विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है, परन्तु व्यवस्था सिद्धान्त के प्रतिपादकों की विशेष रुचि उन समस्याओं के अध्ययन में रही है जिनका सम्बन्ध व्यवस्था के अनुरक्षण के प्रयत्नों से है, और यदि उन्होंने व्यवस्था के लिए कुछ रचना-कौशलों का विकास किया है तो इसमें उनका उद्देश्य यही रहा है कि उन सभी सम्भव उपायों का पता लगाया जा सके जो व्यवस्था के अनुरक्षण के प्रयत्नों में सहायक हो सकते हैं। विश्लेषण का मुख्य उद्देश्य इस बात का पता लगाने का है कि कोई व्यवस्था, अपनी मूलभूत पूर्वापेक्षित कृत्यों की पूर्ति में गम्भीर अड़चन न आने देते हुए, किस मात्रा में परिवर्तन को सहन कर सकती है। संरचनात्मक कृत्यवाद जब राजनीतिशास्त्रियों के हाथों में विश्लेषण का एक प्रतिष्ठित साधन बना तब तक उसने अपनी उन बहुत सी दोषपूर्ण अधिमान्यताओं—जैसे समाज की कृत्यात्मक एकान्विति (functional unity), सार्वभौम कृत्यवाद (universal functionalism) और कृत्यात्मक अपरिहार्यता (functional indispensability) सम्बन्धी अधिमान्यताओं—का परित्याग कर दिया था जिनका विकास समाजशास्त्रियों के द्वारा किया गया था। अब यह मानने के लिए कोई भी तैयार नहीं था कि सभी सामाजिक व्यवस्थाएं अत्यधिक समाकलित (integrated) होती हैं, और प्रत्येक प्रकार के कार्य का व्यवस्था के संचालन के साथ किसी प्रकार का निकट का कृत्यात्मक सम्बन्ध था। राजनीतिशास्त्री यह मानने के लिए भी तैयार नहीं थे कि जितने भी सामाजिक अथवा सांस्कृतिक कृत्य हैं उन सभी का

[21] लेवियन लेवी, पू०, पी० उ०, पृ० 60-82।

[22] गेब्रियल आमण्ड, "ए डेवेलपमेण्टल एप्रोच टु पोलिटिकल सिस्टम्स," 'वर्ल्ड पोलिटिक्स,' खण्ड 17, सं० 2, जनवरी 1965 में, पृ० 183-214 पर।

व्यवस्था को बनाये रखने मे योगदान होना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त वे यह मानने के लिए भी तैयार नही थे कि किसी सामाजिक अथवा राजनीतिक व्यवस्था के अनुरक्षण के लिए किसी विशेष कृत्य को अपरिहार्य माना जा सकता था, अथवा यह कि उसके संचालन की दृष्टि से कुछ विशेष प्रकार के सरचनात्मक प्रबन्ध अत्यधिक आवश्यक थे। इस प्रकार राजनीति-विज्ञान तक आते-आते सरचनात्मक कृत्यवाद ने एक बड़ा परिष्कृत रूप ले लिया था।

अपने परिष्कृत और विकसित रूप मे सरचनात्मक कृत्यवाद राजनीतिशास्त्रियों के हाथो मे, कुछ विशेष प्रकार के शोध कार्यों के लिए, एक बड़ा प्रभावशाली साधन बन *गया।* यह पद्धति अपने मानकीकृत तत्त्वों के उस समुच्चय के कारण, जिन्हे विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओ के अध्ययन मे सफलता के साथ प्रयोग मे लाया जा सकता था, राजनीतिक व्यवस्थाओ के तुलनात्मक अध्ययन के लिए विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हुई। पूर्वविशित कृत्यो की किसी प्रकार से व्याख्या क्यो न की गयी हो, इस पद्धति को, आवश्यक परिवर्तनो के साथ, विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओ के विश्लेषण मे प्रयोग मे लाया जा सकता था। यह तो स्वाभाविक था कि यह पद्धति व्यवस्था के अनुरक्षण और *नियन्त्रण के अध्ययन मे विशेष रूप से उपयोगी थी,* और ऐसे *राजनीतिशास्त्री के लिए* जो एक *सामाजिक अभियन्ता की भूमिका अदा करना चाहता हो,* यह बता सकती थी कि किस प्रकार कुछ विशेष सरचनात्मक और सरयात्मक नीतियो को काम मे लेने से *व्यवस्था के अनुकूलन की मूल आवश्यकताओं* को पूरा *किया जा सकता था, विभिन्न* प्रकार के कार्यों के कृत्यात्मक और अप-कृत्यात्मक परिणामो के बीच समुचित सन्तुलन रखा जा सकता था, और उन परिस्थितियो को पहचाना और टाला जा सकता था जिनके कारण व्यवस्था के टूट जाने का खतरा था। दूसरे शब्दो मे, सरचनात्मक-कृत्यात्मक विश्लेषण-पद्धति राजनीतिक व्यवस्थाओ के उस तुलनात्मक अध्ययन मे जिसका विकास कुछ निर्दिष्ट उद्देश्यो और लक्ष्यो मे रुचि लेने वाले पश्चिमी राजनीति-शास्त्रियो ने किया था, अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई।

सरचनात्मक-कृत्यात्मक विश्लेषण पद्धति उस समय असफल होती हुई दिखायी दी जब पश्चिमी राजनीति-वैज्ञानिको—आमण्ड, कोलमैन, एप्टर, पॉवेल, लूसियन पाई आदि ने उसे उन विकासोन्मुख समाजो के अध्ययन के उपयोग मे लाना चाहा जिनकी राजनीतिक व्यवस्थाए दूसरे प्रकार की थी, जिनके उद्देश्य और लक्ष्य भिन्न थे, और जो *आन्तरिक सगठन अथवा विघटन की विभिन्न स्थितियों मे थी।* इस सम्बन्ध मे विशेष कठिनाई यह उपस्थित हुई कि सरचनात्मक-कृत्यात्मक विश्लेषण-पद्धति का प्रमुख आग्रह व्यवस्था के अनुरक्षण मे *था* और इसे *वह व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य और लक्ष्य मानती* थी। इसके विपरीत, विश्व के अनेक भागो मे ऐसी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओ का तेजी के साथ विकास हो रहा था जो अपने लक्ष्यों और उद्देश्यों का स्वय ही निर्धारण करना चाहती थी और इन उद्देश्यो और लक्ष्यो की खातिर अपने अनुरक्षण और अस्तित्व को भी खतरे मे डालने के लिए तैयार थी। सरचनात्मक कृत्यवाद विश्लेषण की मूल सकल्पनाएं, अपने उस सशोधित और परिष्कृत रूप मे भी जिसमे

मर्टन ने उनका विकास किया था, विकासोन्मुख समाजों में प्रयोग में नहीं लायी जा सकती थी।[23] जिन पूर्वपिठी कृत्यों की सूचियां पश्चिमी राजनीतिशास्त्रियों ने बड़ी सफलता के साथ तैयार की थीं वे सब विकासशील देशों के अध्ययन में एक के बाद एक करके टूटती हुई दिखायी दीं, और धीरे-धीरे यह स्पष्ट होता गया कि विश्लेषण की इस पद्धति का प्रयोग उन व्यवस्थाओं के अध्ययन में नहीं किया जा सकता था जिनके उद्देश्य और लक्ष्य पश्चिमी समाजों से सर्वथा भिन्न थे—जिनमें संगठन और समाकलन की क्षमताओं का अभाव था, जिनके लिए बढ़ती हुई आन्तरिक और बाहरी चुनौतियों के साथ अनुकूलन स्थापित करना अधिकाधिक कठिन होता जा रहा था, और जिनसे यह अपेक्षा करना कठिन था कि वे अपने प्रतिमानों के अनुरक्षण की दृष्टि से बहुत सफल हो सकेंगी। सच तो यह था कि इनमें से बहुत से समाजों में उन प्रतिमानों का, जिनके अनुरक्षण की उनसे अपेक्षा की गयी थी, अभी तक विकास भी नहीं हुआ था। यह स्पष्ट था कि परिवर्तन और गत्यात्मकता के अध्ययन के लिए विश्लेषण की दूसरे ही प्रकार की पद्धतियों की आवश्यकता थी।

डेविड ईस्टन और निवेश-निर्गत विश्लेषण

डेविड ईस्टन पहला प्रमुख राजनीतिशास्त्री था जिसने व्यवस्था-विश्लेषण उपागम के आधार पर राजनीति के अध्ययन के लिए उसे मानव-विज्ञान अथवा समाजशास्त्र से ज्यों का त्यों लेने के बदले एक स्वतन्त्र व्यवस्थित संरचना का विकास किया।[24] उसने राजनीतिक व्यवस्था को विश्लेषण की मूल इकाई के रूप में, और विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाओं के पारस्परिक व्यवहार को शोध के प्रमुख क्षेत्र के रूप में चुना है। व्यवस्था विश्लेषण के प्रयोग के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण "रचनात्मक" है, इस अर्थ में कि उसने व्यवस्था को, सदस्यों के समूह के रूप में नहीं, बल्कि प्रक्रियाओं के संकलन के रूप में लिया है। राजनीतिक जीवन के सम्बन्ध में ईस्टन की मान्यता है कि "वह उस राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत जो पर्यावरण से लगातार प्रभावित होता रहता है, और स्वयं पर्यावरण को प्रभावित करता है व्यवहार की एक प्रक्रिया है।"[25] इसका यह अर्थ हुआ कि राजनीतिक व्यवस्था के बाहर और उससे परे दूसरी व्यवस्थाएं, अथवा पर्यावरण, हैं—भौतिक, जैविक, मनोवैज्ञानिक आदि—जो अन्य व्यवस्थाओं से राजनीतिक व्यवस्था की भिन्नता को स्पष्ट करते हैं। ईस्टन ने लिखा है कि राजनीतिक व्यवस्था "किसी भी समाज में अन्त:क्रियाओं की एक ऐसी व्यवस्था है जिसके माध्यम

[23] रॉबर्ट के० मर्टन, पी० उ०, पृ० 53।

[24] डेविड ईस्टन, 'दि पॉलिटिकल सिस्टम, एन इन्क्वायरी इनटु दि स्टेट ऑफ पोलिटिकल साइंस,' न्यूयार्क, एल्फ्रेड ए० नौफ 1953, 'ए फ्रेमवर्क फ़ॉर पॉलिटिकल एनालिसिस,' एन्गलवुड क्लिफ्स एन० जे० प्रेंटिस-हॉल, इन्क०, 1965, और 'ए सिस्टम्स एनालिसिस ऑफ़ पॉलिटिकल लाइफ,' न्यूयार्क, जॉन बाइली एण्ड सन्स, इन्क० 1965।

[25] डेविड ईस्टन, 'ए सिस्टम्स एनालिसिस ऑफ़ पॉलिटिकल लाइफ,' पी० उ०, पृ० 181।

से बाध्यकारी अथवा आधिकारिक निर्णय लिये जाते हैं।"[26] इस प्रकार बाध्यकारी अथवा अधिकारपूर्ण निर्णयो को लेने की यह प्रक्रिया राजनीतिक व्यवस्था को समाज के भीतर और बाहर की उन व्यवस्थाओ से, जिनसे राजनीतिक व्यवस्था के पर्यावरण का निर्माण होता है, भिन्न करती है। ईस्टन यह मानता है कि समूहो और सगठनो की आन्तरिक राजनीतिक व्यवस्थाओ के रूप मे उपराजनीतिक व्यवस्थाए भी हो सकती है, परन्तु उसने अपना समस्त विश्लेषण "राजनीतिक व्यवस्था" पर केन्द्रित किया है, जिसका सम्बन्ध केवल राजनीतिक जीवन से है, यद्यपि ईस्टन मानता है कि राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन के लिए उसके द्वारा काम मे लायी गयी शोध पद्धति एक ओर उपराजनीतिक व्यवस्थाओ और दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन मे उतनी ही प्रभावशाली है जितनी राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक व्यवस्थाओ के अध्ययन मे।

ईस्टन मानता है कि सभी राजनीतिक व्यवस्थाए खुली हुई और अनुकूलनशील व्यवस्थाए हैं, और इस कारण उसने अपने अध्ययन का केन्द्र उन विनिमयो और प्रक्रियाओ को बनाया है जो राजनीतिक व्यवस्था और पर्यावरण के बीच चलती रहती है। अन्य व्यवस्थाओ से जिनसे वह घिरी हुई है आने वाले प्रभावों के लिए अपने द्वारा खुले रखने का परिणाम यह होता है कि राजनीतिक व्यवस्था के पास बाहर से धारा-प्रवाह रूप से ऐसी घटनाए और प्रभाव आते रहते हैं जो उन परिस्थितियो का निर्माण करते हैं जिनमे राजनीतिक व्यवस्था के सदस्यो को अपना काम करना पडता है। बाहर के प्रभावो से अरक्षित होने के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि राजनीतिक व्यवस्था के पास इतना सामर्थ्य हो कि वह बाहर से आने वाले सकटो का सामना कर सके और अपने को उन परिस्थितियो के अनुकूल ढाल सके जिनमे उसे काम करते रहना है। इस कारण ईस्टन ने राजनीतिक व्यवस्था को अपने को परिस्थितियो के अनुकूल ढाल लेने की प्रक्रिया पर बहुत जोर दिया है। वह यह नही मानता कि राजनीतिक व्यवस्था का काम पर्यावरण से आने वाले प्रभावो के प्रति निष्क्रिय बनकर रह जाता है। ईस्टन का विश्वास है कि प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था के आन्तरिक सगठन मे अपने को उन परिस्थितियो के अनुकूल ढाल लेने की, जिनमे वह काम करती है, एक अद्भुत क्षमता है। वह कहता है कि राजनीतिक व्यवस्थाएं अपने भीतर ऐसी बहुत सी क्रियाविधियो (mechanisms) का विकास कर लेती हैं जिनके सहारे वे पर्यावरण के सामने टिके रहने का प्रयत्न करती है और अपना व्यवहार नियन्त्रित करती हैं, अपने आन्तरिक ढाचे को बदल लेती हैं और, यदि आवश्यक हो तो, अपने मूलभूत उद्देश्यो मे भी परिवर्तन कर डालती है। यह क्षमता एक ऐसा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जो राजनीतिक व्यवस्थाओ के समान अन्य सामाजिक व्यवस्थाओ मे पाया जाता है, परन्तु सभी व्यवस्थाओं मे नहीं।

ईस्टन ने समाजशास्त्रियो द्वारा व्यवहार मे लाये गये सन्तुलन-विश्लेषण की इस आधार पर आलोचना की है कि उसमे व्यवस्थाओ की पर्यावरण से आने वाले प्रभावो से निपटने की क्षमता की उपेक्षा की गयी है। ईस्टन का आरोप है कि सन्तुलन विश्लेषण

[26]वही, पृ० 50।

(1) सन्तुलन को बहुत अधिक महत्त्व देता है, उसमे और स्थिरता मे कोई भेद नहीं करता, और यह मान कर चलता है कि व्यवस्था के जो सदस्य परिवर्तन अथवा व्यवधानों का मुकाबला कर रहे हैं उनके सामने स्थिरता को बनाये रखना ही एक मात्र उद्देश्य है, (2) विश्लेषण की इस पद्धति मे उन प्रक्रियाओ को, अथवा उन समस्याओं को जो उन प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप सामने आती है जिनमे से व्यवस्था सन्तुलन के अपने पुराने बिन्दु पर लौटने के लिए अथवा किसी नये बिन्दु को प्राप्त करने के लिए गुजरती है, कोई महत्त्व नही दिया गया है। ईस्टन का कहना है कि यदि हम यह मान कर चलें कि व्यवस्था के उद्देश्यों मे अथवा उसकी प्रतिक्रियाओ के रूपो मे कोई परिवर्तन नही आता तो हम उन प्रक्रियाओ को कभी नही समझ सकेंगे जो राजनीतिक जीवन की समाज मे अपने आप को बनाये रखने की क्षमता के पीछे काम कर रही हैं। यह बिलकुल सम्भव है कि व्यवस्था के सामने सन्तुलन के किसी एक अथवा दूसरे बिन्दु को प्राप्त करने के अतिरिक्त अन्य उद्देश्य भी हों। यह हो सकता है कि व्यवस्था के सदस्य किसी पुराने सन्तुलन को सर्वथा नष्ट करना चाहे अथवा, अनवरत असन्तुलन के किसी नये बिन्दु को प्राप्त करना चाहे। ईस्टन के अनुसार, "यह आवश्यक नही है कि व्यवस्था की बाहर से आने वाले व्यवधानो के प्रति केवल यह प्रतिक्रिया हो कि वह सन्तुलन के किसी पहले के बिन्दु के आस-पास घूमती रहे, अथवा हट कर किसी नये बिन्दु पर आ जाय। यह बिलकुल सम्भव है कि व्यवस्था बाहर से आने वाले व्यवधानो का सामना करने के लिए अपने पर्यावरण को ही बदल डालना चाहे, जिससे पर्यावरण और उसके पारस्परिक सम्बन्धों मे तनाव की स्थिति न रह जाय, यह भी सम्भव है कि वह पर्यावरण से आने वाले सभी प्रभावो से अपने को अछूता रखने का प्रयत्न करे और यह भी सम्भव है कि व्यवस्था के सदस्य अपने आपसी सम्बन्धों को ही सर्वथा बदल डालें और अपने लक्ष्यो और व्यवहारों को इस प्रकार से संशोधित कर लें कि पर्यावरण से आने वाले निवेशों से निपटने के काम वे अधिक आसानी से कर सकें। ये और अन्य बहुत से ऐसे तरीके हैं जिनके द्वारा व्यवस्था बाहर से आने वाले व्यवधानों को सृजनात्मक और रचनात्मक ढंग से सुलझा सकती है।"[21]

राजनीतिक व्यवस्थाओं को खुली और अनुकूलनशील मानने, और अपना ध्यान मुख्यतः उन अन्तःक्रियाओं पर केन्द्रित करने के कारण, जो राजनीतिक व्यवस्था और उसके पर्यावरण के बीच चलती रहती हैं, ईस्टन को व्यवस्थात्मक सीमाओ और सीमा की स्थितियों से सम्बन्ध रखने वाली संकल्पनाओं के सम्बन्ध मे भी सोचना पड़ा है। परन्तु ईस्टन का कहना है कि राजनीतिशास्त्री को अपना सारा ध्यान उन प्रक्रियाओ को देना चाहिए जो पर्यावरण से राजनीतिक व्यवस्था मे आने वाले अनेक प्रकार के प्रभावों के संसाधन और परिवर्तन मे, और यह निश्चित करने मे कि उन प्रभावों के प्रति क्या प्रतिक्रिया हो, लगी हुई है। ईस्टन ने इन्हे "राजनीतिक व्यवस्थाओं की जीवन-प्रक्रिया" का

21 डेविड ईस्टन 'सिस्टम्स एनालिसिस : एन एप्रोच एण्ड कन्सल्टेशन,' जेम्स ए० गोल्ड और विंसेंट वी० थर्स्बी द्वारा सम्पादित, 'कॉन्टेम्परेरी पोलिटिकल थॉट, इशूज इन स्कोप, वैल्यू एण्ड डाय० रेक्शन, न्यूयार्क, होल्ट, राइनहार्ट एण्ड विंस्टन, इन्क०, 1969, पृ० 202।

नाम दिया है और उनके सम्बन्ध मे कहा है कि "वे इस प्रकार के बुनियादी कृत्य हैं जिनके बिना कोई व्यवस्था टिक नही सकती—अथवा प्रतिक्रिया के वे रूप है जिनके माध्यम से व्यवस्थाएं अपने को बनाये रखने मे सफल होती है।" ईस्टन का कहना है कि "इन प्रतिक्रियाओ का, और प्रतिक्रियाओ की प्रकृति और स्थितियो का विश्लेषण" राजनीतिक सिद्धान्त की केन्द्रीय समस्या है।[28]

'सन्तुलन' उपागम की आलोचना करते हुए भी, ईस्टन ने व्यवस्थात्मक सातत्य (persistence) को अपने विश्लेषण मे केन्द्रीय स्थान दिया है। उसका प्रमुख उद्देश्य तनाव के स्रोतो और तनाव को नियन्त्रित करने की प्रविधियो अथवा प्रक्रियाओ का—ये ऐसे मूल तत्त्व हैं जिनके बिना कोई भी राजनीतिक व्यवस्था अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकती—और उन परिधियो का, जिनका अतिक्रमण उसके लिए खतरनाक हो सकता है, पता लगाना है। इस दृष्टि से शोध की प्रमुख समस्याएं होंगी : (अ) वे घटनाएं *जो राजनीतिक व्यवस्थाओ के मूल तत्त्वो को उनकी सुरक्षा की परिधि से बाहर धकेलने* का प्रयत्न कर रही हैं, और (ब) व्यवस्था की वे अनेक नियन्त्रणकारी प्रतिक्रियाएं *जिनका प्रयोग वह अपनी सुरक्षा के लिए करती है। ऐसी स्थिति मे राजनीतिक और* सामाजिक व्यवस्थाएं दो विभिन्न मार्गों के द्वारा एक दूसरे से जुड़ी हुई है। राजनीतिक व्यवस्था को समाज से चुनौतियां भी मिलती हैं और समर्थन भी, और उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह उस समर्थन की सहायता से जो उसे मिलता है, अथवा जिसे वह जोड़तोड़ के द्वारा प्राप्त कर सकता है, चुनौतियो का मुकाबला करें और अपने को बनाये रख सकें। निवेशो के रूप मे पर्यावरण से राजनीतिक व्यवस्था के पास जो मागें और समर्थन आते है, व्यवस्था के अन्तर्गत उनका रूपान्तर करने की प्रक्रिया बराबर चलती रहती है और तब वे निर्गतो (outputs) का रूप ले लेते हैं। इसके बाद वह स्थिति आती है जिसे प्रति-सम्भरण पाश (feed-back loop) का नाम दिया गया है और जिसके माध्यम से निर्गतों के प्रभाव और परिणाम निवेशो के रूप मे एक बार फिर व्यवस्था मे प्रवेश करते हैं। राजनीतिक व्यवस्था प्रक्रियाओ का एक ऐसा सकलन मात्र नहीं है जिसका काम केवल निवेषो को निर्गतो के रूप मे बदल देना है। यह एक जटिल चक्रीय प्रक्रिया है जिसकी अपनी गतिशीलता है। इसका अपना एक उद्देश्य है, जिसकी ओर आगे बढ़ने का यह बराबर प्रयत्न करती है, यद्यपि अपनी यात्रा की हर मंजिल पर इसे तनाव और अनुकूलन की समस्याओ का सामना करना पड़ता है और कई बार अपनी *नियन्त्रणकारी प्रक्रियाओ को भी व्यवहार मे लाना पड़ता है।*

निवेष दो प्रकार के होते हैं : (अ) मागें और (ब) समर्थन। मागें और समर्थन दोनो *व्यवस्था के पास समाज की ओर से आते हैं। ईस्टन ने माग की व्याख्या करते हुए लिखा* है कि "वह जनमत की इस सम्बन्ध मे अभिव्यक्ति है कि जिन लोगो के पास निर्णय लेने *का अधिकार है उन्हें किसी विषय-विशेष के सम्बन्ध मे अधिकारिक आवंटन करना*

[28]डेविड ईस्टन, 'ए सिस्टम्स एनालिसिस ऑफ पोलिटिकल लाइफ,' पी० उ०, पृ० 17।

चाहिए अथवा नहीं।"[23] कोई भी मांग, अभिव्यक्त होने से पहले, विकास की चार प्रक्रियाओं में से गुजरती है—(अ) आरम्भ में महसूस की गयी बहुत सी मांगें ऐसी मांगों का आकलन मात्र होती हैं जिन्हें स्पष्ट रूप से एक दूसरे से जुदा नहीं किया जा सकता, (ब) उसके बाद अभिजात मांगें अभिव्यक्ति का रूप लेने लगती हैं, (स) तब कुछ विशेष समस्याएं एक व्यवस्थित रूप में उठायी जाती हैं, और (द) अन्त में ये मांगें बाध्यकारी निर्णयों के रूप में निर्गम स्थिति तक पहुंचती हैं। मांग की सकल्पना के साथ अतिभार (over-load) की सकल्पना भी जुड़ी हुई है। व्यवस्था पर अतिभार की स्थिति तब आती है जब या तो मांगों की संख्या बहुत बढ़ जाती है, अथवा संख्या कम होते हुए भी, उनका दबाव बढ़ जाता है। इस सम्बन्ध में समय एक बड़ा महत्वपूर्ण कारक है। पर्याप्त समय मिल जाने पर राजनीतिक व्यवस्था के लिए यह सम्भव हो जाता है कि वह उन मांगों से भी निपट सके जो व्यापक भी हों और जिनका दबाव भी अधिक हो। व्यवस्था के पास समय जब बहुत कम होता है, और मांगों की संख्या अथवा उनका दबाव बहुत अधिक, तब अतिभार की समस्या अत्यन्त विकट हो जाती है।

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था मांगों की इस चुनौती का सामना अलग-अलग ढंग से करती है। जैसा पहले बताया जा चुका है, व्यवस्था के पास अपने नियन्त्रणकारी उपाय होते हैं जिनकी सहायता से वह मांगों को या तो पीछे धकेल सकती है, अथवा ऐसे साधनों और प्रक्रियाओं के द्वारा, जो उनके वेग और परिणाम दोनों को ही कम कर दें, इस बात का प्रयत्न कर सकती है कि वे उसकी सीमाओं में बहुत धीरे-धीरे प्रवेश करें। मांगों का नियन्त्रण करने वाली इन प्रविधियों को ईस्टन ने चार व्यापक वर्गों में बांटा है: (1) मांगों के प्रवाह के व्यवस्था में प्रवेश करने पर नियन्त्रण लगा देने और उन्हें व्यवस्थित रूप देने के लिए राजनीतिक व्यवस्था की सीमा पर ही कुछ कदम लिये जा सकते हैं जिन्हें द्वारबन्दी (gate-keeping) का नाम दिया गया है। कुछ मांगों को, किसी न किसी बहाने, टाला जा सकता है—यह कह कर कि वे ऐसी मांगें नहीं हैं जिन्हें पूरा करने का उत्तरदायित्व राजनीतिक व्यवस्था का हो अथवा यह कहकर कि ठीक ढंग से पेश नहीं किया जा रहा है, अथवा यह कह कर कि यदि उन्हें मान लिया गया तो राजनीतिक व्यवस्था का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा और मांग करने वालों का उद्देश्य भी पूरा नहीं हो सकेगा, आदि। (2) प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे सांस्कृतिक विश्वास और सामाजिक-सांस्कृतिक आदर्श होते हैं जो राजनीतिक मांगों की अभिव्यक्ति के लिए एक प्रभावशाली कसौटी का निर्माण करते हैं, इस कारण बहुत सी मांगों को यह कहकर टाला जा सकता है कि वे संस्कृति के उन आदर्शों से मेल नहीं खाती जो उस विशेष प्रकार के समाज में सर्वमान्य हैं। (3) राजनीतिक व्यवस्था अनेक ऐसे सम्प्रेषण उपकरणों का निर्माण कर सकती है जिनके माध्यम से मांगों को, समझा बुझा कर अथवा दबाव डाल कर, इतना विकीर्ण कर दिया जाय कि वे काफी कमजोर पड़ जायें। (4) राजनीतिक व्यवस्था के पास ऐसी भी कई प्रक्रियाएं हैं जिन्हें ईस्टन ने 'रिडक्शन

[23] वही पृ० 28।

प्रोसेसेज' (reduction processes) का नाम दिया है जिनके द्वारा मागो को विशेष समस्याओ के रूप मे बदला जा सकता है, यह कह कर कि यदि ऐसा किया गया तो राजनीतिक व्यवस्था के लिए उन्हे ठीक से समझने और निर्गमो मे परिवर्तित करने की प्रक्रिया मे कठिनाई होगी। ईस्टन की राजनीतिक व्यवस्था, जिसे वह सदस्यो की एक सामूहिक व्यवस्था न मान कर एक विश्लेषणात्मक व्यवस्था मानता है—शक्तिशाली मागो से, जो अनेक प्रकार से सम्पूर्ण व्यवस्था को चकनाचूर कर डालने की क्षमता रखती है, निपटने के लिए अदभुत गुणों से सम्पन्न दिखायी देती है।

राजनीतिक व्यवस्था को अपने सातत्य और अनुरक्षण के लिए केवल अपने नियन्त्रणकारी यन्त्रो पर ही निर्भर नही रहना पडता, उसकी क्षमता को बढाने वाले साधनो के रूप मे ईस्टन ने समर्थन की सकल्पना भी प्रस्तुत की है। निवेश के रूप मे केवल मागें ही नहीं होती, समर्थनकारी तत्त्व भी होते हैं। राजनीतिक व्यवस्था को पर्यावरण से पर्याप्त समर्थन न मिले और उसका काम केवल मागो से जूझना ही हो तो वह अपने को अधिक समय तक बनाये नही रख सकती। पर्यावरण से मिलने वाला यह समर्थन प्रकट भी है और अप्रकट भी—प्रकट उन कार्यों के रूप मे जो स्पष्टतः और खुले आम उसका समर्थन करते है और अप्रकट, समर्थनकारी दृष्टिकोणो और भावनाओ के रूप मे। समर्थन किसी विशेष राजनीतिक उद्देश्य के प्रति हो सकता है, अथवा वह सम्पूर्ण समर्थन का रूप भी ले सकता है। सम्पूर्ण समर्थन (अ) राजनीतिक समुदाय के प्रति हो सकता है—जिसमे व्यवस्था के सभी सदस्यो को एक ऐसे समूह के रूप मे देखा जाय जो श्रम के राजनीतिक विभाजन के आधार पर एक दूसरे से सम्बद्ध है, (ब) शासन प्रणाली अथवा मूलभूत मूल्यो, राजनीतिक सरचनाओ और आदर्शों के प्रति, अथवा (स) उन राजनीतिक अधिकारियो के प्रति, किसी निश्चित समय पर, जिनके हाथ मे शक्ति होती है। समर्थन राजनीतिक व्यवस्था के इनमे से एक या दो घटकों के प्रति अथवा एक साथ सभी घटको के प्रति हो सकता है। जितना व्यापक यह समर्थन होगा, व्यवस्था को वह उतना ही अधिक मजबूत बनायेगा, परन्तु ईस्टन के अनुसार, "व्यवस्था के अनुरक्षण के लिए इन तीनो प्रकार की अभिज्ञात राजनीतिक सस्थाओ मे से प्रत्येक के प्रति समर्थन के एक न्यूनतम स्तर का होना आवश्यक होता है। जब समर्थन का निवेश इस न्यूनतम स्तर से नीचे गिर जाता है तो किसी भी व्यवस्था के लिए खतरा पैदा हो जाता है।"[30] राजनीतिक समर्थन का घट जाना, अथवा नष्ट हो जाना, सदा ही किसी कारणवश होता है, परन्तु साधारणत. ऐसा तब होता है जब राजनीतिक व्यवस्था समाज की मूल आवश्यकताए पूरी करने की स्थिति मे नहीं होती। यदि राजनीतिक व्यवस्था के काफी सदस्य काफी समय तक अपनी आवश्यकताओ और मागो को पूरा करने के सम्बन्ध मे राजनीतिक व्यवस्था को असमर्थ पाते हैं तो यह स्वाभाविक है कि वे अपना आशिक अथवा सम्पूर्ण समर्थन वापस लेने की धमकी देकर व्यवस्था को चुनौती दें। व्यवस्था को दिये जाने वाले समर्थन मे कमी आने का एक दूसरा कारण राजनीति के

[30]वही, पृ० 159।

आपसी मतभेद और झगड़े होते हैं, परन्तु जब तक *व्यवस्था मूल रूप से स्वस्थ है* वह सदा ही कुछ विशेष क्षेत्रों में समर्थन में कमी को दूसरे क्षेत्रों से अधिक समर्थन प्राप्त करके पूरा कर सकती है और अपने को बनाये रख सकती है। राजनीतिक व्यवस्था समर्थन पर दबाव की स्थिति का सामना करने के लिए अनेक उपाय काम में ले सकती है, वह अपने संरचनात्मक तत्त्वों में परिवर्तन करके, प्रतिनिधिक प्रणाली को बदल कर, दल व्यवस्था को एक नया रूप दे कर, अथवा चाहे तो संविधान को ही बदल कर। राजनीतिक व्यवस्था को यदि यह दिखायी देता हो कि उसे स्पष्ट समर्थन की कमी है तो वह वैधता के आधार पर अपने लिये एक व्यापक समर्थन प्राप्त कर सकती है। अपने सदस्यों में सामुदायिक भावना के विकास और प्रसार के लिए विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाएं विभिन्न उपायों को काम में लेती हैं।

राजनीतिक व्यवस्था, इस प्रकार, आंशिक रूप से, अपने नियन्त्रणकारी यन्त्रों के द्वारा और, आंशिक रूप से, उस समर्थन के द्वारा—यह विशिष्ट भी हो सकता है और व्यापक भी, जो वह समाज में उत्पन्न कर सकती है अपने को बनाये रह सकती है परन्तु उसके प्रभावशाली होने की मुख्य कसौटी यह है कि वह समाज के लिए क्या कर पाने की स्थिति में है। यहां ईस्टन की निर्गम की संकल्पना अत्यन्त उपयोगी है। "अधिकारियों के निर्णय और आदेश राजनीतिक व्यवस्था के निर्गम हैं, जो व्यवस्था के सदस्यों के व्यवहार से उत्पन्न परिणामों को पर्यावरण के लिए एक संगठित रूप देने का काम करते हैं।" सभी राजनीतिक कार्यों का पर्यावरण—व्यवस्थाओं पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। वह परिणाम क्या है, इसकी चिन्ता उन विद्वानों, *अर्थशास्त्रियों, अथवा समाजशास्त्रियों* को होनी चाहिए जिनका सम्बन्ध उन व्यवस्थाओं से है। राजनीतिशास्त्री की रुचि इन निर्णयों के राजनीतिक निर्गमों में है। जैसा ईस्टन ने लिखा है, "निर्गम न केवल उस व्यापक समाज *की घटनाओं को प्रभावित करते हैं राजनीतिक व्यवस्था इसका एक अंग है,* परन्तु इस प्रक्रिया में वे उन सभी निवेशों को भी प्रभावित करते हैं जो एक के बाद एक करके राजनीतिक व्यवस्था में प्रवेश करते हैं।"[31] इस प्रक्रिया को प्रति-सम्भरण पाश (feed-back loop) का नाम दिया गया है और यह राजनीतिक व्यवस्था में समर्थन पर पड़ने वाले दबावों की प्रतिक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। निर्गम, प्रति-सम्भरण पाश में से होते हुए, निवेशों के रूप में जब व्यवस्था में प्रवेश करते हैं तो उनका मुख्य काम समर्थन को मजबूत बनाना होता है। प्रति-सम्भरण, इस प्रकार एक गतिशील प्रक्रिया है जिसके माध्यम से अपने कार्यों के सम्बन्ध में पर्यावरण की प्रक्रिया व्यवस्था के पास इस रूप में आती है कि उसके प्रकाश में वह अपने बाद के व्यवहार को बदल सकती है क्योंकि व्यवस्था का प्रमुख लक्ष्य सातत्य है, यह सूचना उन अधिकारियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है जिनका काम व्यवस्था की ओर से निर्णय लेने का है। इस चक्रीय प्रक्रिया को राजनीतिक व्यवस्था का प्रवाह प्रतिरूपण (flow model) भी कहा गया है, क्योंकि राजनीतिक प्रक्रियाएं व्यवहार के एक अनवरत और अन्तःसम्बन्धित प्रवाह के रूप में

[31] डेविड ईस्टन, पोल्स और वर्बा में, पी० उ०, पृ० 207-208।

चलती रहती हैं—अधिकारियो के द्वारा निर्णय लिये जाते है, इन निर्णयो के प्रति समाज के सदस्य अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं, प्रतिक्रिया के सम्बन्ध मे सूचनाए अधिकारियो तक पहुंच जाती हैं और उनके प्रकाश मे अधिकारी फिर अपने निर्णय लेते है। ईस्टन ने यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि निर्गमों के साथ ही इस प्रक्रिया का अन्त नही हो जाता—प्रति-सम्भरण के द्वारा वे फिर व्यवस्था मे प्रवेश करते है और उसके आगामी व्यवहार को प्रभावित करते है।

डेविड ईस्टन : एक आलोचना

ईस्टन द्वारा निर्दिष्ट राजनीतिक विश्लेषण की इस पद्धति मे दो बडे स्पष्ट लाभ हमे दिखायी देते है। एक तो यह कि विश्लेषण की यह पद्धति सन्तुलन के दृष्टिकोण से आगे जाती है और व्यवस्था मे होने वाले परिवर्तन और उसकी गतिशीलता को भी ध्यान मे रखती है। रुकावट, दवाव का नियन्त्रण, उद्देश्य पूर्ण निर्देशन आदि ऐसी सकल्पनाए है जो हमे व्यवस्थाओ की प्रक्रियाओ की गतिशीलता का विश्लेषण करने मे सहायता पहुंचाती हैं। ईस्टन ने व्यवस्था के अनुरक्षण और उनके सातत्य मे एक स्पष्ट अन्तर किया है। उसकी पद्धति का लक्ष्य व्यवस्था के सातत्य, न केवल उसके अनुरक्षण, का अध्ययन होने के कारण, ईस्टन का दावा है, वह परिवर्तन और स्थिरता दोनो की गहराइयो मे जाने की क्षमता रखती है। राजनीतिक व्यवस्था और उसके पर्यावरण के बीच एक अनवरत विनिमय चलता रहता है और व्यवस्था बराबर रूपान्तरण की प्रक्रिया मे लगी रहती है, जिनमे से निर्गतो की सृष्टि होती है और पर्यावरणो को बदलने का प्रयत्न किया जाता है। ईस्टन की पद्धति व्यवस्था की अनुकूलन प्रक्रिया को तो ध्यान मे रखती ही है, वह लक्ष्यो की खोज करने वाले प्रति-सम्भरण के रूप मे नई दिशाओ का सकेत भी देती है, यद्यपि यहा यह जोड देना आवश्यक होगा कि ईस्टन जिस परिवर्तन की बात करता है उसका उद्देश्य व्यवस्था का इस दृष्टि से अपने को सुधारना है कि वह अपने को बनाये रख सके। यद्यपि सातत्य को व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य माना गया है फिर भी व्यवस्था का सिद्धान्त के गहरे अध्ययन के बाद यही प्रतीत होता है कि उसका प्रमुख उद्देश्य खतरनाक परिधि (critical range) से बाहर न जाने देते हुए अपने मूल तत्वो का जीवित और सुरक्षित रखना है। इस प्रकार की पद्धति नियन्त्रण के प्रतिरूपो, अथवा शक्ति अथवा प्रभाव की प्रक्रियाओ, पर अधिक ध्यान नही दे सकती, न वह व्यवस्थाओं के ह्रास, विघटन और नष्ट होने की राजनीति पर ध्यान दे सकती है, और न जनता के स्तर पर होने वाली राजनीतिक गतिविधियो के विश्लेषण पर।

इस पद्धति का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण लाभ तुलनात्मक राजनीतिक विश्लेषण के क्षेत्र मे है। ईस्टन द्वारा प्रस्तुत की गयी वैचारिक सरचना मे सकल्पनाओ और सवर्गों का एक सुन्दर और समायोजित समुच्चय है, जो तार्किक दृष्टि से अकाट्य है और जिसकी सहायता से समस्त राजनीतिक व्यवस्थाओ पर एक तुलनात्मक विहगावलोकन के लिए काफी सुविधा हो गयी है। कम से कम सैद्धान्तिक स्तर पर, यह पद्धति कुछ विशेष प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओ अथवा विशेष प्रकार के सामाजिक-सास्कृतिक सन्दर्भो के

तुलनात्मक अध्ययन तक ही सीमित नहीं है। ओरन यंग ने ईस्टन के निवेष-निर्गम विश्लेषण को "उन व्यवस्थात्मक दृष्टिकोणों में, जिनका अभी तक किसी राजनीतिशास्त्री ने विशेष कर राजनीतिक विश्लेषण के लिए निर्माण किया हो, सर्वश्रेष्ठ" माना है।[32] यूजीन मीहान ने लिखा है कि "राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र में व्यवस्था विश्लेषण की नींव डालने और राजनीति के लिए एक 'सामान्य' वृत्यात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत करने में ईस्टन का प्रयत्न थोड़े से व्यापक प्रयत्नों में से एक है।"[33] विशेष रूप से राजनीति-विज्ञान के अध्ययन के लिए निर्माण किया जाना इस पद्धति की एक विशेषता है। यह पद्धति किसी दूसरे समाजशास्त्र से लिये गये सिद्धान्त को राजनीति-विज्ञान के अनुरूप ढालने का प्रयत्न किये बिना राजनीतिक प्रश्नों में व्यवस्था-विश्लेषण के प्रयोग से उठने वाली बहुत सी समस्याओं से निपटने की क्षमता रखती है।[34]

ईस्टन की वैचारिक संरचना के मूल तत्त्व बिलकुल सीधे सादे हैं। राजनीतिक व्यवहार अर्थव्यवस्था के विभिन्न भागों के बीच चलती रहने वाली अन्तःक्रिया है। व्यवस्था की संकल्पना की परिभाषा ईस्टन ने केवल विश्लेषणात्मक अर्थ में की है। ईस्टन के अनुसार व्यवस्था हम अन्तःक्रियाओं की किसी भी ऐसी स्थिति को कह सकते हैं जो शोधकर्ता की दृष्टि में उपयोगी हो। ईस्टन ने एक ऐसी स्थूल व्यवस्था में जो सदस्यों से बनती है और विश्लेषणात्मक व्यवस्था में, जिसकी कल्पना शोधकर्ता ने अपने मस्तिष्क में की है और जिसका अर्थ व्यक्तियों के व्यवहार की अन्तःक्रियाओं से है, अन्तर करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार की व्यवस्था एक ऐसे पर्यावरण में काम करती है जिसे स्थूल रूप में नहीं समझा जा सकता। यह एक सूक्ष्म संकल्पना है, जो ऐसे तत्त्वों से बनी है जिन्हें ईस्टन अराजनीतिक कहता है, और जो सामाजिक, आर्थिक, जैविक अथवा कुछ भी हो सकते हैं और जो राजनीतिक व्यवस्था से परे है। इन दोनों के बीच की सीमा रेखाएं अत्यधिक क्षीण और अस्पष्ट हैं, और उनके द्वारा एक दूसरे के क्षेत्रों का लगातार अतिक्रमण किया जाता है। इसी सन्दर्भ में ईस्टन व्यवस्था के निवेष तत्त्वों, निर्गम तत्त्वों, और प्रति-सम्भरण पाश की, जो अधिकारियों को सदस्यों से जोड़ता है और जिसके द्वारा सदस्यों की प्रतिक्रियाएं अधिकारियों तक पहुंचायी जाती हैं और अधिकारी उनके साथ फिर से अपना सम्बन्ध जोड़ सकते हैं, चर्चा करता है। अधिकारी किस प्रकार अपना सम्बन्ध सदस्यों से फिर से स्थापित करते हैं यह सदा ही व्यवस्था की सातत्य की इच्छा पर निर्भर रहता है। इस संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किये जाने पर राजनीति-विज्ञान को दिया गया ईस्टन का व्यवस्था सिद्धान्त एक बहुत ही स्पष्ट और सुलझी हुई वैचारिक संरचना पर आधारित दिखायी देती है।

परन्तु यह सब होते हुए भी बहुत सी ऐसी समस्याएं शेष रह जाती हैं जिनका समा-

[32] ओरन यंग, पी० उ०, पृ०, 46।

[33] यूजीन, जे० मीहान, 'कंटेम्परेरी पोलिटिकल थॉट, ए क्रिटिकल स्टडी,' होमवुड, इलीनोय, दि डौर्सी प्रेस, 1967, पृ० 169।

[34] ओरन यंग, पी० उ०, पृ० 46।

ध्यान हमें ईस्टन द्वारा प्रस्तुत किये गये व्यवस्था सिद्धान्त में नहीं मिलता। यह स्पष्ट है कि ईस्टन बात तो एक सूक्ष्म राष्ट्रीय व्यवस्था की करता है परन्तु उसके विचार में एक *स्थूल राजनीतिक व्यवस्था घूमती रहती दिखायी देती है। अपने व्यवस्था दृष्टिकोणों को* एक रहस्यमय ढंग से प्रस्तुत करने में ईस्टन का उद्देश्य कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को टाल जाना भी है। राजनीतिक जीवन की ईस्टन की यह परिभाषा कि "वह अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं में स्थित, उनसे घिरी हुई और निरन्तर उनके प्रभाव में काम करने वाली अन्तःक्रियाओं का एक ऐसा समुच्चय है जिसकी अपनी निश्चित सीमाएं हैं" राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में होने वाली सभी राजनीतिक गतिविधियों पर लागू होती है। ईस्टन ने, परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त से भिन्न, एक नये राजनीतिक सिद्धान्त के, जो कार्य-कारण सम्बन्धों को समझाने में सक्षम हो, निर्माण का प्रयत्न इसी कारण किया है कि उसकी दृष्टि में, परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त का सारा आधार मूल्यों पर स्थित था, और वह राजनीति-विज्ञान को एक आनुभविक शास्त्र का रूप देना चाहता है, परन्तु वह इस बात को भूल जाता प्रतीत होता है कि आनुभविक शोध ऐसी वस्तुओं के सम्बन्ध में ही की जा सकती है जो स्थूल और इन्द्रिय-गम्य हों, न कि ऐसी वस्तुओं के सम्बन्ध में, जो सूक्ष्म और सकल्पनात्मक हों। यह स्पष्ट है कि ईस्टन राजनीतिक व्यवस्था के स्थूल और सकल्पनात्मक व्यवस्थाओं के बीच भेद करने में असफल रहा है।

ईस्टन स्थूल और सकल्पनात्मक व्यवस्थाओं में अन्तर करने में असफल तो रहा ही है, वह न तो 'राजनीति' क्या है इसकी स्पष्ट परिभाषा हमें दे सका है, और न हमें यह बता सका है कि विभिन्न प्रकार की "सामाजिक अन्त क्रियाओं" और राजनीतिक अन्त-क्रियाओं में क्या अन्तर है। वह कहता है कि राजनीतिक अन्तःक्रियाओं का झुकाव, "समाज के लिए मूल्यों के आधिकारिक आवटन की ओर है।" "आधिकारिक" शब्द का *यहां यह स्पष्ट अर्थ है कि जिन पर अधिकार का प्रयोग किया जाता है वे इस आवटन को* बाध्यकारी मानते हैं। परन्तु यह एक आश्चर्यजनक बात है कि ईस्टन के अनुसार, "मूल्यों का यह आधिकारिक आवटन" समाज के लिए है। यदि इस प्रकार के आधिकारिक आवटन समाज में सभी स्थानों पर होते रहते हैं तो क्या यह आवश्यक नहीं हो जाता कि राजनीतिक व्यवस्था के उन दूसरी व्यवस्थाओं से, जो सामाजिक व्यवस्था जैसी अधिक बड़ी व्यवस्थाएं हो सकती हैं और उप-राजनीतिक व्यवस्थाओं जैसी छोटी व्यवस्थाएं भी, अन्तर स्पष्ट किया जाय? ईस्टन "राजनीतिक व्यवस्था" शब्द का प्रयोग केवल उन भूमिकाओं और अन्तःक्रियाओं तक, जिनका सम्बन्ध "सम्पूर्ण समाज के लिए आधिकारिक आवटन" से है, सीमित रखना चाहता है। इसका स्पष्ट अर्थ राष्ट्रीय व्यवस्था है, परन्तु ईस्टन को उसे राष्ट्रीय व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करने में इस कारण सकोच है कि वह अपने सकल्पनात्मक उपकरणों को एक सूक्ष्म व्यवस्था के रहस्यमय आवरण में छिपाये रखना चाहता है। परन्तु, जब तक "राजनीतिक" शब्द की स्थूल रूप में व्याख्या न की जाय राजनीतिक व्यवस्था का उपयोग आनुभविक शोध के लिए किया जाना सम्भव नहीं है।

राजनीतिक व्यवस्था को एक स्थूल स्वरूप देने से झिझकते हुए भी ईस्टन ने उसके

बारे में जो भी लिखा, वह सब राज्य व्यवस्था के अर्थ में ही है। ईस्टन जब कई स्थानों पर इस तरह की बातें लिखता है कि "राजनीतिक व्यवस्था के सदस्यों को यह करने या अथवा यह करने का अवसर है"[35], अथवा "राजनीतिक व्यवस्था सातत्य के अपने प्रयत्नों में सफल रही है"[36] आदि आदि, तो उससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि उसकी व्यवस्था *अंत:क्रियाओं का एक समुच्चय मात्र नहीं है* परन्तु सदस्यों का, जो जीवित मनुष्य हैं, एक संगठन है। ईस्टन कई स्थानों पर व्यवस्था की चर्चा एक पात्र अथवा कर्ता के रूप में भी करता है—"राजनीतिक व्यवस्थाएं, कम से कम कुछ समय के लिए सभी प्रकार के परिवर्तनों से अपने को बचा कर रखते हुए भी अपना अनुरक्षण कर सकती हैं।"[37] ईस्टन के राजनीतिक चिन्तन के गहराई से किये गये अध्ययन से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि सूक्ष्म से स्थूल की ओर बढ़ने और स्थूल से सूक्ष्म की ओर लौट आने के उसके लगातार प्रयत्नों ने उसके विचारों को उलझा हुआ और जटिल बना दिया है।

ईस्टन के व्यवस्था सिद्धान्त की एक और भी ठोस और गम्भीर आलोचना खोज के उद्देश्यों, अथवा सिद्धान्त के लक्ष्यों के सम्बन्ध में वह दृष्टिकोण है जिसे अपनाने के लिए राजनीतिशास्त्री से अपेक्षा की गयी है। व्यवहारपरक विज्ञान का मुख्य काम, ईस्टन के अनुसार, "इस प्रकार के प्रश्नों को प्रस्तुत करना है जो उन साधनों को स्पष्ट कर सकें जिनके द्वारा जीवन-प्रक्रियाओं अथवा राजनीतिक व्यवस्थाओं के प्रमुख मूल्यों की रक्षा की जा सके।"[38] ईस्टन इस सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं है कि वे प्रश्न क्या हैं। राजनीति की व्याख्या ईस्टन ने "समाज के लिए मूल्यों का आधिकारिक आवंटन" के रूप में की है। सातत्य की उसकी परिभाषा है—"सदस्यों के लिए बाध्यकारी निर्णय लेने और उन्हें नियन्त्रित करने की व्यवस्था की क्षमता का बने रहना।"[39] दबावों की उसकी परिभाषा है—"वे गतिविधियां जो इस प्रकार के बाध्यकारी निर्णयों को क्रियान्वित करने की क्षमता को चुनौती देती हैं।" मूल्यों के आवंटन की समाज की क्षमता की जो परिभाषा ईस्टन ने दी है वह भी उसके सदस्यों और उनके द्वारा इन मूल्यों की स्वीकृति के सन्दर्भ में दी गयी है। परन्तु ये सारे तर्क आखिर हमें किस दिशा में ले जाते हैं? सोहान लिखता है, "पार्सन्स के समान ईस्टन भी सिद्धान्त का अर्थ स्पष्टीकरण के सन्दर्भ में नहीं, संकल्पनात्मक संरचनाओं के निर्माण के सन्दर्भ में, लेता है। इसके परिणामस्वरूप जो अत्यधिक सूक्ष्म संरचना हमारे सामने उपस्थित होती है वह तार्किक दृष्टि से सन्दिग्ध है, वैचारिक दृष्टि से उलझी हुई और आनुभविक शोध की दृष्टि से लगभग निरर्थक। ईस्टन की 'राजनीतिक व्यवस्था' एक ऐसी काल्पी वस्तु है जिसका आनुभविक राजनीति से किसी प्रकार का सम्बन्ध निर्धारित किया ही नहीं जा सकता। एक 'उच्च आनुभविक

[35]डेविड ईस्टन, 'ए फ्रेमवर्क ऑफ पोलिटिकल एनालिसिस', पी० उ०, पृ० 78।
[36]वही, पृ० 84।
[37]वही, पृ० 99।
[38]वही, पृ० 78।
[39]वही, पृ० 87।

सम्बद्धता' लिये हुए सकल्पनात्मक सरचना देने का जो वायदा उसने किया था उसे वह पूरा नही कर सका है।"[40]

यदि ईस्टन को अपनी राजनीतिक व्यवस्था को राष्ट्रीय व्यवस्था के रूप मे प्रस्तुत करने मे संकोच रहा है तो वह व्यक्ति को भी, जिसे वह *आनुभविक प्रेक्षण की* इकाई बनाना चाहता है, व्यक्ति के रूप मे नही देख पाया है। गहराई से देखा जाय तो प्रतीत होता है कि ईस्टन को न तो व्यक्ति मे, और न उसके व्यवहार मे, कोई रुचि है जब तक वह दूसरे व्यक्तियो के व्यवहार के बीच की अन्त.क्रिया का एक भाग ही न हो। ईस्टन व्यक्ति को केवल बाहर से देखता है। उसकी दृष्टि केवल उसकी उस भूमिका पर है जो वह राजनीतिक व्यवस्था के अनुरक्षण और सातत्य मे, अथवा विघटन और विनाश में, अदा करता है। हैना एरेन्ड ने इस दृष्टिकोण की तुलना आर्किमिडीज के दृष्टिकोण से की है जिसमे पृथ्वी को उसके बाहर के किसी बिन्दु से देखने का *प्रयत्न किया जाता है*,[41] इस सम्बन्ध मे अपना खेद प्रकट किया है कि "हम प्रत्येक वस्तु को उसकी प्रक्रियाओ के सन्दर्भ में देखने और उस पर सोचने का प्रयत्न करते हैं, जबकि हमे व्यक्तियो मे अथवा व्यक्तिगत घटनाओ मे कोई रुचि नही है . . . ।"[42] पॉल एफ० क्रेस ने इस दृष्टिकोण को "अधिकाश आधुनिक सामाजिक सिद्धान्त की द्विविधा और उसका विरोधाभास" कहा है। "यह तथ्यो" (आधार-सामग्री) का आदर करता है परन्तु उनके अर्थ अथवा महत्त्व की तलाश कही और करता है, और प्रकृति अथवा अनुभव मे उसे कोई ऐसी वस्तु *दिखायी नहीं देती जिसमे वह उसे प्राप्त कर सके।*"[43]

ईस्टन उन व्यक्तियो पर, जो व्यवस्था का अंग हैं, व्यवस्था का क्या प्रभाव पडता है, यह समझने मे बिलकुल रुचि नही लेता। उसकी दृष्टि मे उनके बीच की अन्त क्रियाए *ही व्यवस्था है, न कि व्यक्तिगत सदस्य। संस्थात्मक* दृष्टिकोण से व्यवहारपरक दृष्टिकोण तक बढने के प्रयत्न मे ईस्टन कही बीच मे भटक गया है। उसकी व्यवस्था विश्लेषणात्मक है, सदस्यो के व्यक्तित्व से जिसका कोई सम्बन्ध नही है, और विश्लेषण की उसकी इकाई अन्त क्रिया है, व्यक्ति नही। इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था और व्यक्ति दोनो ही उसकी पकड से बाहर रह गये है। ईस्टन ने पॉल एफ० क्रेस के शब्दो मे "परम्परागत पात्र को अन्त.क्रियाओ के तेजाब में गला दिया है, परन्तु उसके सुरुचिपूर्ण पुनर्निर्माण की दिशा मे कोई प्रयत्न नही किया है।"[44] इसका परिणाम यह हुआ है कि ईस्टन के व्यक्ति गुणो से विहीन दिखायी देते हैं और उसकी राजनीति

[40]मोहान, पी० उ०, पृ० 173-74।

[41]हैना एरेन्ड, 'द ह्यूमन कन्डीशन', गार्डन सिटी, न्यूयार्क, डबलडे एण्ड क०, 1959, पृ० 249-262।

[42]हैना एरेन्ड, *'बिटवीन पास्ट एण्ड फ्यूचर : सिक्स एक्सरसाइज़ेस इन पोलिटिकल थॉट,'* न्यूयार्क, वाइकिंग प्रेस, 1961, पृ० 61।

[43]पॉल एफ० क्रेस, 'ए क्रिटिक ऑफ ईस्टन्स सिस्टम्स एनालिसिस,' गोल्ड और थर्सबी मे, पी० उ०, पृ० 226।

[44]वही, पृ० 223।

सारहीन बन कर रह गयी है। व्यक्ति ने अपने मूल तत्त्वों को खो दिया है और वह केवल सन्दर्भात्मक होकर रह गया है। वास्तव में ईस्टन ने व्यक्ति की जो कल्पना की है वह व्यक्ति न होकर एक आवरण मात्र बन कर रह गया है। ग्रेग के शब्दों में, "यह अजीब सा लगता है कि एक सिद्धान्त जो तथ्य के प्रति तो इतना आदरपूर्ण हो, सार की दृष्टि से इतना खोखला हो।"[65] फेस ने ईस्टन के सिद्धान्त की व्यवस्था राजनीति की एक खोखली दृष्टि के रूप में की है और विस्तार से "सिद्धान्त की सारहीनता, व्यवस्था और उसके सदस्यों की कृत्रिम प्रकृति, पात्र के स्थान पर आवरण की सृष्टि, और सम्भावनाओं की मर्यादा के रूप में सीमाओं के अदृश्य हो जाने" की चर्चा की है।[66]

गेब्रियल आमण्ड और संरचनात्मक-कृत्यात्मक विश्लेषण

गेब्रियल आमण्ड के द्वारा स्वीकृत व्यवस्था-विश्लेषण की पद्धति राजनीति-विज्ञान में डेविड ईस्टन की पद्धति की तुलना में अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई है।[67] आमण्ड का उद्देश्य भी वही है जो टेल्कौट पार्सन्स का, अथवा ईस्टन का, रहा है। उनके समान वह भी राजनीति के एक कृत्यात्मक सिद्धान्त की तलाश है। उनका प्रमुख उद्देश्य यह समझना है कि राजनीतिक व्यवस्थाएं किस प्रकार अपने परम्परागत रूप को छोड़कर आधुनिक रूप में प्रवेश करती है। आमण्ड यह विश्वास करता हुआ दिखायी देता है कि उसने वास्तव में एक ऐसे सिद्धान्त का आविष्कार कर लिया है जिसके आधार पर "अन्ततः सांख्यिकीय और सम्भवतः गणितीय निरूपण सफल हो सकेगा।"[68] आमण्ड के राजनीति-विज्ञान का क्षेत्र तुलनात्मक राजनीति है। वह मानता है कि आधुनिक पश्चिमी राजनीतिक व्यवस्था को, जिस रूप में हम उसे अमरीका अथवा इंगलैण्ड में पाते हैं, एक ऐसा आदर्श माना जा सकता है जिसकी ओर सभी विकासशील देश आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रहे हैं और वह यह भी मानता है कि वर्तमान राजनीतिक व्यवस्थाओं का इस आधार पर वर्गीकरण किया जा सकता है कि वे अपने परम्परागत स्वरूप से निकल कर आधुनिक स्वरूप को प्राप्त करने की प्रक्रिया में इस समय संक्रमण की किस स्थिति में है। इसके पीछे यह अधिमान्यता स्पष्ट है कि राज्य में उत्पन्न होने वाली राजनीतिक समस्याओं का समाधान तलाश करने की आधुनिक व्यवस्थाएं परम्परागत व्यवस्थाओं से अधिक उन्नत है। आमण्ड के चिन्तन का एक दूसरा आधार यह है कि राजनीतिक परिवर्तन को विकास के सन्दर्भ में देखा जा सकता है, "विकास की प्रक्रिया एक तार्किक प्रक्रिया है," और "पर्यावरण से आने वाले विभिन्न प्रकार के दबावों की प्रतिक्रिया के

[65]वही, पृ०, 225।

[66]वही, पृ०, 226।

[67]गेब्रियल ए० आमण्ड, "ए० फ़ंक्शनल एप्रोच टू कम्पेरेटिव पोलिटिक्स," गेब्रियल ए० आमण्ड और जेम्स एस० कोलमैन द्वारा सम्पादित, 'दि पोलिटिक्स ऑफ दी डेवलपिंग एरियाज़,' प्रिंसटन, एन० जे०, प्रिंसटन विश्वविद्यालय प्रेस, 1960, पृ० 3-64, गेब्रियल ए० आमण्ड और जी० बिंघम पॉवेल, जू०, 'कम्पेरेटिव पोलिटिक्स : ए डेवलपमेण्टल एप्रोच,' बोस्टन और टोरंटो, लिटिल ब्राउन एण्ड कम्पनी, 1966।

[68]आमण्ड, आमण्ड और कोलमैन में, पी० उ०, पृ० 59।

रूप में राजनीतिक व्यवस्था में निकट अथवा सुदूर भविष्य में होने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण किया जा सकता है, यहां तक कि उनके सम्बन्ध में भविष्यवाणी भी की जा सकती है।"[49] जब हम एक नीचे दर्जे की राजनीतिक व्यवस्था को ऊंची और विकसित राज्य व्यवस्था की ओर बढ़ने के प्रयत्नों को परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया के आमण्ड के विश्लेषण के सन्दर्भ में देखते हैं तो हमें यह मानने पर विवश होना पड़ता है कि यह व्यवस्था सिद्धान्त के जैविक उद्गम के अत्यधिक प्रभाव में है, और यह व्यवस्था को एक 'जीवित वस्तु' के रूप में देखता है। ईस्टन की राजनीतिक व्यवस्था के समान आमण्ड की राजनीतिक व्यवस्था भी सामाजिक व्यवस्था का एक अंग है, जिसकी कुछ अपनी विशेषता है, परन्तु जिसके अध्ययन में अन्य शास्त्रों, और विशेषकर सामाजिक विज्ञानों, की संकल्पनाओं और सिद्धान्तों से बहुत अधिक सहायता मिल सकती है।

आमण्ड ने विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं के अपने अध्ययन का आरम्भ राजनीतिक व्यवस्था की एक परिभाषा देने के प्रयत्न के साथ किया है। मैक्स वेबर के द्वारा दी गयी परिभाषा के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था का अर्थ "एक ऐसा मानव समुदाय है जो एक निश्चित प्रदेश में बल प्रयोग के विधि-सम्मत एकाधिकार का (सफल) दावा करता है।"[50] आमण्ड इस परिभाषा को अपर्याप्त मानता है। आमण्ड इस परिभाषा को, इस दृष्टि से कि वह प्रादेशिकता पर अधिक जोर देती है और बल के अधिकार को वहीं तक सीमित कर देना चाहती है जहां तक राज्य उसके लिए अनुमति दे, राजनीतिक व्यवस्था से अधिक राज्य की परिभाषा मानता है। तब वह मेरियन लेवी और लासवेल और कैप्लन की परिभाषाओं को लेता है, जिन्हें वह अत्यधिक व्यापक मानता है। मेरियन लेवी ने "राजनीतिक आवंटन" की व्याख्या इस प्रकार की थी कि "राज्य की स्थूल संरचना से सम्बद्ध उसके अनेक सदस्यों में शक्ति और उत्तरदायित्व का विभाजन इस प्रकार किया जाय कि एक ओर तो उसमें दमनकारी प्रवृत्तियों के उपयोग की, जिसमें अधिकतम बल प्रयोग भी शामिल है, सुविधा हो और दूसरी ओर व्यवस्था के सदस्यों के प्रति, और अन्य स्थूल व्यवस्थाओं के प्रति भी, उत्तरदायित्व की भावना हो।"[51] आमण्ड का कहना है कि लेवी ने बल-प्रयोग और अन्य बाध्यताओं की ठीक से व्याख्या नहीं की थी और न उन 'संरचनाओं' के सम्बन्ध में यह स्पष्ट था जिनके द्वारा इन कृत्यों को सम्पन्न किया जाता है। आमण्ड लिखता है, "यह परिभाषा समाज में, एक अनिर्णयात्मक ढंग से, सभी दिशाओं की ओर संकेत करती है और हमें किसी भी ऐसी विशिष्ट व्यवस्था को, जिसका सम्बन्ध दूसरी व्यवस्थाओं से और एक अकेले समाज की विशेषताओं से हो, चुनने में, अथवा दूसरे समाजों की राजनीतिक व्यवस्थाओं और विशेषताओं से उसकी तुलना करने में, हमारी सहायता नहीं करती।"[52] आमण्ड

[49]आमण्ड और पॉवेल, पू० उ०, पृ० 207-208।

[50]मैक्स वेबर, "पॉलिटिक्स एज ए वोकेशन", गर्थ और मिल्स, 'फ्रॉम मैक्स वेबर', न्यूयार्क, 1946, पृ० 78।

[51]मेरियन लेवी, जू०, पू० उ०, पृ० 469।

[52]आमण्ड, आमण्ड और कोलमैन में, पू० उ०, पृ० 6।

इसके बाद, उन लेखकों की परिभाषाओं के उदाहरण के रूप में जिन्हें वह "समाजशास्त्र की ओर झुके हुए राजनीतिशास्त्री" मानता है, लासवेल और कैप्लन की परिभाषाओं को लेता है। आमण्ड कहता है कि शक्ति की उनकी इस परिभाषा में कि वह "प्रभाव के प्रयोग का एक विशेष उदाहरण" है और उन लोगों की नीतियों को, जो अभिप्रेत नीतियों से सहमत न हों, मूल सुविधाओं से गम्भीर रूप से वंचित करने, अथवा वंचित कर देने की धमकी देने, के द्वारा उनके कार्यों को प्रभावित करने की प्रक्रिया है।" इसमें सुविधाओं से गम्भीर रूप से वंचित करने, की जो बात कही गयी है वह राजनीतिक व्यवस्था को दूसरी सामाजिक व्यवस्थाओं से भिन्न करने के लिए पर्याप्त नहीं है। राजनीतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में ईस्टन की परिभाषा को, जिसमें तीन विशेषताओं पर जोर दिया गया था—(1) नीतियों के द्वारा मूल्यों का आवंटन, (2) आवंटन की आधिकारिकता, और (3) आधिकारिक आवंटनों का समाज के लिए बाध्यकारी होना—वह अधिक सन्तोषजनक मानता है। परन्तु, इसके सम्बन्ध में भी उसका कहना है कि 'आधिकारिता' राजनीतिक व्यवस्था को अन्य व्यवस्थाओं से, जिनमें धार्मिक और व्यापारिक संस्थाएं भी सम्मिलित हैं, और जिनमें किसी न किसी प्रकार के अधिकार का प्रयोग होता है, स्पष्ट रूप से भिन्न नहीं करती। आमण्ड अधिकार की व्याख्या "विधि-सम्मत शारीरिक बाध्यता" मानता है। उसकी यह धारणा भी है कि ईस्टन की परिभाषा को इस प्रकार संशोधित करके उसने एक ओर तो मैक्स वेबर द्वारा दी गयी (उसकी दृष्टि से संकुचित) परिभाषा को एक व्यापक रूप दिया है और दूसरी ओर समाजशास्त्र की ओर झुके हुए राजनीतिशास्त्रियों की परिभाषा की तुलना में उसे अधिक निश्चयात्मक बना दिया है।

आमण्ड की अपनी दृष्टि से राजनीतिक व्यवस्था "अन्तःक्रियाओं की वह व्यवस्था है जो उन सभी स्वतन्त्र समाजों में पायी जाती है जो, कम व अधिक विधि-सम्मत शारीरिक बाध्यता को काम में लाते हुए अथवा उसकी धमकी देते हुए (आन्तरिक दृष्टि से तथा अन्य समाजों के सन्दर्भ में भी) समाकलन और अनुकूलन स्थापित करने के कृत्यों में लगे होते हैं।"[33] आमण्ड ने इस प्रकार मीहान के शब्दों में (एक अ-व्याकरणिक वाक्य में) "वेबर के द्वारा दी गयी राज्य की परिभाषा, आधिकारिक आवंटन की ईस्टन की संकल्पना और समाज में राजनीतिक उप-व्यवस्था के कृत्यों के सम्बन्ध में पार्संस के दृष्टिकोण को एक साथ मिलाने का प्रयत्न किया है।"[34] इस परिभाषा को अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हुए आमण्ड का कहना है कि उसने "अधिक अथवा कम" का प्रयोग इस कारण किया है कि विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में राज्य की वैधता भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है—तानाशाही व्यवस्थाओं में वैधता के सम्बन्ध में बहुत अधिक सन्देह किया जा सकता है, क्रान्तिकारी व्यवस्थाओं में यह परिवर्तन की स्थिति में होती है और गैर-पश्चिमी समाजों में यह सम्भव है कि एक समय में एक से अधिक वैध

[33]वही, पृ० 7।
[34]मीहान, पी० ऊ०, पृ० 176।

व्यवस्थाएं मौजूद हो। "शारीरिक बाध्यता" को न्यायोचित ठहराते हुए उसने बताया है कि इसके द्वारा हमे राजनीतिक व्यवस्थाओ को दूसरी सामाजिक व्यवस्थाओ से भिन्न करके देखने मे सहायता मिलती है। शारीरिक बाध्यता के लिए "विधिसम्मत" शब्द के प्रयोग के द्वारा आमण्ड यह स्पष्ट कर देना चाहता है कि वह राजनीति को केवल बल-प्रयोग के रूप मे नही मानता। शारीरिक बाध्यता की वैधता ही राजनीतिक व्यवस्था के निवेशो और निर्गमो को व्यवस्थित करने का काम करती है और उसे व्यवस्था के रूप मे एक विशिष्टता, सुस्पष्टता और सम्बद्धता प्रदान करती है। राजनीतिक व्यवस्था मे निवेश करने वाले एक प्रकार से विधिसम्मत बाध्यता के प्रयोग का दावा करते है, और उससे बाहर आने वाले निर्गम एक प्रकार से विधिसम्मत शारीरिक बाध्यता के साथ जुड़े होते हैं। इस प्रकार, राजनीतिक व्यवस्था की आमण्ड की परिभाषा से तीन बातें स्पष्ट होती हैं—(1) राजनीतिक व्यवस्था एक स्थूल घटक है जो पर्यावरण को प्रभावित करता है और पर्यावरण के द्वारा प्रभावित होता है और विधिसम्मत बल प्रयोग का प्रावधान (अन्तत) उसे बनाये रखने का प्रमुख कारण है, (2) अन्त.क्रियाए व्यक्तियो के बीच नही किन्तु उनके द्वारा स्वीकृत भूमिकाओ के बीच होती रहती हैं, और (3) राजनीतिक व्यवस्था एक खुली हुई व्यवस्था है जो अपनी सीमाओ के बाहर स्थित घटको और व्यवस्थाओ के साथ एक अनवरत सचरण सम्बन्ध के द्वारा जुडी हुई है।[65]

व्यवस्था के सम्बन्ध मे आमण्ड की मान्यता क्या है? यदि "राजनीतिक" से उसका अर्थ समाज मे होने वाली कुछ विशेष प्रकार की अन्त क्रियाओ को इस दृष्टि से अलग करके देखना है कि दूसरे प्रकार की कुछ विशेष अन्त क्रियाओं से उनका सम्बन्ध स्थापित किया जा सके तब तो 'व्यवस्था' का अर्थ इन अन्त क्रियाओ को कुछ विशेष प्रकार के गुणो से विभूषित करना होगा। आमण्ड ने व्यवस्था की तीन विशेषताए बतायी हैं: (1) व्यापकता, (2) अन्तर्निर्भरता, और (3) सीमाओ का अस्तित्व। व्यवस्था व्यापक इस दृष्टि से है कि उसमे, निवेशो और निर्गमो सहित, वे सभी अन्त क्रियाए सम्मिलित है जो सभी सरचनाओ मे—वे चाहे रक्त सम्बन्ध अथवा वश-परम्परा जैसी अभियोदित सरचनाए हो अथवा दगे-फसाद और प्रदर्शनो जैसी अनियमित घटनाए, और न केवल उन संरचनाओ मे जिनका सम्बन्ध ससद, कार्यकारिणी और लोक सेवा जैसी राज्य से सम्बोधित सरचनाओ से अथवा राजनीतिक दल, हित-समूह और सचरण साधनो जैसी औपचारिक दृष्टि से सगठित सरचनाओ से है—शारीरिक बल के प्रयोग को प्रभावित करती है। अन्तर्निर्भरता का अर्थ है कि व्यवस्था के विभिन्न उप-समुच्चय एक दूसरे से इतनी निकटता के साथ जुडे हुए है कि एक उप-व्यवस्था-समुच्चय मे परिवर्तन होने के कारण दूसरे सभी उप-व्यवस्था-समुच्चयो मे परिवर्तन होता दिखायी देता है, दूसरे शब्दो मे, व्यवस्था के भागो अथवा उप-व्यवस्था-समुच्चयो की सार्थकता सम्पूर्ण व्यवस्था के क्रियान्वयन मे ही है। आमण्ड ने सीमा की व्याख्या उन बिन्दुओ के रूप मे की है "जहा

[65]आमण्ड, आमण्ड और कोलमैन मे, पी० उ० पृ०, 7।

दूसरी व्यवस्थाएं समाप्त होती हैं और राजनीतिक व्यवस्था आरम्भ होती है।"[38] आमण्ड ने राजनीतिक व्यवस्था और दूसरी व्यवस्थाओं के बीच की विभाजक रेखाओं को कई उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। राजनीतिक विशेषताओं की आमण्ड द्वारा गिनायी गयी इन तीन विशेषताओं के अतिरिक्त उसकी एक और विशेषता, जिसके सम्बन्ध में उसने अपने सम्पूर्ण विश्लेषण में चर्चा की है, यह है कि व्यवस्थाओं की प्रवृत्ति सन्तुलन प्राप्त करने की ओर होती है। सन्तुलन का अर्थ साधारणतः यह होता है कि कोई भी इकाई दूसरी किसी इकाई के सम्बन्ध में अपनी स्थिति को बदलेगी नहीं, इसका स्वभावतः ही यह अर्थ होगा कि विभिन्न इकाइयों ने एक दूसरे के साथ अपना सामंजस्य स्थापित कर लिया है और वे "स्थिरता अथवा समावस्थान की ऐसी स्थिति (homeostatic state) को प्राप्त कर चुके हैं जिनमें वे सामंजस्य, स्थायित्व और सन्तुलन का उपभोग कर रहे हैं।"

व्यवहारवादी होने का दावा करने के कारण आमण्ड के लिए यह घोषणा करना तो आवश्यक ही था कि उसकी रुचि संस्थाओं से अधिक प्रक्रियाओं में है और इस कारण वह राजनीतिक व्यवस्था के भीतर की संरचनाओं को उनके कृत्यों के माध्यम से समझने का प्रयत्न करता है। आमण्ड के अनुसार प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था को कुछ निश्चित कृत्यों को पूरा करना पड़ता है। वास्तव में राजनीतिक विकास के सन्दर्भ में किसी राजनीतिक व्यवस्था की क्या स्थिति है, इसका निर्धारण इसी आधार पर किया जा सकता है कि वह अपने कृत्यों को कितनी कुशलता के साथ पूरा करती है। राजनीतिक व्यवस्था के द्वारा किये जाने वाले कृत्य जब स्पष्ट हैं तो स्वभावतः ही यह प्रश्न उठता है कि किन संरचनाओं के द्वारा इन कृत्यों को पूरा किया जा रहा है। आमण्ड ने बहुत से कृत्यात्मक संवर्गों की चर्चा की है जिन्हें पूरा करना प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था का दायित्व है। व्यवस्था की स्थिरता को बनाये रखने के लिए प्रक्रियाएं मुख्यतः उत्तरदायी हैं, इस कारण आमण्ड ने व्यवस्थाओं के विश्लेषण को उतना महत्त्व नहीं दिया जितना प्रक्रियाओं को, जिसकी पार्संस में उसकी निष्ठा होने के कारण उससे अपेक्षा की जा सकती थी। राजनीतिक व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में वह केवल यही कहता है कि उन सभी में कुछ सामान्य बातें हैं—जैसे (1) एक संरचना का अस्तित्व, (2) सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं के द्वारा एक ही प्रकार के कृत्यों का किया जाना, (3) सभी संरचनाओं के द्वारा एक से अधिक कृत्यों का किया जाना, और (4) सभी व्यवस्थाओं का मिश्रित होना, इस अर्थ में कि उन सब में 'आधुनिक' और 'आदिम' दोनों ही तत्वों का मेल पाया जाता है। परन्तु उसने जिन कृत्यात्मक संवर्गों और व्यवस्थात्मक गुणों के सम्बन्ध में अपने अनुभविक निष्कर्ष दिये गये हैं उन सबका आधार केवल पश्चिमी राजनीतिक व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में उसके ज्ञान और परिचय पर निर्भर है। आमण्ड इस तथ्य से अपरिचित नहीं है कि निश्चित कृत्यों को पूरा करने वाली संरचनाओं की अपनी खोज में—विशेषकर विकासशील देशों में यह बिलकुल सम्भव है कि शोधकर्ता को यह पता लगे कि कुछ

[38]वही पृ० 8।

राजनीतिक प्रक्रियाए (मर्टन के शब्दो मे) अप-कृत्यात्मक है (dys-functional) और वे व्यवस्था को असामजस्य की स्थिति की ओर ले जा रही हैं। परन्तु, यह जानते हुए भी उसने राजनीतिक व्यवस्था की कुशलता निर्धारित करने के लिए उन्ही कृत्यात्मक सवर्गों का सहारा लिया है जिनकी सूची उसने पश्चिमी व्यवस्थाओ के अपने अनुभव के आधार पर बनायी थी।

आमण्ड ने, कृत्यात्मक सवर्गों की सूची मे सात बातो को लिया है। इनमे चार तो निवेष कृत्य हैं . (1) राजनीतिक समाजीकरण और भर्ती (2) हित-अभिव्यक्ति, (3) *हित आकलन, और (4) राजनीतिक सचरण, और शेष तीन निर्गम कृत्य हैं : (5) नियम-*निर्माण, (6) नियम आवेदन, और (7) नियम अधिनिर्णयन। निवेष कृत्य गैर सरकारी उप-व्यवस्थाओ, समाज और सामान्य पर्यावरण के द्वारा पूरे किये जाते हैं, और निर्गम कृत्य सरकार के द्वारा। निर्गम कृत्य पारिवारिक ढग के है—विधि निर्माण, कार्य-कारिणी और न्यायपालिका सम्बन्धी—और इन पर आमण्ड ने विशेष ध्यान नही दिया है। निवेष कृत्यो को वह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। अन्य व्यवस्था-सिद्धान्त-वादियो के समान आमण्ड ने भी राजनीतिक व्यवस्था को एक खुली व्यवस्था माना है जिस पर, सामाजिक, सास्कृतिक और आर्थिक, उन पर्यावरणो का जिनके अन्तर्गत वह काम करती है, प्रभाव पडता है। राजनीति-विज्ञान के सम्बन्ध मे अपने व्यापक दृष्टि-कोण के *अनुकूल ही आमण्ड ने निवेषो के उन बहुत से तत्त्वो की चर्चा की है जो* पर्यावरण को प्रभावित करते हैं। राजनीतिक समाजीकरण के अन्तर्गत आमण्ड ने "*राजनीतिक व्यवस्था का मनोवैज्ञानिक आयाम, अर्थात राजनीतिक सस्कृति को भी,* जिसमे मूल्य भी आ जाते हैं, सम्मिलित किया है। यह स्पष्ट है कि आमण्ड ने अपना प्रतिमान पश्चिमी समाजो की अत्यधिक विकसित राजनीतिक व्यवस्थाओ से लिया है, जिनमे ये सभी कृत्य एक काफी व्यवस्थित और अभिज्ञात ढग से किये जाते हैं। आमण्ड यह तो नही कहता कि पश्चिमी राजनीतिक व्यवस्था सभी दृष्टिकोणो से पूर्णता को प्राप्त कर चुकी है। सभी व्यवस्थाए, जैसा उसने स्पष्ट शब्दो मे कहा है, सास्कृतिक दृष्टि से 'मिश्रित' है, जिसका यह अर्थ हुआ कि उनमे आधुनिकता और परम्परावाद दोनो के ही गुण पाये जाते है। अत्यधिक विकसित पश्चिमी राजनीतिक व्यवस्थाओ और अन्य व्यवस्थाओं मे अन्तर यह है कि उनमे विकासोन्मुख देशो की तुलना मे जहा *इन सरचनाओ का अधिक विशेषीकरण नही हुआ है, हित-अभिव्यक्ति (हित-समूहो),* हित-आकलन (राजनीतिक दलो) और राजनीतिक सचरण (प्रचार के साधनो) के लिए, *विकासोन्मुख देशो की तुलना मे, अधिक विशेषीकृत सरचनाए है।*

राजनीतिक समाजीकरण से आमण्ड का कार्य उस प्रक्रिया से है जो व्यवस्था के सदस्यों को "राजनीतिक सस्कृति मे दीक्षित करती" है और व्यवस्था के सदस्यो मे एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति का विकास करती है। यह प्रक्रिया समाज के विभिन्न तत्त्वो के द्वारा, और विभिन्न रूपो मे, क्रियान्वित की जाती है—यदि उसका सीधा सम्बन्ध राजनीति से है तो हम उसे प्रकट समाजीकरण कह सकते है; यदि यह सम्बन्ध अप्रत्यक्ष है तो अप्रकट समाजीकरण। प्रारम्भिक स्थितियो मे समाजीकरण की प्रक्रिया बिखरी

हुई (diffuse), विशिष्टतापरक (particularistic), आरोपित (ascriptive), और भावात्मक (affective) होती है। जैसे-जैसे समाज का विकास होता है यह निर्दिष्ट (specific), सर्वव्यापी (universalistic) और साधनात्मक (instrumental) बन जाती है। राजनीतिक भर्ती में भी—जिसका अर्थ राजनीति में सदस्यों का दीक्षित किया जाना है, यही विवरण प्रयुक्त हो सकता है। ज्यों ही राजनीतिक समाजीकरण और भर्ती की प्रक्रियाएं पूरी हो जाती हैं, अभिव्यक्ति और हित-आकलन का प्रतिनिधित्व करने वाली संरचनाओं का गठन किया जाने लगता है। हित-अभिव्यक्ति की स्थिति में ये साधारणतः हित समूहों का रूप ले लेती हैं। हित समूहों को (1) संस्थात्मक (राजनीतिक), (2) गैर संस्थात्मक (जातिगत अथवा धार्मिक), (3) अनियत (अचानक उठ खड़े होने वाले) और (4) संस्थात्मक (संघ अथवा व्यापारिक समूह), इन चार भागों में बांटा जा सकता है। हित समूहों का नियामकत्व भी विकास की स्थिति के अनुसार निर्दिष्ट अथवा विकीर्ण, सामान्य अथवा विशिष्ट, भावनात्मक अथवा आरोपित, हो सकता है।

हित-आकलन की प्राप्ति या तो (1) उन सामान्य नीतियों के निर्धारण से की जाती है जो हितों को एक दूसरे के साथ जोड़ती है, या (2) ऐसे व्यक्तियों को एकत्रित करके जो एक विशेष प्रकार के समाज की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध हो। राजनीतिक दल हित आकलन के मुख्य साधन हैं। आमण्ड ने राजनीतिक व्यवस्थाओं का, संगठन और शैली, दोनों ही दृष्टियों से वर्गीकरण किया है—(1) संगठन की दृष्टि से वे आधिकारिक और अधिशासी हो सकती हैं अथवा अनधिकारिक, प्रतिद्वन्द्वात्मक-द्विदलीय और प्रतिस्पर्धात्मक अनेक-दलीय, और (2) शैली की दृष्टि से धर्म-निरपेक्ष-प्रयोजनात्मक-समझौतावादी अथवा निरपेक्ष-मूल्य-अभिविन्यस्त (absolute value-oriented) अथवा आदर्शवादी, विशिष्टवादी, अथवा परम्परागत। जहां तक राजनीतिक संचरण का प्रश्न है आमण्ड ने उसकी तुलना शरीर में रक्त के प्रवाह से की है और उसका वर्णन यह कह कर दिया है कि यह ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा राजनीतिक व्यवस्था में सभी कृत्यों को पूरा किया जाता है। आमण्ड लिखता है, "व्यवस्था को स्वास्थ्य रक्त से प्राप्त नहीं होता परन्तु उन तत्त्वों से जो रक्त में प्रवाहित होते हैं। रक्त एक ऐसा तटस्थ माध्यम है जो दावों, विरोधों और मांगों को शिराओं के द्वारा हृदय तक ले जाता है, और हृदय से धमनियों के रास्ते, दावों और मांगों के प्रत्युत्तर के रूप में, नियमों, आदेशों और अधिनिर्णयों का निर्गमन होता है।"[17] राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप को निर्धारित करने की दृष्टि से भी संचरण सुविधाओं का बहुत अधिक महत्त्व है। वे समाज और राजनीतिक व्यवस्था के बीच सूचनाओं के प्रवाह का निर्धारण करती हैं। राजनीतिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में संचरण व्यवस्थाएं भी एक दूसरे से, संरचना और शैली दोनों ही दृष्टियों से, काफी भिन्न हो सकती हैं।

बाद में प्रकाशित अपनी रचनाओं में आमण्ड ने विशेषकर ईस्टन के प्रभाव में, विश्लेषण व्यवस्था के क्षेत्र में विकसित होने वाली नयी प्रवृत्तियों को ध्यान में रखा है

[17]वही, पृ॰ 47।

और अनुकूलीकरण और परिवर्तन की प्रक्रियाओं को दृष्टि में रखते हुए उसने अपनी योजना का बहुत कुछ विस्तार किया है।[58] अपनी इन रचनाओं में वह क्षमताओं की संकल्पना पर बहुत अधिक जोर देता है, क्योंकि उन्हीं के द्वारा यह निश्चित हो सकता है कि व्यवस्था निवेशों से किस सीमा तक सफलतापूर्वक निपट सकती है। मांगें, जैसा ईस्टन ने बताया है, व्यवस्था के लिए एक बड़ी चुनौती हो सकती हैं, और व्यवस्था के पास, अपने को बनाये रखने के लिए, आवश्यक उपकरणों और साधनों का होना बहुत आवश्यक है। राजनीतिक व्यवस्थाओं में तीन प्रकार की क्षमताएं अपेक्षित हैं: (1) (साधनों को) जुटाने की (2) (व्यक्तियों और समूहों पर) नियन्त्रण की, और (3) (वस्तुओं और सेवाओं का) वितरण करने की। इनके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि व्यवस्था के पास, आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही मामलों के सम्बन्ध में, *प्रतीकात्मक और अनुक्रियात्मक क्षमताएं हों, जिसका अर्थ है कि वह ऐसे प्रतीकों का* विकास और निर्वाह करने की योग्यता रखता हो जो उसके प्रति आकर्षण अथवा निष्ठा को बढ़ाते हैं, और उन मांगों का, जो उसके पास आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरणों से आती हैं, पर्याप्त रूप से और शक्तिपूर्वक समायोजन कर सके। राजनीतिक व्यवस्था की क्षमताओं को चुनौतियां (1) राजनीतिक व्यवस्था के भीतर से अभिजात वर्ग की ओर से, (2) पर्यावरण से—सामाजिक समूहों से, अथवा (3) अन्य राजनीतिक व्यवस्थाओं से आ सकती हैं।

गेब्रियल आमण्ड : एक आलोचना

आमण्ड के द्वारा स्वीकृत किये गये संरचनात्मक कृत्यवाद के सामने वही सब कठिनाइयां हैं जो किसी ऐसी पद्धति के सामने होती हैं जिसे एक शास्त्र से उठाकर दूसरे में प्रयोग में लाया जाता है। एक शास्त्र में और एक विशेष सन्दर्भ में एक अमूर्त स्तर पर प्रयोग में लायी गयी संकल्पनाओं को यदि दूसरे पर आरोपित किया जाय तो उनका विकृत हो *जाना स्वाभाविक है। आमण्ड ने अपने उपागम की भाषा अधिकांशतः टैल्कॉट* पार्सन्स से ली है परन्तु उसका प्रयोग उसी रूप में नहीं किया है। जबकि पार्सन्स और अन्य समाजशास्त्री व्यवस्थाओं में रुचि रखते हैं, आमण्ड बिना उस व्यवस्था का जिक्र किये जो कृत्यों को सार्थक बनाते हैं, कृत्यों की चर्चा करता है। आमण्ड के अनुसार व्यवस्था अन्त क्रियाओं का एक समुच्चय है, परन्तु उसने कहीं भी यह स्पष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया कि 'व्यवस्था' का वास्तविक अर्थ क्या होता है अथवा अन्त क्रिया से उसका तात्पर्य क्या है। राजनीतिक व्यवस्था की उसकी परिभाषा भी बहुत ठीक नहीं जान पड़ती। उसने राजनीतिक व्यवस्था को सभी स्वतन्त्र समाजों में पाये जाने वाली अन्तःक्रियाओं की एक ऐसी व्यवस्था माना है जो (आन्तरिक दृष्टि से और अन्य समाजों के सन्दर्भ में) अधिक अथवा कम विधि-सम्मत शारीरिक बाध्यताओं के प्रयोग, अथवा

[58]गेब्रियल आमण्ड, "ए डेवलपमेण्टल एप्रोच टू पोलिटिकल सिस्टम्स," 'वर्ल्ड पोलिटिक्स," पी० उ०, पृ० 191।

प्रयोग की धमकी, के द्वारा समायोजन और अनुकूलीकरण के कृत्यों को पूरा करती है। यह स्पष्ट नहीं है कि 'स्वतन्त्र' समाजों से उसका क्या अर्थ है, अथवा उनका आपस में क्या सम्बन्ध है, और इसमें प्रादेशिकता की क्या भूमिका है। इसी प्रकार, 'व्यवस्था' की उसकी परिभाषा—उसके व्यापक, परस्पर-निर्भर और अन्य व्यवस्थाओं से सीमाओं द्वारा अलग किये जाने के बावजूद—बहुत सी दूसरी ऐसी समस्याओं को, जो व्यवस्था उपागम के साथ जुड़ी हुई है, अस्पष्ट ही छोड़ देती है। तीसरे, जब हम राजनीतिक व्यवस्था की विशेषताओं के सम्बन्ध में उसके वक्तव्य को पढ़ते हैं तो यह स्पष्ट दिखायी देता है कि वे सब पाश्चात्य, विशेषकर अमरीकी, राजनीतिक व्यवस्था की विशेषताएं हैं। यह कहना कठिन है कि एक प्रकार के समाज, पश्चिमी समाज, में पायी जाने वाली विशेषताओं के आधार पर दूसरे समाजों, विशेषकर गैर-पश्चिमी समाजों की राजनीतिक व्यवस्थाओं की विशेषताओं की व्याख्या किस प्रकार की जा सकती है। चौथे, कृत्यों की सात मदों वाली सूची की भी अपनी कमियां हैं। जिन विभिन्न हित-समूहों की चर्चा की गयी है उनमें राजनीतिक और गैर-राजनीतिक समूहों के बीच सीमा निर्धारित करना कठिन हो सकता है। यह भी स्पष्ट नहीं है कि हित-आकलन विशेषकर राजनीतिक दलों का ही काम क्यों है। अन्य संगठनों का क्यों नहीं? आमण्ड ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि समाज और राज्य के बीच मुक्त-संचरण से उसका क्या अर्थ है। अन्तिम बात यह है कि आमण्ड ने निर्गम कृत्यों को पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया है और राजनीतिक व्यवस्था के अस्तित्व अथवा अनुरक्षण के लिए चुनौतियों की गम्भीरता को बढ़ाने अथवा कम करने में प्रति-सम्भरण प्रक्रिया का क्या महत्त्व है, जिस पर ईस्टन ने बहुत अधिक जोर दिया है, यह भी स्पष्ट करने में वह असमर्थ रहा है।

आमण्ड की प्रमुख कमजोरी वही है जो दूसरे कृत्यवादियों की—वे चाहे समाजशास्त्री हों अथवा राजनीतिशास्त्री। राजनीति के लिए सामान्य सिद्धान्त का विकास करना केवल उसका लक्ष्य ही नहीं है, उसे पूरा विश्वास भी है कि जिस सिद्धान्त का उसने विकास किया है उसके द्वारा राजनीति के मूल तत्वों को इस ढंग से प्रकाश में लाया गया है कि उसके आधार पर सांख्यिकी और सम्भवतः गणित-शास्त्रीय, निरूपण सम्भव हो सकेगा।[59] यह निस्सन्देह एक बहुत बड़ा दावा है। मीहान के शब्दों में, "आमण्ड ने हमें जो कुछ दिया है वह एक वर्गीकरण योजना है अथवा शायद एक प्रतिमान, एक बहुत ही अपूर्ण और शिथिल प्रतिमान, जिसका उपयोग राजनीतिक तथ्यों को व्यवस्थित रूप देने में किया जा सकता है और शायद राजनीतिक घटनाओं सम्बन्धी पर्यवेक्षणों के मानवीकरण में।"[60] मीहान का यह भी कहना है कि जिन कृत्यात्मक पूर्वापेक्षाओं का उसने सुझाव दिया है वे राजनीति में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इतनी अधिक व्यापक हैं कि उनका विशेष उपयोग नहीं हो सकता। इसका परिणाम यह निकला है कि आमण्ड का कृत्यवाद "केवल नाम के लिए कृत्यवाद" है। "किसी सिद्धान्त का

[59] आमण्ड, आमण्ड और कोनमैन में, पो० उ०, पृ० 59।
[60] मीहान, पी० उ०, पृ० 176।

प्रतिपादन करने मे तो वह असमर्थ रहा ही है, सुनियोजित वर्गीकरण की कोई योजना भी वह नही दे सका है। उसका वर्गीकरण अपर्याप्त और दुविधापूर्ण है।"[61] आमण्ड ने जिस तुलनात्मक उपागम का आविष्कार किया है उसके आधार को ही चुनौती दी जा सकती है। इस उपागम को स्वीकार करने के लिए आवश्यक है कि तुलना का उद्देश्य हमारे सामने स्पष्ट हो। आमण्ड के तुलनात्मक राजनीति के उपागम का आखिर उपयोग क्या है? यह सम्भव है कि इस उपागम की सहायता से विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओ का वर्णन, और श्रेणीकरण, किया जा सके, यद्यपि उस उद्देश्य की व्याख्या के अभाव मे जिसे प्राप्त करने को राजनीतिक व्यवस्थाओ से अपेक्षा की जाती है, यह श्रेणीकरण न केवल अर्थहीन है परन्तु भ्रामक भी हो सकता है। राजनीतिक विश्लेषण के अधिक महत्त्वपूर्ण कामो का स्पष्टीकरण और मूल्यांकन लें तो हम पाते है कि तुलनात्मक उपागम से उनमे विशेष सहायता नही मिलती। कोई भी घटना अपने सन्दर्भ मे ही ठीक से समझी जा सकती है। विकासोन्मुख देशो की राजनीतिक व्यवस्थाओ को विकसित देशो की व्यवस्थाओं से इस प्रकार से तुलना करने का कि वे बराबर निकृष्ट दिखायी देती रहे, जिसे "पोलिटिक्स ऑफ डेवलपिंग एरियाज,"1960 मे दिये गये आमण्ड के प्रतिमान ने राजनीति-विज्ञान मे प्रोत्साहित किया और जिसे "कम्पेरेटिव पोलिटिक्स ए डवलपमेंटल एप्रोच" मे उसके 1966 के प्रतिमान ने कम करने मे कोई विशेष योग नही दिया, परिणाम यह निकला है कि अनेक राजनीतिशास्त्री राजनीतिक विकास के अपने अध्ययन मे गलत रास्ते पर भटक गये है।

व्यवस्था और राजनीतिक विश्लेपण एक आलोचनात्मक समीक्षा

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त को उसके विस्तृत और परिष्कृत रूप मे राजनीतिक घटनाओ के विश्लेषण मे बहुत कम व्यवहार मे लाया गया है। इस सिद्धान्त को उपयुक्त रूप मे व्यवहार मे लाने के लिए शोधकर्ता के लिए यह आवश्यक है कि उसकी सैद्धान्तिक चेतना का स्तर बहुत ऊचा हो और वह शोध का ऐसा कार्यक्रम अपने लिए चुने जिसमे अत्यधिक सूक्ष्म विश्लेषण की आवश्यकता हो। परन्तु इन सब कठिनाइयो के बावजूद, जिनके कारण राजनीति-विज्ञान ने इस सिद्धान्त की कुछ केन्द्रीय सकल्पनाओ का कभी-कभी अविवेकपूर्ण ढग से प्रयोग करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए, व्यवस्था की सकल्पना का उपयोग व्यवहार के किसी भी ऐसे समुच्चय के लिए, जिसमे प्रतिमानो की एक दूसरे पर परस्पर निर्भरता हो, मुक्त भाव से किया गया है। स्थिरता, प्रति-सम्भरण आदि की सकल्पनाए भी कई बार राजनीतिक विश्लेपण मे ऐसे स्थानो पर प्रयोग मे लायी गयी है जहां व्यवस्था विश्लेपण की कल्पना भी न की गयी हो।

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त को उसके अत्यधिक सैद्धान्तिक और सूक्ष्म रूप मे व्यवहार मे लाये जाने की कठिनाई का यह अर्थ नही है कि राजनीति-विज्ञान मे ऐसी घटनाओं के अध्ययन के लिए जहां अन्त क्रिया की प्रक्रियाए पायी जायें एव व्यावहारिक रूप मे उसे

[61]वही, पृ० 180।

उपयोग मे नही लाया जा सकता। इस सिद्धान्त की अव्यावहारिक उपयोगिता में सन्देह नही किया जा सकता। हमारे शोध कार्य मे इसने निश्चित रूप से नये आयामों को खोला है। इसकी विवरणात्मक संकल्पनाएं अत्यधिक उपयोगी है। खुली हुई व्यवस्था की कल्पना से ही हमारे सामने उन समस्याओ की, जिनका हम अध्ययन कर रहे है, गहराई मे जाने और अनेक बातो का पता लगाने की असंख्य सम्भावनाए उपस्थित हो जाती है। वे कौन से तत्त्व और प्रभाव है जिनके प्रति व्यवस्था खुली हुई है? एक व्यवस्था और दूसरी व्यवस्था के बीच की सीमाए कहां है? सीमा रेखा को पार करने वाले प्रभाव कहां तक व्यवस्था को क्षति अथवा हानि पहुंचाते, है और कहां तक वे उसके अनुरक्षण मे सहायक होते है? अनुरक्षण की इस संकल्पना मे क्या अन्तर्निहित है, स्थिरता, समायोजन अथवा अनुरक्षण। खुली और बन्द राजनीतिक व्यवस्थाओं के बीच तुलना करने से हमे यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि किसी एक व्यवस्था मे, दूसरी व्यवस्था के प्रति, कितनी नमनीयता अथवा कठोरता है। एक खुली हुई व्यवस्था, जिसकी अपनी सीमा रेखाएं क्षीण है, बाहर से आने वाले खतरनाक प्रभावो से अपनी रक्षा करने मे शायद असमर्थ हो, और उसके परिणामस्वरूप वह विघटित, क्षतिग्रस्त अथवा नष्ट भी हो सकती है, जबकि दूसरी ओर एक बन्द व्यवस्था, केवल अपने दरवाजे और खिड़कियां बाहर मे आने वाले सभी प्रभावो के विरुद्ध बन्द रख कर, शताब्दियों तक अपने को जीवित रख सके। इस प्रश्न की और भी अधिक गहराई मे जाने और यह पता लगाने का प्रयत्न भी किया जा सकता है कि जिस कीमत पर कोई व्यवस्था बाहरी प्रभावो से बचाकर अपने को जीवित रखने मे सफल होती है वह क्या वास्तव मे ऐसी नही है कि उसे चुकाना, दीर्घकालीन दृष्टि से हानिकारक हो? इस प्रकार, सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त के द्वारा सुझायी गयी केवल विवरणात्मक संकल्पनाओ के द्वारा ही किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के कामों का काफी गहराई के साथ विश्लेषण किया जा सकता है।

राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन मे स्थिरता, समायोजन अथवा अनुरक्षण के प्रश्न ही हमारे सामने नही आते, परन्तु ऐसी स्थितियो का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है जब व्यवस्था अपने को वांछनीय परिवर्तनो के अनुकूल ढालने और ऐसी परिस्थितियों से बच निकलने का, जिनमे उसका अपना अस्तित्व खतरे मे पड़ता हो, प्रयत्न करती है। पश्चिम के विकसित समाजो मे उनके सामने अपने वर्तमान स्वरूप को बनाये रखने मात्र की समस्या हो सकती है, परन्तु अधिकांश विकासोन्मुख समाज आज ऐसी चुनौतियो का सामना कर रहे है जो विकसित समाजों के सामने कभी नही आयी थी, कम से कम एक साथ, अथवा इतने कम समय मे। यहां प्रमुख समस्या हमारे सामने यह समझने का प्रयत्न करने की है कि व्यवस्था की मूलभूत कमजोरियां क्या हैं। इससे भी बड़ी कठिनाई यह निश्चय करने की होती है कि राजनीतिक विकास से हमारा क्या तात्पर्य है। राजनीतिक विकास का क्या अर्थ होता है कि हम संसदात्मक जनतन्त्र की किसी एक ऐसी पद्धति की स्थापना करें जिसमे शासन के कार्यों मे उसके सदस्यों की अधिकतम संख्या भाग लेती हो, अथवा उसका अर्थ एक ऐसी शक्तिशाली प्रशासन की स्थापना से है जो कानून और व्यवस्था का निर्वाह प्रभावशाली ढंग से कर सके? यदि यह मान भी लिया

जाय कि ससदात्मक प्रशासन की सस्थाओ की स्थापना करके हमने राजनीतिक विकास की एक मंजिल को पार कर लिया है तो क्या हम इस सम्बन्ध मे आश्वस्त हैं कि उसके बाद आर्थिक विकास स्वाभाविक रूप से होगा ? यहा फिर यह प्रश्न उठेगा कि 'आर्थिक विकास' की हमारी परिभाषा क्या है ? क्या उसका अर्थ सकल राष्ट्रीय उत्पाद (Gross National Product) को एक ऊचे स्तर अथवा सवृद्धि मे तेजी, अथवा, राजनीतिक विकास के समान ही, न्यायोचित वितरण से है, राजनीतिक और आर्थिक विकास का आपस मे एक दूसरे के साथ क्या सम्बन्ध है, किस प्रकार के राजनीतिक विकास का किस प्रकार के आर्थिक विकास के साथ ? इसके बाद उस पर्यावरण को समझने के लिए जिसमे राजनीतिक अथवा आर्थिक विकास हो रहा है, यह आवश्यक होगा कि हम उन सामाजिक प्रक्रियाओ को समझें जो, राजनीतिक समाजीकरण के माध्यम से, राजनीतिक सस्कृति को प्रभावित करती है । इसके साथ ही यह समझना भी हमारे लिये आवश्यक होगा कि यदि एक राजनीतिक व्यवस्था और दूसरी राजनीतिक व्यवस्था मे सामजस्य की कमी होती है तो उन व्यवस्थाओ के लिए इसके परिणाम क्या होते है । यह कहना कठिन है कि इनमे से कितनी समस्याए ऐसी है जो व्यवस्था सिद्धान्त के द्वारा सुझायी गयी राजनीतिक विश्लेषण की पद्धति की सहायता से ठीक से समझी जा सकती है ।

एक क्षेत्र मे व्यवस्था विश्लेषण को व्यवहार मे लेने से हमे ऐसी दूसरी व्यवस्था को समझने मे सहायता मिलती है जिसके साथ इस व्यवस्था का अनवरत सम्पर्क रहता है । यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की विश्लेषण-पद्धति के द्वारा बडी व्यवस्थाओ के, और दो व्यवस्थाओ के बीच के, सम्बन्धो को समझना आसान होता है । परन्तु, इससे हमे शायद उन शक्तियो के सूक्ष्म विश्लेषण मे, जो काफी दूर तक इन अन्तःक्रियाओ को निर्धारित करती हैं, सहायता न मिल सके । ज्यो ही हम व्यवस्था की संरचना के पीछे जा कर उसके कृत्यो को समझने का प्रयत्न करते हैं, हम देखते हैं—जैसा अनेक राजनीतिशास्त्रियो और मनोवैज्ञानिको ने अनुभव किया है कि उन पर एक सरचना से दूसरी सरचना की ओर जाने वाले शक्ति अथवा प्रभाव के प्रवाह का बहुत अधिक असर पडता है । सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त अपने आप मे इतना व्यापक है कि उसके तत्वावधान मे किये गये राजनीतिक विश्लेषण के लिए अन्त क्रियात्मक कृत्यो के जटिल मनोवैज्ञानिक रूपो को अपनी पकड मे ला पाना कठिन होता है । जो शक्ति उपयोग मे लायी जा रही है उसके विस्तार अथवा गहराई और वजन का अन्दाजा इस सिद्धान्त द्वारा लगाना कठिन होगा, और यह जानना भी शायद हमारे लिये सम्भव न हो सके कि जो लोग शक्ति अथवा प्रभाव को काम मे लाते है उनके द्वारा किन युक्तियों अथवा साधनों का उपयोग किया जाता है । ओरन यग ने ठीक ही लिखा है कि, "व्यवस्था-सिद्धान्त मानवी सम्बन्धो पर मिलने वाली सामग्री को व्यवस्थित प्रतिरूपो मे इस ढग मे संगठित करने मे चाहे सहायक हो सके कि प्रतिमान-अनुरक्षण, स्थिरता, नियन्त्रण आदि से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न ठीक से उठाये जा सकें, परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान, अपेक्षा, निर्माण अथवा अभिज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले मामलो के राजनीतिक पक्षो के अध्ययन

में उससे विशेष सहायता नहीं मिल सकेगी।"[69] जहां तक तथ्यों के निर्धारण सम्बन्धी अध्ययन का प्रश्न है, व्यवस्था सिद्धान्त का उपयोग और भी सीमित दिखायी देता है। एक सतर्क शोधकर्ता को व्यवस्था विश्लेषण के अपने प्रयोग में बहुत से खतरों के सम्बन्ध में सावधान रहना पड़ता है, क्योंकि उसमें बहुत सी ऐसी संकल्पनाएं हैं जिनमें से कुछ, किसी विशेष अध्ययन की दृष्टि से, सर्वथा असम्बद्ध हो सकती हैं। शोधकर्ता की प्रायः यह प्रवृत्ति होती है कि वह जिस पद्धति को अपनाता है उसकी सभी संकल्पनाओं को उपयोग में लाना चाहता है। इसका परिणाम यह निकल सकता है कि गलत संकल्पनाओं का गलत ढंग से प्रयोग किया जाए, और इस प्रकार की शोध से निकलने वाले निष्कर्ष अत्यन्त भ्रामक सिद्ध हों। व्यवस्था विश्लेषण की प्रवृत्ति प्रायः इस बात को भूल जाने की होती है कि एक प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था दूसरे प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था से उतनी ही भिन्न हो सकती है जितना एक जीव दूसरे जीव से।

इन सब कमियों के होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि, यदि उसकी मर्यादाओं को ध्यान में रखा जाए तो, यह उपागम राजनीतिक विश्लेषण में अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है। व्यवस्था सिद्धान्त अपने संरचनात्मक-कृत्यात्मक प्रयोगों के द्वारा, राजनीतिक व्यवस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन में अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है, और उसका मुख्य कारण यह रहा है कि, अपने मर्यादित रूप में, उसका सम्बन्ध केवल उन्हीं तत्वों तक सीमित रहता है जिनसे समुचित व्यवस्था हो सके। व्यवस्था सिद्धान्तवादियों ने—विशेषकर मर्टन लेवी और उसके साथियों ने—कुछ ऐसी कृत्यात्मक पूर्वापेक्षाओं का विकास किया है जिनका प्रयोग किसी भी समाज में यह पता लगाने के लिए किया जा सकता है कि कितनी मात्रा में वह उन्हें पूरा कर पाने की स्थिति में है, और यह निश्चित करने में भी कि समाज की प्रकृति पर इसका प्रभाव क्या पड़ता है। इस आधार पर अनेक समाजों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करना भी अधिक सरल हो जाता है, इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन में हमारा प्रमुख उद्देश्य यह पता लगाना होता है कि किस प्रकार, और किन साधनों और युक्तियों के द्वारा, कोई व्यवस्था अपने को बनाये रखने में समर्थ होती है, और यदि कोई व्यवस्था इसके विपरीत मार्ग का सहारा लेती है तो यह आशंका की जा सकती है कि वह टूट जायेगी। इस सम्बन्ध में हम उन सम्यात्मक यन्त्रों और विभिन्न प्रकार की कार्यवाही के परिणामों को इस दृष्टि से समझने का प्रयत्न कर सकते हैं कि उनके द्वारा प्रतिमान-अनुरक्षण की क्रिया में कितनी सहायता मिली है, अथवा बाधा पड़ी है। यदि व्यवस्था को इन तकनीकों की कुछ जानकारी हो जाती है तो वह संकट को टालने में सफल हो सकती है। यह पद्धति उन व्यवस्थाओं को समझने में तो उपयोगी है ही जो सफलता के साथ अपना अनुरक्षण कर रही हैं, इसके द्वारा उन व्यवस्थाओं का भी अध्ययन किया जा सकता है जिनमें परिवर्तन की गति धीमी है और चुनौतियों पर नियन्त्रण रखना सम्भव है, यद्यपि ऐसी राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन में जो पतन अथवा विनाश की स्थिति में है उससे

[69]ओरान यंग, पी० उ०, पृ० 24।

विशेष सहायता नहीं मिल सकेगी।

बहुत सी वे कमियां जो विशेष रूप से सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त में पायी जाती हैं, वास्तव में संरचनात्मक-कृत्यात्मक विश्लेषण में भी मौजूद हैं। सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त के समान ही संरचनात्मक कृत्यवाद भी शक्ति और प्रभाव के प्रयोग के अध्ययन के लिए अनुपयुक्त है। लक्ष्यों और उद्देश्यों की विवेचना में लिये उसमें बहुत कम स्थान है, और नीति निर्धारण सम्बन्धी अध्ययन के लिए भी यह सर्वथा अपर्याप्त है। इस बात से तो इन्कार किया ही नहीं जा सकता कि संरचनात्मक कृत्यवाद विश्लेषण की एक स्थैतिक व्यवस्था है। यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उसके पीछे एक निश्चित विचारधारा है। इस विश्लेषण-पद्धति के द्वारा यथापूर्व स्थिति को सदा ही न्यायोचित ठहराया जा सकता है। यह कहना कठिन है कि इसका कारण उसका एक विशेष ढंग से किया जाने वाला प्रयोग है, अथवा यह उपागम का ही दोष है, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस उपागम की प्रवृत्ति ऐसी है कि उससे प्रतिक्रियावादिता को समर्थन मिलता है। प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण कृत्यवाद में ही, जहां से व्यवस्था विश्लेषण को राजनीति-विज्ञान में लिया गया है, अन्तर्निहित है। जैसा पहले कहा जा चुका है, व्यवस्था सिद्धान्त, मानव-विज्ञान के माध्यम से, जीवशास्त्र से सामाजिक विज्ञानों में आया। मालीनाओस्की और रैडक्लिफ-ब्राउन के दृष्टिकोणों का बड़ा अन्तर था, परन्तु दोनों यह मानते थे और यह बात कृत्यवादी उपागम में सभी रूपों में मिलती है—कि सामाजिक व्यवस्था को राजनीतिक व्यवस्था से भिन्न करके बताने में उनका उद्देश्य यह पता लगाना नहीं था कि व्यवहार के प्रतिरूप का किस प्रकार से उद्गम हुआ है जितना यह समझना कि सम्पूर्ण व्यवस्था को बनाये रखने में उसकी क्या भूमिका रही है।

किसी कृत्य की उपयोगिता को केवल इस आधार पर न्यायोचित ठहराना कि यह हो रहा है,—यही दृष्टिकोण हमें राबर्ट मर्टन की उन रचनाओं में मिलता है जहां वह अमरीका की राजनीति में उठ खड़े होने वाले स्वयं निर्धारित नेताओं (bosses) के अपने विद्वतापूर्ण अध्ययन में यह बताने का प्रयत्न करता है कि उनके द्वारा अमरीका के सामाजिक गठन में एक ऐसी आवश्यकता की पूर्ति होती है जिसके लिए कोई दूसरी व्यवस्था नहीं है। मर्टन लिखता है, "विशिष्ट ऐतिहासिक कारण चाहे कुछ भी रहे हों, यह स्थिति एक ऐसे तन्त्र के रूप में काम करती है जिसके द्वारा आबादी के अनेक समूहों की ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है जिसके लिए कोई दूसरी व्यवस्था नहीं है।"[63] राजनीति-विज्ञान में कृत्यात्मक उपागम का प्रयोग उस समय अपने वास्तविक रूप में हमारे सामने आया जब हमने देखा कि विकासोन्मुख देशों की राजनीतिक घटनाओं का अध्ययन करने वाले अमरीकी विद्वानों, और स्वयं विकासोन्मुख देशों के अनेक विद्वानों ने भी, एक-दलीय प्रभुत्व के विकास अथवा राजनीतिक विकास की तुलना में आर्थिक विकास की श्रेष्ठता आदि को केवल इस आधार पर न्यायोचित ठहराने का प्रयत्न किया कि इस प्रकार की स्थिति कुछ देशों के इतिहास में कुछ विशेष

63आर० के० मर्टन, पी० उ०, पृ० 73।

अवसरों पर पायी गयी।

आलोचकों की इस बात में कुछ तथ्य है कि पाश्चात्य सामाजिक वैज्ञानिकों ने कृत्यवादी उपागम का प्रयोग मार्क्सवादी उपागम के पर्याय के रूप में किया। डब्ल्यू० जे० रंसीमैन लिखता है, "कृत्यवाद को मार्क्सवाद का जानबूझ कर गढ़ा किया एक पर्याय माना जा सकता है। कुछ लेखकों ने इसे एक ऐसी राजनीतिक विचारधारा माना है जो अमरीकी पूंजीवाद के ढांचे से प्रभावित है।"[84] इसमें हमें मार्क्सवाद की प्रतिकृति दिखायी देती है। मार्क्सवाद ने यह दिखाने का प्रयत्न किया था कि समस्त पूंजीवादी व्यवस्था एक विस्फोटक स्थिति में है और ज्यों ही वर्गों के बीच का संघर्ष परिपक्व स्थिति में पहुंचेगा एवं वर्ग-युद्ध के रूप में उसकी ज्वालाएं भड़क उठेंगी और उसके भस्मावशेषों में एक नयी सामाजिक व्यवस्था जन्म लेगी। कुछ अपवादों को छोड़कर, पश्चिमी देशों के सामाजिक वैज्ञानिकों ने इसके विरुद्ध एक ऐसा दर्शन विकसित करने का उत्तरदायित्व अपने हाथ में लिया जिसका आधार इस विचार पर था कि प्रत्येक व्यवस्था अपने को सुरक्षित रखना चाहती है और उसमें एक ऐसी अन्तर्निहित प्रवृत्ति है जिसकी सहायता से वह बाहर से आने वाले तनाव तथा विकृतियों, व्यवधानों और सभी विनाशक शक्तियों को पीछे ढकेल सकती है। रंसीमैन लिखता है, "एक सिद्धान्त के रूप में कृत्यवाद कार्यकारण सम्बन्धों पर आधारित नियमों का एक आन्दोलन मात्र नहीं है परन्तु एक ऐसी व्याख्या है जो सामाजिक व्यवस्थाओं के आदर्शक तत्वों पर उसी प्रकार जोर देती है जिस प्रकार से मार्क्सवाद इन व्यवस्थाओं में पाये जाने वाले मूलभूत संघर्षों पर। मार्क्सवाद और कृत्यवाद दोनों ही का आधार ऐतिहासिक तथ्यों के सम्बन्ध में ऐसी पूर्वनिश्चित धारणाओं और अधिमान्यताओं पर टिका हुआ है जिन्हें प्रमाणित करने का उनके प्रतिपादक न तो प्रयत्न करते हैं और न वे उन्हें प्रमाणित ही कर सकते हैं। इस कारण मार्क्सवाद और कृत्यवाद दोनों ही पूर्ण-विकसित सिद्धान्तों की दृष्टि से असफल सिद्ध होते हैं। एक को आर्थिक नियतत्त्व के नियमों के परिणामस्वरूप वर्गों के बीच एक मूलभूत संघर्ष दिखायी देता है और दूसरे को समाज की संरचनाओं में जो भी शक्तियां काम कर रही हैं उनमें एक मूलभूत सामंजस्य।"[85] वास्तव में न तो संघर्ष ही उस प्रकार से एक सीधी रेखा के रूप में बढ़ते हुए चले जाते हैं जैसा कि मार्क्स ने बताने का प्रयत्न किया था और न सामंजस्य ही सामाजिक और राजनीतिक जीवन का एक ऐसा मूल तत्त्व है जैसा व्यवस्था सिद्धान्त के प्रतिपादक सिद्ध करना चाहते हैं। संघर्ष और सामंजस्य, परिवर्तन और क्रमबद्धता, सामाजिक जीवन के प्रतिरूप हैं जिनमें से इतिहास के एक युग में एक प्रमुख रूप में हमारे सामने आता है, और दूसरे युग में दूसरा।

[84]डब्ल्यू० जी० रंसीमैन, 'फन्क्शनलिज्म एज ए मैथड,' गोल्ड और थर्सबी में, पी० उ०, पृ० 195। 'सोशल साइंस एण्ड पोलिटिकल थियरी,' कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस, 1963, पृ० 109-134 से पुन. मुद्रित।

[85]वही, पृ० 195।

अध्याय 5

हैरल्ड लासवेल : एक व्यवहारपरक समाज-शास्त्री की राजनीतिक अधिमान्यताएं

(HAROLD LASSWELL : POLITICAL PREFERENCES OF A BEHAVIOURALISTIC POLITICIAN)

आज के युग के सबसे प्रमुख राजनीतिशास्त्रियो मे से एक, जिसने राजनीति-विज्ञान मे शोध के नये आयामो को खोलने और शोध के लिए अत्यधिक परिष्कृत प्रविधियो, तक-नीको और उपकरणो का विकास करने मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काम किया है, हैरल्ड डी० लासवेल है। लासवेल (जन्म 1902) आधुनिक राजनीतिशास्त्रियो मे पहला, और शिकागो विश्वविद्यालय मे चार्ल्स मेरीयम के शिष्यो मे सबसे प्रमुख व्यक्ति है जिसने राजनीति-विज्ञान मे परम्परागत उपागमों को चुनौती देने और नये उपागमो का सुझाव देने मे अधिक से अधिक योग दिया है। आधुनिक राजनीतिशास्त्रियो मे पिछली आधी शताब्दी मे उसने अकेले, अथवा सयुक्त रूप मे राजनीति-विज्ञान के अनेक पक्षो को लेकर एक दर्जन से अधिक ग्रन्थो की रचना की है।[1]

[1]लासवेल की प्रमुख कृतियां निम्न हैं विलार्ड ई० एटकिन्स और हैरल्ड डी० लासवेल, 'लेबर एटीटयूड्स एण्ड प्रोब्लेम्स,' न्यूयार्क, प्रेन्टिस हॉल, इन्क०, 1924; हैरल्ड डी० लासवेल, 'प्रोपेगेण्डा टेकनीक इन दी वर्ल्ड वार', न्यूयार्क, एल्फ्रेड ए० नोफ, इन्क०, 1927, 1938 मे पुन मुद्रित, न्यूयार्क, पीटर स्मिथ, 'वर्ल्ड पोलिटिक्स एण्ड पर्सनल इनसिक्युरिटी,' न्यूयार्क, मैग्रा-हिल बुक कम्पनी, इन्क०, 1935; 'हूगैट्स, व्हाट्, व्हेन, हाउ?,' न्यूयार्क, मैग्रा-हिल बुक कम्पनी इन्क०, 1936, 1951 में पोलिटिकल राइटिंग्स ऑफ हैरल्ड डी० लासवेल, न्यूयार्क, दि फ्री प्रेस ऑफ ग्लेंको, इन्क० और न्यूयार्क, मेरिडियन बुक्स, इन्क, 1958 में पुन. मुद्रित 'वर्ल्ड रिवोल्यूशनरी प्रोपेगण्डा,' एल्फ्रेड ए० नोफ, इन्क०, 1939; 'डेमोक्रेसी थ्रू पब्लिक ओपिनियन,' मनाशा, विस्कोंसिन, जोर्ज बैंटा पब्लिशिंग क०, 1945; 'पॉवर एण्ड पर्सनलिटी,' न्यूयार्क, डब्ल्यू० डब्ल्यू० नोर्टन एण्ड कं०, इन्क०, 1948, 'दि एनालिसिस ऑफ पोलिटिकल बिहेवियर, एन एम्पिरिकल एप्रोच', कार्ल मैनहाइम द्वारा सम्पादित 'इन्टरनेशनल लायब्रेरी ऑफ सोशियोलोजी एण्ड सोशल रिकन्स्ट्रक्शन,' लन्दन, रूटलेज और कीगन पॉल लिमिटेड, 1948 में; हैरल्ड डी० लासवेल, नेथन लीट्स और साथी, 'लैंग्युएज ऑफ पोलिटिक्स, स्टडीज इन क्वान्टिटेटिव सीमेंटिक्स,' न्यूयार्क, 1949; हैरल्ड डी० लासवेल और अब्राहम कैपलन, 'पॉवर एण्ड सोसाइटी, ए फ्रेम-वर्क और पोलिटिकल इन्क्वायरी,' न्यू हेवन, येल विश्वविद्यालय प्रेस, 1950, डेनियल लर्नर और हैरल्ड डी० लासवेल द्वारा सम्पादित, 'दि पोलिसी साइंसेज, रीसेंट डेवलपमेन्ट्स इन स्कोप एण्ड मैथड,' स्टैनफोर्ड कैलिफोर्निया, स्टैन्फोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1951; हैरल्ड डी० लासवेल, 'दि पोलिटिकल राइटिंग्स ऑफ हैरल्ड डी० लासवेल,' न्यूयार्क, दि फ्री प्रेस ऑफ ग्लेंको, इन्क०, 1950, जिसमे 1930 मे प्रथम बार प्रकाशित 'साइकोपैथोलोजी एण्ड पोलिटिक्स' और 1936 मे प्रथम बार प्रकाशित

लासवेल व्यवस्था सिद्धान्तवादियों से, जो आज राजनीति-विज्ञान पर छाये हुए हैं, इस दृष्टि से भिन्न है कि उसने अपने सकल्पनात्मक उपागमों के चुनाव में जीव-शास्त्र, मानवशास्त्र अथवा समाजशास्त्र का सहारा नहीं लिया है। वह मूलतः एक मनोवैज्ञानिक है और उसने अपने उपकरण प्रमुखतः सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्र से लिये हैं। उस पर फ्रॉयड का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है और उसने राजनीतिक व्यवहार के अपने अध्ययन का आधार फ्रॉयड की मनो-विश्लेषणात्मक प्रस्थापनाओं पर रखा है, विशेषकर उन पर जिनका सम्बन्ध मनुष्य की अचेतन और अविवेकी अभिप्रेरणा के क्रियान्वयन से है। राजनीति-विज्ञान को चिकित्सा उपागम के रूप में लेने के कारण भी उसे मनो-विश्लेषण पर बहुत अधिक निर्भर होना पड़ा है। लासवेल की प्रारम्भिक रचनाओं में से एक "साईकोपैथोलाजी एण्ड पोलिटिक्स", राजनीति पर मनोविज्ञान के प्रभाव के सम्बन्ध में ही लिखी गयी है।

आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों में सबसे अधिक विख्यात, लासवेल 1920 के दशक के बाद के वर्षों और 1930 के दशक में शिकागो विश्वविद्यालय में व्यवहारवादी क्रान्ति के प्रतिपादकों में आरम्भ से ही प्रमुख रहा है। उसने सामाजिक सिद्धान्तों के क्षेत्र में किसी भी अन्य व्यक्ति की तुलना में शोध की प्रविधियों में अधिक योगदान किया है। हीन्ज यूलाओ लिखता है, "समकालीन राजनीति-विज्ञान में बहुत कम विचार ऐसे हैं जो लासवेल की प्रारम्भिक रचनाओं में न मिलते हों।" उसकी मान्यता है कि "राजनीतिक व्यक्तित्व के अध्ययन में मनो-विश्लेषण के द्वारा प्रभावित उसकी रुचि के सम्बन्ध में प्रायः आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह उसकी समग्र कृति का एक महत्त्वपूर्ण भाग है, परन्तु केवल एक भाग।"[2] व्यवस्था-सिद्धान्त, क्रियात्मक विश्लेषण, भूमिका, उपचार व जनमत सम्बन्धी अध्ययन प्रतीकात्मक व्यवहार के निदान, सार्वजनिक नीति के विज्ञान, और विषय-विश्लेषण, सहभागी प्रेक्षण, सम्प्रेषण सिद्धान्त, निर्णय-निर्माण, नीति-विज्ञान, वस्तुनिष्ठ साक्षात्कार और प्रयोगात्मक प्रतिमानों जैसी प्राविधिक समस्याओं के सम्बन्ध में लासवेल ने ही सबसे पहले लिखा। हीन्ज यूलाओ एक दूसरे स्थान पर लिखता है, "जब कि शोध की पद्धतियों के सम्बन्ध में राजनीति-विज्ञान में अधिक नहीं लिखा गया है, केवल लासवेल की रचनाओं में ही उनके सम्बन्ध में अनवरत रूप में विवेचन किया गया है।" तीन दशाब्दियों में बिखरी हुई उसकी अनेक पुस्तकों

'हू गैट्स व्हाट, व्हेन, हाउ?,' को भी सम्मिलित कर लिया गया है; 'दि वर्ल्ड रिवोल्यूशन ऑफ *अवर टाइम, ए फ्रेमवर्क फॉर बेसिक पोलिसी रिसर्च', हूवर इन्स्टीट्यूट स्टडीज, मालाअ, स०1, स्टैनफोर्ड* कैलीफोर्निया, स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1951; हैरल्ड डी० लासवेल, डेनियल लर्नर और इथील ड सोलापूल, 'दि कम्पेरेटिव स्टडी ऑफ सिम्बल्स,' स्टैनफोर्ड, स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1952; हैरल्ड डी० लासवेल, 'दि फ्यूचर ऑफ पोलिटिकल साइंस,' न्यूयार्क, एथर्टन, 1963; सतीश अरोरा और हैरल्ड डी० लासवेल, 'पोलिटिकल कम्यूनिकेशन इन इण्डिया,' न्यूयार्क, होल्ट, राइनहार्ट और विन्सटन, इन्क०, 1969।

[2] हीन्ज यूलाओ 'साइको-पैथो एनालिसिस, एप्रोच एण्ड इन्क्वायरी,' शिकागो, एल्डाइन पब्लिशिंग क०, 1969, पृ० 120।

और सेवों से, बर्नार्ड क्रिक के शब्दों में, "लासवेल की असंख्य वैचारिक संरचनाएं सामाजिक विज्ञानों को उसकी प्रमुख देन है।"[3] "उसकी मौलिकता, उसके ज्ञान का विस्तार, उसकी स्फूर्ति और अपने चिन्तन में पुराना पड़ने से इनकार करने का उसका दृढ़ निश्चय प्रशंसनीय है, परन्तु उसकी गतिविधियां उन लोगों के लिए परेशानी का कारण बन जाती हैं जो केवल शोध ही नहीं करना चाहते परन्तु नयी से नयी संकल्पनाओं और नये से नये उपकरणों के माध्यम से शोध करना चाहते हैं।"[4]

यह सब होते हुए भी, जैसा हॉविट्ज ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है, यह कहना ठीक नहीं होगा कि लासवेल की रचनाओं का मूल आधार शोध प्रविधियों में उसका योगदान है। यह विचार कि लासवेल मूलतः शोध प्रविधियों का निर्माता है इस कारण प्रचलित हो गया कि उसने अपनी सभी रचनाओं में "वैज्ञानिक राजनीतिक सिद्धान्त" और "राजनीति-दर्शन" में भेद करने का प्रयत्न किया है और राजनीतिक सिद्धान्तों के वैज्ञानिक पक्ष पर अत्यधिक बल दिया है। उसके अनुसार इन दोनों में मूल अन्तर यह है कि जब कि "राजनीति का दर्शन" कुछ "अधिमान्यताओं की स्थापना" करता है, "राजनीति का विज्ञान" "केवल वस्तुस्थिति को सामने रख देता है।"[5] लासवेल के अनुसार राजनीति के विज्ञान के लिए *"सिद्धान्तों की व्यवस्थित रूप से व्याख्या करना और तथ्यों के* संकलन और प्रभमण में आनुभविक पद्धतियों का प्रयोग" आवश्यक है।[6] लासवेल के अनुसार, "सिद्धान्तीकरण को, चाहे वह राजनीति के सम्बन्ध में ही क्यों न हो, ऐसे सूक्ष्म *दार्शनिक विचारों में, जिनका आनुभविक प्रेक्षण व नियन्त्रण से किसी प्रकार का सम्बन्ध* न हो, उलझना नहीं देना चाहिए।"[7] उसने "ऐसे राजनीतिक सिद्धान्तों के विवेचन की, जिनमें यह दिखाया गया हो कि राज्य और समाज को किस प्रकार का होना चाहिए" कठोर भर्त्सना की है। अपने इस विचार के लिए कारण बताते हुए वह लिखता है, "ऐतिहासिक दृष्टि से ··· इस तरह के सिद्धान्तों ने सदा ही राजनीतिशास्त्रियों की अपनी अधिमान्यताओं को (और सच तो यह है, उन समूहों की अधिमान्यताओं को जिनके साथ उनका तादात्म्य है,) न्यायोचित ठहराने का प्रयत्न किया है।"[8] लासवेल के विचारों में, वैज्ञानिक राजनीतिक सिद्धान्त की तुलना में, राजनीति-दर्शन की स्थिति निकृष्ट है। वैज्ञानिक राजनीतिक सिद्धान्त के सन्दर्भ में ही राजनीति के दर्शन को समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, राजनीति-दर्शन "समय की सीमाओं में बंधा है ···,"

[3]हींज यूलाओ, "एच० डी० लासवेल्स डेवेलपमेण्टल एनालिसिस," 'वेस्टर्न पोलिटिकल क्वार्टरली' में, जून 1958, पृ० 229।

[4]बर्नार्ड क्रिक, 'दि अमेरिकन साइंस ऑफ पोलिटिक्स, इट्स ओरिजिन्स एण्ड कंडिशन्स', लन्दन, रूटलेज और कीगन पॉल, 1959, पृ० 181।

[5]हेरल्ड डी० लासवेल, 'पोलिटिक्स, हू गैट्स व्हाट, व्हेन, हाउ?' क्लीवलैंड और न्यूयार्क, दि वर्ल्ड पब्लिशिंग कं०, 1958, पृ० 13।

[6]वही, पृ० 187।

[7]हेरल्ड डी० लासवेल और अब्राहम कैपलन, 'पॉवर एण्ड सोसायटी,' पी० ऊ०, पृ० 1।

[8]वही, पृ० 11।

परिस्थिति और समय की मर्यादाएं उसे प्रभावित करती है और यह समस्याओं को एक विशेष दृष्टिकोण से, जिसे विचारधारा का नाम भी दिया जा सकता है, देखता है, *जबकि राजनीति-विज्ञान वर्तमान को समझने का एक प्रयत्न है।"* लासवेल के द्वारा इस प्रकार के विचारो के बार-बार व्यक्त किये जाने के कारण ही इस धारणा ने एक व्यापक रूप ले लिया है कि उसकी विशेष रुचि आनुभविक शोध के लिए उपकरणो और तकनीकों का निर्माण करने मे है।

इसके विपरीत, यदि हम उस पद्धति की गहराई मे जायें जिसके द्वारा लासवेल ने एक स्पष्ट राजनीति-दर्शन के विकास के लिए अपनी प्राविधिक तकनीकों का प्रयोग किया है तो हमें, हॉविट्ज के इस निष्कर्ष के साथ सहमत होना पड़ेगा कि वह मूलतः एक *राजनीति-दर्शन का प्रणेता है।*[9] *यदि लासवेल ने वैचारिक संरचनाओं और शोध के* विश्लेषणात्मक उपकरणो के विकास मे रुचि ली है तो इसका एकमात्र कारण यही है कि वह एक नये ढग की सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहता है और यह एक ऐसा राजनीति-दर्शन है जिसकी इतने खुले तौर पर पश्चिम के किसी आधुनिक राजनीतिशास्त्री ने व्याख्या नही की है जितनी लासवेल ने। वास्तव में, राजनीतिक घटनाओ के अध्ययन मे उसकी रुचि का प्रधान कारण यह है कि वह उन्हें इस ढंग से नियन्त्रित करना चाहता है जिससे उसकी पसन्द की राजनीतिक व्यवस्था एक व्यावहारिक रूप ले सके। लासवेल का प्रमुख आग्रह नियन्त्रण पर है, और यदि भविष्य को इंगित करने की विज्ञान की क्षमता मे उसकी रुचि है तो केवल इस कारण कि वह "भविष्य का नियन्त्रण करने से पहले जान लेना चाहता है कि उसका स्वरूप क्या होने वाला है।"[10] हॉविट्ज लिखता है, *"यह विचार कि लासवेल की प्रमुख रुचि शोध के उपकरणों* का विकास करने मे है न तो उसके स्पष्ट इरादो और न उसकी व्यापक उपलब्धियो के साथ न्याय करता है। विवरण, जो 'चिन्तात्मक' दृष्टिकोण का उसका केन्द्र-बिन्दु, जिस प्रकार सामाजिक नियन्त्रण को उसके अन्तिम ध्येय के सामने एक गौण स्थान रखता है, उसी प्रकार उसका समाजशास्त्रीय प्रत्यक्षवाद भविष्य को समझने और उसके सन्दर्भ मे राजनीतिक पुनर्निर्माण के उसके उद्देश्यों के सामने एक गौण स्थान रखता है।"[11]

वास्तव मे, लासवेल की 'अधिमान्यता को न्यायोचित ठहराने की विचारधारा' तभी स्पष्ट हो जाती है जब वह राजनीतिक विश्लेषण मे चिन्तनात्मक (contemplative) और जोड़-तोड़ वाले (manipulative) तत्त्वों मे अन्तर स्पष्ट करता है और जोड़-तोड़ वाले तत्त्वों को अधिक महत्त्व देता है। उसके शब्दों मे, "शुद्ध चिन्तनात्मक दृष्टिकोण *सामाजिक प्रक्रिया का विवरण मात्र दे पाता है और (अधिक से अधिक) उसके विकास*

[9]रोबर्ट हॉविट्ज, 'साइंटिफिक प्रोपेगेण्डा,' हर्बर्ट स्टोरिंग द्वारा सम्पादित, 'एसेज ऑन दी साइंटिफिक स्टडी ऑफ़ मैन' मे होल्ट, राइनहार्ट और विंस्टन कं०, 1952।

[10]लासवेल के इस दृष्टिकोण की झलक हमें उसके सर्वप्रथम प्रकाशन 'सिद्धांत ऑफ रादर्स, बार्ट ए केस स्टडी इन पोलिटिकल बिहेवियर" मे मिलती है जो 'नेशनल म्युनिसिपल रिव्यू' के मार्च 1923 के अंक मे प्रकाशित हुआ था। देखिए पृ० 127।

[11]रोबर्ट हॉविट्ज, वही, पृ० 230।

के सम्बन्ध मे भविष्यवाणी कर सकता है," परन्तु एक विशेष स्थिति मे समाज की अधिक से अधिक सम्भाव्यताए और बडी से बडी आवश्यकताए क्या हो सकती है उनकी जाच-पडताल की सम्बद्धता पर अधिक से अधिक प्रकाश डालने मे वह असमर्थ रहता है।"[12] लासवेल 'वैज्ञानिक विवरण' की सर्वथा उपेक्षा नहीं करता, क्योंकि उसके बिना किसी प्रकार की भविष्यवाणी सम्भव नही है, परन्तु भविष्य के सम्बन्ध मे जानना भी उसके लिए अपने आप मे कोई लक्ष्य नही है, 'प्रभावशाली सामाजिक नियन्त्रण' की एक आवश्यक पूर्वपिक्षा मात्र है। वह मानता है कि राजनीतिशास्त्री को 'चिन्तनात्मक दृष्टिकोण से जोड-तोड वाले दृष्टिकोण की ओर' आगे बढना चाहिए। राजनीतिशास्त्री का काम केवल समाज के लक्ष्यो को निर्धारित करना ही नही है—और यह बात व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान के किसी दूसरे प्रतिपादक ने इतने स्पष्ट शब्दो मे नही कही है जितनी लासवेल ने—परन्तु नीतियो, और उन कार्य-विधियो का, जो उनकी दिशा में ले जाती हो, निर्माण करना भी है। इसी कारण, राजनीतिक विश्लेषण मे चिन्तनात्मक और जोड-तोड वाले दृष्टिकोणो को एक दूसरे से मिला देने पर उसका इतना अधिक आग्रह है। लासवेल ने उद्देश्यो और विवरण, भविष्यवाणी और नियन्त्रण, सभी को "सिद्धान्त और व्यवहार की एकता" मे बाध देने की पद्धति को संविन्यासी *विश्लेषण (configurative analysis)* का नाम दिया है। *'संविन्यासी विश्लेषण'* और उसके साथ राजनीति, समाज-शास्त्र और राजनीति-मनोविज्ञान को अपने ढग से और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक नया रूप देने के लासवेल के प्रयत्न को विस्तार से समझने से पहले उसके उस व्यवहार के सम्बन्ध मे जिसे बर्नार्ड क्रिक ने "लासवेल के सकल्पनात्मक व्यवहार" का नाम दिया है, कुछ जान लेना उपयोगी होगा।[13]

बदलती हुई सकल्पनात्मक सरचनाए

लासवेल को समझने मे एक प्रमुख कठिनाई यह है कि वह अपनी सकल्पनात्मक सरचनाओ को बडी तेजी के साथ बदलता रहता है। अपने जीवन के आरम्भ मे उस पर मार्क्स का प्रभाव पडा था, परन्तु 'साइकोपैथालाजी एण्ड पोलिटिक्स,' 1930, मे जिस पहली विशिष्ट सकल्पनात्मक सरचना का उसने विकास किया वह फ्रॉयड से ली गयी है। ऐसा जान पडता है कि लासवेल ने प्रारम्भ मे ही यह अनुभव कर लिया था कि राजनीति-विज्ञान के अपने दृष्टिकोण के विकास मे उसे फ्रॉयड से अधिक सहायता नही मिलेगी। "पोलिटिक्स, हू गैट्स व्हाट, व्हेन, हाउ ?" 1936, मे विकसित की गयी उसकी दूसरी संकल्पनात्मक संरचना 'शक्ति' और 'राजनीतिक अभिजन' की संकल्पनाओ के इर्द-गिर्द घूमती है, परन्तु "डेमोक्रेसी थ्रू पब्लिक ओपीनियन," 1941, मे हम उसे मेरीयम, स्मिथ और राइस की लोकतान्त्रिक रूढ़िवादिता मे लौटते हुए देखते हैं। 1949 तक, जब

[12]वही, पृ॰ ...

[13]होन्ज यूलाओ, 'साइको-मैत्रो एनालिसिस,' पी॰ उ॰, अध्याय 5, "दि मैकैनिज्म मैथॅडम ऑफ हैरल्ड डी॰ लासवेल," पृ॰ 105-118।

लासवेल ने "लैंग्वेज ऑफ पोलिटिक्स, स्टडीज इन क्वान्टिटेटिव सीमैंटिक्स" प्रकाशित की तब तक उसने संकल्पनाओं के एक तीसरे समुच्चय का विकास कर लिया था। परन्तु, किसी एक संकल्पनात्मक संरचना के साथ अधिक समय तक अपने को बांध रखना उसके लिए असम्भव हो जाता है। "पॉवर एण्ड सोसाइटी, ए फ्रेम वर्क ऑफ पोलिटिकल इन्क्वायरी" में, जिसे उसने अब्राहम कैपलन के साथ लिखा और 1952 में प्रकाशित किया, हम 'शक्ति' की संकल्पना पर आधारित उसके विश्लेषण, और "लैंग्वेज ऑफ पोलिटिक्स" में बाद में विकसित की गयी, भाषा और प्रतीकों की संकल्पनाओं पर आधारित उसकी संकल्पनात्मक संरचना का एक मिश्रण पाते हैं। "दि पॉलिसी साइंसेज, रीसेण्ट डेवलपमेंट इन स्कोप एण्ड मैथड," 1951, में हमें शुद्ध विज्ञान से व्यावहारिक विज्ञान की ओर बढ़ने की दिशा में एक संक्रमण की स्थिति दिखायी देती है, और लासवेल की संकल्पनात्मक संरचना एक बार फिर अचानक बदली हुई दिखायी देती है। संकल्पनात्मक संरचनाओं में इन सब परिवर्तनों के होते हुए भी लासवेल की सभी रचनाओं में, एक सूत्र के रूप में, 'व्यवहारवादी उपागम' दिखायी देता है। इस प्रकार जैसा यूलाओ ने बताया है, लासवेल की तेजी से बदलती हुई संकल्पनात्मक संरचनाओं में जो अव्यवस्था दिखायी देती है वह कोरा पागलपन नहीं परन्तु उसके पीछे एक सुनिश्चित योजना है।

संकल्पनात्मक संरचनाओं में इन तेजी से होने वाले परिवर्तनों के कारण लासवेल को हम सदा ही एक विचार को छोड़कर दूसरे विचार को पकड़ते हुए देखते हैं, जिसका परिणाम यह हुआ है कि कोई भी संरचना न तो अपने आप में एक स्पष्ट रूप ले सकी है और न उसके दर्शन का एक अविच्छिन्न अंग बन सकी है। इसके परिणामस्वरूप शोध-प्रविधियों और राजनीति-दर्शन दोनों के प्रति लासवेल का जो दृष्टिकोण है उसमें हमें एक द्वैध वृत्ति दिखायी देती है। उदाहरण के लिए, एक स्थल पर उसने राजनीति-विज्ञान को शक्ति के विज्ञान का पर्याय माना है और राजनीतिक विश्लेषण को समाज के मूल्यों के प्रतिमान के निर्धारण को प्रभावित करने वाले परिवर्तनों का अध्ययन है, "जिन थोड़े से लोगों को अधिकांश मूल्य प्राप्त हो जाते हैं वे अभिजन हैं, शेष जनसाधारण"। लासवेल ने बताया कि अभिजन वर्ग समाज में अपना प्राधान्य न केवल उन प्रतीकों को जोड़-तोड़ करके जो अधिकांशतः अदृष्ट रहते हैं बल्कि रसद पर नियन्त्रण स्थापित करके और आवश्यक हुआ तो, हिंसा का प्रयोग करके भी स्थापित करता है। उसने अभिजन वर्ग की अपनी संकल्पना के समर्थन में मोस्का, मिचेल और कार्ल श्मिट से उद्धरण दिये हैं। "वर्ल्ड पोलिटिक्स एण्ड पर्सनल इनसिक्युरिटी," 1934, में वह लिखता है कि "संसार में एक स्थायी व्यवस्था की स्थापना की पहली शर्त यह है कि प्रतीकों और व्यवहारों का एक विश्वव्यापी समुच्चय उस अभिजन वर्ग का समर्थन करता है जो शान्तिपूर्ण-उपायों के द्वारा अपनी शक्ति का प्रसार करता है और जिसके पास बल-प्रयोग का एकाधिकार है, चाहे ऐसे अवसर बहुत कम आयें जहां उसे अधिकतम बल का प्रयोग करना पड़े।" उसका अभिजन वर्ग जोड़-तोड़ करने वाले व्यक्तियों का वर्ग है। अभिजनवाद का उसका समर्थन उसकी दूसरी रचनाओं में भी पाया जाता है। "पोलिटिक्स—हू गैट्स व्हाट,

व्हेन, हाउ?" मे वह कहता है कि अभिजन वर्ग, बहु-सख्यक वर्ग अथवा भीड की तुलना मे, अधिक प्रभावशाली है। उसका प्राधान्य, आशिक रूप से, अपने पर्यावरण की ठीक से जोड़-तोड बिठाने मे है। परन्तु, उसकी बाद की रचनाओ मे हमे लोकतन्त्र के अभिजन वर्ग की, जो 'समाजव्यापी' है, सकल्पना मिलती है—जो क्रिक के शब्दों मे "सौरेल और पैरेटो की उत्तेजनात्मक अ-मानवीय नृशसता की तुलना मे" एक अत्यन्त पालतू खरगोश के समान दिखायी देती है।[14] लासवेल ने कोई ऐसे प्रामाणिक कारण नही दिये हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि किस प्रकार एक ऐसा अभिजन वर्ग जिसने शक्ति को अपने हाथो मे केन्द्रित कर रखा था, एक "समाजव्यापी" "लोकतन्त्र के अभिजन वर्ग" मे परिवर्तित हो सकता है।

इसी प्रकार की बात हमे उसकी दूसरी सकल्पनाओ के सम्बन्ध मे भी दिखायी देती है। एक स्थिति मे हम उसे शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध मे कठोरतावाद का समर्थन करते हुए पाते है परन्तु जैसे-जैसे वह इस विचार का विकास करता है उसका उत्साह ठण्डा पड़ता दिखायी देता है। लासवेल ने एक अवसर पर अपना यह विचार प्रकट किया था कि "राजनीतिक शक्ति को वही तक ठीक रूप मे समझा जा सकता है जहा तक भाषा का प्रयोग ठीक हो, और राजनीति की भाषा का सही अध्ययन परिमाणात्मक प्रविधियो के द्वारा ही किया जा सकता है।" उसने अपना यह विचार भी प्रकट किया था कि कुछ मूलभूत राजनीतिक प्रतीकों का अध्ययन परिमाणात्मक ढग से किया जा सकता है। उसकी दृष्टि मे यह "विषय-विश्लेषण" की पद्धति के द्वारा सम्भव हो सकता था। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय समाचारपत्रो मे लोकतन्त्र की ओर सकेत करने वाले प्रतीकों का कितनी बार प्रयोग किया गया इसकी गिनती करके किसी देश की राजनीतिक प्रवृत्तियो और प्रक्रियाओ का अध्ययन किया जा सकता था, परन्तु इसके साथ ही सामान्य नियमों का निरूपण करने मे भी लासवेल की बहुत अधिक रुचि थी। जबकि लासवेल एक अवसर पर अपना यह विचार प्रकट करता है कि "राजनीति का अध्ययन राजनीतिक विचार-विमर्श के अध्ययन की परिमाणात्मक प्रविधियो के द्वारा प्रोत्साहित किया जा सकता था,"[15] उसने अन्य स्थलों पर उस अन्त दृष्टि को बहुत अधिक महत्त्व दिया है जो "राजनीति मे प्रयोग की गयी भाषा" के अध्ययन के द्वारा प्राप्त की जा सकती थी। 1911 के दिल्ली के शाही दरबार के घोषणा-पत्र की भाषा की गाधी और नेहरू की कुछ रचनाओ के साथ तुलना करते हुए उसने लिखा है, "एक समय ऐसा आ सकता है जब महत्त्वपूर्ण घटनाओ को समझने मे शैली का अध्ययन सबसे अधिक सहायक सिद्ध हो।" इससे आगे बढ़कर वह यह भी लिखता है कि अपरिमाणात्मक प्रविधियों को भी छोड़ नही देना चाहिए।

लासवेल के विचारों मे इसी प्रकार की *असगति हमे इस बात मे मिलती है कि एक* ओर तो राजनीति-विज्ञान को विज्ञान मानने पर उसका अत्यधिक आग्रह है और दूसरी

[14]बर्नार्ड क्रिक, पी० उ०, पृ० 185।
[15]लासवेल, लीट्स और साथी, 'लैंगुएज ऑफ पोलिटिक्स,' पी० उ०, पृ० 140।

और वह राजनीति-विज्ञान के माध्यम से एक विशेष प्रकार के राजनीति-दर्शन का प्रसार करना चाहता है। उसने 'लोकतन्त्र के विज्ञान' की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसका सम्बन्ध सामान्य राजनीति-विज्ञान से लगभग वैसा ही है जैसा औषधि-शास्त्र का जीव-विज्ञान से, और उससे यह अर्थ निकाला जा सकता है कि शायद सत्तावादी राजनीति का भी अपना विज्ञान हो। वह आशा करता है कि यह सम्भव है कि अमरीका में नीति-विज्ञान की ओर जो झुकाव है "उसका उपयोग इस प्रकार के ज्ञान को फैलाने में किया जा सकेगा जिसके द्वारा लोकतन्त्र के व्यवहार को सुधारा जा सके" लासवेल की दृष्टि में राजनीति-विज्ञान का उद्देश्य "एक लोकतान्त्रिक समाज के प्रमुख मूल्यों को बढ़ावा देना और नैतिक दृष्टि से भटके हुए ऐसे व्यक्तियों की संख्या कम करना है जो लोकतान्त्रिक प्राथमिकताओं को नहीं मानते।"

राजनीति-विज्ञान में मनोविज्ञान की भूमिका के मूल्यांकन की चर्चा में भी हम इसी प्रकार की असंगति पाते हैं। वह राजनीति-विज्ञान की तुलना मनो-विश्लेषण से करता है और कहता है कि जिस प्रकार मनो-विश्लेषण में व्यक्ति के मानस-(साइक) को उसके सामने खोल कर रख देने से वह स्वस्थ हो जाता है उसी प्रकार राजनीतिक प्रक्रियाओं के विषयनिष्ठ अध्ययन का अर्थ यह होना चाहिए कि उनमें भाग लेने वाले व्यक्ति और समूह यह समझ सकें कि उनमें उन्हें क्या भूमिका अदा करनी है। मनो-विश्लेषक से उसकी तुलना करने का अर्थ यह होता है कि राजनीतिशास्त्री की भूमिका भी उपचारात्मक है : व्यावहारिक राजनीति का अध्ययन, अन्ततोगत्वा, हमें एक उच्चतर राजनीति के आचरण की दिशा में ले जाता है। मनो-विश्लेषक से राजनीतिशास्त्री के इस सादृश्य के सन्दर्भ में ही "निवारण की राजनीति" (politics of promotion) की लासवेल की संकल्पना को समझा जा सकता है जिसकी सहायता से राजनीतिशास्त्री से व्यक्तियों और समूहों के समाज विरोधी कृत्यों को रोक सकने की अपेक्षा की जा सकती है। मनो-विश्लेषण जिस प्रकार भ्रान्तियों और भ्रान्तियों के निवारण में समर्थ होता है, राजनीतिक विश्लेषण भी उसी प्रकार "सामाजिक दृष्टि से उपचारात्मक" सिद्ध हो सकता है। परन्तु लासवेल सामाजिक मनो-विश्लेषण और "उदार" मानववाद में, जिसकी ओर वह समाज को प्रेरित करना चाहता है, किसी प्रकार का ठोस सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ दिखायी देता है। मनोविज्ञान को सामाजिक जीवन में व्यवहार में लाने की परिणति मार्क्सवादी क्रान्ति में भी हो सकती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि लासवेल ने इस विश्वास का प्रचार करने में कि राजनीति का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है, और प्राकृतिक विज्ञानों के समान उसे एक विज्ञान का रूप दिया जा सकता है, बहुत अधिक योग दिया है। लासवेल का दृष्टिकोण यदि इतना व्यापक नहीं होता और शैक्षणिक गतिविधियों और न्यायपूर्ण समाज और मनुष्य की प्रकृति और सद्‌गुणों जैसे राजनीतिक सिद्धान्त के चिरन्तन प्रश्नों के साथ उसका इतना अधिक दार्शनिक लगाव नहीं होता, जिसने उसे राजनीतिक सिद्धान्तवादियों की श्रेणी में एक ऊंचा स्थान दिला दिया है, तो बर्नार्ड क्रिक की इस सम्मति के साथ सहमत होना सम्भव था कि "लासवेल तात्त्विक और स्वेच्छाचारी संकल्पनाओं और अर्थहीन असम्बद्ध तथ्यों की बंजर और वीरान

दुनिया में रहता है।"[16] लासवेल का 'सकल्पनात्मक व्यवहार' चाहे कुछ भी क्यो न हो, और उसके राजनीतिक विचारो से किसी का कितना भी मतभेद क्यो न हो इसमे सन्देह नही कि जिन लोगो ने आधुनिक राजनीतिक विश्लेपण की पद्धतियों और आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तो के निर्माण मे बहुत अधिक योग दिया है उनमे उसका स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

राजनीति-विज्ञान के सम्बन्ध में लासवेल का दृष्टिकोण

लासवेल की दृष्टि मे राजनीति का विज्ञान शक्ति का विज्ञान है। लासवेल के अनुसार "राजनीतिक विश्लेपण समाज के मूल्य प्रतिमान के स्वरूप और गठन मे होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन है।" उसकी दृष्टि मे प्रमुख 'मूल्य' सुरक्षा (safety) सम्पत्ति (income) और मान (deference) है। जिन थोडे से लोगो को इनमे से किसी भी मूल्य का अधिकाश भाग प्राप्त हो जाता है वे अभिजन है, शेप जनसाधारण।" अभिजन वर्ग, प्रतीको की जोड-तोड, रसद के नियन्त्रण और हिंसा के प्रयोग के द्वारा अभिजन वर्ग जैसा पहले कहा जा चुका है, अपना प्राधान्य बनाये रखता है, राजनीति का अध्ययन 'प्रभाव और प्रभावी' का अध्ययन होने के नाते अभिजन वर्ग मे वे लोग आते हैं जो "जनसाधारण", अथवा भीड, की तुलना मे अधिक प्रभावशाली है। जनसाधारण पर अभिजन वर्ग का प्राधान्य आशिक रूप से इस पर निर्भर रहता है कि वह "प्रतीको, वस्तुओ और व्यवहारों" के द्वारा अपने वातारण की जोड़-तोड़ मे कितनी सफलता प्राप्त कर पाता है। परन्तु ऐसा जान पडता है कि लासवेल को अभिजन वर्ग के विश्लेषण मे उतनी रुचि नही है जितनी इस बात मे कि एक भिन्न प्रकार के समाज के निर्माण मे इस वर्ग का उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है। लासवेल के विचार मे एक नयी विश्व-व्यवस्था की स्थापना के दो मार्ग हैं—एक मार्क्स का, 'चिन्ता के बाह्यीकरण' का मार्ग और दूसरा फ्रॉयड का, 'चिन्ता के उत्तरीकरण' का मार्ग। पश्चिमी समाज, क्रियाशील होने के नाते, यह विश्वास करता है कि "एक स्थायी विश्व-व्यवस्था की स्थापना की पहली शर्त प्रतीको और व्यवहारो के एक विश्वव्यापी समुच्चय के द्वारा एक ऐसे अभिजन वर्ग का समर्थन करना है जो शान्तिपूर्ण उपायो के द्वारा अपने प्रभाव का प्रसार करता है परन्तु जिसके पास बल-प्रयोग का भी एकाधिकार है, चाहे उसका अधिकतम उपयोग शायद ही कभी आवश्यक होता हो।" इस कारण, लासवेल की रुचि, "शब्दकोश, पाद-टिप्पणियो, प्रश्नावलियों और अनुकूलित प्रतिक्रियाओ पर आधारित अभिजन वर्ग मे है, न कि ऐसे अभिजन वर्ग मे जिसका आधार शब्दकोश, जहरीली गैस, सम्पत्ति और कौटुम्बिक प्रतिष्ठा मे हो"—दूसरे शब्दों मे जोड़-तोड करने वाले अभिजन वर्ग मे।[17]

लासवेल मानता है कि सामाजिक परिवर्तन तब तक नही लाया जा सकता जब तक

[16]बर्नार्ड क्रिक, पी० उ०, पृ० 207-208।
[17]हैरल्ड डी० लासवेल, 'वर्ल्ड पौलिटिक्स एण्ड पर्सनल इनसिक्युरिटी,' पी० उ०, पृ० 19-21।

हम यह न समझ लें कि समाज क्या है, और समझने के लिए परिमाणीकरण पर आधारित विश्लेषण की अत्यधिक परिष्कृत प्रविधियों का सम्पादन आवश्यक होगा। किसी भी संकल्पना को 'भाषा' के रूप में ही समझा जा सकता है—शब्दार्थों, प्रतीकों अथवा प्रतीक-चिन्हों के रूप में—न कि 'अर्थ' के रूप में।[15] यदि यह मान लिया जाता है तो कुछ मूल राजनीतिक प्रतीकों का अध्ययन परिमाणात्मक ढंग से किया जा सकता है, और, आवश्यक सांख्यिकी प्रविधियों के व्यवहार के द्वारा उसकी गहराई को भी नापा जा सकता है। लासवेल ने वस्तु-विश्लेषण की प्रविधि पर बहुत अधिक जोर दिया है, और उसकी मान्यता है कि इसके द्वारा राजनीति की सभी महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों को ठीक से समझा जा सकता है। लासवेल मानता है कि राजनीतिक विश्लेषण की प्रविधियों का परिष्कृत होना "राजनीति-विज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण विज्ञान के रूप में विकसित होने का पहला धीमा कदम है। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि हमें उन सभी प्रविधियों का जो परिमाणात्मक नहीं है परित्याग कर देना चाहिए।" इसके विपरीत, सुनिश्चितता की सम्पूर्ण सम्भावनाओं को यदि हम व्यवहार में प्राप्त करना चाहते हैं तो एक अधिक व्यवस्थित सिद्धान्त और बुद्धिमत्तापूर्ण अटकलों का लगाया जाना अत्यन्त आवश्यक है। जैसा परिमाणीकरण के इतिहास से स्पष्ट है, उदाहरण के लिए, अर्थशास्त्र में, सिद्धान्त, अटकल, धारणा और सुनिश्चतता में निरन्तर एक अत्यन्त उपयोगी अन्तःक्रिया चलती रहती है।

राजनीति को शक्ति के सन्दर्भ में देखने और राजनीति को समझने के लिए परिमाणीकरण की आवश्यकता में विश्वास रखने के साथ ही लासवेल राजनीति को एक नीति-विज्ञान का रूप भी देता है।[16] उसकी दृष्टि में विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में वे विज्ञान जिन्हें अधिक वैज्ञानिक माना जाता है, न केवल प्राविधिक और संकल्पनात्मक ही हैं परन्तु अत्यधिक व्यावहारिक भी। वह तो यह भी मानता है कि राजनीति-विज्ञान को यदि उसके अन्त्यावर्तक (inclusive) रूप में लिया जाय तो उसके साथ-साथ उससे सम्बन्धित बहुत से अन्य विशेष विज्ञानों की कल्पना भी की जा सकती है।" विशेष विज्ञान की व्याख्या देते हुए उसने लिखा कि "उसका सम्बन्ध राज्य और समाज के विशिष्ट रूपों के प्राप्त करने और उन्हें सुरक्षित रखने से है।" इस सम्बन्ध में उसने "लोकतन्त्र के विज्ञान" का उल्लेख किया है और सामान्य राजनीति-विज्ञान से उसका सम्बन्ध वही बताते हुए जो औषधि का जीवशास्त्र के विज्ञान से है उसे इस प्रकार के विशेष विज्ञानों में से एक कहा है। "लोकतन्त्र-विज्ञान" से लासवेल का अर्थ उस विज्ञान (अथवा विशेषीकृत ज्ञान) से नहीं है जिसके द्वारा हमें लोकतन्त्र के सिद्धान्त और व्यवहार को समझने में सहायता मिलती है परन्तु "उस ज्ञान के विकास से है जो मानव प्रतिष्ठा को सम्पूर्ण रूप से प्राप्त करने से सम्बद्ध हो।" मानव की प्रतिष्ठा को लासवेल

[15] लासवेल, लीट्स और साथी, पी० उ०।

[16] लर्नर और लासवेल द्वारा सम्पादित, 'दि पॉलिसी साइंसेज, रीसेन्ट डेवेलपमेण्ट्स इन स्कोप एण्ड मैथड,' पी० उ०।

ने 'प्रमुख अमरीकी परम्परा' माना है। लासवेल ने कहीं भी यह स्पष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया है कि 'मानव की प्रतिष्ठा' से उसका उद्देश्य क्या है, परन्तु जिसे उसने एक अमरीकी मूल्य माना है वह जैसे-जैसे लासवेल का तर्क आगे बढ़ता जाता है—एक नयी विश्व-व्यवस्था का एक अंग बनता जाता है। बर्नार्ड क्रिक लिखता है, "उसके वैज्ञानिक आवरण के नीचे से एक ऐसी दैवी-आशीर्वाद-प्राप्त लोकतन्त्र समर्थक का व्यक्तित्व चमक उठता है जिसकी कल्पना से ही अधिक से अधिक सात्विकी दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियों के चेहरों पर भी आत्मश्लाघा की चमक आ जाती है। पुस्तक के समाप्त होते-होते जनतन्त्र और विज्ञान दोनों एक दूसरे में घुल-मिल जाते हैं . . ।"[20] लासवेल *अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ध्रुवीकरण के अस्तित्व को स्वीकार* करते हुए भी 1951 में उससे इनकार करना सम्भव नहीं था, वह वैज्ञानिक और लोकतान्त्रिक समजातीयता" और "तकनीकी-वैज्ञानिक संस्कृति के एक नये स्तर" में भी विश्वास रखता है। "विश्व (अनिवार्यतः) एक समजातीय सामाजिक संरचना की ओर बढ़ रहा है, बिना इस बात की चिन्ता किये कि राजनीतिक दृष्टि से समजातीयता का विकास शीघ्र हो पाता है अथवा देर से।" लासवेल के विचारों के अध्ययन की इस स्थिति तक आते-आते पाठक को शक होने लगता है कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि "कार्य-क्षेत्र और पद्धति में आधुनिकता के आवरण में (जो "दि पॉलिसी साइंसेज" नाम की उसकी पुस्तक का उप-शीर्षक है और जिसकी चर्चा पुस्तक के हम अधिकांश भाग में पाते हैं) वह लोकतन्त्र की अपनी '*अधिमान्यताओं' का, जो वास्तव में अमरीकी अधिमान्यताएं हैं, प्रचार करने* में लगा हुआ है। उसके द्वारा इंगित तीन 'मूल्यों'—शक्ति, सम्मान और ज्ञान का, जिनके *उपयुक्त सम्बन्धों के आधार* पर ही यह निश्चित किया जा सकता है कि कोई समूह लोकतान्त्रिक कहलाने का अधिकारी है अथवा नहीं, उक्त समाज के द्वारा "व्यापक रूप से स्वीकृत किया जाना" आवश्यक है। "अमरीकी परम्परा के आदर्श मूल्यों" और "हमारे युग की प्रगतिशील विचारधाराओं" का अन्तर धीरे-धीरे मिटता दिखायी देता है, और "स्वतन्त्र मनुष्य का राष्ट्रमण्डल" (Free Man's Commonwealth), जिसकी कल्पना उसने एक अमरीकी आदर्श के रूप में की थी, मानव समाज के सर्वमान्य लक्ष्य का रूप ले लेता है।

लासवेल, मनो-विश्लेषण के गहरे प्रभाव में होने के कारण, राजनीति-विज्ञान को उपचारात्मक मानता है। लासवेल ने 1930 में लिखा, "राजनीतिक राग-द्वेषों, अधिमान्यताओं *और आस्थाओं का निरूपण प्रायः* अत्यधिक विवेकपूर्ण रूपों में किया जाता है, परन्तु उनका विकास अत्यधिक विवेकहीन तरीकों से होता है"। इस कारण, उसका *समाधान* उन अविवेकपूर्ण तत्वों को खोल कर रख देने में ही है, जिस प्रकार मनो-विश्लेषण विश्लेषक और विश्लेषित दोनों ही व्यक्तियों से छिपी हुई सूचनाओं को खोल कर रख देता है और उसके परिणामस्वरूप मनोरोगों से ग्रस्त व्यक्ति स्वास्थ्य प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार, यदि यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक प्रक्रियाएं वास्तव में

[20]बर्नार्ड क्रिक, पी० उ०, पृ० 193।

किस प्रकार से काम करती है तो यह स्वयं अपने आप में विवेकपूर्ण और उपचारात्मक तथ्य बन जाता है। राजनीतिक विश्लेषक का कार्य, मनोविश्लेषक के कार्य के समान ही, उपचारात्मक होता है। "साइकोपैथेलाजी एण्ड पोलिटिक्स" में मनोरोगी और मनस्तापी व्यक्तियों के विश्लेषण के साथ ही लासवेल ने 'निवारण की राजनीति' पर भी एक अध्याय जोड़ा है। "वाग्मकारिता, उद्बोधन और परिचर्या के परम्परागत राजनीतिक उपाय" राजनीतिक समस्याओं को उस समय अपने हाथ में लेते हैं जब उन्हें एक मूर्त रूप मिल चुका होता है। "निवारण की राजनीति का लक्ष्य प्रभावपूर्ण उपायों के द्वारा, जिनमें परिचर्या भी एक है, समाज में तनाव के स्तर को निश्चित रूप से नीचे लाकर संघर्ष को टालना है।" लासवेल भविष्य की 'निवारक राजनीति' की तुलना साधारण औषधि, मनोविकृति विज्ञान और शारीरिक मनोविज्ञान आदि से करता है। मार्क्स की भी रुचि संघर्ष को कम करने में थी, परन्तु इसके लिए वह सीधी राजनीतिक कार्यवाही हाथ में लेने में विश्वास करता था। लासवेल का विश्वास शोध की तकनीकों और समाजशास्त्रियों के प्रशिक्षण में है। वह लिखता है, "निवारक राजनीति के आदर्श की प्राप्ति सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन पर उतनी निर्भर नहीं है जितनी सामाजिक प्रशासकों और समाजशास्त्रियों के परीक्षण के उपायों के सुधार पर।"[21]

वितरण विश्लेषण की संकल्पना

राजनीति के सम्बन्ध में लासवेल का दृष्टिकोण व्यापक है। उसकी दृष्टि में राजनीति "प्रभाव और प्रभावी का अध्ययन" है।[22] वह लिखता है, "राजनीति-विज्ञान का विषय शक्ति की प्रक्रियाओं का अध्ययन है।"[23] वह यह नहीं मानता कि राजनीति, अथवा राजनीतिक प्रक्रियाओं, का अध्ययन राज्य तक, अथवा राजनीतिक संस्थाओं के कार्य-कलापों तक, सीमित किया जा सकता है। राजनीति समाज में सर्वत्र फैली हुई है। वह लिखता है, "शक्ति की प्रक्रिया सामाजिक प्रक्रिया का एक विशिष्ट और वियोज्य अंग नहीं है, परन्तु सम्पूर्ण समाज की अन्त क्रियाओं का केवल राजनीतिक पक्ष है।"[24] लासवेल के राजनीतिक विश्लेषण में प्रभाव और शक्ति की संकल्पनाएं, अपने सभी समृद्ध और परिवर्तनशील अर्थों में, केन्द्रीय स्थान रखती हैं। लासवेल प्रभाव और शक्ति के बीच के अन्तर को स्पष्ट रूप से समझता है। प्रभाव, किसी व्यक्ति अथवा समूह की मूल्य सम्बन्धी स्थिति और सम्भाव्यता है और विभिन्न सूचकांकों के द्वारा उसका मापन सम्भव है।[25] इसके विपरीत, शक्ति निर्णय-निर्माण

[21] हैरल्ड डी० लासवेल, 'साइकोपैथोलोजी एण्ड पोलिटिक्स,' पी० उ०, पृ० 202।
[22] हैरल्ड डी० लासवेल, 'पोलिटिक्स, हू गेट्स व्हाट, व्हेन, हाउ ?' पी० उ०, पृ० 13।
[23] लासवेल और कैपलन, 'पॉवर एण्ड सोसाइटी,' पी० उ०, पृ० 17।
[24] वही।
[25] वही, पृ० 55।

की प्रक्रियाओ मे सहभागिता है।[26] शक्ति अपने आप मे एक मूल्य है, और दूसरे मूल्यों की उपलब्धि का एक साधन भी। प्रभाव दूसरे व्यक्तियो की नीतियो को बदलने की प्रक्रिया है।[27] शक्ति और प्रभाव दोनो का परीक्षण प्रसार (scope), अर्थात् उस मर्यादा की दृष्टि से जिसके भीतर उसे क्रियान्वित किया जाता है, वजन (weight), अर्थात् उस नियन्त्रण की मात्रा की दृष्टि से जो वे निर्णयो के निर्माण अथवा नीतियो के निर्धारण पर डालते है, और अधिकार क्षेत्र (domain), अर्थात् उस भौगोलिक क्षेत्र की दृष्टि से जिस पर प्रभाव डाला जाता है, किया जा सकता है। शक्ति और प्रभाव दोनो के प्रयोग का साधन बाध्यकारिता भी हो सकता है, और अनुनय भी। बाध्यकारिता का अर्थ होता है कि लोगो को बहुत अधिक सुविधाए दी जायें, अथवा अत्यधिक मात्रा मे उन्हे सुविधाओ से वंचित किया जाय। अत्यधिक बाध्यकारिता प्रमुखत: शक्ति की प्रक्रियाओ की एक विशेषता है।

राजनीति मे लासवेल के दृष्टिकोण मे प्रभाव और शक्ति की संकल्पनाओ की महत्त्वपूर्ण भूमिका होते हुए भी मूल्यो और उनके आवटन से सम्बन्ध रखने वाली सकल्पनाएं भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। मनुष्य जिस किसी वस्तु की इच्छा रखता है, अथवा जिसे वह प्राप्त करना चाहता है, लासवेल ने उसका नाम 'मूल्य' रखा है। मनुष्य चाहता क्या है, इस प्रश्न का उत्तर लासवेल ने अपनी वितरण विश्लेषण (distributive analysis) की सकल्पना के सन्दर्भ मे यह दिया है कि 'जो भी मिल सकता है उसका अधिकतम"। लासवेल का मूल्यो का प्रसिद्ध त्रिकोण-सम्पत्ति, सुरक्षा और मान—लौक के दृष्टिकोण की तुलना मे, जिसने जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति पर जोर दिया है, हॉब्स के दृष्टिकोण क, जिसने प्रतिद्वन्द्विता, अविश्वास और गौरव को "संघर्ष के तीन प्रमुख कारण" माना था, अधिक नजदीक है। बाद मे उसने मूल्यो की सख्या तीन से बढा कर आठ कर दी, और उन्हे चार-चार मूल्यो के दो वर्गों मे विभाजित कर दिया। पहले समूह का आधार "मान" है, और उसमें शक्ति, आदर, नीतिपरायणता और अनुराग के मूल्य सम्मिलित हैं। दूसरे समूह में वे मूल्य हैं जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के कल्याण से है, और जिनमे कल्याण, समृद्धि, प्रबोध और कौशल को सम्मिलित किया गया है। व्यक्ति जिस सीमा तक इन मूल्यो को प्राप्त करता है, उस सीमा तक उसे वह 'इच्छा तृप्त' (indulged) व्यक्ति माना जा सकता है, और जिस सीमा तक वह उन्हे प्राप्त करने मे असफल रहता है उस सीमा तक उसे 'वंचित' (deprived) व्यक्ति कहा जा सकता है। इच्छाओ की पूर्ति और उनसे वंचित किये जाने को लासवेल ने "मूल्य सम्बन्धी स्थिति अथवा सम्भाव्यताओं मे सुधार अथवा अधोगति" का नाम दिया है।[28] लासवेल मानता है कि मूल्य अपने आप मे लक्ष्य भी है, और अन्य मूल्यो की उपलब्धि के लिए साधन अथवा उपकरण भी। उनका

[26]वही, पृ० 75।
[27]वही, पृ० 71।
[28]वही, पृ० 61।

विनिमय किया जा सकता है, इस अर्थ में कि एक मूल्य का उपयोग अन्य मूल्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है। उदाहरण के लिए, शक्ति अपने आप में एक ऐसा मूल्य नहीं है जिसे लक्ष्य माना जा सके जितना वह अन्य मूल्यों की प्राप्ति के लिए एक साधन है। मूल्य एक दूसरे पर निर्भर भी रहते हैं, इस अर्थ में कि यदि कोई व्यक्ति काफी मात्रा में कुछ मूल्यों को प्राप्त कर लेता है तो वह अन्य मूल्यों को अधिक आसानी से प्राप्त करने की स्थिति में हो जाता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति को समाज में आदर मिला हुआ है तो वह उसका उपयोग आर्थिक शक्ति अथवा प्रभाव प्राप्त करने में कर सकता है।

राजनीतिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में लासवेल के विचार राजनीति-विज्ञान के सम्बन्ध में उसकी इस धारणा के साथ जुड़े हैं कि वह "प्रभाव और प्रभावी का अध्ययन" है, और समस्त मानवी आकांक्षाओं का एक भाग होने के नाते मूल्यों की खोज है। लासवेल की रुचि प्रमुखतः व्यक्ति में और इस बात का पता लगाने में है कि व्यक्ति को राजनीतिक प्रक्रियाओं में से "मूल्यों" के अर्थों में, "क्या" मिलता है, और "कब" और "कैसे" वह उसे प्राप्त करता है। व्यक्ति इस प्रकार राजनीतिक प्रक्रियाओं का केन्द्रीय पात्र है। समूह केवल व्यक्तियों के समुच्चय हैं। लासवेल इस दृष्टि से व्यवहार-व्यवस्था के सैद्धान्तिकों से भिन्न है कि वह व्यक्ति को राजनीतिक विश्लेषण के केन्द्र में रखता है, और उसके हाथों में "मूल्यों" के निर्धारण और "सह-भाजन" में पहल करने की शक्ति सौंपता है, जबकि अन्य व्यवस्थावादी सैद्धान्तिकों ने राजनीतिक व्यवस्था के संधारण और अनुरक्षण में सहयोगी, अथवा बाधक, होने के रूप में ही उसकी भूमिका का अध्ययन करने में रुचि ली थी।

व्यक्तियों की अपने सम्बन्ध में, और दूसरों के सम्बन्ध में भी, कुछ अपेक्षाएं होती हैं। उनका राजनीतिक व्यवहार उनके मूल्य-प्रतिमानों से अभिप्रेरित होता है, और उनके मूलभूत परिप्रेक्ष्यों और तात्कालिक उद्देश्यों से संचालित/राजनीतिक क्षेत्र में व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं और निर्दिष्ट परिणामों और दीर्घकालीन प्रभावों को प्राप्त करने के लिए कुछ आधारभूत मूल्यों और राजनीतिक कौशल का उपयोग करते हैं। यह कौशल राजनयिक, आर्थिक, सैनिक अथवा विचारधारा सम्बन्धी हो सकता है। इन कौशलों का अनेक स्तरों पर प्रयोग करने के लिए व्यक्ति को प्रकट और अप्रकट दोनों ही प्रकार के उपादानों का प्रयोग करना पड़ता है, जिनमें अप्रकट तत्त्व, सूक्ष्म होने के कारण, अधिक प्रभावशाली होते हैं। इनमें से लासवेल ने 'प्रतीकों' और 'व्यवहारों' का विशेष रूप से वर्णन किया है। 'प्रतीकों' में विचारधाराओं और आदर्श के सम्बन्ध में संकल्पनाएं और इस प्रकार की बहुत सी, मूल्यों के बोझ से दबी, प्रतिमाएं व शब्द आ जाते हैं, और उन्हें प्रचार के अनेक साधनों के द्वारा जनता के मन पर अंकित किया जाता है। 'व्यवहारों' का सम्बन्ध उस पद्धति से है जिसके अनुसार सरकारी संस्थाएं काम करती हैं और संवैधानिक धाराओं का निर्माण किया जाता है, और वे उन लोगों को जिनके पास शक्ति और प्रभाव हैं, अपनी स्थिति को और भी मजबूत बनाने में सहायता पहुंचाते हैं। परन्तु, प्रभाव और शक्ति को दूसरे मूल्यों में

परिवर्तित करने के लिए अधिक प्रकट साधनों, जैसे भौतिक उपलब्धियों, को प्रदान करना, *अथवा उनसे वंचित करना, अथवा हिंसा का प्रयोग भी असाधारण नहीं है।*

क्योंकि व्यक्तियों के बीच के सभी आपसी सम्पर्क एक विशेष सन्दर्भ में घटित होते है, लासवेल ने *एक ऐसे सविन्यासी* (*configurative*) उपागम के विचार को जो सान्दर्भिक (contextual) विश्लेषण की ओर ले जाता हो, बहुत महत्त्व दिया है। *सान्दर्भिक विश्लेषण की दृष्टि से किया गया राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन* कई बातों के समझने में हमारी सहायता करता है: (1) व्यक्तिगत पात्र, और उनकी अभिप्रेरणाएं, इच्छाएं, मूल्य, अपेक्षाएं आदि, (2) *वे सम्बन्ध जो ये व्यक्ति,* अपने आधारभूत मूल्यों की खोज में, अन्य व्यक्तियों के साथ विकसित करते है, और (3) पृष्ठभूमि में काम करने वाले *कारक—वे* राजनीतिक हों *अथवा अराजनीतिक,* ऐतिहासिक हों अथवा समकालीन—जो इन सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं। राजनीतिक प्रक्रियाएं *अनवरत रूप से चलती रहती है, और उनमें से धारा-प्रवाह रूप से* निर्गमों का निर्यात होता रहता है। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, इन निर्गमों में से कुछ प्रतिमानों और प्रवृत्तियों का उद्भव होता है। *लासवेल का प्रमुख उद्देश्य इन प्रतिमानों* और प्रवृत्तियों का अध्ययन करना है जिन्हें, उसके अनुसार, "विकासात्मक सरचनाओं" (developmental constructs) और *"विकासात्मक विश्लेषण"* (developmental analysis) के द्वारा समझा जा सकता है। लासवेल मानता है कि 'समायोजन विश्लेषण (equilibrium analysis) की तुलना में, जिसका *प्रयोग व्यवस्था सिद्धान्त* के प्रतिपादकों के द्वारा साधारणत किया जाता है, 'विकासात्मक विश्लेषण' अधिक श्रेष्ठ है।

विकासात्मक विश्लेषण : सकल्पनात्मक सरचना के रूप में

अपने राजनीतिक विश्लेषण में लासवेल की प्रमुख रुचि *निर्णय-निर्माण प्रक्रियाओं* के अध्ययन में है—निर्णय को उसने "राजनीतिक क्षेत्र में किसी संघर्ष, अथवा अन्त:क्रिया, में शक्ति के निरूपण का परिणाम" माना है।[29] *किसी भी विवेकपूर्ण निर्णय में* लासवेल के अनुसार, तीन बातों का होना आवश्यक है : (अ) लक्ष्यों के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा, (ब) सम्भाव्यताओं का सही अन्दाजा, और (स) *उपायों और साधनों के ज्ञान का* कुशल उपयोग। दूसरे शब्दों में विवेकपूर्ण निर्णय तक पहुंचने के लिए तथ्यों, मूल्यों, और अपेक्षाओं की एक साथ जोड़-तोड़ बिठाना आवश्यक होता है। *अपेक्षाएं इस सारी* प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण भाग हैं। कोई भी व्यक्ति, जिसके हाथ में निर्णय लेने का अधिकार होता है, निर्णय-निर्माण की *प्रक्रिया में भविष्य सम्बन्धी अपेक्षाओं की उपेक्षा* नहीं कर सकता। जब वह अपनी अपेक्षाओं के सम्बन्ध में स्पष्ट हो जाता है तभी वह, एक ओर तो, मूल्यों, लक्ष्यों *अथवा उद्देश्यों के सन्दर्भ में,* और दूसरी ओर जो भी तथ्यात्मक ज्ञान उसे उपलब्ध होता है उसके सन्दर्भ में उनका मूल्यांकन कर सकता है। "उस सम्बन्ध में जो कि उभर रहा है, *निर्णय भविष्य के निर्माता के सामने जब तक*

[29] वही, पृ० 81।

महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की तस्वीर न हो" तब तक वह राजनीतिक तौर पर यह सोच नहीं सकता कि, भविष्य को अपनी इच्छा के अनुसार ढालने के लिए, वह सम्भाव्य प्रवृत्तियों को वह कैसे बदले, रोके अथवा तेज करे। निर्णय-निर्माण व्यवहार के घटकों की व्याख्या करने के बाद लासवेल चिन्तन के उन विभिन्न प्रकारों की चर्चा करता है जिनके साथ प्रत्येक घटक का निकट का सम्बन्ध है। वे हैं—लक्ष्य-सम्बन्धी चिन्तन, (goal-thinking), प्रवृत्ति-सम्बन्धी चिन्तन (trend-thinking) और वैज्ञानिक चिन्तन (scientific thinking)। यूनासो के शब्दों में, "लक्ष्य-सम्बन्धी चिन्तन उन मूल्यों अथवा उद्देश्यों के विश्लेषण और चुनाव के साथ जुड़ा हुआ है जिनको और निर्णयों को ले जाना है। प्रवृत्ति सम्बन्धी चिन्तन का सम्बन्ध पिछली प्रवृत्तियों और भावी सम्भाव्यताओं से है, और वैज्ञानिक चिन्तन का सम्बन्ध उपयुक्त कौशल के साथ काम में लाये जाने वाली मर्यादाओं के विश्लेषण से है।"[30] लासवेल ने प्रतीकात्मक व्यवहार के जिन तीन रूपों की चर्चा की है उन्हें निर्णय-निर्माण प्रक्रिया के विश्लेषण में, एक दूसरे से भिन्न करके देखना चाहिए, यद्यपि वास्तविक निर्णय के निर्माण की प्रक्रिया में ये एक दूसरे के अत्यधिक निकट हैं।

भविष्य की सम्भावनाओं में लासवेल की रुचि उसे "विकासात्मक विश्लेषण" (developmental analysis) और "विकासात्मक संरचनाओं" (developmental construct) की ओर प्रेरित करती है जो, उसकी दृष्टि से, सभी निर्णय-निर्माण प्रक्रियाओं के मूल में है। निर्णय-निर्माण के सम्बन्ध में लासवेल की मान्यता है कि वह "एक ऐसी प्रगतिशील प्रक्रिया है, जो भविष्य के सम्बन्ध में कई प्रकार के विकल्पों का निरूपण करने और उनमें से, भविष्य की सम्भाव्यताओं के आधार पर, एक मार्ग को चुनने में है।"[31] लासवेल का प्रमुख आग्रह इस बात को जान लेने पर है कि "भविष्य के सम्बन्ध में कौन सी अपेक्षाएं ठीक सिद्ध होंगी," क्योंकि इस पर निर्णय-निर्माण के और सभी तत्व आधारित है। निर्णय-निर्मान् व्यवहार को आनुभविक प्रयोगों का आधार मान कर राजनीतिक प्रक्रिया सम्बन्धी किसी सिद्धान्त का निर्माण करने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि पहले ऐसी संरचनाओं का निर्माण कर लिया जाए जो सम्भाव्य भविष्य का सही विवरण दे सकें। लासवेल ने इन्हें "विकासात्मक संरचनाओं" का नाम दिया है। "विकासात्मक संरचना" के मूल में कुछ ऐसी संकल्पनाएं हैं जिनका सम्बन्ध भविष्य-सम्बन्धी अपेक्षाओं से है। इस दृष्टि से "विकासात्मक विश्लेषण" "सम्भाव्यता प्रारूप" (probability model) से बिलकुल भिन्न है, और इस बात पर जोर देता है कि एक सीमा तक निश्चय के साथ यह भविष्यवाणी की जा सकती है कि एक विशिष्ट क्षेत्र में कई प्रकार की सम्भाव्यताओं में से एक विशेष सम्भाव्यता के घटित होने के अधिक अवसर हैं। लासवेल के लिए यह "भविष्य के सम्बन्ध में अनुमान लगाने की एक अन्य प्रणाली" है। इसमें प्रवृत्ति-विश्लेषण से जितनी भी सूचनाएं मिल सकती हैं वे सब तो

[30] हीन्ज यूनासो 'माइक्रो-मैक्रो पोलिटिकल एनालिसिस,' पी० उ०, पृ० 106।
[31] लासवेल और कैपलन, पी० उ०, पृ० 16।

ध्यान मे रखी ही जाती हैं, परन्तु उससे भी परे जाकर यह उस "समूचे सन्दर्भ" की जाच-पड़ताल चाहती है जिसमे सुनिश्चित तथ्यो और सम्बन्धो को प्राप्त किया गया है और उनकी स्थापना की गयी है। लासवेल ने इसे एक ऐसा प्रयत्न माना है जिसका उद्देश्य "घटनाओं की समस्त विविधतापूर्ण सरचना के सम्बन्ध मे एव ऐसी सार्थक अन्तर्दृष्टि (productive insight) प्राप्त करना है जो भविष्य और भूत दोनो को अपने मे समाविष्ट कर सके।" यह "सार्थक अन्तर्दृष्टि अनेक विचारो के अन्तर्सम्बन्धित और अन्तर्समर्थित प्रतिमानो के द्वारा प्राप्त की जा सकती है, जिन्हे लासवेल ने "सविन्यास प्रणालियो" (configurative methods) का नाम दिया है। इसमे (1) लक्ष्यो के मूल्यो का स्पष्टीकरण, (2) प्रवृत्तियों का मूल्याकन, (3) अनुकूल कारकों के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक ज्ञान की समीक्षा, (4) भविष्य के सम्बन्ध मे विकासात्मक सरचनाओ का प्रक्षेपण, और (5) नीति सम्बन्धी विकल्पों का आविष्कार और मूल्याकन, जिनका उद्देश्य लक्ष्यो के मूल्यो की प्राप्ति की सम्भाव्यता को बढाना है, आदि सम्मिलित है।

लासवेल की मान्यता है कि समाज बराबर बदलते रहते है, जिनका अर्थ यह होता है कि "प्रत्येक समाज प्रत्येक समय पर, सामाजिक परिवर्तन के सातत्य मे, एक मध्यान्तर की स्थिति मे होता है।" इस कारण विकासात्मक सातत्य को समझने के लिए हमे यह देखना होगा कि हम "कहा से" "किस ओर" बढ रहे हैं जिसका अर्थ वास्तव मे, भूतकाल मे होने वाली कुछ चुनी हुई घटनाओ को भविष्य मे होने वाली कुछ चुनी हुई घटनाओ से जोडना है।" 'विकासात्मक सरचनाओ" के सम्बन्ध मे, जिस पर उसका विकासात्मक विश्लेपण आधारित है, लासवेल की प्रमुख मान्यताए निम्नलिखित हैं :

(1) विकासात्मक विश्लेपण का सम्बन्ध विकास की 'अवस्थाओं' से नहीं है, उसका मुख्य उद्देश्य यह जानना है कि घटनाओ का सकेत किस दिशा मे है। "अवस्थाओ" की कल्पना इस विश्वास पर आधारित है कि घटनाओ के क्रम मे कुछ अन्तर्निहित मर्यादाए है और लासवेल यह मानने के लिए तैयार नही है। उसकी रुचि केवल 'कहा से' और 'किस ओर' के पारस्परिक सम्बन्धो के अध्ययन मे है।

(2) विकासात्मक विश्लेपण का तात्पर्य प्रवृत्ति-विश्लेषण से भी नही है। प्रवृत्ति, लासवेल के अनुसार, "सामाजिक परिवर्तन का कारण नही होती; वह उन कारको की तुलनात्मक शक्तियों का पजीकरण मात्र है जो उसे प्रेरित करती हैं।" प्रवृत्तियो के उतार-चढाव को भूतकाल की बहुत सी बातो को समझने के लिए ध्यान मे रखा जा सकता है, परन्तु उनका महत्त्व 'विकासात्मक सरचना' के सन्दर्भ मे ही आका जा सकता है। इसके विपरीत, विकासात्मक संरचना का आधार, "स्पष्टतः कल्पना पर है यद्यपि, कल्पना को अनुशासित करने के लिए भूतकाल का सावधानी से अध्ययन करना आवश्यक है।"

(3) विकासात्मक सरचनाए, सिद्धान्त पर नही, तथ्यों के अध्ययन पर निर्भर रहती है और, इस कारण, उनके आधार पर आनुभविक प्रतिमान बनाये जा सकते है, नये तथ्यों के प्रकाश मे जिनका परीक्षण किया जा सकता है।

(4) विकासात्मक विश्लेषण और सन्तुलन विश्लेषण मे अन्तर है। सन्तुलन विश्लेषण को, जिसके अन्तर्गत व्यवस्था के विभिन्न कारकों की अन्तःक्रियाओं का अध्ययन, व्यवस्था मे अनुरक्षण की प्रवृत्ति के दृष्टिकोण से, किया जाता है, लासवेल सर्वथा अनावश्यक नहीं मानता। लासवेल का मत है कि विकासात्मक विश्लेषण *सन्तुलन विश्लेषण से आगे तक जाता है, और लासवेल इस सम्बन्ध में स्पष्ट है कि* इन दोनो को एक दूसरे के साथ मिला नहीं देना चाहिए।

(5) विकासात्मक संरचनाओं का सम्बन्ध भविष्य से है और, यद्यपि उनका उपयोग भविष्य के सम्बन्ध मे अनुमान लगाने मे किया जाता है, वे भविष्यवाणियाँ नही है। भविष्यवाणी का आग्रह सम्भाव्यता पर है, और इस कारण उसका सम्बन्ध भूतकाल की उन परिस्थितियों के अध्ययन से है जिनके सम्बन्ध मे यह माना जा सकता हो कि भविष्य की घटनाओं को वे प्रभावित करेंगी। इसके विपरीत, लासवेल यह मानता है कि यह बिलकुल सम्भव है कि वे परिस्थितियां जो भूतकाल मे अत्यधिक प्रभावशाली रही है भविष्य में सर्वथा प्रभावहीन हो जायें और सर्वथा नये तथ्य अचानक सामने आ जायें। विकासात्मक संरचनाएं, इस प्रकार, "भविष्य के सम्बन्ध मे निर्णयों को परिष्कृत करने का एक साधन" और विश्लेषण की एक प्रविधि है।

विकासात्मक विश्लेषण और नीति-निर्माण

निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया को समझने की एक प्रणाली होने के कारण, लासवेल की दृष्टि मे विकासात्मक विश्लेषण का सम्बन्ध नीति-विज्ञान से बहुत निकट का है। *नीति का उद्देश्य कुछ निश्चित मूल्यों की प्राप्ति होने के कारण यह आवश्यक* हो जाता है कि शोधकर्ता उन मूल्यों के सम्बन्ध में, जिन्हें वह निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया के माध्यम से प्राप्त करना चाहता है, स्पष्ट हो। इस स्थान पर लासवेल किसी विशेष मूल्य की अधिक चर्चा नहीं करता, अन्य स्थानों पर उसने "मानव-प्रतिष्ठा" को केन्द्रीय मूल्य माना है—परन्तु, कुल मिला कर, वह यह मानता है कि राजनीति-विज्ञान के लक्ष्य-निर्धारण और नीति-निरूपण सम्बन्धी पक्ष, उसके प्रत्यक्षात्मक (positivistic) अथवा वैज्ञानिक, होने के नाते, अधिक महत्वपूर्ण है। वह तो यहां तक कहता है कि "अमरीका में मानव सम्बन्धों के बारे मे चिन्तन, उन्हें न्यायोचित और वैज्ञानिक ठहराने पर अनावश्यक रूप से जोर देता रहा है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि लक्ष्यों के स्पष्टीकरण और भावी विकास की सम्भाव्यताओं पर, जिसमे भावी नीतियों का आविष्कार विशेष रूप से आ जाता है, काफी जोर नहीं दिया जा सका है।"[33] लासवेल राजनीति-विज्ञान को मूलतः एक "नीति-विज्ञान" (policy science) मानता है—जिसमे "स्पष्ट उद्देश्यों के लिए ज्ञान का संग्रह किया जाता है और उसे उन विकल्पों के साथ पूर्ण रूप से जोड़ दिया जाता है जो इतिहास

[33] हेरल्ड डी॰ लासवेल, 'पॉवर एण्ड पर्सनैलिटी', पी॰ उ॰, पृ॰ 204।

की प्रकट होने वाली प्रक्रियाओ मे अधिक से अधिक सम्भाव्य है।"[33] नीति-विज्ञानों के आवश्यक कार्यों मे से एक कार्य "भूतकाल मे क्या प्रवृत्तिया थी और सामाजिक लक्ष्यों की दृष्टि से भविष्य मे वे किस ओर जा रही हैं, यह स्पष्ट करके उनकी दिशा को बदल देने की प्रक्रिया को सरल बनाना है।"[34] लासवेल ने इस सम्बन्ध मे प्रक्षेपी (projective) चिन्तन पर भी जोर दिया है—जिसका अर्थ यह है कि विभिन्न परिस्थितियो मे जो भी सम्भाव्यताए प्रकट होती जायें उनके प्रकाश मे नीतियों को लगातार बदला जा सके। विकासात्मक सरचनाओ, को उसने, लक्ष्य सम्बन्धी चिन्तन, प्रवृत्ति सम्बन्धी चिन्तन, वैज्ञानिक चिन्तन, प्रक्षेपी चिन्तन और सम्भाव्यता सम्बन्धी चिन्तन, इन पाच प्रकार के चिन्तनो का मिश्रण माना है। 'विकासात्मक संरचना' का समस्त आधार वर्तमान के सम्बन्ध मे इस धारणा पर है कि वह "भूतकाल मे स्थित घटनाओ के एक चुने हुए प्रतिरूप और भविष्य के सम्बन्ध मे एक ऐसे प्रतिरूप के बीच, जिसका हम आरोपण करना चाहते हैं, सक्रमण है," और इस प्रकार वह, "वर्तमान प्रवृत्तियो का शब्द-विस्तार मात्र" नही है, परन्तु "भविष्य मे होने वाली घटनाओ को एक अन्त क्रियात्मक समग्रता से सम्बद्ध करके उनका एक आलोचनात्मक मूल्याकन[35] है।" समाज को एक निश्चित, पूर्वापेक्षित दिशा मे बदलने के लिए इतिहास की घटनाओं को तोड-मरोड कर प्रस्तुत करने के एक प्रयत्न के अतिरिक्त इसे और क्या माना जा सकता है?

लासवेल ने व्यक्ति मे उन अभिवृत्तियो को विकसित करने पर जिन्हे उसने आत्म-प्रवणता (self-orientation) और आत्म-उद्दीपन (self-stimulation) का नाम दिया है, बहुत अधिक जोर दिया है। आत्म-उद्दीपन की आवश्यक्ता इस कारण होती है कि खोज की प्रक्रिया को "नीति की आवश्यकता से अधिक निकटता से सम्बद्ध" किया जा सके। लक्ष्यों के एक बार निर्धारित हो जाने पर नीति-निर्माता के लिए, "अपने आपको समकालीन प्रवृत्तियो और भावी सम्भाव्यताओ के प्रति अभिविन्यस्त करना आवश्यक हो जाता है"। इस दृष्टिकोण का उद्गम हम राजनीतिक मनोविज्ञान मे आरम्भ से ही चले आने वाली लासवेल की अभिरुचि, और राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन मे उसके द्वारा मनोरोग-विज्ञान की तकनीकों के प्रयोग, मे देख सक्ते हैं। नीति-निर्माता की तुलना लासवेल ने प्राय राजनीतिक चिकित्साशास्त्री से की है। लासवेल लिखता है कि चिकित्साशास्त्री "सदा ही भविष्य की ओर उन्मुख होता है, क्योकि वह रोगी के जीवन मे हस्तक्षेप का लक्ष्य चिकित्सा के सम्भाव्य परिणाम के अपने मूल्याकन को बनाता है . . ."[36] व्यवस्थित ज्ञान के सदा ही उपलब्ध न होने के

[33]वही।

[34]लासवेल, लर्नर और सोला पूल, 'कम्पेरेटिव स्टडी ऑफ सिम्बल्स,' पो० उ०, पृ० 74।

[35]हैरल्ड डी० लासवेल, 'दि वर्ल्ड रिवोल्यूशनरी सिच्युएशन,' कार्ल जे० फ्राइड्रिश द्वारा सम्पादित 'टोटेलिटेरियनिज्म' कैंब्रिज, हार्वर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1954 में, पृ० 360।

[36]हैरल्ड डी० लासवेल, 'इम्पैक्ट ऑफ साइको एनालिटिक थिंकिंग ऑन दी सोशल साइंसेज,' लियोनार्ड डी० व्हाइट द्वारा सम्पादित,—'दि स्टेट आफ दी सोशल साइंसेज,' शिकागो, शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस, 1956 मे, पृ० 114 पर।

कारण नीति-निर्माता को, चिकित्साशास्त्री के समान ही, जो भी सूचना उसे प्राप्त हो उस पर निर्भर रहना पड़ता है। इस कारण यह आवश्यक है कि वह समग्रता के सन्दर्भ में अपनी अन्तर्दृष्टि और समझबूझ का विकास करे। लासवेल ने सदा ही "ऐतिहासिक तथ्यों के संग्रह, और बीत जाने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में सुनिश्चिततापूर्ण प्रविधियों के प्रयोग के द्वारा भूतलक्षी प्रेक्षणों को अधिक से अधिक परिष्कृत बनाने" पर जोर दिया है। "विश्लेषणकर्ता, यह जानते हुए कि परिणाम की सफलता का आधार स्वचालित प्रक्षेपण उतना नहीं है जितना सर्जनात्मक अभिविन्यास, सदा ही तथ्यों और समग्राकृति के चिन्तन के बीच घूमता रहता है"[37] (यह पता लगाने के लिए कि समग्राकृति से ताल-मेल बिठाने के लिए तथ्यों का तोड़ना-मोड़ना कहाँ तक आवश्यक होगा?) लासवेल के द्वारा निर्धारित विकासात्मक रचनाओं में "सर्जनात्मक कल्पना" की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

लासवेल दो बातों के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट है: (1) राजनीतिक व्यवहार मूल्य-प्रवण अथवा लक्ष्य-खोजी है, और मूल्यों और लक्ष्यों का निर्धारण व्यवहार की उसी प्रक्रिया के अन्तर्गत, और उसी के द्वारा होता रहता है जिसका वे एक भाग हैं, और (2) राजनीतिक व्यवहार भविष्य की ओर उतना ही अभिविन्यस्त, और प्रत्याशी है जितना भूतकाल से सम्बन्धित और भूतलक्षी। लासवेल ने यद्यपि, आरम्भ से ही, प्राविधिक दृष्टि से, विश्लेषण के विकासात्मक और सन्तुलन प्रतिमानों में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की है, अपने इस प्रयत्न में वह सफल नहीं हो सका है। वह यह जानता है कि ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं: सन्तुलन प्रतिमानों का सम्बन्ध परिवर्तन की समस्या से बिलकुल नहीं है और विकासात्मक प्रतिमानों का सम्बन्ध परिवर्तन के स्वरूप की प्रारम्भिक और अन्तिम स्थितियों—'कहाँ से' और 'किस ओर' की समस्याओं से है, परन्तु बीच की स्थितियों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। लासवेल टैलकॉट पार्सन्स के इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं है कि परिवर्तन के विश्लेषण की तुलना में सन्तुलन का विश्लेषण अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह मानता है कि परिवर्तन की आकृतियों को पहचानने से पहले विकासात्मक अनुक्रम को समझना आवश्यक है, परन्तु, इस विषय की चर्चा को वह यहीं पर समाप्त कर देता है, केवल यह कह कर कि सन्तुलन विश्लेषण अपने आप में पर्याप्त नहीं है। इसके द्वारा जो तथ्य प्रकाश में लाये जाते हैं वे मूलतः स्थैतिक और अनिर्णयात्मक हैं। विकास के एक युग में यदि घटनाओं में एक स्थैतिक परिवर्तन आता है तो उससे यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि यह परिवर्तन कैसे आया, अथवा परिस्थितियाँ किस दिशा में आगे बढ़ रही हैं। इसी ठीक से समझने के लिए लासवेल सन्तुलन विश्लेषण के तथ्यों को विकासात्मक विश्लेषण के माध्यम से ग्रहण करना चाहता है, परन्तु यह कैसे किया जा सकता है इसके सम्बन्ध में वह स्वयं स्पष्ट नहीं है।

[37]हेरल्ड डी० लासवेल, 'वर्ल्ड पोलिटिक्स एण्ड पर्सनल इनसिक्यूरिटी,' पी० उ०, पृ० 17

लासवेल का राजनीतिक समाजशास्त्र

विकासात्मक विश्लेषण, जैसा पहले कहा जा चुका है, ऐतिहासिक अभिविन्यास पर आधारित है। लासवेल द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकतावादियो के इस दृष्टिकोण का तिरस्कार करते हुए कि उन्होंने ऐतिहासिक भविष्यवाणी के किसी अकाट्य नियम का पता लगा लिया है, लासवेल सम्भाव्य प्राक्कल्पनाओ, अथवा "विकासात्मक सरचनाओ", का उपयोग करता है। इतिहास की अपनी व्याख्या मे लासवेल काफी दूर तक मार्क्स के दृष्टिकोण से सहमत है। मार्क्स के समान वह मानता है कि फ्रास की राज्य-क्रान्ति लोकतान्त्रिक राष्ट्रवाद के प्रतीको के इर्द-गिर्द जनता के सगठित होने और सामन्तवाद से छुटकारा प्राप्त करने के उसके प्रयत्नो का परिणाम थी। *वह मार्क्स के* समान यह भी मानता है कि इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप उच्च मध्यम वर्ग का विकास एक नये अभिजन वर्ग के रूप मे हुआ और, मानव के अधिकारो के नाम पर, एक ऐसे कुबेरतन्त्र ने शक्ति अपने हाथ मे ले ली जिसके पास चातुर्य और सौदेबाजी की क्षमता थी। इसके फलस्वरूप व्यापार और उद्योग का विकास हुआ, और कृषक वर्ग स्वय जमीन का मालिक बना। जबकि फ्रास की सेनाए स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के नारे लगाती हुई सारे यूरोप मे फैल गयी थी, उनका नेतृत्व करने वाले मध्यम वर्ग का वास्तविक स्वार्थ, पूजीवाद, राष्ट्रवाद और *जनतन्त्र की शक्तियो को मजबूत बनाना* था। पर, 1917 की रूस की क्रान्ति के सम्बन्ध मे लासवेल मार्क्सवादियों की व्याख्या से सहमत नही है। वह इस सीमा तक तो उनसे सहमत है कि यह उस सम्पत्ति-व्यवस्था के विरुद्ध थी जिस पर लोकतान्त्रिक राष्ट्रवाद का प्रभाव पड़ा था, परन्तु वह यह मानने के लिए तैयार नही है कि इसे किसी भी दृष्टि से सर्वहारा की क्रान्ति का नाम दिया जा सकता है। रूस मे क्रान्ति के *फलस्वरूप शक्ति, मजदूरो और कृषको के हाथ मे नहीं,* "मध्यम आय वाले कुशलता-सम्पन्न वर्ग" (middle income skill group) के हाथ मे आयी।

लासवेल ने ऐतिहासिक शक्तियो की गतिविधियों के अपने अध्ययन से जो, स्पष्टतः अपर्याप्त था, दो साहसपूर्ण परिणाम निकाले. (1) निम्न मध्यम वर्ग, अथवा 'मध्यम आय वाले कुशलता-सम्पन्न' वर्ग, का उत्थान एक ऐसा विश्वव्यापी आन्दोलन है, रूसी क्रान्ति जिसका केवल एक अग थी। लासवेल मानता है कि इटली में फासिस्ट क्रान्ति और *जर्मनी मे नात्सी क्रान्ति, जो वास्तव मे प्रति-क्रान्तिया थी, उसी "मूल* प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व कर रही थी जिसके द्वारा सभी देशो मे शक्ति निम्न मध्यम-वर्ग के हाथो मे जा रही थी"। वह अमरीका के 'न्यू डील' वाद को भी इसी मूल प्रक्रिया का एक अग मानता है। उसका कहना है कि कुलीनतन्त्र और कुबेरतन्त्र के स्थान पर सभी देशो मे निम्न मध्यम वर्ग के लोग, न कि मजदूर और किसान, आगे आ रहे है। लासवेल यह भी मानता है कि *मध्यम आय वाले कुशलता सम्पन्न वर्ग के* उत्थान के साथ बुद्धिजीवियो के हाथों मे भी, जिन्होंने कुलीनतन्त्र व कुबेरतन्त्र के विरुद्ध *श्रमिकों का साथ दिया था,* शक्ति आयी है। (2) लासवेल यह भी मानता है कि मध्यम वर्ग के इस कुशलता-प्राप्त समूह को, जिसमे अभियन्ता सरकारी अधिकारी

और अन्य व्यक्ति आ जाते हैं, और जो सर्वहारा वर्ग से इस दृष्टि से भिन्न है कि वह एक उच्च शिक्षा प्राप्त वर्ग है, यह समझना चाहिए कि यह उसका नैतिक कर्तव्य है कि वह "अपनी गतिविधियों के चिन्तनात्मक और आलोचनात्मक महत्त्व को समझे और अपने ऐतिहासिक दायित्व के विश्वव्यापी स्वरूप को पहचाने।" यदि यह बुद्धिजीवी वर्ग संगठित हो जाता है, और अपने ऐतिहासिक उद्देश्य को समझ लेता है तो जिस वर्ग युद्ध की कल्पना कट्टर मार्क्सवादियों के द्वारा की गयी थी वह अनावश्यक हो जायेगा। परन्तु, लासवेल प्रभावशाली प्रचार के अतिरिक्त, किसी भी ऐसी युक्ति का सुझाव नहीं देता जिसके द्वारा इस दिव्य आदर्श की प्राप्ति की जा सके, न वह इस सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट ही दिखायी देता है कि इस आदर्श का वास्तविक स्वरूप क्या होगा। बड़े अस्पष्ट शब्दों में यह कहता है कि "जो समाज मानव स्वतन्त्रता को प्राप्त करना चाहते हैं उनका अन्तिम लक्ष्य शक्ति से छुटकारा पा लेना और स्वतन्त्र मनुष्यों के एक ऐसे राष्ट्रसंघ का निर्माण करना है जिसमें बल प्रयोग की न तो धमकी दी जाती हो, न उसे क्रियान्वित किया जाता हो, और न उसकी इच्छा ही की जाती हो।" इसके साथ ही वह यह भी मानता है कि यह सम्भाव्यता कि शक्ति का सर्वथा लोप हो सकता है, इस युग में, बहुत दूर की बात दिखायी देती है। आज का सबसे महत्त्वपूर्ण काम शक्ति को संयमित रूप देना और उसे सम्मान के अधीन रख देना है"।[38] यह कैसे सम्भव हो, इसके लिए लासवेल ने मनोवैज्ञानिक प्रविधियों के उपयोग का सुझाव दिया है।

लासवेल का राजनीतिक मनोविज्ञान

लासवेल मार्क्सवाद की अत्यधिक लोकप्रियता से पूर्ण रूप से परिचित है। वह आर्थिक कारकों के महत्त्व को स्वीकार करता है। वह लिखता है, "आर्थिक स्थितियों में परिवर्तन होने के कारण श्रम के विभाजन का स्वरूप बदल जाता है, बहुत से व्यक्तियों का ध्यान दूसरी ओर हट जाता है और, इस प्रकार, उनके अहम् (egos) में तेजी के साथ परिवर्तन होते हैं और ये परिवर्तन आगे जाकर परा अहम् (super-ego) और इदम् (id) के आर्थिक सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं।"[39] उसने मार्क्सवाद के प्रभाव का मनोवैज्ञानिक भाषा में विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है—पराअहम्, अहम् और इदम्, इन शब्दों को ज्यों का त्यों फ्रॉयड से ले लिया गया है। फ्रॉयड से लिये गये इन संवर्गों के आधार पर लासवेल ने मार्क्सवादी विचारधारा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है और यह समझने का प्रयत्न किया है कि मार्क्सवाद किस प्रकार अपनी क्रान्तिकारी

[38]हैरल्ड डी० लासवेल 'पॉवर एण्ड पर्सनैलिटी,' पो० उ०, पृ० 110।

[39]फ्रॉयड ने ही सबसे पहले यह प्रतिपादित किया था कि मनुष्य के व्यक्तित्व में तीन तत्त्व होते हैं—परा अहम्, अहम् और इदम्। परा अहम् "सामाजिकता से प्राप्त अवरोधों' का परिणाम है और वह अन्तरात्मा, अथवा शिष्टाचार, का रूप ले लेता है, अहम् "यथार्थता के परीक्षण" से उत्पन्न होता है और वह विवेक अथवा गम्भीरता का रूप लेता है, और इदम् उन "अविवेक उद्वेगों" का एक समुच्चय है जो आवेगों अथवा प्रति-शोधकारों में अपनी अभिव्यक्ति पाते हैं।

मांगों और विश्वव्यापी दावों के आधार पर एक शक्तिशाली विरोधक प्रतीक बन सका। लासवेल के अनुसार, "मार्क्सवाद का आकर्षण मानव व्यक्तित्व के तीनों स्तरों पर है। पराअहम् के स्तर पर, स्थापित प्राधिकार के प्रतीकों और व्यवहारों पर आक्रमण के माध्यम से, यह लोकाचार अथवा सामाजिक परम्परा से प्राप्त प्रावरोधों (inhibitations) को, जो प्राग् पूंजीवादी अथवा पूंजीवादी समाजों से चले आ रहे हैं, एक चुनौती प्रस्तुत करता है; अहम् के स्तर पर, लोकाचारों पर किये जाने वाले आक्रमण के साथ उसने इतिहास और सामाजिक परिवर्तन के एक व्यापक सिद्धान्त का विकास किया है जो मनुष्य के विवेक को जागृत करता है, इदम् के स्तर पर, यह पूंजीवादी समाज को अनैतिक, अमानवीय और अन्यायपूर्ण ठहरा कर मानव व्यक्तित्व के गहनतम आवेगों को उद्वेलित करता है। उसकी वैज्ञानिकता और वस्तुनिष्ठता, जिसका मार्क्सवाद दावा करता है और भविष्य में कभी स्थापित होने वाले वर्गहीन समाज की अस्पष्टता व्यक्ति की गहरी आकांक्षाओं को सन्तुष्ट करती है और वह बचपन के उस सुखद समय के फिर से लौट आने के स्वप्न देखने लगता है जब वह स्वयं विश्व का केन्द्र था . . .।" लासवेल की दृष्टि में मार्क्स की एक बड़ी गलती यह थी कि वह सामाजिक प्रक्रिया में मानव की भूमिका को ठीक से समझ नहीं सका। यदि मार्क्स और उसके अनुयायियों ने उसे ठीक से समझा होता तो वे इतने निश्चित ढंग से वह दावा नहीं कर सकते थे जो उन्होंने किया कि जिस क्रान्ति की वे भविष्यवाणी कर रहे थे, वह वास्तव में अनिवार्य, अथवा सन्निकट थी।[40]

फ्रॉयड की दृष्टि से मार्क्स को देखने के लासवेल के इस प्रयत्न में सबसे बड़ी बाधा स्वयं फ्रॉयड सिद्ध हुआ है। फ्रॉयड ने अपनी रचनाओं में बार-बार इस बात पर सन्देह प्रकट किया है कि निदानात्मक प्रणाली और व्यक्तियों के उपचार पर आधारित मनोवैज्ञानिक संकल्पनाओं को सामाजिक समस्याओं के विश्लेषण में उपयोग में लाया जा सकता है। उसकी यह मान्यता थी कि "संकल्पनाओं को उस क्षेत्र से, जहां उनका उद्गम और विकास हुआ था, खींच कर बाहर निकाल लेना, और किसी अन्य क्षेत्र में प्रयोग में लाना, न केवल मनुष्य के लिए, परन्तु उन संकल्पनाओं के लिए भी, खतरनाक था।"[41] लासवेल ने ठीक वही प्रयत्न किया है जिसकी सफलता के सम्बन्ध में फ्रॉयड ने सन्देह व्यक्त किया था। फ्रॉयड यह तो मानता है कि समुदाय का भी अपना एक परा अहम् हो सकता है, जो व्यक्तियों के सांस्कृतिक विकास को एक सीमा तक प्रभावित कर सकता है, परन्तु इस सम्बन्ध में वह आश्वस्त है कि यह परा अहम् कभी इतना शक्तिशाली नहीं हो सकता कि वह "मानव में एक दूसरे के प्रति अन्तर्निहित आक्रामक प्रवृत्ति" पर विजय प्राप्त कर सके। अपने पड़ोसी से उतना ही प्रेम करो जितना तुम अपने से करते हो, इस प्रकार के किसी भी धार्मिक आदेश को व्यवहार में लाने का प्रयत्न सदा ही असफल होता है। आक्रामक और विनाशात्मक प्रवृत्तियां सदा ही अधिक शक्तिशाली

[40]हेरल्ड डी० लासवेल, 'दि एनालिसिस ऑफ पोलिटिकल बिहेवियर,' पी० ७०।
[41]सिग्मण्ड फ्रॉयड, 'सिविलिजेशन एण्ड इट्स डिसकन्टेंट्स,' हल्लाइ और ९०, पृ० 103-4।

सिद्ध होती हैं। लासवेल मार्क्सवादी राजनीतिक सिद्धान्त के अपने विश्लेषण में मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को लाने के लिए इतना आतुर है—शायद यह दिखाने के लिए कि मार्क्स का सिद्धान्त कहां गलती पर था कि उसे यह कहने में भी संकोच नहीं है कि फ्रॉयड का यह विश्वास कि मनुष्यों की आक्रामक प्रवृत्तियों का समाजीकरण असम्भव था सर्वथा गलत था। वह लिखता है, "यद्यपि मनुष्य की नैसर्गिक प्रकृति सिद्धान्त रूप में असामाजिक, और कुछ महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में समाज-विरोधी, है, मनुष्य काफी अधिक मात्रा में अपनी विनाशात्मक प्रवृत्तियों का समाजीकरण करने की क्षमता रखता है।"[44] परन्तु इस दृष्टिकोण के समर्थन में लासवेल ने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं वे विवेक पर आधारित नहीं हैं। समाजशास्त्रियों और कुछ फ्रॉयड के बाद के मनोवैज्ञानिकों—जिनमें वह हैरी-स्टेक, सलीवान और जॉर्ज हर्बर्ट मीड का उल्लेख करता है—के आधार पर लासवेल ने 'आत्म-व्यवस्था" (self-system) की संकल्पना का विकास किया है, जो, उसके अनुसार, प्रतिमानों के तीन मुख्य समुच्चयों का मिश्रण है।" तादात्म्य, मांगें, और अपेक्षायें।" 'तादात्म्य' स्थापित कर पाने की अपनी क्षमता के द्वारा मनुष्य (किसी न किसी प्रकार) अपनी आत्म-व्यवस्था को कुटुम्ब, मित्र, पड़ौसी, राष्ट्र आदि जैसे गौण प्रतीकों के साथ जोड़ सकता है और वे इस (अस्पष्ट और अनभिज्ञात) सम्बन्ध के द्वारा इस प्रकार के गौण प्रतीकों से "सम्पूर्ण आत्म-व्यवस्था का एक अंग" बन जाते हैं। लासवेल ने यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं समझी कि अहमवादी व्यक्तित्व से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेने की यह प्रक्रिया, जिसकी तुलना ह्वाइटहैड ने मकड़ी के जाले के ताने-बाने से की है, क्रियान्वित कैसे होती है, अथवा "तादात्म्य की इस प्रक्रिया के द्वारा प्रतिद्वन्द्वी साम्राज्यवादी आत्म-व्यवस्थाओं का समाजीकरण कैसे हो पाता है।

लासवेल के लिए मार्क्सवादी उपागम में मनोवैज्ञानिक कारकों को जोड़ने के अपने प्रयत्न को छोड़ देना सम्भव नहीं था (क्योंकि उसी के द्वारा वह यह सिद्ध कर सकता था कि मार्क्स का दृष्टिकोण कहां गलत था)। इसके बाद वह मानव व्यवहार में अन्तर्निहित व्यक्तिगत आवेगों से अपना ध्यान हटा कर उन मूल्यों पर उसे केन्द्रित करता है जिनकी दिशा में इस व्यवहार का झुकाव है। मनुष्य मूल्यों को प्राप्त करने के लिए आतुर रहता है। मनुष्य जिन मूल्यों की निरन्तर खोज में है वे हैं—सम्मान, सम्पत्ति और सुरक्षा। लॉक के दिये हुए मूल्यों के संवर्गों में आदर अथवा सम्मान का मूल्य जोड़ देने से, जो कि हॉब्स के गौरव अथवा प्रसिद्धि का समानान्तर है, यह स्पष्ट हो जाता है कि लासवेल राजनीतिक व्यक्ति को लॉक के दृष्टिकोण से उतना नहीं देखता जितना हॉब्स के दृष्टिकोण से। आदर अथवा सम्मान के अपने वर्गीकरण में वह 'विनम्रता' (rectitude) को भी ले आता है जो ऊपर से देखने से तो नैतिकता, ईमानदारी, भलमनसाहत अथवा नीतिपरायणता से मिलता-जुलता गुण दिखायी देती

[44]हैरल्ड डी० लासवेल, "कोन्ट्रिक्ट," 'सोशल सनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसिज,' खण्ड 4, पृ० 195।

है, परन्तु लासवेल उसके तुरन्त बाद ही, "नैतिकता के मूल्य" और विनम्रता (अथवा विनम्रता के लिए प्रसिद्धि) को "शक्ति के आधार" के रूप मे चर्चा करता है। गहराई मे जाने पर यह धारणा बनती है कि "विनम्रता वास्तव में राजनीतिक व्यक्ति के पाखण्ड के व्यवहार के अतिरिक्त और कुछ नही है, जिसकी आड मे वह सामाजिक आदर्शों से सहमति प्रकट करते हुए, अपनी आक्रामकता को छिपाना चाहता है। "सिद्धान्त रूप मे अपने साथियो के प्रति मन मे तनिक भी प्रेम न रखते हुए भी उनके लिए अपनी घृणा की भावना को छिपाना, अथवा सामूहिक निष्ठाओ के प्रति आदर भाव प्रगट करना, उसके लिए आवश्यक हो जाता है।"[43] दूसरे शब्दो मे, क्योकि समाज "व्यक्ति के साहसपूर्ण, स्पष्टवादी और आक्रामक व्यवहार" को सहन करने के लिए तैयार नही है, व्यक्ति को उस समाज के प्रति, जिसमे वह रहता है, निष्ठा की (थोथी) भावनाएं प्रदर्शित करनी पडती हैं। व्यक्ति के लिए विनम्रता की उपयोगिता इस प्रकार, अपने लिये आक्रामक व्यवहार" की सुविधा प्राप्त करने मे है। हॉविट्ज के शब्दो मे, विनम्रता किसी भी समाज मे जिनके हाथो मे सत्ता है उनकी तात्कालिक अपेक्षाओ के साथ अपने आपको सफलता से समायोजित कर लेने से न तो कुछ अधिक है और न कुछ कम।"[44] एक होशियार आदमी अपने को किसी भी ऐसे आदर्श के अनुरूप ढाल सकता है जिसे कोई विशेष समाज 'ठीक' मानता हो और इस दृष्टि से कुछ व्यक्तियो के लिए जो जीवन मे आगे बढ़ना चाहते हैं अनैतिक कामो का समर्थन भी आर्जव व विनम्रता मे, अथवा ऐसे कामो मे जो करणीय हैं, गिना जा सकता है, क्योकि उसके द्वारा व्यक्ति अपने स्वार्थी उद्देश्यो को पूरा कर सकता है, यह जानते हुए भी कि उसका यह काम केवल मिथ्याचार है।

इस प्रकार का तर्क हमे कहा ले जायेगा ? लासवेल ने राजनीतिशास्त्री के रूप मे अपने जीवन के आरम्भ मे ही यह समझ लिया था कि मनुष्य के राजनीतिक व्यक्तित्व का पूरी तरह से अध्ययन किया जाना चाहिए। वह यह जानना चाहता था कि "आन्दोलनकर्ताओ, प्रशासको, सिद्धान्तवादियो और इसी प्रकार के दूसरे व्यक्तियो" का, जो सार्वजनिक जीवन मे प्रमुख भाग लेते हैं, मनोविज्ञान क्या था, और अपने इस अध्ययन के द्वारा उसका उद्देश्य इस बात का पता लगाने का था कि उनके जीवन की गाथाओ की गहरी जाच-पडताल से सम्पूर्ण सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के सम्बन्ध मे हमारी जानकारी कहा तक बढती है।[45] वह यह मानता है कि "शुद्ध" राजनीतिक प्राणी, "जो साहस और स्पष्टता के साथ अपने व्यक्तित्व के आक्रामक पक्ष को सदा ही आगे रखता है," बहुत दुर्लभ है। वह यह भी जानता है कि "शक्ति के तात्कालिक संघर्ष मे अपचारी व्यक्तियो का एक दल अपचारी व्यक्तियो के दूसरे दल से, और एक अपचारी व्यक्ति दूसरे अपचारी व्यक्ति से, जूझता रहता है, और शक्ति के

[43] हैरल्ड डी० लासवेल, 'साइकोपैथोलौजी एण्ड पौलिटिक्स,' पी० उ०, पृ० 50।
[44] रॉबर्ट हॉविट्ज, पी० उ०, पृ० 261।
[45] हैरल्ड डी० लासवेल, 'साइकोपैथोलौजी एण्ड पौलिटिक्स,' पी० उ०, पृ० 8-9।

सन्तुलन का पलड़ा, अन्त मे, उसी के पक्ष मे झुकता है।" उन मनोविकार-ग्रस्त व्यक्तियो के समर्थन के कारण जिन्हे यह अपचारी व्यक्ति डरा-धमका कर अपना नेता मानने के लिए विवश कर देता है उसी के पक्ष मे झुकता है। उसके अध्ययन के पीछे यह मान्यता थी कि व्यक्ति का प्रमुख उद्देश्य शक्ति की खोज है, और शक्ति का आधार व्यक्ति की 'अपने मूल्यो को दूसरों पर स्थायी रूप से, अथवा कुछ समय के लिए, लाद देने की क्षमता, अथवा प्रायः इच्छाशक्ति, है।'[44]

दूसरो के व्यक्तित्व पर हावी होने, और उसे अपनी इच्छा के अनुसार मोड़ने की यह अन्त.प्रेरणा जीवन के सभी क्षेत्रो—विज्ञान, अर्थशास्त्र, कला, सामान्य जीवन और धर्म मे पायी जाती है परन्तु यह अपने सबसे गहन और विनाशात्मक रूप मे राजनीतिक क्षेत्र मे प्रकट होती है। 'शुद्ध' आन्दोलनकारियो, जिसमे वह पुराने टेस्टामेन्ट के पैगम्बरों को लेता है, अथवा मार्क्स जैसे, 'शुद्ध' सिद्धान्तवादियो, अथवा हर्बर्ट हूवर जैसे 'शुद्ध' प्रशासको का यह समझना कठिन है कि उस ने किस आधार पर इन व्यक्तियो को 'शुद्ध' सवर्गो मे रखा है और हॉब्स जैसे मिश्रित चरित्रों का अध्ययन जो "सिद्धान्तवादी भी था और आन्दोलनकारी पर्चेबाज भी," लासवेल का अध्ययन हमे इस निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि राजनीतिक नेता "परले सिरे के पैदायशी बदमाश" हैं। स्पेंगलर के समान, वह मानता है कि मनुष्य की अन्त.प्रेरणा का आधार (जो उसमे "बचपन से ही अपने कौटुम्बिक सन्दर्भों और प्रारम्भिक आदि मनोवैज्ञानिक संरचनाओ के आधार पर पोषित और विकसित होती है" परन्तु "शैशव और बचपन की अवस्थाओ के बाद भी वर्षों तक चलती रहती है") घृणा की भावना है, जिसकी जड़ें उस पर किये गये प्राधिकार के प्रयोग मे देखी जा सकती हैं, बाद मे जाकर कौटुम्बिक वस्तुओ के प्रति उसकी घृणा सार्वजनिक वस्तुओं के प्रति घृणा का रूप ले लेती है—पिता अथवा माता के स्थान पर शासकों और पूंजीवादियों से वह घृणा करने लगता है, और धीरे-धीरे अपनी इस घृणा को सार्वजनिक हितो की दृष्टि से न्यायोचित मानने लगता है। मनुष्य मे दूसरो के उद्देश्यो को नियन्त्रित करने की एक सतत् इच्छा होती है; उसे पूरा करने के उसके साधन हिंसा से लेकर खुशामद तक हो सकते हैं, और उसे अपने इस प्रयत्न मे सफलता तब मिलती है जब वह सार्वजनिक जीवन मे गण्यमान्य माना जाने लगता है।

सक्षेप मे, राजनीति उन व्यक्तियों का खेल है जिन्हे अपने प्रारम्भिक जीवन मे बहुत अधिक वस्तुओ से 'वचित' रहना पड़ा है और जो इस कारण बदमाश बन गये हैं और अब अपनी आक्रामक गतिविधियों को सार्वजनिक सेवा के आवरण मे छिपाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसमे ध्यान देने योग्य बात यह है कि लासवेल ने राजनीति मे भाग लेने वाले जितने भी व्यक्तियो का अध्ययन किया है—वे आन्दोलनकारी हों, सिद्धान्तवादी अथवा प्रशासक वे सब मनोविकारों से ग्रस्त व्यक्ति हैं। चरित्र की दृष्टि से वे सब अपरिपक्व व्यक्ति हैं। उनमे से एक का दिमाग भी सही नही है। राजनीति का निर्माण

[44]वही, पृ० 50।

इन्हीं व्यक्तियों के द्वारा होता है। किसी राजनीतिक व्यक्ति में अराजकतावादी अभिवृत्ति बचपन में उसी अपने पिता से घृणा का परिणाम हो सकती है, और दूसरे की समाजवाद में आस्था उसकी अपने भाई से घृणा के कारण। यह सोच पाना कठिन है कि ऐसे व्यक्तियों के अध्ययन से समस्त सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का हमारा ज्ञान कैसे बढ़ सकता है। लासवेल का कहना है कि मार्क्सवाद के आकर्षण को एक रोगी समाज के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है जो राजनीतिक नेताओं के रूप में मनोविकारग्रस्त व्यक्तियों को सामने लाता है। एक सच्ची लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्तियों का होना आवश्यक है—ऐसे व्यक्तियों का जो आत्मनिर्भर हों, दूसरों से किसी बात की अपेक्षा न करें और इस कारण वास्तविक अर्थ में मुक्त हों। लासवेल की समस्या कुछ व्यक्तियों को मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य प्रदान करना नहीं है, वह तो एक नये मानव और नये समाज का निर्माण करना चाहता है।

लासवेल के अनुसार, वर्तमान सामाजिक संरचना में जिसका आधार ही बचन पर है, स्वस्थ व्यक्तियों का विकास सम्भव नहीं है। एक ऐसे नये समाज का निर्माण और उसका अनुरक्षण उनकी दृष्टि में आवश्यक है जिसमें सम्बन्धों का आधार विनाशात्मक शक्ति पर न हो। "एक स्वतन्त्र मनुष्य का राष्ट्रसंघ जिसमें बल-प्रयोग की न धमकी दी जाती हो, न उसे व्यवहार में लाया जाता हो, और न उसकी इच्छा की जाती हो।"[47] लासवेल का आदर्श है इस आदर्श की प्राप्ति वाद-विवाद की राजनीति से नहीं, जैसा आजकल की लोकतान्त्रिक व्यवस्था में होता है, निवारण की राजनीति को प्रोत्साहन देकर ही हो सकती है। लासवेल लिखता है, "राजनीति की समस्या संघर्षों का समाधान करने की उतनी नहीं है जितना उनको उठने ही न देने की। उसका काम सामाजिक विरोध के लिए सुरक्षा द्वारा (safety volves) की व्यवस्था करना उतना नहीं है जितना समाज में बार-बार उठ खड़े होने वाले तनावों को दूर करने में सामाजिक ऊर्जा का उपयोग करना।"[48] वाद-विवाद की राजनीति बार-बार उठ खड़े होने वाले संघर्षों को जन्म देती है। निवारण की राजनीति का उद्देश्य "समाज के तनाव के स्तर में निश्चित रूप से कमी करके संघर्ष को दूर करना" होना चाहिए।[49] लासवेल "निवारक राजनीति" अथवा सामाजिक मनोरोग-विज्ञान की संकल्पना को अपने सामाजिक मनोविज्ञान विश्लेषण की "परिणति" मानता है, और ऐसे "मूलतः समतावादी समाजों" के निर्माण का आह्वान करता है "जिनमें शक्ति का प्रयोग निम्नतम हो" यह जानते हुए भी कि "हमारे जमाने में शक्ति के प्रयोग को सर्वथा मिटा देने की सम्भाव्यता बहुत दूर की बात है," वह मानता है कि शक्ति के उन्मूलन को हम अपना अन्तिम लक्ष्य तो बना ही सकते हैं। उसकी दृष्टि में, मार्क्स का यह सोचना गलत था

[47] हेरल्ड डी॰ लासवेल 'पॉवर एण्ड पर्सनैलिटी,' पी॰ उ॰, पृ॰ 110।
[48] हेरल्ड डी॰ लासवेल, 'साइकोपैथोलोजी एण्ड पॉलिटिक्स,' पी॰ उ॰, पृ॰ 196-97।
[49] वही, पृ॰ 203।

कि इतना महान परिवर्तन वर्ग-संघर्ष के माध्यम से और केवल राजनीतिक उपायों के द्वारा लाया जा सकता था। यह काम तो केवल मनोवैज्ञानिक उपायों, अथवा मनुष्य के मानस को बदलने के प्रयत्न के द्वारा ही किया जा सकता है।

लासवेल का राजनीतिक दर्शन

एक आनुभविक राजनीतिशास्त्री के रूप में, अपने जीवन के आरम्भ में ही लासवेल ने राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर 'वंचितों' की समस्याओं पर सोचना आरम्भ कर दिया था। 1924 में अमरीका में मजदूर वर्ग की स्थिति से वह विचलित हुआ था और तभी से वह किसी ऐसी बुद्धिमत्तापूर्ण सामुदायिक नीति की तलाश में था जिसके द्वारा (मजदूरों और मालिकों के संघर्ष के कारण) सम्भाव्य संकट का पहले से अनुमान लगाया जा सके और, यदि सम्भव हो तो, उसे उसकी परिणति तक पहुंचने से रोका जा सके।[50] उसने अपने इस विचार का जोरों के साथ प्रतिपादन किया था कि विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में होने वाले नये विकास के लाभ मानव कल्याण के क्षेत्र में भी उपलब्ध होने चाहिए। उसने लिखा, "अपनी वर्तमान व्यवस्था में हम क्या बदलें और क्या सुरक्षित रखें, इन जटिल समस्याओं को सुलझाने के प्रयत्न में हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि कारखाना इन्सान के लिए है न कि इन्सान कारखाने के लिए।"[51] वह मानता है कि असमानता की बुराइयां मजदूर वर्ग के द्वारा किसी क्रान्तिकारी आन्दोलन के द्वारा नहीं, सबके लिए न्यूनतम अवसर की समानता उपलब्ध कराने के उद्देश्य से लगाये गये सामाजिक नियन्त्रणों के द्वारा ही, मिटायी जा सकती हैं। इस सम्बन्ध में उसने प्रगतिशील कर-व्यवस्था, अथवा औद्योगिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्तियों पर अधिक कर लगाने, आदि की चर्चा की है। 'सम्पन्नों' के विरुद्ध 'वंचितों' को सहायता देने के उद्देश्य से की जाने वाली राज्य की गतिविधियों में उसकी गहरी आस्था है।

लासवेल मानता है कि इसी प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी, सम्पन्न राज्यों को, जो गरीब राज्यों को कर्ज देते हैं, उन पर दबाव डालने से रोकने के लिए आवश्यक कदम उठाये जाने चाहिए। वह मानता है कि गरीब राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय सहायता देने के लिए नये बनाये जाने चाहिए। परन्तु चाहे घरेलू क्षेत्र में मजदूर वर्ग को सहायता देने का प्रश्न हो अथवा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गरीब राष्ट्रों को, लासवेल यह मानता है कि मदद देने का कार्य ऊपर से किया जाना चाहिए न कि नीचे से। उदाहरण के लिए, गरीब राष्ट्रों की मदद देने के मामले में उसका कहना था कि "पहले यह निश्चय हो जाना चाहिए कि ऋण लेने वाला राज्य क्या वास्तव में जनता का इतनी समुचित मात्रा में प्रतिनिधित्व करता है कि उसे सहायता देना न्यायोचित ठहराया जा सके, और साथ ही कर्ज देने की एक निश्चित शर्त यह होनी चाहिए कि उसका उपयोग विकास की

[50] एटकिन्स और लासवेल, 'लेबर एटीट्यूड्स एण्ड प्रोब्लेम्स,' पी० उ०, पृ० 503।
[51] वही, पृ० 6।

ऐसी योजनाओ के लिए किया जायेगा जो व्यापक रूप से सामाजिक लाभ पहुचाने वाली हो।"[52] लासवेल, इस प्रकार, यह मानता है कि कमजोर वर्ग की सहायता के उद्देश्य से प्रभावशाली राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक अभिजन वर्ग के द्वारा समुचित मात्रा मे सामाजिक नियन्त्रणो का प्रयोग होना चाहिए। राजनीतिक दर्शन से किसी प्रकार का सरोकार न रखने का दावा करते हुए, बल्कि उसके प्रति तिरस्कार की भावना का प्रदर्शन करते हुए, लासवेल स्पष्ट शब्दो मे कहीं भी यह नहीं कहता कि इस सामाजिक नियन्त्रण का उद्देश्य क्या हो। यद्यपि उसकी व्यक्तिगत अधिमान्यताए उसकी समस्त रचनाओं मे झलकती हुई दिखायी देती हैं, लासवेल को गरीब व्यक्तियो अथवा राष्ट्रो की उतनी चिन्ता नही है जितनी इस सार्वजनिक नियन्त्रण के प्रयोग की।

लासवेल उस उदारवाद का, जिसे वह 'प्राचीन उदारवाद' (older liberalism) कहता है, बड़ा आलोचक है। उसकी असफलता का कारण, उसकी दृष्टि मे अपने उद्देश्यो के सम्बन्ध मे उसकी अस्पष्टता उतना नही था जितना प्रत्यक्ष सरकारी कार्यवाही की आवश्यकता को समझने की उसकी असमर्थता। व्यापार के नियन्त्रणो को हटा लेना, उद्योगो को मुक्त छोड़ देना और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों मे हस्तक्षेप न करना—इन नीतियो के परिणामस्वरूप, जो उसकी दृष्टि मे पुराने, 'नकारात्मक' उदारवाद के साथ जुड़ी हुई थी, घरेलू क्षेत्र मे आर्थिक मन्दी और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे युद्धों मे वृद्धि हुई थी। वह मानता है कि आवश्यक स्तरो पर सामाजिक नियन्त्रण के द्वारा इन दोनों को रोका जा सकता था। लासवेल रूढ़िवादी लोकतान्त्रिक सिद्धान्त का भी उतना ही बड़ा आलोचक था जितना पुराने उदारवाद का। उसका विचार था कि बीसवी शताब्दी की महत्वपूर्ण समस्याए परम्परागत लोकतान्त्रिक व्यवहारो और संस्थाओ के द्वारा नहीं सुलझायी जा सकती थी। उसके लिए एक नये दृष्टिकोण की आवश्यकता थी। लासवेल जनमत और *जन समूह के कार्यों को, जिन पर रूढ़िवादी लोकतान्त्रिक सिद्धान्त* का आधार रखा गया था, घृणा की दृष्टि से देखता है, और सामान्य जनता अथवा सामान्य व्यक्ति को नीति-निर्माण के सन्दर्भ मे बुद्धिमानी और न्याय के साथ अपना निर्णय देने की दृष्टि से सर्वथा अयोग्य मानता है। वह वाल्टर लिपमैन के निम्न वाक्यों को, अपने समर्थन के साथ उद्धृत करता है, "एक सर्वज्ञ, प्रभुता-सम्पन्न नागरिक का आदर्श, मेरी दृष्टि मे एक झूठा आदर्श है। उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसकी खोज गुमराह करने वाली है। उसे प्राप्त करने मे असफलता ही आज की निराशा का मुख्य कारण है।"[53] जनसाधारण के लिए लिपमैन के इस विवरण को उचित ठहराते हुए कि वह "अस्थिर, दिखावटी और अज्ञानी" होता है, वह इस पर अपना आश्चर्य व्यक्त करता है कि लिपमैन ने "इस निःसत्व व्यक्ति से यह अपेक्षा करने की कि यह

[52]हेरल्ड डी० लासवेल 'पोलिटिकल पॉलिसीज एण्ड दी इन्टर्नेशनल इन्वेस्टमैन्ट मार्केट," 'जरनल ऑफ पोलिटिकल इकॉनोमी,' जून 1923 मे पृ० 394-99।

[53]वॉल्टर लिपमैन, 'दि फैन्टम पब्लिक, अमेरिकन जरनल ऑफ सोशियोलोजी," जनवरी 1926 मे, पृ० 533-35 पर प्रकाशित अपनी समीक्षा मे।

आत्म-संयम के अत्यधिक कठिन आदर्श को व्यवहार में ला सकता है।"[54] लासवेल की यह दृढ़ मान्यता है कि जनसाधारण पर अधिक समझदार लोगों का नियन्त्रण होना चाहिए, इस दृष्टि से कि वे उनके लिए उचित नीतियों का निर्धारण कर सकें। अभिजन वर्ग के द्वारा इस प्रकार की सामाजिक नियन्त्रण की नीति में, जिसे प्रतीकों, नारों और निरन्तर प्रचार के द्वारा निर्धारित किया जा सके, लासवेल की दृढ़ आस्था है। इस प्रकार के राजनीतिक विचारों को देख कर यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि लासवेल ने जिन अत्यन्त जटिल शोध तकनीकों और उतने ही अधिक जटिल राजनीतिक समाज-शास्त्र और राजनीतिक मनोविज्ञान के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्तों का विकास किया है वे केवल इस नियन्त्रण के प्रयोग के लिए उपकरण मात्र हैं।

वैज्ञानिक राजनीतिक सिद्धान्त की लासवेल की कल्पना यह है कि वह वर्णन (description) से भविष्यवाणी (prediction) की ओर बढ़े और अन्ततः मानव व्यवहार के नियन्त्रण (control) का रूप ले ले। जैसा पहले कहा जा चुका है, लासवेल की विशेष रुचि नियन्त्रण की प्रक्रिया में है, और उसने यह बताने की चिन्ता नहीं की कि किस उद्देश्य के लिए इस नियन्त्रण का प्रयोग किया जा रहा है, कौन उसका प्रयोग करेगा, और किस पर यह नियन्त्रण लगाया जायेगा। लासवेल का उत्तर यह दिखायी देता है कि यह "स्वतन्त्र मनुष्यों के राष्ट्रमण्डल" के हित में होगा, जो एक "सैनिक राज्य" की कल्पना का उसका प्रत्युत्तर दिखायी देता है, और जिसकी दिशा में, लासवेल की दृष्टि में, इस समय हम प्रगति कर रहे हैं। "स्वतन्त्र मनुष्यों के राष्ट्रमण्डल" की कल्पना एक "लोकतान्त्रिक समुदाय" के रूप में की गयी कल्पना है "जिसमें सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में मानव की प्रतिष्ठा की पुनः स्थापना की जा सकेगी।" "इसमें मूल्यों के निर्धारण और उनमें सहभागी होने की प्रक्रिया में अधिक से अधिक लोगों को सम्मिलित किया जा सकेगा।"[55] "लोकतान्त्रिक समुदाय", "मानव प्रतिष्ठा" और "मूल्यों के निर्धारण और उनमें सहभागी होने की प्रक्रिया में अधिक से अधिक लोगों को सम्मिलित करने" के अर्थों की लासवेल के द्वारा कहीं भी व्याख्या नहीं की गयी। जन-साधारण में लासवेल का सम्पूर्ण अविश्वास होने के कारण यह तो स्पष्ट ही है कि उसकी कल्पना का "स्वतन्त्र मनुष्यों का राष्ट्रमण्डल" कभी भी लोकतान्त्रिक समुदाय का रूप नहीं ले सकेगा। उस पर "सत्य का शासन" होगा, परन्तु सत्य की खोज स्वयं ही "विशिष्टीकृत शोध की वस्तु" है और "जनता का जनता होने के नाते अथवा शासक का शासक होने के नाते उस पर एकाधिकार नहीं है,"[56] तो यह कहना कठिन है कि 'सत्य का शासन' वास्तव में किस प्रकार कार्यान्वित किया जा सकेगा।

लासवेल ने यह स्वीकार किया है कि "स्वतन्त्र मनुष्यों के राष्ट्रमण्डल" को अस्तित्व में लाने में बहुत अधिक समय लगेगा, क्योंकि वह हमारी अपनी सभ्यता और उन

[54] वही।
[55] हैरल्ड डी॰ लासवेल, 'दि एनैलिटिकल सार्टिंग,' पी॰ उ॰, पृ॰ 473 74।
[56] हैरल्ड डी॰ लासवेल, 'साइकोपैथोलोजी एण्ड पोलिटिक्स,' पी॰ उ॰, पृ॰ 179।

संस्कृतियों में अधिकाश का जिनके सम्बन्ध मे हमे कुछ भी जानकारी है, एक उग्र और निरन्तर चलते रहने वाली पुनर्निर्माण की प्रक्रिया का परिणाम होगा ।"[57] सामजस्य-पूर्ण मानव सम्बन्धो की स्थिति के सम्बन्ध मे सत्य की जानकारी के द्वारा शासित होने का *अर्थ अनिवार्य रूप से उन लोगों के द्वारा शासित होना है जिनका सत्य पर अधिकार है*, अथवा जिनके सम्बन्ध मे यह धारणा बन गयी है कि उनका सत्य पर अधिकार है, अर्थात् ऐसे अनुभवी और सतर्क मनोरोग-वैज्ञानिको के द्वारा शासित होना जिनका स्वय का मनोविश्लेषण सतर्कतापूर्वक किया जा चुका हो । लासवेल का यह विचार हमे प्लेटो के दार्शनिक राजा की याद दिलाता है, परन्तु मानव प्रकृति के सम्बन्ध मे लासवेल की धारणा प्लेटो से इतनी भिन्न है कि यह समझना कठिन है कि किस प्रकार ये सामाजिक-मनोरोग-वैज्ञानिक "स्वतन्त्र मनुष्यो के राष्ट्रसघ" को एक ऐसी स्थिति तक *ले जा सकेंगे जिसमे शक्ति को सम्पूर्ण रूप से मिटाया जा सकेगा, क्योंकि लासवेल ने* यह माना है कि शक्ति का अभाव उस आदर्श स्थिति की एक विशेषता होगा । यहा हमे यह भी नही भूलना चाहिए कि समाजशास्त्रियों के सम्बन्ध मे लासवेल की कल्पना एक निष्पक्ष प्रेक्षक की नही है, वह तो उसकी दृष्टि मे जोड-तोड की प्रतिभा से सम्पन्न एक व्यक्ति है । मार्क्स की अपनी समस्त आलोचना के बावजूद लासवेल अपनी कल्पना के आदर्श समाज के सम्बन्ध मे मार्क्सवादी निष्कर्ष पर पहुचता दिखायी देता है । वह एक ऐसा समाज है जिसमे से सघर्ष, चिन्ता और युद्ध, और साथ ही, 'भ्रान्ति', *'अलगाव' और 'शोषण'* सभी को समाप्त कर दिया गया है । दोनो मे आधारभूत अन्तर यही है कि, जब कि मार्क्स ने हिंसा को परिवर्तन का प्रमुख साधन माना था, लासवेल ने उसके स्थान पर *कुशलतापूर्ण प्रचार के अपनाये जाने का सुझाव दिया है*।[58]

प्रचार की भूमिका

प्रचार के कुशल प्रयोग के द्वारा, शिक्षा के द्वारा और मनोविश्लेषण के द्वारा—जिसे हॉविट्ज ने, 'मनोविश्लेषण-तन्त्र' (psycho-analytocracy) का नाम दिया है—

[57]हैरल्ड डी० लासवेल, 'दि पोलिटिकल राइटिग,' पी० उ०, पृ० 513 ।

[58]'प्रोपेगेण्डा टेक्नीक इन दी फर्स्ट वर्ल्ड वार' के अपने शोध, प्रबन्ध से, जो 1927 मे प्रकाशित हुआ था, आरम्भ करके लासवेल ने मिथको के मूल्य और प्रचार की भूमिका के सम्बन्ध में बहुत अधिक मात्रा मे लिखा है । प्रचार के सम्बन्ध में उसके प्रमुख लेखो में है : "अमेरिकन पोलिटिकल साइस रिव्यू," अगस्त 1927 मे ' दि थियोरी ऑफ पोलिटिकल प्रोपगेण्डा," 'इन्टर्नेशनल जरनल ऑफ़ पौलिटिक्स,' अप्रैल 1928 मे "दि फक्शन ऑफ दी प्रोपेगैण्डिस्ट, एनसाइक्लोपीडिया ऑफ दी सोशल साइसेज," न्यूयार्क, दि मैकमिलन क० 1934 मे 'प्रोपेगेण्डा,' हार्वर्ड एल० चाइल्ड्स द्वारा सम्पादित 'प्रोपेगेण्डा एण्ड डिक्टेटरशिप ए कलेक्शन ऑफ पेपर्स,' प्रिंसटन, प्रिंसटन विश्वविद्यालय प्रेस, 1936, मे ' दि स्कोप ऑफ रिसर्च ऑन प्रोपेगेण्डा एण्ड डिक्टेटरशिप," फिडले मैकेंजी द्वारा सम्पादित प्लैन्ड सोसाइटी पास्टर्ड, टुडे, टुमारो,' न्यूयार्क, प्रेटिस-हॉल, इन्क०, 1937, में 'प्रोपेगेण्डा इन ए प्लैन्ड सोसाइटी,' 'अमेरिकन स्कौलर,' ग्रीष्म 1939 मे, 'दि प्रोपेगेण्डिस्ट बिड्स फॉर पॉवर,' 'साइकायट्री,' अगस्त 1950, मे 'प्रोपेगेण्डा एण्ड मास इनसिक्युरिटी' ।

जन समूह को एक "स्वतन्त्र" और "प्रबुद्ध" विश्व की ओर, "स्वतन्त्र मनुष्यों के राष्ट्र-संघ" की ओर, आकर्षित किया जायेगा। अपने शैक्षणिक जीवन के आरम्भ से ही प्रचार के प्रति लासवेल का बहुत अधिक आकर्षण रहा है। उसके डॉक्टरेट के प्रबन्ध का, जो 1927 में प्रकाशित हुआ था, *शीर्षक "विश्व-युद्ध में प्रचार के तकनीक" था।* युद्ध के वर्षों में जिस प्रकार जनमत को नियन्त्रित किया गया था उसका इस प्रबन्ध पर बहुत अधिक प्रभाव दिखायी देता है। लासवेल ने अपने प्रबन्ध में लिखा, "अच्छा जीवन सार्वजनिक भावनाओं की तेज और शक्तिशाली आन्धी में बह जाना नहीं है। वह जन समूह का आंशिक उत्सर्जन नहीं है, वह तो थोड़े से लोगों के द्वारा कठिनाई से प्राप्त की गयी उपलब्धि है।" "इस कारण हम सब मिल कर विचार-विमर्श करें" लासवेल ने आगे चलकर लिखा, "... और इसका पता लगायें कि श्रेय क्या है, और *जब हम उसे प्राप्त कर लें तब हम यह जानने का प्रयत्न करें कि सार्वजनिक मानस* के द्वारा उसे कैसे स्वीकार कराया जा सकता है। सार्वजनिक कल्याण के नाम पर जनता तक सूचनाएं पहुंचाओ, उसकी चापलूसी करो, आवश्यकता हो तो उसे धमका दो, और किसी न किसी प्रकार अपनी ओर आकर्षित करो। बहुमत की परम्परा को सुरक्षित रखो, परन्तु बहुमत को अपने अधिनायकत्व को मानने के लिए विवश करो।"[59] इस सम्बन्ध में लासवेल ने अठारहवीं शताब्दी के एक प्रचारक कैंटो का उद्धरण दिया, "इस कारण, मानव समाज से व्यवहार करने का एकमात्र उपाय *उनके भावावेशों को जागृत करना है; और सभी राज्यों और सभी धर्मों के संस्थापकों* ने सदा ऐसा ही किया है।"[60]

प्रचार की व्याख्या करते हुए लासवेल ने उसे "वाद-विवाद में उलझी हुई अभिवृत्तियों को प्रभावित करने के लिए प्रतीकों का प्रयोग" बताया है।[61] लासवेल मानता है कि प्रचार, जिसका अर्थ मनुष्यों के भावावेशों की जोड़-तोड़ है, शान्ति और युद्ध दोनों में आवश्यक है, और वह उसे 'युद्ध और शान्ति की नीति के चार प्रमुख उपकरणों में से' जिनमें तीन अन्य राजनय, शस्त्रीकरण और अर्थनीति हैं, एक मानता है। प्रचार का दर्जा साधारणतः नीति के तीन अन्य उपकरणों से कुछ नीचा माना जाता है, परन्तु लासवेल ने यह स्थापित करने का प्रयत्न किया है कि न तो यह आवश्यक है, और न वांछनीय ही, कि प्रचार के कार्य को, नीति के अन्य उपकरणों की तुलना में, एक नीचे दर्जे का कार्य माना जाय। वह प्रचार के कार्य का विस्तार करने और उसे *एक नया रूप देने में विश्वास रखता है। उसकी दृष्टि में प्रचार कई प्रकार का होता* है। वह 'क्रिया अथवा कार्य के द्वारा प्रचार' की बात करता है, और मानता है कि शत्रु के नगरों पर बम गिराना भी 'तात्कालिक सैनिक और सामरिक उद्देश्यों के लिए उतना नहीं होता जितना प्रचारात्मक उद्देश्यों के लिए।" लासवेल लिखता है, "इसके

[59]हैराल्ड डी॰ लासवेल, 'प्रोपेगेण्डा टेक्नीक इन दि वर्ल्ड वार,' पी॰ उ॰, पृ॰ 4-5।
[60]फिलिप्स मैकेन्जी द्वारा सम्पादित, पी उ॰, में 'कैंटो' से उद्धृत, पृ॰ 629 30।
[61]हैराल्ड डी॰ लासवेल, 'दि एनालिसिस ऑफ पोलिटिकल बिहेवियर,' पी उ॰, पृ॰ 175।

पीछे प्रमुख भावना यह रहती है कि सतत आतंक के दबाव में नागरिकों का साहस टूट जायेगा।" "आतंकवादी प्रचार, और आतंक उत्पन्न करने के अन्य कार्यों के अतिरिक्त इसके द्वारा भी शत्रु पक्ष में निरुत्साह और पराजय की वृत्ति को फैलाया जा सकेगा।"[6]

यह सच है कि लासवेल ने बार-बार इस बात की घोषणा की है कि धुआंधार प्रचार को वह इतना अधिक महत्त्व एक अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दे रहा है: वह उद्देश्य "स्वतन्त्र मनुष्यों के राष्ट्रसंघ" की स्थापना है। इसी कारण वह चाहता है कि प्रचार के इस यन्त्र का नेतृत्व बुद्धिजीवी वर्ग अपने हाथों में ले पर, बुद्धिजीवियों का कौन सा वर्ग इस कार्य के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है? बुद्धिजीवियों में सब से पहले उसका ध्यान वकीलों पर जाता है जो राज्यों व केन्द्र की व्यवस्थापिका सभाओं में और अदालतों में प्रमुख भाग लेते हैं। समाज में उनका प्रभाव और अधिकार दोनों ही व्यापक रूप में पाये जाते हैं। परन्तु, लासवेल शीघ्र ही इस आधार पर वकीलों को इस काम के लिए अनुपयुक्त ठहराता है कि, "हमारी सभ्यता में वकीलों को साधारणतः जिस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाता है उसके परिणामस्वरूप वे ऐसे राग-द्वेषों का शिकार बन जाते हैं जो लोकतन्त्र के लिए अत्यधिक खतरनाक हो सकते हैं।" बुद्धिजीवियों के अन्य वर्गों की जांच-पड़ताल के बाद, अन्त में, वह इस प्रकार के नेतृत्व के लिए *शैक्षणिक समुदाय, विशेषकर समाजशास्त्रियों, को चुनता है।* 1925 में लासवेल ने विद्वत समुदाय का आह्वान एक ऐसी योजना में भाग लेने के लिए किया था जिसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना की स्थापना की दृष्टि से विश्व की सभी पाठ्य पुस्तकों की आलोचनात्मक तुलना (और सम्भवतः उन्हें फिर से लिखने) के लिए कोई उपाय निकालना और उसके लिए एक समुचित संगठन स्थापित करना था। इस प्रश्न का कि *समाजशास्त्री "व्याख्यान देने और पुस्तकें लिखने" के* अपने दिन-प्रतिदिन के कार्यों से, जिनका उद्देश्य केवल "दूसरों को व्याख्यान देने और पुस्तकें लिखने के लिए तैयार करना था," ऊपर कैसे उठ सकेंगे, और "वे जिसे सही नीति मानते हैं उसके क्रियान्वयन के लिए" जनता को नियन्त्रित करने का उत्तरदायित्व अपने हाथ में कैसे ले सकेंगे, लासवेल का सीधा-सादा उत्तर था, प्रचार। वह लिखता है, "यदि बुद्धिजीवी वर्ग और शिक्षाशास्त्री शुरू में इस प्रकार के अनवरत आन्दोलन में भाग लेने अथवा उसका समर्थन करने में झिझकें, यदि अपनी इस कमजोरी को उन्होंने एक वर्जना (taboo) *का रूप दे दिया है, तो भी यह कहा जा सकता है कि,* समस्त जनता को प्रतिबन्धों के इन प्रतिमानों में ढालने की तुलना में, इस अल्प-संख्यक वर्ग की वर्जना पर विजय प्राप्त कर लेना शायद आसान होगा।"[7] 1956 में अमेरिकन पोलिटिकल साइंस एसोसियेशन के अध्यक्षीय भाषण में उसने विद्वानों का आह्वान एक ऐसी टुकड़ी तैयार करने के लिए किया जो मानव-समाज को विज्ञान के भावी

[6]हेरल्ड डी० लासवेल, 'प्रोपेगेण्डा इन दि वर्ल्ड वार,' पी० उ०, पृ० 199।
[7]लिपमैन की पुस्तक की अपनी समीक्षा में, पी० उ०, पृ० 535।

विश्व की ओर ले जाने वाली खतरनाक यात्रा में उसका नेतृत्व करें।[64]

लासवेल की अनन्य रचनाओं को पढ़ने पर यह धारणा बनती है, और उसकी और भी अधिक संख्या में विकसित की गयी वैचारिक संरचनाओं से उसकी पुष्टि होती है, वह चाहता है कि समाजशास्त्री सकारात्मक (positive) उदारवाद के दर्शन का विश्व भर में प्रचार करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लें। उसका विश्वास मूलतः अभिजन वर्ग के द्वारा शासन चलाने में है। इस दृष्टिकोण से देखें तो "स्वतन्त्र मनुष्यों के राष्ट्रसंघ" और "मानव प्रतिष्ठा" की उसकी बात जनसाधारण को धोखा देने के लिए एक प्रवंचना मात्र प्रतीत होती है। दान्ते जर्मिनो लिखता है, "भविष्य के सम्बन्ध में लासवेल की जो कल्पना है वह भविष्य निःसन्देह एक बोझिल एकरूपता लिये, और आध्यात्मिक दृष्टि से रिक्त, भविष्य होगा। यद्यपि मनुष्य को उसमें सुख की प्राप्ति हो सकेगी, परन्तु प्रतिष्ठा की कीमत पर।"[65] जहां तक मानव की प्रतिष्ठा का प्रश्न है, जैसा क्लायड डब्ल्यू० मेंट्सन ने लिखा है, लासवेल के लिए मानव की प्रतिष्ठा "मानवता का एक अन्तर्निहित गुण" नहीं है—जिस रूप में हम उसे राजनीतिक सिद्धान्त की मानववादी परम्परा में प्रतिबिम्बित पाते हैं—"परन्तु एक ऐसा युक्तिपूर्ण उद्देश्य है जिसे किसी विवेक-सम्मत भविष्य में कभी प्राप्त किया जा सकेगा।"[66] लासवेल की "निवारक राजनीति" को हॉविट्ज ने "राजनीति के निवारण" का नाम दिया है, और उसके "लोकतन्त्र के विज्ञान" को मेंट्सन ने "विज्ञान का लोकतन्त्र" कहा है। "एक ऐसा तकनीकी वैज्ञानिक भविष्य जिसमें से सभी संघर्ष और कठिनाइयां हटा ली गयी हैं," जिसकी लासवेल और अन्य उग्र व्यवहारवादियों के द्वारा कल्पना की गयी है, मेंट्सन की दृष्टि में, व्यक्ति के लिए—जिसे "जोड़-तोड़, प्रबन्ध, प्रभाव और नियन्त्रण" का शिकार बनाया जायेगा और "जिस पर से स्वतन्त्रता के असहनीय बोझ को उठा लिया गया" होगा एक बहुत बड़ा खतरा है।[67]

सामाजिक विज्ञान और नीति-निर्माण

चार्ल्स मेरीयम, जिसे व्यवहार-परक राजनीति-विज्ञान का जनक माना जाता है और जिसने अमेरिकन पोलिटिकल साइंस एसोसिएशन और सोशल साइंस रिसर्च कौंसिल की नींव डाली, पहला व्यक्ति था जिसने राजनीति-विज्ञान का सक्रिय राजनीति के साथ निकट का सम्पर्क स्थापित करने की चेष्टा की। सरकारी अधिकारियों और क्षेत्रीय नियोजकों और व्यवस्थापकों से मेरीयम का जितना परिचय था, अन्य समाजशास्त्रियों

[64] "अमेरिकन पोलिटिकल साइंस रिव्यू," दिसम्बर 1956 में, 'दि पोलिटिकल साइंस ऑफ साइंस' के शीर्षक से प्रकाशित, पृ० 961-79।

[65] दान्ते जर्मिनो, बियोंड आइडियोलोजी, 'दि रिवाइवल ऑफ पोलिटिकल थियरी,' हार्पर और रो प्रकाशक, 1967, पृ० 205।

[66] क्लायड डब्ल्यू० मेंट्सन, 'दि कोर्टेड इमेज ऑफ मैन, साइंस एण्ड सोसाइटी,' न्यूयार्क, वेस्टिलियर, 19.., पृ० 110।

[67] वही, पृ० 114-115।

के साथ उतना नही। शिकागो विश्वविद्यालय के उसके कुछ साथी, विशेषकर लूथर गुलिक और लुई ब्राउनलो ऐसे व्यक्ति थे जो शिक्षा के क्षेत्र मे आने से पहले महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक पदो पर काम कर चुके थे। ये तीनो पहले हर्बर्ट हूवर और बाद मे फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट की राष्ट्राध्यक्षता के काल मे प्रशासन व्यवस्था सम्बन्धी विभिन्न समितियों के सदस्य रहे और उन्होने ही "नीति-निर्माण' की उस शैली का प्रारम्भ किया जिसमे, राजनीति मे जनसाधारण की भूमिका से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखते हुए, राजनीति को अभिजनो की क्रिया के रूप मे कल्पना की गयी थी, और जिसका बाद मे लासवेल ने विकास किया। यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि हूवर और रूज़वेल्ट दोनो ही ऐसे राष्ट्राध्यक्ष थे जिन्हे सामाजिक अभियान्त्रिकी (social engineering) मे विशेष रुचि थी। इसके साथ ही सामाजिक विज्ञानों के इतिहास मे यह वह युग था जब उनमे से प्रत्येक मे अन्य सामाजिक विज्ञानों की तुलना मे अपने को अधिक वैज्ञानिक प्रमाणित करने की प्रतिस्पर्द्धा जोरो पर थी। राजनीति-विज्ञान भी पीछे नही रहना चाहता था, और इसका परिणाम यह हुआ कि उनमे से अनेक ने विभिन्न शोध योजनाओ के लिए समय-समय पर प्रशासन को अपनी सेवाए अर्पित की—यह एक अलग प्रश्न है कि प्रशासन के वास्तविक नीति-निर्माण पर उनका कितना प्रभाव पडा और कहा तक प्रशासको ने उनकी शैक्षणिक योग्यता को अपनी पूर्व-निश्चित नीतियों को वैधता देने के लिए खरीदा।

अमरीका मे समाजशास्त्रियों की यह स्थिति साम्यवादी और तानाशाही देशों की उस स्थिति से निस्सन्देह भिन्न थी जहा उन्हे सरकार की नीतियो के सम्बन्ध मे कुछ भी कहने का अधिकार नही था, और उनके विरोध मे अपना मत प्रगट करना असम्भव और खतरनाक था। अमरीकी समाजशास्त्रियों को इस बात का गौरव हो सकता था कि उनके देश की सरकार उनकी सलाह को मूल्यवान मानती है। लासवेल ने सामाजिक विज्ञानों और नीति-निर्माण का जो खाका खीचा वह कुछ इस प्रकार था: प्रशासन को जानकारी की आवश्यकता होती है; वह उसे पूरा करने के लिए ज्ञान के गैर-सरकारी भण्डारो की, जो या तो व्यक्तिगत उद्योगो मे (उनके शोध और विकास कक्षो मे) अथवा विश्वविद्यालयो मे (उनकी शोध योजनाओं मे) उपलब्ध हैं, सहायता की अपेक्षा करते है; जिसके लिए वे उन्हे (पर्याप्त) धनराशि प्रदान करते हैं; शोध के पूरा हो जाने पर उसके परिणाम नीति-निर्माताओ के, अथवा उनके प्रतिनिधि विभागों के, सामने प्रस्तुत कर दिये जाते हैं, जहां कठिनाई से प्राप्त किये गये उस ज्ञान का परीक्षण, परिमापन और मूल्यांकन होता है, और तब उनका प्रभाव प्रशासन की घोषित नीतियो के रूप मे दिखायी देता है।[64] पर वास्तविक स्थिति इससे सर्वथा भिन्न थी। हैरोविट्ज के अनुसार नीतिया प्रशासन की विधायी अथवा कार्यकारिणी शाखा के द्वारा पहले से ही निर्धारित कर ली जाती है; इन नीतियो का निर्धारण जन समूह अथवा

[64] हेरल्ड डी॰ लासवेल, 'दि पॉलिसी ओरियन्टेशन,' लर्नर और लासवेल द्वारा सम्पादित 'दि पॉलिसी साइंसेज,' पी॰ ३०।

अभिजन वर्ग की किसी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए किया जाता है; इन नीतियों को अभूतपूर्व प्रमाणित करने की किसी नये प्रशासन अथवा संसद सदस्य की महत्त्वाकांक्षा उनके लिए नया नाम—'नये सोपान', 'गरीबी हटाओ', आदि तलाश करने की प्रेरणा देती है; नीति का निर्धारण हो जाने पर यह आवश्यक माना जाता है कि उसके लिए भूतकाल से कुछ उदाहरण, वर्तमान में वैधता सम्बन्धी तर्क और भविष्य के लिए समर्थक तत्त्वों को ढूंढ निकाला जाय; इन निर्णयों को न्यायोचित ठहराने के लिए, आनुभविक जगत से किसी प्रकार उन्हें जोड़े बिना, समाजशास्त्रियों का आह्वान किया जाता है कि वे उनकी साध्यता (feasibility) तथा उनके प्रदर्शन प्रभाव (demonstration effects) और अनुरूपण विश्लेषण (simulation analysis) आदि का अध्ययन करें, जिसके आधार पर उस निर्णय को, जो सम्भवत किसी राजनीतिज्ञ के मकान के पृष्ठ भाग में पहले ही लिया जा चुका है, वैधता प्रमाणित की जा सके।[69] समाजशास्त्री का काम, इस प्रकार, किसी नीति की स्थापना अथवा उसका परीक्षण करना नहीं है, केवल उसे वैधता प्रदान करना है। इस सारी प्रक्रिया का प्रमुख उद्देश्य यही है कि वास्तविक नीति-निर्माता जनमत को जानने की आवश्यकता को यह कह कर टाल सकें कि उन्होंने विशेषज्ञों की सलाह ली है: यह वास्तव में शासक अभिजन वर्ग के द्वारा लोकतन्त्र को धोखा देने की प्रक्रिया का एक अंग है।

"ज्ञान किसके लिए", रौबर्ट लिण्ड के द्वारा उठाये इस प्रश्न का लासवेल का उत्तर था कि स्वास्थ्य, लोक कल्याण और युद्ध के क्षेत्रों में संघीय नीतियों के समर्थन और क्रियान्वयन में ज्ञान की आवश्यकता है, और इस आवश्यकता की पूर्ति सामाजिक विज्ञानों के द्वारा की जानी चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि मेरीयम ने व्यवहारवादी राजनीति-विज्ञान के साथ नीति-निर्माण के सम्बन्ध में जिस दृष्टिकोण का सूत्र-पात किया था, और लासवेल ने जिसका विकास किया उसने सामाजिक विज्ञानों के, और विशेषकर राजनीति-विज्ञान के, चरित्र और विकास की स्वायत्तता पर गहरा प्रहार किया है। सामाजिक विज्ञानों में शोध की जो नयी पद्धतियां विकसित हुईं, और जिन्होंने शोध के मूल्य निरपेक्ष होने पर ज़ोर दिया,, उन्होंने समाजशास्त्रियों को नीति-निर्माताओं के लिए अधिक सुलभ और नमनीय बना दिया, और इसके कारण इन विज्ञानों के स्वतन्त्र रूप से विकसित होने में बड़ी बाधा पड़ी। उनकी स्वायत्तता नष्ट हो गयी और समाजशास्त्रियों का काफी समय सरकारी अनुबन्धों और नीति-निर्माण सम्बन्धी मांगों को पूरा करने में लगने लगा। समाजशास्त्री के प्रशासनिक मामलों में स्वयं-नियुक्त सलाहकार के रूप में अपने को उलझा लेने का ही सम्भवतः यह परिणाम था कि 1930, और विशेषकर 1945, के बाद के वर्षों में और यह स्थिति 1960 तक चली—हम अमरीका की समाज-विज्ञान सम्बन्धी गतिविधियों को सरकारी विचारधारा से प्रतिबद्ध, और अपनी किसी भी स्वतन्त्र विचारधारा का विकास करने में असमर्थ, पाते हैं।

[69] इर्विंग लुई होरोविट्ज़, 'फाउन्डेशन्स ऑफ पोलिटिकल सोशियोलॉजी,' न्यूयार्क, हार्पर और रो प्रकाशक, 1972 पृ० 415।

"लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए नीति-निर्माता" बनने की समाजशास्त्रियों की आकांक्षा विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के लिए बहुत महंगी पड़ी। प्रशासन से निकट सम्बन्धों का — विशेषकर ऐसे सम्बन्धों का जिनमें प्रशासन का काम आर्थिक सहायता प्रदान करना और समाजशास्त्री का उसे स्वीकार करना था — समाजशास्त्री के स्वतन्त्र चिन्तन और उसके विज्ञान के स्वायत्तपूर्ण विकास पर बुरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। देश की आन्तरिक नीति हो अथवा बाहरी, उसकी खोज के परिणामों के पीछे सत्य चाहे कुछ भी हो, उसे ऐसी सलाह देने पर बाध्य होना पड़ता है जो प्रशासन को सन्तुष्ट कर सके। 'परिणाम' प्रायः वैसे ही निकल जाते हैं, या निकाले जा सकते हैं, जो प्रशासन को स्वीकृत हों। सत्य की खोज में कुर्बानियां करने की जो प्रेरणा मानव को अनादि काल से मिलती आ रही है, यह उस पर एक सीधा प्रहार था। नीति की आवश्यकताएं हैं स्पष्टतः ही वह नहीं होतीं जो सामाजिक विज्ञानों की आवश्यकताएं हैं। उदाहरण के लिए, नीति की दृष्टि से किसी ऐसे विदेशी राज्य को, जिसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व हो, मान्यता न देना आवश्यक हो सकता है, पर सत्य के शोधक के लिए प्रशासन को वैसी सलाह देना असम्भव, और कुछ विशेष स्थितियों में उसके विपरीत अपना मत प्रगट करना नैतिक दृष्टि से बाध्यकारी, हो सकता है। वास्तव में सत्य की शोध के लिए, जिसका प्रत्येक समाजशास्त्री दावा करता है, यह आवश्यक है कि वह सत्ता से, और धन के प्रलोभन, से अपने को दूर रखे। सामाजिक विज्ञानों के लिए स्वायत्तता और सामाजिक (लोकतान्त्रिक) आवश्यकताओं से सम्बद्धता अत्यन्त आवश्यक है। इस स्वायत्तता की खोज में पिछले कुछ वर्षों में कुछ नये दृष्टिकोणों का विकास हुआ है। जबकि कुछ लेखकों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि प्रशासन के लिए अर्थ-पूर्ण शोध करना समाजशास्त्री का दायित्व है,[70] कुछ ने, सामाजिक विज्ञानों की स्वायत्तता को सुरक्षित रखने और प्रशासन को उत्तरदायी बनाने की दृष्टि से, उसका आधार पारस्परिकता पर रखने का प्रयत्न किया है, जिसके अन्तर्गत प्रशासकों और समाजशास्त्रियों में समय-समय पर पदों का विनिमय सम्भव हो सके,[71] कुछ ने असहयोग पर जोर दिया है, और कुछ अन्य लेखकों ने, जिनकी संख्या 1960 के दशक में, जब अमरीका घरेलू और बाहरी अनेक संकटों में उलझा हुआ था, और विशेषकर तरुण समाजशास्त्रियों में, बढ़ गयी प्रशासन की आलोचना और उसके सक्रिय विरोध पर जोर दिया है। उनकी इस मान्यता का आधार यह है कि प्रशासन और समाज-विज्ञान परस्पर विरोधी तत्व हैं—यदि नहीं हैं तो उन्हें ऐसा होना चाहिए क्योंकि जब कि सत्य प्रशासन की एक नीति है, एक ऐसा साधन आवश्यकता पड़ने पर जिसका परित्याग किया जा सकता है, वह समाज-विज्ञान का प्रमुख लक्ष्य है।

70 देखें [illegible], 'दि रेलेविन्सी ऑफ सोशल साइंटिस्ट्स टू रिसर्च एण्ड गवर्नमेन्ट,' आई० एल० होरोविट्ज द्वारा सम्पादित 'दि राइज एण्ड फॉल ऑफ प्रोजेक्ट कैमलॉट: स्टडीज इन दि रिलेशनशिप बिट्वीन सोशल साइंस एण्ड प्रैक्टिकल पॉलिटिक्स,' कैम्ब्रिज, मैस०, एम० आई० टी० प्रेस, 1967।

71 देखिए बी० ट्रूमैन, 'दि सोशल साइंसिज एण्ड पब्लिक पालिसी,' 'साइंस' खण्ड 160, सं० 3827, 3 मई, पृ० 512-518।

अध्याय 6

राजनीतिक विकास: सिद्धान्त, संकल्पनाएं और दृष्टिकोण

(POLITICAL DEVELOPMENT : THEORIES, CONCEPTS AND APPROACHES)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका में बहुत से नये राज्यों के उत्थान, और उनकी राजनीतिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं के अध्ययन की आवश्यकताओं, ने राजनीतिक-विज्ञान में नये आयाम खोल दिये। समाजशास्त्रियों और इतिहासकारों के द्वारा इन देशों का पहले भी अध्ययन किया जा रहा था, परन्तु वह राज्यों का अध्ययन उतना नहीं था जितना समाजों का। जब इनमें से बहुत से समाजों ने नये राज्यों का रूप ग्रहण करना प्रारम्भ किया तो राजनीतिशास्त्रियों का ध्यान उस ओर खिंचना स्वाभाविक था। पाश्चात्य राजनीति-विज्ञान इस समय व्यवस्था सिद्धान्त (systems theory) के प्रतिपादकों के गहरे प्रभाव में था, जिन्होंने यह बताने की चेष्टा की थी कि राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था की एक उप-व्यवस्था मात्र थी, जिसे सामाजिक व्यवस्था की ओर से चुनौतियां और समर्थन, दोनों ही, मिलते थे। ये सब राजनीतिक व्यवस्था में आगत तत्त्वों (inputs) के रूप में थे, और वैधानिक, कार्यकारी और न्यायिक कार्यवाही के रूप में, जिन्हें अब नियम-निर्माण (rule-making), नियम-प्रयोग (rule-application) और नियम-अधिनियम (rule-adjudication) के नाम दे दिये गये, निर्गत तत्त्वों (outputs) की सृष्टि होती थी, जो एक ऐसी प्रक्रिया के माध्यम से जिसे प्रतिसम्भरण (feed-back) कहा जा सकता था, सामाजिक व्यवस्था में पुनः प्रवेश करते थे, और उनमें चुनौतियां एवं समर्थन देने वाले तत्त्वों को कमजोर अथवा मजबूत बनाते थे। यह मानते हुए भी कि गैर-पश्चिमी राजनीतिक प्रक्रियाएं पश्चिमी राजनीतिक प्रक्रियाओं से भिन्न थीं, उनके अध्ययन के लिए व्यवस्था सिद्धान्त का आदर्श स्वीकार कर लिया गया था।[1] 1950 के दशक में और 1960 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में जिन पाश्चात्य राजनीतिशास्त्रियों ने इनके बारे में लिखा उनकी मान्यता यह प्रतीत होती है कि वे

[1] जॉर्ज मैक्टर्नन काहीन, गाई जे० पौकर और लूसियन डब्ल्यू० पाई, "कम्पेरेटिव पोलिटिक्स ऑफ नॉन वेस्टर्न कन्ट्रीज," 'अमेरिकन पोलिटिकल साइन्स रिव्यू,' खण्ड 49, सं० 4, दिसम्बर 1955, पृ० 1022-41; लूसियन डब्ल्यू० पाई, "दि नॉन-वेस्टर्न पोलिटिकल प्रोसेस," 'जर्नल ऑफ पोलि-टिक्स,' खण्ड 20, अगस्त 1958, पृ० 468-86।

इन गैर-पश्चिमी राजनीतिक प्रक्रियाओ का अध्ययन अपनी उस सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक पृष्ठभूमि के आधार पर, जिसका विकास पश्चिमी देशो ने पिछली कुछ शताब्दियो मे किया था, और जिनसे वे स्वयं प्रभावित थे, सफलता से कर सकेंगे। इस तथ्य ने कि उनमे और पश्चिमी राजनीतिक प्रक्रियाओ मे अन्तर था और उनकी जड़ें भिन्न प्रकार की सांस्कृतिक पृष्ठभूमियो से अपना भरण-पोषण प्राप्त कर रही थी, उन्हे इस बात के लिए अवश्य प्रेरित किया कि वे इन समाजों का अध्ययन उनके अपने सांस्कृतिक और ऐतिहासिक सन्दर्भ मे करें। इसका परिणाम यह हुआ कि तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन मे जो नया उपागम विकसित किया जा रहा था उसे अब इतना व्यापक रूप दे दिया गया कि उसमे राजनीतिक सस्थाओ और सरचनाओं के अतिरिक्त उन पारिस्थितिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक शक्तियों का अध्ययन किया जाने लगा जो उन समाजो को प्रभावित करती थीं। एक अन्तःशास्त्रीय संयोजना के अन्तर्गत विकसित की गयी अध्ययन की इस नयी पद्धति का नाम 'क्षेत्रीय अध्ययन' (Area Studies) पडा, और कई अमरीकी विश्वविद्यालयो ने विश्व के कुछ चुने हुए क्षेत्रो की जानकारी प्राप्त करने के लिए क्षेत्रीय अध्ययन केन्द्रो की स्थापना की, जहा इस प्रकार के अध्ययन को प्रोत्साहन मिला।

प्रारम्भिक अध्ययनो का स्वरूप

इस दिशा मे प्रारम्भिक प्रयत्नो मे हम डेनियल लर्नर की पुस्तक 'दि पासिंग ऑफ ट्रेडिशनल सोसाइटी मॉडर्नाइज़िंग मिडिल ईस्ट' को ले सकते है जिसकी रचना उसने लूसील डब्ल्यू० पेवस्नर पेवतर की सहायता से की।[2] इस पुस्तक का आधार उस खोज पर था जो यूनान और 6 मध्यपूर्व देशो—मिश्र, ईराक, जॉर्डन, लेबेनॉन, सीरिया और तुर्की मे, प्रश्नावलियो व साक्षात्कारो के आधार पर की गयी थी। इसके पहले जो अध्ययन किये गये थे उनका आधार टैल्कॉट पार्संन्स के द्वारा, 'दि सोशल सिस्टम' नाम की पुस्तक मे, निर्धारित सिद्धान्तो, जिनका विकास उसने बाद मे रॉबर्ट एफ० बेल्स, एडवर्ड ए० शील्स और नील जे० स्मेलसर की सहायता से किया, पर था।[3] आर० एन० बेला और नील० जे० स्मेलसर ने इसी प्रकार के अध्ययन जापान और इगलैण्ड के सन्दर्भ मे किये थे, जिनमे विभिन्न समाजो पर औद्योगीकरण के प्रभाव का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया था। बेला ने, पार्संन्स के द्वारा निर्धारित कसौटियो के आधार पर, जापान की मूल्य-व्यवस्था का वर्णन करने और मैक्स वेबर की शैली मे, उन्हे प्रेरित करने वाली भावनात्मक-उद्देश्यात्मक शक्तियों का विश्लेषण करने की

[2]डेनियल लर्नर, 'दि पासिंग ऑफ ट्रेडीशनल सोसाइटीज, मॉडर्नाइजिंग दी मिडिल ईस्ट,' ग्लेंको, इलीनोय, दि फ्री प्रेस, 1958।

[3]टैलकॉट पार्संन्स, 'दि सोशल सिस्टम,' ग्लेंको, इलीनोय, दि फ्री प्रेस, 1951; टैलकॉट पार्संन्स, रॉबर्ट एफ० बेल्स और एडवर्ड ए० शील्स, 'वर्किंग पेपर्स इन दी थियरी ऑफ एक्शन,' न्यूयार्क, दि फ्री प्रेस, 1953; टैलकॉट पार्संन्स और नील जे० स्मेलसर, 'इकोनोमी एण्ड सोसाइटी,' ग्लेंको, इलीनोय, दि फ्री प्रेस, 1956।

चेष्टा की थी, और अपनी इस शोध-पद्धति के आधार पर वह यह बताने में सफल हो सका था कि किस प्रकार वही मूल्य, जिन्होंने जापान के तेजी के साथ किये गये औद्योगीकरण में उसकी सहायता की थी, उसकी राजनीतिक संस्थाओं को आधुनिक रूप देने में असफल सिद्ध हुए।[4] स्मेलसर का मूल उद्देश्य औद्योगीकरण के परिणामों के कारण इंगलैण्ड की संस्थाओं में होने वाले परिवर्तनों के अध्ययन में था।[5] जब कि बैला और स्मेलसर औद्योगीकरण के कारण होने वाले सामाजिक परिवर्तन के कुछ पहलुओं को स्पष्ट करने में सफल हुए थे, लर्नर ने गहराई में जाकर उन मूल्यों का परीक्षण किया जो आधुनीकरण के साथ जुड़े हुए हैं, और मूल्यों की अधिमान्यताओं (preferences) में, और जीवन के प्रति मनोवैज्ञानिक-सांस्कृतिक अभिवृत्तियों में होने वाले उन परिवर्तनों का अध्ययन किया जो औद्योगिक तकनीक के प्रवेश का परिणाम होते हैं। जबकि स्मेलसर ने इंगलैण्ड में औद्योगीकरण के प्रभाव का संरचनात्मक-संस्थात्मक (structural-institutional) सन्दर्भ में अध्ययन किया था, लर्नर ने अधिमान्यताओं, अथवा मूल्यों में परिवर्तन की बात कही। लर्नर, सामाजिक परिवर्तनों से प्रेरित शारीरिक और सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन से आगे बढ़कर उस मानसिक (psychic) गतिशीलता की बात करता है जो गतिशीलता का मूलभूत तत्त्व है।[6] परन्तु वह यह समझाने में असमर्थ रहा है कि विकासशील समाजों में होने वाले सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन किस प्रकार नवीन मानसिक-सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को जन्म देते हैं। वह केवल यह कहता है कि "आधुनीकरण का प्ररूप एक स्वायत-शासी ऐतिहासिक तर्क का अनुगमन करता है जिसमें विकास का प्रत्येक चरण किसी ऐसी क्रियाविधि के द्वारा, जो सैद्धान्तिक परिवर्तनों से अप्रभावित रहती है, उसके दूसरे चरण को जन्म देता है।"[7]

1960 के आसपास के वर्षों में अनेक प्रमुख विद्वानों ने विकासशील देशों का गहराई के साथ अध्ययन किया जिनसे इन देशों में काम करने वाले सामाजिक, आर्थिक शक्तियों और राजनीतिक व्यवस्थाओं को निर्धारित करने वाली राजनीतिक संस्कृतियों को समझने की उनकी अन्तर्दृष्टि का पता लगता है। जेम्स एस० कोलमैन,[8]

[4]आर० एन० बैला, 'तोकुगावा रिलेजियन,' ग्लैंको, इलीनोय, दि फ्री प्रेस, 1957।

[5]नील जे० स्मेलसर, 'सोशल चेंज इन दी इन्डस्ट्रियल रिवॉल्यूशन,' शिकागो, शिकागो विश्व-विद्यालय प्रेस, 1959।

[6]इसी दशा ने "मानसिक गतिशीलता" (psychic mobility) की व्याख्या करते हुए लिखा है, "यह वातावरण में होने वाले नये परिवर्तनों के साथ शीघ्र तादात्म्य स्थापित कर लेने की क्षमता है।" 'वैल्यूज इन प्रोसेस ऑफ मॉडर्नाइजेशन,' विकास प्रकाशन, 1971, पृ० 106। "तादात्म्य" की व्याख्या करते हुए उसने लिखा है, "यह वह मनोवैज्ञानिक युक्ति है जिसकी सहायता से आधुनिक मनुष्य एक निरन्तर फैलते हुए मानसिक क्षितिज का अनुभव कर पाता है।" वही, पृ० 108।

[7]डेनियल लर्नर, 'दि पासिंग ऑफ ट्रेडीशनल सोसाइटी,' पी० उ०, पृ० 41।

[8]जेम्स एस० कोलमैन 'नाइजीरिया, बैकग्राउण्ड टू नेशनलिज्म,' बर्कले, कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय प्रेस, 1959।

डब्ल्यू० हॉवर्ड रिगिन्स,[9] लिओनार्ड बाइन्डर,[10] हर्बर्ट फीथ,[11] लुशियन पाई,[12] मायरॉन वीनर,[13] डेविड एप्टर[14] और अन्य लेखकों ने नाइजीरिया, श्रीलंका, पाकिस्तान, इन्डोनेशिया, बर्मा, भारत, घाना और अन्य विकासशील देशों के सम्बन्ध मे गवेषणा-पूर्ण पुस्तकें लिखी। उन्होने राष्ट्रवाद के उन विभिन्न रूपो का जो इन देशो मे विकसित हो रहे थे, राजनीतिक, आर्थिक व सास्कृतिक स्तरो पर उठने वाली उन दुविधाओ का जिनका सामना इन देशो को करना पड रहा था, उनके राजनीतिक विकास मे लोक-सेवा, सेना अथवा धर्म की भूमिकाओं का, वैधानिक जनतन्त्र की अवनति के कारणो का, राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रियाओ मे राजनीतिक अभिवृत्तियो और व्यक्तिगत व्यवहारो के योगदान का, और इस बात का कि आर्थिक पिछड़ापन राजनीति के स्वरूप को किस प्रकार प्रभावित करता है, गहराई के साथ अध्ययन किया। यद्यपि ये सभी अध्ययन सरचनात्मक-प्रकार्यात्मक प्रारूप के उस सन्दर्भ मे किये गये थे, जिसका निर्धारण गेब्रियल आमण्ड ने किया था, इन रचनाओं ने इन देशों के सम्बन्ध मे हमारे ज्ञान और समझ-बूझ के दायरे को अधिक व्यापक बनाया और अन्य विकासशील देशो के अध्ययन के लिए उत्कृष्ठ प्रकार के उपकरण प्रस्तुत किये।[15]

इस बीच नये देशो के सम्बन्ध मे साख्यिकी और परिमाणात्मक शोध-सामग्री का एक बड़ा अम्बार इकट्ठा किया जा रहा था। राजनीति-शास्त्र मे सर्वेक्षण की पद्धति का प्रयोग एक लम्बे समय से किया जा रहा था, और जनमत और चुनाव प्रवृत्तियो को समझने के लिए किये जाने वाले अध्ययन का पर्याप्त विकास हो चुका था। अमरीका के बड़े-बड़े विश्वविद्यालयो—येल, मिशीगन, बर्कले, लॉस एंजेलेस, स्टैनफोर्ड, पेनसिल्वेनिया आदि अनेक और शोध सस्थानो ने राजनीतिक घटनाओ और उनसे सम्बन्धित अन्य घटनाओ के अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर किये जाने वाले तुलनात्मक अध्ययनो के लिए आवश्यक सर्वेक्षण सम्बन्धी और अन्य प्रकार की साख्यिकी सामग्री

[9]डब्ल्यू० हॉवर्ड रिगिन्स, 'घीमीन डायनेमाइ ऑफ ए न्यू नेशन,' प्रिंसटन विश्वविद्यालय प्रेस, 1960।

[10]लियोनार्ड बाइन्डर, 'रिलीजन एण्ड पौलिटिक्स इन पाकिस्तान,' बर्कले, कैलिफोर्निया विश्व-विद्यालय प्रेस, 1961।

[11]हर्बर्ट फीथ, 'दि डिक्लाइन ऑफ कॉन्स्टीट्यूशनल डेमोक्रेसी इन इन्डोनेशिया,' इथाका, कोर्नेल विश्वविद्यालय प्रेस, 1962।

[12]पाई, 'पौलिटिक्स, पर्सनैलिटी एण्ड नेशन बिल्डिंग, बर्माज सर्च फॉर आइडेंटिटी,' न्यू हेवन, येल विश्वविद्यालय प्रेस, 1962।

[13]मायरान वीनर, 'दि पौलिटिक्स ऑफ स्केर्सिटी. पब्लिक प्रेशर एण्ड पोलिटिकल रिस्पॉस इन इण्डिया,' शिकागो, शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस, 1962।

[14]डेविड एप्टर, 'घाना इन ट्रंजीशन,' (सशोधित सस्करण), न्यूयार्क, एथिनियम, 1963।

[15]गेब्रियल ए० आमण्ड और जेम्स एस० कोलमैन द्वारा सम्पादित, 'दि पौलिटिक्स ऑफ डेवलपिंग एरियाज,' प्रिंसटन, प्रिंसटन विश्वविद्यालय।

एकत्रित कर ली थी।[16] न्यूयार्क में स्थापित समाज-विज्ञान आधार-सामग्री अभिलेखागार परिषद् (Council of Social Science Data Archives) ने संयुक्त राज्य अमरीका में एक दर्जन से अधिक विश्वविद्यालयों के आधार-सामग्री अभिलेखागारों को सुदृढ़ बनाने में बहुत अधिक सहायता की। उन राजनीतिशास्त्रियों के सामने जो विकासशील देशों के अध्ययन में लगे हुए थे, इस समय सबसे बड़ा प्रश्न यह था कि इस प्रकार सांख्यिकी और परिमाणात्मक सामग्री को सिद्धान्त निर्माण (theory building) के अपने लक्ष्य के साथ वे कैसे जोड़ सकते थे। सांख्यिकी आधार-सामग्री के आधार पर यह बताना तो सम्भव था कि किसी एक देश के विकास स्तर या उसके राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि रूपों में परिमापन किस-किस प्रकार से किया जा सकता था, परन्तु यह नहीं बताया जा सकता था कि राजनीतिक विकास किन शक्तियों से प्रेरणा पाकर और किन मंजिलों से होता हुआ, क्यों, और कैसे, आगे बढ़ता है। पर अब यह आशा की जाने लगी थी कि विकासशील देशों के अध्ययन के आधार पर यदि राजनीतिक विकास के किसी सिद्धान्त का निर्माण किया जा सका तो, आनुभविक राजनीति के सिद्धान्त और मानवीय राजनीति-दर्शन के सम्मिश्रण के आधार पर, उस समस्त सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को, जिसका विकास पाश्चात्य राजनीतिशास्त्री नये देशों के अपने अध्ययन के लिए कर रहे थे, बहुत अधिक समृद्ध बनाया जा सकेगा।

सिद्धान्त की खोज : प्रारम्भिक प्रयत्न

राजनीतिक विकास के सम्बन्ध में सिद्धान्त-निर्माण की प्रक्रिया का प्रारम्भ प्रायः 1960 से माना जाता है, जब आमण्ड और कोलमैन की 'दि पोलिटिक्स ऑफ दि डेवेलपिंग एरियाज' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक का प्रकाशन हुआ। परन्तु, वास्तव में, इस पुस्तक का सम्बन्ध राजनीतिक विकास से उतना नहीं है जितना तुलनात्मक राजनीति से। तुलनात्मक राजनीति के विश्लेषण के लिए इस पुस्तक में एक व्यवहारपरक और व्यवस्थावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। इसमें राजनीतिक विकास की संकल्पना अथवा उसके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया। राजनीतिक विकास के क्षेत्र में सिद्धान्त की खोज का काम वास्तव में 1963 में आरम्भ हुआ जब गेब्रियल आमण्ड की अध्यक्षता में स्थापित की गयी 'तुलनात्मक राजनीति की समिति' (*Committee on Comparative Politics*) की स्थापना की गयी, जिसका उद्देश्य

[16]इस सम्बन्ध में निम्न प्रकाशन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं आर्थर एस॰ बैंक्स और रॉबर्ट बी॰ टेक्स्टर, 'दि क्रॉस-पोलिटी सर्वे,' कैम्ब्रिज, एम॰ आई॰ टी॰ प्रेस, 1963; ब्रूस एम॰ रसेट, हेवर्ड आर॰ एल्कर, जू॰ चार्ल्स डब्ल्यू॰ डॉयश और हैराल्ड डी॰ लासवेल द्वारा सम्पादित, 'वर्ल्ड हैण्डबुक ऑफ पोलिटिकल एण्ड सोशल इन्डिकेटर्स,' न्यू हैवन, येल विश्वविद्यालय प्रेस, 1964; रिचर्ड एल मेरिट और रोकन स्टीन द्वारा सम्पादित, 'कम्पेरिंग नेशन्स : दि यूज ऑफ क्वान्टिटेटिव डेटा इन क्रॉस नेशनल रिसर्च,' न्यू हैवन, येल विश्वविद्यालय प्रेस, 1966।

राजनीतिक विकास और उससे सम्बन्धित अध्ययनो के क्षेत्र मे भाग करने वाले प्रमुख लेखको को एकत्रित करना था। 1963 और 1966 के बीच मे इस समिति के तत्त्वाधान मे तुलनात्मक राजनीति की समिति ने प्रिंसटन विश्वविद्यालय प्रेस से राजनीतिक विकास के विभिन्न पक्षो पर छ. ग्रन्थ प्रकाशित किये, जिनका सम्बन्ध सचारण, लोक-सेवा, राजनीतिक आधुनिकीकरण, शिक्षा, राजनीतिक सस्कृति व राजनीतिक दल व्यवस्था आदि विषयो से था और जिनका सम्पादन लूसियन पाई, जोसेफ ला पालोम्बारा, रॉबर्ट ई० वार्ड, डंकवर्ट, ए० रस्टॉव, जेम्स एस० कोलमैन, सिडनी वर्बा, मायरॉन वीनर और अन्य प्रसिद्ध लेखको के द्वारा किया गया।[17] प्रकाशन की इस व्यापक योजना के परिणामस्वरूप राजनीतिक विकास से सम्बन्ध रखने वाली प्रचुर सामग्री इस विषय मे रुचि रखने वाले पाठको के सामने प्रस्तुत की जा सकी, जिसमे बहुत से परिपक्व और परिष्कृत विचार थे और कुछ अपरिपक्व और अधकचरे विचार भी। इन ग्रन्थो के सौ से अधिक लेखों मे, यह स्पष्ट था, राजनीतिक विकास को समझने के लिए एक सिद्धान्त की खोज की जा रही थी, परन्तु यह सोचना गलत होगा कि राजनीतिक विकास के सिद्धान्त के विकास की इस खोज मे इन लेखको को कोई विशेष सफलता मिल सकी। कुल मिलाकर इन ग्रन्थो के पक्ष मे यह कहा जा सकता है कि उन्होने कुछ मूल्यवान विचारो को जन्म दिया, जिनका इस क्षेत्र मे सिद्धान्त निर्माण के आगे किये जाने वाले प्रयत्नो पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा।

इस विषय के प्रारम्भिक लेखको मे लूसियन पाई वह व्यक्ति था जिसने राजनीतिक विकास की सकल्पना का सबसे अधिक गहराई के साथ विश्लेषण किया, जो उसके सम्बन्ध मे अपने विचारो का लगातार विकास करता रहा, और जिसने अपनी रचनाओं के द्वारा, इस सम्बन्ध मे आने वाले वर्षों मे लिखे गये समस्त साहित्य को प्रभावित किया। अपनी प्रारम्भिक रचनाओ मे पाई ने यह विचार व्यक्त किया था कि राजनीतिक विकास का अर्थ "सास्कृतिक प्रसार, और जीवन के पुराने प्रतिमानो को नयी मागो के साथ अनुकूलित, सम्बन्धित और समायोजित करना" था। राजनीतिक विकास *की दिशा मे पहला कदम* राष्ट्रवाद पर आधारित राज्य व्यवस्था (nation-state) का विकास करना था। इसी के माध्यम से यह सम्भव हो सकता था कि वह सस्कृति, जिसे हम विश्व-सस्कृति का नाम दे सकते हैं, धीरे-धीरे सभी समाजो मे फैल जाय।[18] 1965 मे पोलिटिकल कल्चर एण्ड पोलिटिकल डेवलपमेन्ट' नाम के अपने सम्पादित ग्रन्थ की

[17]लूसियन पाई द्वारा सम्पादित, 'कम्युनिकेशन एण्ड पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट,' 1953; जोसेफ ला पालोम्बारा द्वारा सम्पादित, ब्यूरोक्रेसी एण्ड पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट, 1963; रॉबर्ट ई० वार्ड और डंकवर्ट ए० रस्टोव, 'पोलिटिकल मॉडर्नाइजेशन इन जापान एण्ड टर्की,' 1964; जेम्स एस० कोलमैन द्वारा सम्पादित, 'एजूकेशन एण्ड पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट' 1965; लूसियन पाई और सिडनी वर्बा, 'पोलिटिकल कल्चर एण्ड पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट,' 1965; जोसेफ ला पालोम्बारा और मायरॉन वीनर, 'पोलिटिकल पार्टीज एण्ड पोलिटिकल डेवलपमेन्ट,' 1966। ये सभी ग्रन्थ प्रिंसटन विश्वविद्यालय प्रेस, प्रिंसटन के द्वारा प्रकाशित किये गये।

[18]लूसियन पाई, सं०, 'कम्युनिकेशन्स एण्ड पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट,' पी० उ०, पृ० 19।

प्रस्तावना में पाई ने 'राजनीतिक विकास के मूल तत्त्वों' की व्याख्या की। उसकी मान्यता थी कि राजनीतिक विकास के चिह्न तीन स्तरों पर देखे जा सकते हैं—(1) समस्त जनता के सन्दर्भ में, (2) प्रशासन और राज्य-व्यवस्था की उपलब्धियों के स्तर के सन्दर्भ में, और (3) राज्य-व्यवस्था के गठन की प्रकृति के सन्दर्भ में। जो मूल परिवर्तन आता है वह यह है कि नागरिक अब अपने को प्रजा मान कर उच्च अधिकारियों से प्राप्त आदेशों की चुपचाप पूर्ति में नहीं लग जाता, परन्तु एक-एक ऐसे *सक्रिय सहभागी का स्थान ले लेता है राजनीतिक निर्णयों के निर्माण और उपभोग में* जिसका पूरा योग होता है। दूसरे शब्दों में, एक विकासशील राजनीतिक व्यवस्था में जनसाधारण राज्य के कामों में अधिक सक्रिय रूप से भाग लेते हैं, और इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि वे समानता (equality) के सिद्धान्तों के प्रति अधिक संवेदनशील हो जाते हैं, और ऐसे कानूनों का पालन करने के लिए जो सभी पर समान रूप से लागू होते हैं तत्पर रहते हैं। राजनीतिक विकास के अन्तर्गत जिस दूसरे तत्त्व का विकास होता है वह सार्वजनिक कामों का संचालन करने, वैचारिक मतभेदों पर नियन्त्रण रखने और सार्वजनिक मांगों के साथ निपटने की राजनीतिक व्यवस्था की अधिक क्षमता (capacity) है। यह समझना कठिन नहीं होना चाहिए कि एक अविकसित राजनीतिक व्यवस्था के लिए, जिसे जनसाधारण का रचनात्मक और सहभागी समर्थन नहीं मिला होता, उन्हें अपने साथ रखने में विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। जहां तक राजनीतिक व्यवस्था के गठन का सम्बन्ध है, एक विकासशील राजनीतिक व्यवस्था से अपेक्षा की जाती है कि उसकी सहभागी संस्थाओं में संरचनात्मक विभेदीकरण (structural-differentiation) प्रकार्यात्मक विशिष्टता (functional specificity) और समाकलन (integration) *की मात्रा बढ़ती जायेगी।*[1] *लूसियन पाई का विचार था कि किसी भी* विकासशील व्यवस्था का अध्ययन करने के लिए उसमें समानता, क्षमता, और विभेदीकरण की इन तीन विशेषताओं की खोज करनी चाहिए और जिन मात्राओं में इन विशेषताओं का, जिन्हें बाद में कोलमैन ने 'विकासात्मक सलक्षण' (development syndrome) *का नाम दिया, विकास हुआ है, उनके अनुपात में उसके विकास की स्थिति को आंका* जाना चाहिए।

राजनीतिक विकास के सम्बन्ध में लिखने वाले प्रारम्भिक लेखक उन विशेषताओं की खोज में अधिक थे जिनके आधार पर तीसरे विश्व के विकासशील समाजों को पश्चिम के विकसित देशों से भिन्न करके देखा जा सकता था। उन्होंने विकास की प्रक्रिया को प्रेरित और प्रभावित करने वाली शक्तियों (forces) अथवा उन अवस्थाओं (stages) के अध्ययन पर विशेष जोर नहीं दिया जिन्हें पार करते हुए विभिन्न समाज विकास की ओर आगे बढ़ते हैं। पाई और वर्बा ने अपने सम्पादित ग्रन्थ में इस बात का आश्वासन दिया था कि वे (अ) उन प्रक्रियाओं को समझने का, जिनके द्वारा आज के 'प्रगतिशील' समाजों ने अपने आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त

[1] पाई और वर्बा, सं०, 'पॉलिटिकल कल्चर एण्ड पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट,' पी० उ०, पृ० 13।

किया है, (ब) यह देखने का कि उनके विकास से सम्बन्ध रखने वाले अनुभवो मे कोई "नियमितताए" अथवा "परिवर्तन की स्पष्ट रूप से दिखायी देने वाली अवस्थाए अथवा क्रम" दिखायी देते हैं अथवा नही, और (स) यह पता लगाने का कि अपने विकास की प्रक्रिया मे वश उन्होंने कुछ ऐसी "समस्याओं अथवा सकटो" का सामना किया है जिनका सामना विकासशील देशो को करना पड़ रहा था, प्रयत्न करेंगे,[20] परन्तु वास्तव मे उन्होंने इस प्रकार का कोई प्रयत्न नही किया। पाई ने ही इसके एक वर्ष बाद प्रकाशित होने वाले अपने एक ग्रन्थ मे, इगलैण्ड के अपने अध्ययन के आधार पर जहा ये सकट ठीक इसी क्रम से उत्पन्न हुए थे और उन पर विजय प्राप्त की जा सकी थी, यद्यपि उसने अपना यह विचार भी प्रगट किया कि सभी देशो मे उनका यही क्रम रहे=यह आवश्यक नही था, छः प्रकार के सकटो का उल्लेख किया जिन्हे उसने तादात्म्य (identity) वैधता, (legitimacy), अन्त.प्रवेश (penetration), सहभागिता (participation), एकीकरण (integration), और वितरण (distribution) का नाम दिया। इसका यह अर्थ था कि प्रत्येक नये देश को सबसे पहले अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व खोजना पड़ता है। उसके बाद वहा स्थापित होने वाली राजनीतिक व्यवस्था को वैधता प्राप्त होती है। धीरे-धीरे उसका प्रवेश जनता के अधिक से अधिक भागों मे होता जाता है। बाद में एक स्थिति ऐसी आती है जब जनसाधारण सक्रिय रूप से उसके कामो मे भाग लेने लगते हैं, उसके बाद राज्य सत्ता और जनसाधारण मे एकीकरण की भावना विकसित होती है, और तब राज्य इस स्थिति मे होता है कि उसकी आर्थिक उपलब्धियो का जनसाधारण मे अधिक से अधिक न्यायोचित ढंग से वितरण किया जा सके। ये सभी 'अवस्थाए' काफी कठिन होती हैं, और एक अवस्था को पार कर लेने के बाद दूसरी अवस्था मे उत्पन्न होने वाली कठिनाइयो का सामना करने के लिए राज्य-व्यवस्था को तैयार रहना पड़ता है। इगलैण्ड की राज्य-व्यवस्था इन सभी 'सकटों' को पार कर सकी थी, और इस कारण उसे विकसित देश का एक अच्छा उदाहरण माना जा सकता था।[21]

इसी प्रकार से कैनेथ ऑर्गेन्स्की ने, आर्थिक विकास की रस्टोव द्वारा निर्धारित अवस्थाओ के समान,[22] राजनीतिक विकास की भी चार अवस्थाए बतायी हैं—(1) राजनीतिक एकीकरण, जिसका उद्देश्य अधिक से अधिक शक्ति का राज्य के हाथो में केन्द्रीकृत करना होता है, (2) औद्योगीकरण, जिसके बिना किसी देश का आर्थिक विकास सम्भव नही होता, (3) लोक-कल्याण, जिसमे राज्य के द्वारा प्राप्त किये गये राजनीतिक और आर्थिक सामर्थ्य का फल जनसाधारण को उपलब्ध कराया जाने लगता है, और (4) भौतिक साधनों की प्रचुरता, जिसमे सभी लोग जीवन के ऊचे

[20]वार्ड और रस्टोव, 'पोलिटिकल मॉडर्नाइजेशन इन जापान एण्ड टर्की,' पी० उ०, पृ० 11।

[21]लूसियन पाई, 'आस्पेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट,' लिटिल, ब्राउन एण्ड कं०, 1966, पृ० 62 67।

[22]डब्ल्यू० रस्टोव, 'दि स्टैजेज ऑफ इकनेनोमिक ग्रोथ,' लन्दन, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस, 1960।

से ऊंचे स्तर को प्राप्त करने की स्थिति में होते हैं।[23] यह स्पष्ट है कि ओर्गेन्स्की ने राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण से अधिक जोर आर्थिक विकास पर दिया है। उसने यदि राजनीतिक एकीकरण में रुचि दिखायी है तो केवल इस कारण कि औद्योगीकरण के कारण राज्य इतना शक्तिशाली बन सके कि वह व्यापक आर्थिक विकास के कामों को हाथ में ले सके। उसने यह स्पष्ट कर दिया है कि उसे इस बात की चिन्ता नहीं है कि किस प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था के द्वारा राज्य आर्थिक विकास के अपने लक्ष्य को प्राप्त करे। वह (पश्चिमी देशों के समान) पूंजीवादी हो सकती है, अथवा रूस के समान स्टालिनवादी, अथवा (इटली, स्पेन और आर्जेन्टिना के समान) फासिस्ट (fascist)। इसी प्रकार राष्ट्रीय एकीकरण की प्राप्ति के लिए भी उसने पाश्चात्य-जनतान्त्रिक, साम्यवादी अथवा नात्सी पद्धतियों में भेद करने का कोई प्रयत्न नहीं किया है।

एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के बहुत से ऐसे देशों से, जिन्होंने प्रशासन के लोकतन्त्रीय रूप को छोड़ कर अधिनायकवाद को अपनाया था, शायद प्रेरणा लेकर 1965 में प्रकाशित अपनी "पोलिटिक्स आफ, मॉडर्नाइजेशन" नाम की पुस्तक में डेविड एप्टर ने परम्परागत समाजों के लिए दो भिन्न विकास प्रक्रियाओं की चर्चा की है, जिनका आधार इस बात पर निर्भर होता है कि आधुनीकरण की प्रक्रिया में प्रवेश करते समय (क) उनके प्रशासन का रूप क्या था—श्रेणीबद्ध अथवा अधिक्रमिक (hierarchical), अथवा स्तूपाकार (pyramidal), और (ख) कैसी मूल्य व्यवस्था उन्हें विरासत में मिली थी—नैमित्तिक (instrumental) अथवा निष्पत्तिपरक (consummatory)। एप्टर ने इस प्रकार राजनीतिक विकास के दो प्रह्पों की कल्पना की—(एक) "लौकिक-स्वेच्छातन्त्रवादी (secular-libertarian) प्ररूप, जिसका आधार "समाधान व्यवस्थाओं के माध्यम से लोकतन्त्र की स्थापना" था, और (2) 'धर्म-निर्भर समष्टिवादी (sacred-collectivity) प्ररूप, जो जन-परियोजन (mobilization) व्यवस्थाओं के द्वारा सर्वाधिकारवाद की ओर बढ़ रहा था। एप्टर ने विकासोन्मुख समाजों के द्वारा आधुनिकतावादी तानाशाही, सैनिक अधिनायकवाद और राजनीतिक आधुनीकरण के अन्य जटिल प्रतिमानों के स्थापित किये जाने की भी कल्पना की।[24] एप्टर कृत 'दि पोलिटिक्स ऑफ मॉडर्नाइजेशन' के बाद आधुनीकरण पर प्रकाशनों की एक बाढ़ सी आ गयी। मायरॉन वीनर ने "वॉइस ऑफ अमेरिका फोरम" के अन्तर्गत दिये गये व्याख्यानों का एक संग्रह प्रकाशित किया। ब्लैक और रस्टोव ने आधुनीकरण पर अपने मौलिक ग्रन्थ प्रकाशित किये, और वेल्च जूनियर ने इस विषय पर एक उत्कृष्ट ग्रन्थ प्रकाशित किया।[25] आधुनी-

[23]ए० एफ० के० ओर्गेन्स्की, 'दि स्टेजेज ऑफ पोलिटिकल डेवेलपमेण्ट,' न्यूयार्क नोफ, 1965।

[24]डेविड ई० एप्टर, 'दि पोलिटिक्स ऑफ मॉडर्नाइजेशन,' शिकागो, शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस, 1965।

[25]मायरोन वीनर द्वारा सम्पादित, 'मॉडर्नाइजेशन. दि डायनेमिक्स ऑफ ग्रोथ,' फोरम लेक्चर्स, 1966; सी० ई० ब्लैक, 'दि डायनेमिक्स ऑफ मॉडर्नाइजेशन,' न्यूयार्क, हार्पर एण्ड रो, 1966; डंक्वर्ट ए० रस्टोव, 'दि वर्ल्ड ऑफ नेशन्स, प्रोब्लेम्स ऑफ पोलिटिकल मॉडर्नाइजेशन,' वाशिंगटन डी० सी०,

करण की सकल्पना, विशेषकर उसके राजनीतिक पक्षो, की व्यापक रूप मे विवेचना हुई, और इस सम्बन्ध मे कुछ उत्कृष्ट साहित्य का सृजन हुआ ।

1960 के दशक के मध्याह्न तक कुशाग्र प्रेक्षक यह अनुभव करने लगे थे कि राजनीतिक विकास के अध्ययन मे समाजशास्त्र और विशेषकर उसके उन सरचनात्मक-प्रकार्यात्मक प्रश्नो पर, जिनसे ग्रेब्रियल आमण्ड और उसके समर्थको ने राजनीतिशास्त्रियो को परिचित कराया था, अधिक निर्भरता पायी जाती थी । टैलकॉट पार्सन्स के प्रभाव मे राजनीतिशास्त्रियो ने राजनीतिक व्यवस्था को एक ऐसे पराश्रित परिवर्त्ती (dependent variable) मान लेने की प्रवृत्ति का विकास कर लिया था जिसकी आकृति सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक और सास्कृतिक कारको के द्वारा निर्धारित की जाती थी और जिसका प्रमुख काम इन शक्तियो के द्वारा प्रेरित 'आगमो' को व्यवस्था मे प्रविष्ट करना और उन्हे प्रशासनिक 'निर्गमो' मे परिवर्तित कर देना था। राजनीति को सामाजिक शक्तियो के हाथ मे एक साधन मात्र मान लिया गया था, जिसमे बाहर से सामग्री भर दी जाती है और जिसे मथ कर वह समाज को लौटा देता है—अच्छे, बुरे अथवा साधारण, किस रूप मे यह राजनीतिक व्यवस्था की गुणात्मकता (अथवा विकास के स्तर पर) निर्भर था । वाछनीय लक्ष्य स्थापित करने और जानबूझ कर एक ऐसी व्यवस्था का विकास करने मे, जिसका वे इन सामाजिक और आर्थिक लक्ष्यों के कार्यान्वयन के लिए प्रयोग कर सकते थे, राजनीतिक नेताओ के सकल्प (will) और सामर्थ्य (capacity) को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया था । विद्वानो ने जब भारत मे नेहरू को आधुनीकरण के चक्र को घुमाते, अथवा सुकार्णो को इण्डोनेशिया को सामाजिक न्याय के मार्ग पर ले जाने के प्रयत्न करते, और एशिया और अफ्रीका के अनेक देशो के नेताओं को अपने देशो के भाग्य को, उस रूप मे नहीं जिसमे ऐतिहासिक विरासत अथवा सामाजिक-आर्थिक परम्पराए उन्हे मोड रही थी, परन्तु उस रूप मे जिसमे वे चाहते थे, ढालते हुए देखा तो उन्होंने अनुभव किया कि राजनीति को एक स्वतन्त्र परिवर्ती (independent variable) के रूप मे भी देखा जा सकता है, जो राजनीति के विकास की गति तेज करने मे स्वय एक निर्णायक भूमिका अदा कर सकता है ।

राजनीतिक विकास को एक नया मोड देने मे सामाजिक, आर्थिक, प्रशासनिक, राजनीतिक और सास्कृतिक परिवर्तियो की सम्बद्धता से इन्कार नही किया जा सकता था, परन्तु यह निर्धारित करना कठिन था कि उसमे इनमे से किसी एक विशेष कारक का योगदान कितना था । बहुत सी सकल्पनाए ऐसी थी जिनका आनुभविक परीक्षण नही किया जा सकता था और अधिकाश मामलो मे इस प्रकार के परीक्षण के लिए आवश्यक आधार-सामग्री को उपलब्ध करना सम्भव ही नहीं था, परन्तु इन अध्ययनो की सबसे बडी कमी यह रही कि उन्होने राजनीतिक विकास को एक ऐसा पराश्रित

दि ब्रूकिंग्स इंस्टीट्यूशन, 1967, और क्लौड ई० वेल्च, जू०, द्वारा सम्पादित, 'पोलिटिकल मॉडर्नाइजेशन, ए रीडर इन कम्पेरेटिव पोलिटिकल चेंज,' बेलमौंट, कैलिफोर्निया, वैड्सवर्थ पब्लिशिंग क०, इन्क०, 1967 ।

परिवर्ती माना जिसे बाहर से आने वाले *आधुनीकरण, राष्ट्रवाद अथवा जनतन्त्र* के विश्वव्यापी प्रभावों से प्रेरणा मिलती थी, और जो स्वयं एक ऐसा स्वतन्त्र अथवा प्रेरक परिवर्ती नहीं था जिसमे स्वयं निर्माण करने की शक्ति हो। 1960 के दशक के मध्याह्न में कुछ लेखकों ने यह प्रश्न करना आरम्भ किया कि क्या यह सम्भव नहीं था कि राजनीतिक विकास के कुछ सीमा तक सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक कारकों के द्वारा प्रभावित होते हुए भी, वह स्वयं इन कारकों को एक नया रूप देने और उन्हें राजनीतिक अभिजात वर्ग के द्वारा निर्धारित सामूहिक लक्ष्यों के समानान्तर लाने में महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकता था।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक विश्लेषण : एक आलोचना

टैलकॉट पार्सन्स से लेकर फ्रेड रिग्ज तक अनेक लेखकों ने विश्लेषण की जिस संरचना-त्मक-प्रकार्यात्मक पद्धति का प्रयोग किया था वह प्रमुखतः एक ऐसी संकल्पनात्मक संयोजना मात्र बन कर रह गयी जिसने ऐसी प्राक्कल्पनाओं को प्रेरणा नहीं दी जिनका परीक्षण सम्भव हो पाता, मध्य-स्तरीय सिद्धान्तों को जन्म देना तो दूर की बात थी, और विद्वानों को उससे आनुभविक आधार-सामग्री के संग्रह, वर्गीकरण अथवा विश्लेषण में कोई विशेष सहायता नहीं मिली। व्यवस्था सिद्धान्त की, जिसकी संयोजना के भीतर संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक विश्लेषण की शोध पद्धति का आधार रखा गया था, सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि, यह दावा रखते हुए भी कि गत्यात्मक रूप से भी उसे प्रयोग में लाया जा सकता था, उसने परिवर्तन की समस्याओं पर अधिक ध्यान नहीं दिया। स्वयं आमण्ड ने इस उपागम की मर्यादाओं को समझा और बाद में पॉवेल के सहयोग से उसे बदलने का प्रयत्न भी किया, परन्तु वह अपने आपको उसके चंगुल से सम्पूर्ण रूप से निकाल पाने में सफल नहीं हो सका। एप्टर ने *परिवर्तन—उसकी गति,* रूपों और स्रोतों—के अध्ययन में अधिक रुचि दिखायी, परन्तु इसके लिए उसने संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक संयोजना के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से प्रेरणा ली। मानव-विज्ञान और समाजशास्त्र में, उसका प्रयोग या तो आदिम समाजों के (जैसा मानव-विज्ञानशास्त्रियों ने किया है) अथवा अत्यधिक जटिल समाजों के (जैसा समाज-शास्त्रियों ने किया है) अध्ययन में किया गया है। यह उपागम ऐसे समाजों के अध्ययन में विशेष सहायक नहीं हो सकता था जो एक मूलभूत परिवर्तन की प्रक्रिया में से गुजर रहे थे। हंटिंग्टन ने, जिसने बाद में इस उपागम की बड़ी आलोचना की, लिखा है—"यह आश्चर्य की बात थी कि राजनीतिशास्त्रियों ने राजनीतिक परिवर्तन के अध्ययन के लिए इस उपागम को उस समय चुना जब समाजशास्त्रियों के द्वारा उसकी बड़ी आलोचना इस आधार पर की जा रही थी कि परिवर्तन के अध्ययन के लिए आवश्यक संवेदनशीलता का उसमें अभाव था और इस दृष्टि से उसकी उपयोगिता बहुत सीमित

थी।"[26] एक प्रसिद्ध समाजशास्त्री विल्बर्ट मूर ने इस संकल्पनात्मक संयोजना की कमजोरियों पर प्रकाश डालते हुए लिखा कि यह सिद्धान्त "परिवर्तन के मूल कारणों को जानने का प्रयत्न *नहीं करता, केवल उन्हीं परिवर्तनों के बारे में* संकेत दे सकता है जो बिगड़े हुए सन्तुलन को फिर से स्थापित करने में सहायक हो सकते हैं, उन परिवर्तनों के सम्बन्ध में नहीं जो समाज को सतत रूप से एक विशेष दिशा की ओर ले जा रहे हों, *और इस प्रकार उन भूतकालीन परिवर्तनों को भी, जिनका प्रभाव व्यवस्था* के वर्तमान अध्ययन पर पड़ता है, समझा पाने में सक्षम नहीं है।"[27]

सिद्धान्त की खोज : दृष्टिकोण में परिवर्तन

1960 के दशक के बाद के वर्षों में राजनीतिक विकास के अध्ययन का केन्द्र आर्थिक-*सामाजिक आधारित संरचना (infra-structure) के अध्ययन से हटकर राजनीतिक* नेताओं और संस्थाओं के संकल्प और सामर्थ्य की दिशा में बढ़ने लगा था। अब यह माना जाने लगा था कि प्रभावशाली सामाजिक, आर्थिक और वैज्ञानिक शक्तियों की अपनी भूमिका होते हुए भी, जिसे विश्लेषण में उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता था, अन्ततः राजनीतिक नेताओं का संकल्प और सामर्थ्य ही यह निर्धारित करता है कि किस प्रकार आधुनीकरण के कारण, जिसे शायद इतिहास का एक अनिवार्य भाग माना जा सकता है, उत्पन्न किये गये प्रश्नों, मांगों और आवश्यकताओं को राजनीतिक विकास का स्वरूप दिया जाए। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक विकास अपने आप में एक अन्तिम लक्ष्य नहीं है, वह एक अनवरत प्रक्रिया है—हैल्पर्न के शब्दों में "एक स्थायी क्रान्ति से निपटने के लिए सतत सामर्थ्य"। लेखकों के एक पूरे समूह ने, जिसमें आइजेन्सटाड, हैल्पर्न, हंटिंग्टन, डाइमण्ड, होल्ट, टर्नर, वाईनर[28] और कुछ अन्य लेखक आ जाते हैं, राजनीतिक विकास के अध्ययन के लिए एक नये दृष्टिकोण का विकास किया जिसे 'संकल्प और

[26]सेम्युल्ल पी० हंटिंग्टन "दि चेंज टु चेंज: मॉडर्नाइज़ेशन, डेवेलपमेंट एण्ड पौलिटिक्स," 'कम्पेरेटिव पौलिटिक्स,' खण्ड 3 सं० 3, अप्रैल 1971, पृ०, 308।

[27]विल्बर्ट मूर, "सोशल चेंज एण्ड कोपोरेट स्टडीज," 'इन्टरनेशनल सोशल साइंस जर्नल,' खण्ड *15, 1963,* पृ० *524-25*।

[28]एस० एन० आइजेनसटाड, "मॉडर्नाइज़ेशन एण्ड कन्डिशन्स ऑफ सस्टेन्ड ग्रोथ," 'वर्ल्ड पौलिटिक्स,' खण्ड *16,* जुलाई *1964, मैनफ्रेड हैल्पर्न, 'टुवर्ड्स फर्दर मॉडर्नाइज़ेशन ऑफ दी स्टडी ऑफ न्यू* नेशन्स," 'वर्ल्ड पौलिटिक्स,' खण्ड 17, अक्टूबर 1964, पृ० 157-81 सेम्युल्ल पी० हंटिंग्टन, "पोलिटिकल डेवेलपमेंट एण्ड पोलिटिकल-डिके," 'वर्ल्ड पौलिटिक्स,' खण्ड *17,* अप्रैल *1965,* पृ० 386-93, एल्फ्रेड डायमण्ड, "पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट एप्रोचेज टु थियरी एण्ड स्ट्रैटेजी," जौन डी० मॉण्टगोमरी और विलियम के० सिफिन द्वारा सम्पादित, 'एप्रोचेज टु डेवेलपमेन्ट पौलिटिक्स, एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड चेंज,' न्यूयार्क, मैग्रा हिल 1966, पृ० 15-48, रॉबर्ट टी० होल्ट और जौन ई० टर्नर, 'दि पोलिटिकल बेसिस ऑफ इकोनोमिक डेवेलपमेन्ट,' प्रिंसटन, वान नोस्ट्रांड, 1966, जोसेफ वाईनर, "अरबनाइजेशन एण्ड पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट," 'अमेरिकन पोलिटिकल साइन्स रिव्यू,' खण्ड 56, जून 1967, पृ० 417 27।

सामर्थ्य दृष्टिकोण, 'समस्या समाधान सामर्थ्य', 'संस्थायन, नये लक्ष्यों को स्वीकार करने की क्षमता', आदि नाम दिये गये है। आमण्ड ने, जिसने राजनीतिक विकास के अध्ययन के क्षेत्र में पहल की थी, इस विषय पर अपने आरम्भ के विचारों का परिशोधन करते हुए राजनीतिक विकास की व्याख्या "राजनीतिक संरचनाओं में बढ़ते हुए विभेदीकरण (differential) और विशिष्टीकरण (specialisation) और राजनीतिक संस्कृति में बढ़ती हुई लौकिकता" के सन्दर्भ में की, और सुझाव दिया कि उसका महत्त्व राजनीतिक व्यवस्था के निष्पादन की बढ़ती हुई प्रभावशालिता और दक्षता में तथा उसकी बढ़ती हुई क्षमताओं में था।[29] हैल्पर्न ने "परिवर्तन की अनियन्त्रित शक्तियों के द्वारा उत्प्रेरित संरचनात्मक परिवर्तनों और मांगों," और इन परिवर्तनों और मांगों से निपटने के लिए "राजनीतिक अधिकारियों में अपेक्षित संकल्प और सामर्थ्य" की चर्चा की। आइजेनस्टाड ने राजनीतिक विकास को "एक ऐसी संस्थागत संयोजना" का नाम दिया जिसमें परिवर्तन को आत्मसात् करने की सतत क्षमता थी, परन्तु इन लेखकों के द्वारा योग्यता, संकल्प, कौशल और क्षमता आदि शब्द का प्रयोग एक बड़े शिथिल रूप में किया जाता रहा।

सामाजिक प्रक्रिया और तुलनात्मक इतिहास उपागम

समाजशास्त्रियों के एक अन्य वर्ग ने, जिसका प्रारम्भ लर्नर की रचनाओं से माना जा सकता है, राजनीतिक विकास को औद्योगीकरण, नगरीकरण, व्यापारीकरण, साक्षरता प्रसार आदि सामाजिक प्रक्रियाओं के दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न किया।[30] लेखकों के इस वर्ग का आग्रह व्यवस्था से अधिक प्रक्रिया पर था। उन्होंने, शोध-प्रविधि के रूप में, व्यवस्था उपागम की तुलना में एक अधिक व्यवहार-परक और अनुभवोन्मुखी-उपागम को स्वीकार किया जिसके परिणामस्वरूप वे, सामाजिक सर्वेक्षण आदि के माध्यम से, प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में पर्याप्त मात्रा में ऐसी आधार-सामग्री का संचयन करने में सफल हो सके जिसकी प्रकृति परिमाणात्मक थी। सामाजिक प्रक्रिया उपागम को व्यवस्था-उपागम से इस दृष्टि से भिन्न करके देखा जा सकता है: (1) जबकि व्यवस्था-उपागम का ध्यान मुख्यतः विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक संरचनाओं के द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले प्रकार्यों पर था, सामाजिक प्रक्रिया उपागम का आग्रह प्रक्रियाओं को सम्बद्ध करके देखने और उनके सहारे कार्यकारण विश्लेषण की दिशा में आगे बढ़ने पर था, (2) जबकि व्यवस्था-उपागम बाद की अभिरचना को समूची

[29]गेब्रियल आमण्ड और जी० विंगम पोवेल, जू०, 'कम्पेरेटिव पोलिटिक्स, ए डेवेलपमेन्टल एप्रोच,' बोस्टन, लिटिल, ब्राउन एण्ड क०, 1966।

[30]डेनियल लर्नर, 'दि पासिंग ऑफ दी ट्रेडीशनल सोसाइटी,' पी० ४०; कार्ल डॉयच "सोशल मोबिलाइजेशन एण्ड पॉलिटिकल डेवेलपमेंट," 'अमेरिकन पोलिटिकल साइंस रिव्यू,' खण्ड 55 सितम्बर 1961, पृ० 493-514।

व्यवस्था के साथ जोडने का प्रयत्न करता है, सामाजिक प्रक्रिया उपागम कार्य की एक अभिरचना को कार्य की दूसरी अभिरचना के साथ सम्बन्धित करने का प्रयत्न करता है। व्यवस्था उपागम की तुलना मे सामाजिक प्रक्रिया उपागम इस दृष्टि से श्रेष्ठ है कि वह परिवर्तियो के बीच, और विशेष कर परिवर्तियो के एक समुच्चय मे होने वाले परिवर्तनो और परिवर्तियो के दूसरे समुच्चय मे होने वाले परिवर्तनो के बीच, सम्बन्धो की स्थापना कर सकता था, जिसके परिणामस्वरूप उसे परिवर्तन के अध्ययन के लिए व्यवस्था उपागम की तुलना मे अधिक उपयुक्त माना जा सकता था। परन्तु इस उपागम की एक बडी कमी यह थी कि एक सस्कृति विशेष से सम्बद्ध होने के अतिरिक्त उसमे व्यवस्था-उपागम के सकल्पनात्मक परिष्करण का अभाव था।

इन दोनो ही दृष्टिकोणो मे इतिहास की उपेक्षा की गयी थी। इसका कारण दृष्टिकोण का वह परिवर्तन था जो 1930 के दशक मे राजनीति-विज्ञान की प्रकृति के सम्बन्ध मे आ गया था, जबकि लासवेल और अन्य लेखको ने राजनीति-विज्ञान मे मनोविज्ञान से बहुत सारे विचार, सकल्पनाए और पद्धतियो को अगीकार किया था, और 1940 के दशक मे, जब ट्रूमैन और दूसरे समूह सिद्धान्त के प्रतिपादक सामाजिक मनोविज्ञान के बहुत अधिक प्रभाव मे थे, 1950 के दशक मे, जब व्यवहारपरक राजनीतिशास्त्रियो के द्वारा समाजशास्त्र से सरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम अपनी भारी भरकम मान्यताओ के साथ, स्वीकार कर लिया गया था, और 1960 के दशक मे भी, जबकि अर्थशास्त्र से सन्तुलन आगम, निर्गम और खेल सिद्धान्तो की सकल्पनाओ को ज्यो का त्यो ले लिया गया था, चलता रहा था। व्यवहारपरक राजनीतिशास्त्रियो ने इतिहास को पृष्ठभूमि मे धकेल दिया था और शोध की उन नयी पद्धतियो पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया था जिनका स्वय उन्होंने विकास किया था। तुलनात्मक इतिहास उपागम, जिसकी झलक बेन्डिक्स, रस्टोव और वार्ड, आइजेन्स्टाड, वैरिंगटन मूर और अन्य लेखको की रचनाओ मे देखी जा सकती थी, व्यवस्था-प्रारूप और सामाजिक प्रक्रिया उपागम से इस दृष्टि से भिन्न था कि उसने दो अथवा अधिक समाजो के विकास की प्रकृति को एक दूसरे के साथ तुलना करके समझने का प्रयत्न किया था। यद्यपि यह काम बहुत अधिक परिमाणात्मक नही था, वह काफी अधिक मात्रा मे आनुभविक अवश्य था, और सामाजिक प्रक्रिया उपागम की तुलना मे राजनीतिक सस्थाओ, सस्कृतियों औरनेतृत्व का अधिक गहराई मे जाकर अध्ययन कर सकता था। विभिन्न समाजो की एक दूसरे के साथ तुलना के काम मे उसकी सहायता ली जा सकती थी। विकास की विभिन्न अवस्थाओं को एक दूसरे से भिन्न करके देखा जा सकता था। फिर भी, यह तो मानना ही होगा कि सरचनात्मक-प्रकार्यात्मक, सामाजिक प्रक्रिया और तुलनात्मक इतिहास उपागम, इन तीनो मे से कोई भी उपागम ऐसा नही था जो राजनीतिक विकास के लिए एक उपयुक्त सयोजना दे पाता, सिद्धान्त का विकास करना तो दूर की बात थी। इन तीनो उपागमो का अन्तर स्पष्ट करते हुए हंटिंग्टन ने लिखा है, "सरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम परिवर्तन के अध्ययन की दृष्टि से कमजोर था, सामाजिक प्रक्रिया उपागम राजनीति के अध्ययन की दृष्टि से कमजोर था, और तुलना-

त्मक इतिहास उपागम सिद्धान्त की दृष्टि से कमजोर था।"

1960 के दशक के बाद के वर्षों में विभिन्न लेखकों ने राजनीतिक परिवर्तन के अध्ययन के लिए कुछ अन्य सिद्धान्तों का विकास किया। इन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है : (1) घटकीय परिवर्तन (componential change) का सिद्धान्त, (2) संकट परिवर्तन (crisis change) का सिद्धान्त, और (3) जटिल परिवर्तन (complex change) का सिद्धान्त। हटिंगटन का नाम घटकीय परिवर्तन के सिद्धान्त के साथ जुड़ा हुआ है—वास्तव में उसने स्वयं अपने सिद्धान्त को यह नाम दिया है। हटिंगटन यह मानता है कि राजनीतिक सहभागिता (political participation) और राजनीतिक संस्थापन (political institutionalization) के बीच के सम्बन्धों को राजनीतिक परिवर्तन का प्रमुख आधार मानना चाहिए। उसका आग्रह राजनीतिक व्यवस्था के घटकों (components) को एक दूसरे से भिन्न करके देखने, और यह पता लगाने, पर है कि एक घटक के परिवर्तनों और दूसरे घटक के परिवर्तनों के बीच क्या सम्बन्ध है। हटिंगटन के अनुसार प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में 5 घटक होते हैं : संस्कृति, संरचना, समूह, नेतृत्व और नीतियाँ। राजनीतिक परिवर्तन की समग्रता को समझने के लिए यह आवश्यक है कि पाँचों में से प्रत्येक में होने वाले परिवर्तनों, और एक घटक में होने वाले परिवर्तनों का और दूसरे घटक में होने वाले परिवर्तनों, के बीच के सम्बन्धों का गहराई के साथ अध्ययन किया जाय।

संकट परिवर्तन उपागम में हमें दो विचारधाराएं दिखायी देती हैं : (1) जिसका प्रतिपादन ग्रेब्रियल आमण्ड ने किया, और (2) जिसका प्रतिपादन डंकवर्ट रस्टोव ने, आमण्ड, जिसने 1960 में राजनीतिक व्यवस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन के लिए एक संयोजना तैयार की थी और 1966 में, पोवेल के सहयोग से, विकासोन्मुख समाजों के अध्ययन में तुलनात्मक उपागम का विकास किया था, 1969 में सन्तुलन और विकास के, जिनका निर्धारण निर्यात (determinancy) अथवा निर्णय (choice) के द्वारा सम्भव था, अपने अध्ययन के द्वारा अपनी सकल्पनात्मक संयोजना को एक अधिक व्यापक रूप दिया। उसने राजनीतिक परिवर्तन के लिए विभिन्न अवस्थाओं की कल्पना की—प्रारम्भिक स्थिति पूर्ववर्ती सन्तुलन (antecedent equilibrium) की मानी जा सकती थी। इस सन्तुलन पर एक ओर से अ-राजनीतिक, घरेलू, और दूसरी ओर से वैदेशिक इन दोनों ही प्रभावों की प्रतिक्रिया होती है। इसके कारण राजनीतिक मांगों के स्वरूप और राजनीतिक स्रोतों के वितरण दोनों में ही परिवर्तन आता है। ये परिवर्तन तब स्वतन्त्र परिवर्तियों का रूप ले लेते हैं, जिनका उपयोग राजनीतिक नेतृत्व, नये राजनीतिक गठबन्धनों के निर्माण और नये राजनीतिक लाभों की उपलब्धि के लिए करता है। इसके परिणामस्वरूप दूरगामी सांस्कृतिक और संरचनात्मक परिवर्तनों का प्रारम्भ होता है, और इस समग्र प्रक्रिया की परिणति एक नये सन्तुलन में होती है जिसे 'अनुवर्ती सन्तुलन' (consequent equilibrium) का नाम दिया जा सकता

है।[31] रस्टोव ने सकट परिवर्तन उपागम का एक नया प्रारूप प्रस्तुत किया। आमण्ड के समान रस्टोव भी *राजनीतिक नेतृत्व के द्वारा लिये जाने वाले निर्णयों* को सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानता है। रस्टोव के विचार मे परिवर्तन का आरम्भ तब होता है जब वर्तमान स्थिति के प्रति असन्तोष की भावना जन्म लेती है और उसके परिणामस्वरूप नयी राजनीतिक गतिविधियो का जन्म होता है। यदि वह आन्दोलन या सगठन जो इन राजनीतिक गतिविधियो के लिए उत्तरदायी होता है अपने कार्य मे सफल हो जाता है तो वह नये लक्ष्यों का निर्धारण करता है। रस्टोव का विश्वास है कि प्रशासन के निर्माण के लिए, और जिस समूह अथवा व्यक्ति के पास सत्ता है उससे सत्ता छीनने के लिए, *नेताओ के सामने विभिन्न विकल्प खुले होते हैं।*[32]

घटकीय परिवर्तन और सकट परिवर्तनो के उपागमो मे रोनल्ड डी० ब्रूनर और ग्रैरी डी० ब्रूवर के द्वारा 1971 मे जटिल परिवर्तन (complex change) के उपागम को जोड दिया गया। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि ब्रूनर और ब्रूवर की यह मान्यता थी कि राजनीतिक परिवर्तन अपने आप मे एक *अत्यधिक जटिल प्रक्रिया* है और उसके अध्ययन के लिए उन्होने 22 परिवर्तियो (variables) और 20 प्राचलो (parameters) का उल्लेख किया जिनकी सहायता से ग्रामीण और नागरिक क्षेत्रो का तथा लोकतान्त्रिक उप-व्यवस्था, *आर्थिक उप-व्यवस्था और राजनीतिक उप-व्यवस्था का अध्ययन किया जा सकता था* और इन परिवर्तियो और प्राचलो के सम्बन्धो को 12 समीकरणो (equations) के रूप मे व्यवस्थित किया जिनका विकास उन्होने आधुनीकरण के सामान्य सिद्धान्तो और लगभग बीस वर्ष (1940 से 1960 तक) के दौरान मे कुछ विकासोन्मुख देशो (तुर्की और फिलीपीन्स) मे होने वाले परिवर्तनो के अपने विश्लेषणो से प्राप्त किया। ब्रूनर-ब्रूवर प्रारूप यह दावा कर सकता था कि वह राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन के लिए एक ऐसा अत्यधिक सुनिश्चित प्रारूप था जिसमे अनेक महत्वपूर्ण जनांकिकीय (demographic), *आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तियो को सम्मिलित कर लिया गया था* और जिसके परिणामस्वरूप नीति-निर्माताओ के सामने निर्णयो के अनेक विकल्प खुल गये थे, जिनमे से वे उन्हे चुन सकते थे जो उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उनकी दृष्टि मे वाछनीय थे।[33] ब्रूनर-ब्रूवर प्रारूप की स्थापना के साथ यह दावा किया जा सकता था कि राजनीति-

[31]गेब्रियल आमण्ड, 'डिटरमिनेसी—चोयस, स्टेबिलिटी, चेंज सम थॉट्स ऑन ए कौंटेम्परेरी पोलेमिक इन पोलिटिकल थियरी,' सेन्टर फॉर एडवान्सड् स्टडी इन दी बिहेवियरल साइंसेज, *स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय, अगस्त 1969।*

[32]डेंकवर्ट रस्टोव, "चेंज इज दी थीम ऑफ पोलिटिकल साइंस," टोकियो मे सितम्बर 1969 में होने वाले *इन्टरनेशनल पोलिटिकल साइन्स एसोसिएशन की एक विचार गोष्ठी मे प्रस्तुत किया गया* प्रबन्ध, पृ० 6-8, 'कम्यूनिज्म एण्ड चेंज," चामर्स जोनसन द्वारा सम्पादित 'चेंज इन कम्युनिस्ट सिस्टम्स,' स्टेनफोर्ड, 1970, पृ० 343-58, "ट्रेंजीशन टू डेमोक्रेसी टुवर्ड ए डायनेमिक मॉडल," *'कम्पेरेटिव पोलिटिक्स,' खण्ड 1, अप्रैल 1970, पृ० 337 63।*

[33]रोनल्ड डी० ब्रूनर और गैरी डी० ब्रूवर, 'आर्गेनाइज्ड कौम्प्लेक्सिटी : एम्पीरिकल थियरीज ऑफ पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट,' न्यूयार्क, 1971।

विज्ञान अब इस स्थिति में पहुंच गया था कि वह परिवर्तियों के बीच के सम्बन्धों का एक जटिल विश्लेषण कर सके। यह वह स्थिति थी जिस तक पहुंचने का दावा सामाजिक-विज्ञानों में अब तक केवल अर्थशास्त्र ही कर सका था। यह भी दावा किया जाने लगा था कि राजनीति-विज्ञान केवल स्थैतिक सन्तुलन ही नहीं, गत्यात्मक सन्तुलन के अध्ययन की स्थिति में भी था। इस प्रकार, राजनीतिक परिवर्तन के सैद्धान्तिक अध्ययन के क्षेत्र में यह एक बड़ी प्रगति का सूचक था। यह एक बिलकुल भिन्न प्रश्न था कि इन प्ररूपों को उन वास्तविक परिवर्तनों के अध्ययन में—उन अनेकों प्रकार के परिवर्तनों के अध्ययनों में जो विकासोन्मुख समाजों में एक बड़े अव्यवस्थित ढंग से हो रहे थे—कहां तक प्रयोग में लाया जा सकता था। इन नये सिद्धान्तों, प्ररूपों, सकल्पनात्मक उपागमों, अथवा किसी भी नाम से उन्हें पुकारा जाय, में से एक भी ऐसा नहीं था जिसे किसी विकासोन्मुख देश के विशिष्ट सन्दर्भ में राजनीतिक परिवर्तन के अध्ययन के लिए आज तक काम में लाया गया हो।

राजनीतिक विकास की अवस्थाएं : ऐतिहासिक और प्रकार्यात्मक

राजनीतिक विकास के सम्बन्ध में एक दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या हम उसका अध्ययन, एक व्यापकतर सामाजिक प्रक्रिया के सन्दर्भ में, ऐसी विभिन्न अवस्थाओं के रूप में कर सकते हैं जिन्हें एक दूसरे से भिन्न करके देखा जा सके और जो एक व्यवस्थित और क्रमबद्ध रूप में एक दूसरे का अनुसरण कर रही हों? जिन राजनीतिशास्त्रियों ने अवस्थाओं के सम्बन्ध में लिखा है उन्होंने, जान पड़ता है, यह विचार अर्थशास्त्र से लिया है, यद्यपि वास्तविकता यह है कि उसकी जड़ें इतिहास में दिखायी देती हैं। प्लेटो ने इतिहास की कल्पना एक चक्र-सिद्धान्त (cyclic) के रूप में की थी, जिसके अनुसार उसने विश्व जीवन को एक सतत घूमते हुए चक्र के रूप में देखा। अन्य यूनानी विचारकों ने स्वर्ण, रजत और ताम्र इन तीनों युगों की कल्पना की, और हिन्दुओं ने कलियुग, द्वापर, त्रेता और सत्ययुग, इन चारों युगों की। उसके स्थान पर यहूदी-ईसाई धर्मों ने एक रेखाकार (linear) विकास का विचार दिया। पुनर्जागरण (Renaissance) युग के बाद यह विचार, कि विवेक-शक्ति के उपयोग के द्वारा, और प्रकृति पर अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करके, मनुष्य धीरे-धीरे सम्पूर्णता की ओर बढ़ रहा है, लोकप्रिय होने लगा, और 19वीं शताब्दी में हम टरगो, काम्टे, कॉन्डोर्सेट, हीगल और स्पेन्सर जैसे प्रमुख चिन्तकों को इतिहास को पक्की प्रगति के एक आन्दोलन के रूप में करते हुए पाते हैं, और मार्क्स को, अपने ऐतिहासिक भौतिकवाद की संकल्पना के माध्यम से, प्रगति को एक द्वन्द्वात्मक रूप में प्रस्तुत करते देखते हैं। 20वीं शताब्दी के कुछ प्रमुख इतिहासकारों ने, जिनमें स्पेंगलर, टॉयनबी और सोरोकिन प्रमुख हैं और जो प्रथम विश्वयुद्ध की पाशविकताओं और उसके बाद के वर्षों की खेदजनक घटनाओं से बहुत अधिक प्रभावित थे, उस पुराने दृष्टिकोण का, जिसमें इतिहास को उत्थान और पतन की एक कहानी माना गया था, एक बार फिर प्रतिपादन किया और अपना यह

विश्वास प्रकट किया कि सभ्यता पतन की ओर जा रही थी। आज के समाजशास्त्रियो ने, जो सम्भवत द्वितीय विश्वयुद्ध के विजयी अन्त से और इस भावना से कि (सयुक्त राज्य अमरीका के नेतृत्व मे) पाश्चात्य समाज इस समय ससार के शिखर पर था, एक अधिक आशाप्रद दृष्टिकोण अपनाया, और वे इतिहास को मनुष्य के प्रकृति पर और स्वय अपने आप पर अधिकतर नियन्त्रण स्थापित करने की दिशा मे निरन्तर प्रगति के रूप मे देखते हैं।

राजनीतिक विकास के सम्बन्ध मे लिखने वाले अधिकाश राजनीतिशास्त्रियों की रचनाओ मे हमे, स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से, उन अवस्थाओ का सकेत मिलता है जिनमे से होकर किसी भी देश को राजनीतिक विकास के एक सन्तोषप्रद स्तर पर पहुचने के लिए गुजरना होता है। हटिंग्टन ने राजनीतिक विकास को निर्धारित करने वाली जिन आधारभूत क्रिया-विधियो का वर्णन किया है वे हैं— (1) प्रशासन का तर्कसगत होना, (2) राजनीतिक प्रकार्यों मे विभेदीकरण, और (3) बढ़ती हुई सहभागिता—उनसे यह प्रतीत होता है कि वह इन्हे आनुक्रमिक अवस्थाए मानता है। हटिंग्टन की तो यह मान्यता प्रतीत होती है कि यदि ये प्रक्रियाए एक दूसरे के बहुत समीप आ जायें अथवा एक ही समय मे होने लगें, तो राजनीतिक विकास मे सहायता मिलने के स्थान पर, उसमे व्यवधान पड़ेगा और इसी कारण वह यह सुझाव देता है कि राजनीतिक जागृति की उस अवस्था (mobilization) मे, जिसमे जनसाधारण बहुत तेज़ी से परिधि मे निर्णय-निर्माण के केन्द्रो मे प्रवेश करते है सस्थाओ के निर्माण (Institutionalization) की गति मे सन्तुलन आवश्यक है।[31] इसी प्रकार, आइजेन्सटाड आधुनीकरण के लिए दो भिन्न अवस्थाओ की चर्चा करता है—(1) मर्यादित आधुनीकरण, जिसका सकेत उस आन्दोलन की ओर है जिसने पश्चिमी देशो मे 18वी शताब्दी मे मूर्त रूप लिया, और (2) जन-आधुनीकरण, जो 20वी शताब्दी की घटना है। आइजेन्सटाड ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि विकासशील देश आज एक सकट का सामना केवल इसी कारण कर रहे हैं कि उनमे आधुनीकरण की ये दोनो अवस्थाए एक दूसरे मे एकीकृत हो गयी हैं। आमण्ड भी राजनीतिक विकास के आधारभूत प्रचालन मे जिन तत्वो की चर्चा करता है—राज्य-निर्माण, राष्ट्र-निर्माण, सहभागिता और वितरण—उनका विकास भी आनुक्रमिक अवस्थाओ मे ही होता है। जब तक किसी देश मे एक केन्द्रीय प्रशासन की स्थापना नही हो जाती और वह प्रशासन पूरे समाज पर अपना प्रभाव स्थापित नही कर लेता, और उसके विभिन्न समूहो को अपनी परिधि मे खींच नही लेता, राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया, जिसके अन्तर्गत निष्ठाओं और प्रतिबद्धताओ के सकट आते हैं, ठीक से प्रारम्भ नही हो सकती। इसी प्रकार, सहभागिता की प्रक्रिया उसी स्थिति मे प्रभावशाली हो सकती है जब कि राष्ट्र-

[31]सेमुएल पी० हटिंग्टन, "पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट एण्ड पोलिटिकल डिके," 'वर्ल्ड पोलिटिक्स,' खण्ड 17, 1965, पृ० 386-430. 'पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट इन चेन्जिंग सोसाइटीज,' न्यू हैवन, कनेक्टीकट येल विश्वविद्यालय प्रेस, 1968।

राज्य को पूर्ण रूप से सशक्त बना लिया जाय। जब तक राज्य के मामलों में जनता के अधिकतम भाग का सहयोग नहीं हो जाता, राज्य के द्वारा प्राकृतिक साधनों पर नियन्त्रण स्थापित करने के फलस्वरूप प्राप्त किये जाने वाले लाभों को जनता में ठीक ढंग से वितरित नहीं किया जा सकता।[35] अन्य लेखकों के समान आमण्ड और पॉवेल ने भी अपना यह विश्वास प्रगट किया है कि यदि इन अवस्थाओं का विकास आनुक्रमिक रूप से न होकर एकीकृत रूप में होने लगता है तो राजनीतिक व्यवस्था पर इसका दबाव बहुत अधिक पड़ता है और इसके परिणामस्वरूप उसका विघटन भी हो सकता है।[36]

जबकि हटिंग्टन, आइजेन्सटाड और आमण्ड की रचनाओं में हमें यह संकेत मिलने लगते हैं कि राजनीतिक विकास की प्रक्रिया अनेक अवस्थाओं में से होकर गुजरती है, ऑर्गेन्सकी शायद पहला लेखक है जिसने राजनीतिक विकास की अवस्थाओं का विशद विवरण दिया है। यह स्पष्ट है कि ऑर्गेन्सकी ने इन अवस्थाओं को पाश्चात्य समाजों के विकास के इतिहास से लिया है, परन्तु उसने अपना यह दृढ़ विश्वास भी प्रगट किया है कि किसी भी नये राज्य को अपने राजनीतिक विकास के लिए इन्हीं चार अवस्थाओं में से गुजरना होगा। ऑर्गेन्सकी ने जिन चार आधारभूत अवस्थाओं का वर्णन किया है वे हैं—(1) आदिम एकीकरण, (2) औद्योगीकरण, (3) लोक-कल्याण, और (4) प्रचुरता। आदिम एकीकरण का अर्थ किसी निर्दिष्ट प्रदेश में कुछ निर्दिष्ट लोगों अथवा समूहों के लिए एक केन्द्रीय प्रशासन की स्थापना है। यह वह अवस्था है जिसमें पश्चिमी देश 18वीं शताब्दी के मध्य तक पहुंच गये थे। औद्योगीकरण में आर्थिक औद्योगीकरण की प्रक्रिया और वे सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन जिनके कारण नये वर्गों का प्रादुर्भाव होता है और वे राज्य के मामलों में अधिकाधिक रुचि लेते दिखायी देते हैं, दोनों आ जाते हैं। यह वह अवस्था है जिसमें पश्चिमी यूरोपीय देश 18वीं शताब्दी के मध्य और 19वीं शताब्दी के अन्त के बीच पहुंच गये थे। 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में केन्द्रीय और पूर्वी यूरोप में होने वाले विकास को ध्यान में रखते हुए ऑर्गेन्सकी ने अपना यह विश्वास प्रकट किया है कि यह बिलकुल सम्भव है कि औद्योगीकरण विभिन्न देशों में विभिन्न प्ररूपों के द्वारा लाया जा सके। बुर्ज्वा प्ररूप के अतिरिक्त, जिसका विकास पश्चिमी देशों ने किया, साम्यवाद का वह स्टालिनवादी प्ररूप है, जिसे सोवियत यूनियन ने स्वीकार किया, और फासीवाद का वह समन्जित (syncretic) प्ररूप, जिसे इटली ने अपनाया। ऑर्गेन्सकी के अनुसार बुर्ज्वा प्ररूप की यह विशेषता है कि उसमें वैयक्तिक साधनों के द्वारा पूंजी को इकट्ठा किया जाता है, जिसकी कीमत मजदूर वर्ग को अप्रत्यक्ष रूप से चुकानी पड़ती है, और जिसमें बुर्ज्वा वर्ग कुलीनतन्त्रीय अभिजन वर्ग को, क्रान्ति के द्वारा अथवा धीमे, परम्परागत संक्रमण के द्वारा, अपदस्थ कर देता

[35] एस० एन० आइजेन्सटाड, 'मॉडर्नाइजेशन: प्रोटेस्ट एण्ड चेंज,' एन्गलवुड क्लिफ्स, एन० जे०, प्रेंटिस हाल, 1966।
[36] आमण्ड और पॉवेल, 'कम्पेरेटिव पॉलिटिक्स,' पी० उ०।

है। स्टालिनवादी प्ररूप की विशेषता यह है कि पूंजी नौकरशाही के एक नये वर्ग के हाथों में एकत्रित हो जाती है जो एक उग्र क्रान्ति के द्वारा कुलीनतन्त्रीय और बूर्ज्वा अभिजन वर्ग को बलपूर्वक अपदस्थ कर देते हैं। उसकी कीमत भी मजदूर वर्ग को ही चुकानी पड़ती है और समन्जित प्ररूप की विशेषता यह है कि उसमे मध्यवर्गीय दक्षिण-पन्थी उग्रवादियों के माध्यम से जमींदार अभिजन वर्ग और बूर्ज्वा वर्ग के बीच एक एक समझौता हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप एक अधिकारवादी राज्य की स्थापना होती है, जो मजदूर वर्ग की कीमत पर पूंजी का संग्रह अपने हाथो मे करता है।

ओर्गेन्सकी की तीसरी अवस्था मे एक प्रकार से दूसरी अवस्था की प्रक्रिया का प्रत्या-वर्तन होता है, इस अर्थ मे कि इस अवस्था मे राज्य के द्वारा किसी एक अथवा दूसरी अवस्था मे संग्रह किये गये विशाल साधनो का पुनः वितरण होता है। लोक-कल्याण की राजनीति से ओर्गेन्सकी का अर्थ आवश्यक रूप से लोकतान्त्रिक व्यवस्था से नहीं है। इस अवस्था का विकास भी विभिन्न देशो के द्वारा विभिन्न प्ररूपो के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। वे पश्चिमी योरोपीय देशों में जनतन्त्र के प्ररूप हो सकते हैं, मध्य यूरोप के देशों मे नात्सीवाद के प्ररूप अथवा सोवियत रूस और अन्य पूर्वी योरोपीय देशों में साम्यवाद के प्ररूप। ओर्गेन्सकी द्वारा जिस चौथी अवस्था का सुझाव दिया गया है वह **प्रचुरता** की अवस्था है, जिसका आधार आर्थिक व्यवस्था के द्वारा असमर्यादित उत्पादन है और जिसमें सभी सामग्रियां सभी के लिए सामान्य रूप से प्राप्त हैं--यह वह अवस्था है जिसे आज केवल संयुक्त राज्य अमरीका ही प्राप्त कर सका है।[37]

राजनीतिक विकास की विभिन्न अवस्थाओ का ओर्गेन्सकी का विवरण योरोपीय महाद्वीप और अमरीका में होने वाले विभिन्न प्रकार के विकासो के आधार पर है और उसमे उन स्थितियों के सम्बन्ध मे, जो आज विकासोन्मुख देशो में पायी जाती हैं, तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया है। ओर्गेन्सकी औद्योगीकरण को उसके संकीर्ण, आर्थिक अर्थ मे नहीं, आधुनीकरण की सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रक्रिया के अर्थ मे, समाज के विकास की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अवस्था मानता है और उसका यह विश्वास दिखायी देता है कि दूसरी अवस्था मे उसके सुझाये हुए तीन प्ररूपो में से किसी एक का भी अनुकरण, जो तीसरी अवस्था के उसके विकल्प के स्वरूप को निर्धारित करता है, उसे अनिवार्य रूप से राजनीतिक विकास की ओर से ले जायेगा। ऐतिहा-सिक दृष्टि से यदि हम देखें तो यह विश्वास करना कठिन होगा कि इटली मे औद्योगी-करण की प्रक्रिया को समन्जित (फासीवादी) प्ररूप ने जन्म दिया—उसका वास्तविक आरम्भ सैनिक शासन के दिनो मे मध्यमवर्ग के द्वारा किया गया था और दूसरे विश्व-युद्ध के बाद क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक प्रशासन के द्वारा उसे पूरा किया गया—अथवा जर्मनी में नात्सी प्ररूप ने लोक-कल्याण की भावना को जन्म दिया। ओर्गेन्सकी की अवस्थाओ की संकल्पना वास्तव में समाज के सर्वांगीण विकास मे सक्रिय रुचि लेती है, न कि राजनीतिक विकास की विशिष्ट प्रक्रिया मे। राजनीतिक विकास के सम्बन्ध मे

[37] ए० एफ० के० ओर्गेन्सकी, 'दि स्टेजेज ऑफ पोलिटिकल डेवेलपमेंट,' न्यूयार्क, नौफ 1965।

ओर्गेन्सकी का विचार औद्योगीकरण को बहुत महत्त्व देता है और इस विचार पर आधारित है कि जो समाज सफलता के साथ अपना औद्योगीकरण नहीं कर सकता वह अनिवार्य रूप से अपनी जीवन-क्षमता (viability) को खो देगा।

किसी देश के राजनीतिक विकास में ऐतिहासिक अवस्थाओं को अनिवार्य मान लेने की तुलना में उन प्रारम्भिक अवस्थाओं की चर्चा करना अधिक उपयोगी होगा, जिनमें से प्रत्येक देश को, राजनीतिक विकास का एक अच्छा स्तर प्राप्त करने के लिए, अनिवार्यतः गुजरना होता है। किसी भी नये राज्य के राजनीतिक विकास की पहली अवस्था यह है कि उसका राजनीतिक अभिजन वर्ग अपने समाज के लिए एक नये राजनीतिक प्ररूप का विकास करे। किस प्रकार के राज्य को वे अस्तित्व में लाना चाहते हैं ? वह उस पुराने प्ररूप से जो अधिकांशत. औपनिवेशिक प्ररूप था, किस प्रकार भिन्न होगा ? दूसरे शब्दों में, उस राजनीतिक अभिजन वर्ग के, जिन्होंने राज्य के एक नये प्ररूप की कल्पना की है, आदर्श क्या है ? क्या केवल राजनीतिक स्वाधीनता अर्थात् एक विदेशी अभिजन वर्ग के स्थान पर स्वदेशी अभिजन वर्ग की स्थापना उनका लक्ष्य है अथवा एक भिन्न प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था को वे स्थापित करना चाहते हैं जिसका आधार राजनीतिक जनतन्त्र, आर्थिक समानता अथवा सामाजिक न्याय, अथवा इन सभी आदर्शों के, सम्मिश्रण पर हो। वे साधन कौन से थे जिन्हें उन्होंने स्वतन्त्रता के अपने संघर्ष में राज्य के नये प्ररूप को स्थापित करने, और उसकी नीतियों का निरूपण करने के लिए अपनाया ? जिस राजनीतिक अभिजन वर्ग ने स्वतन्त्रता का नेतृत्व किया था उनकी अभिवृत्तियों और परिप्रेक्ष्यों को समझने के लिए यह भी आवश्यक हो सकता है कि उन प्रभावों का अध्ययन किया जाय जिनमें वे ढाले गये थे। क्या वे केवल सुदूर भूतकाल के उस गौरव को, जिस रूप में उसे उन्होंने देखा था, पुनः स्थापित करना चाहते हैं, अथवा वे उन नये मूल्यों और विश्वासों को, जो उन्होंने देश के बाहर से ग्रहण किया है ज्यों का त्यों स्वीकार करने के लिए तत्पर हैं ? क्या वे पुराने औपनिवेशिक शासकों की अभिवृत्तियों और मूल्य हैं, अथवा वे उनके मूल्यों और अभिवृत्तियों के प्रति तिरस्कार का भाव रखते हुए अन्य वैदेशिक प्ररूपों से आकर्षित हुए हैं, अथवा वे अपने प्राचीन इतिहास और वर्तमान आवश्यकताओं को उन अनेक वैदेशिक प्ररूपों में, जैसा उन्होंने स्वयं अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोणों से देखा है, सम्मिलित और समन्वित कर देना चाहते हैं ? इन सब जटिल प्रश्नों को सुलझाने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि राजनीतिक विकास में अभिजन वर्ग की भूमिका का गहराई से अध्ययन किया जाय।

आधुनीकरण और राजनीतिक विकास

अधिकांश पाश्चात्य राजनीतिशास्त्रियों ने राजनीतिक विकास का अर्थ राजनीतिक आधुनीकरण से लिया है, और इन लेखकों के विचार में आधुनीकरण का अर्थ पाश्चात्यीकरण है। लेवी की मान्यता है कि किसी भी समाज को "उस सीमा तक, कम अथवा

अधिक, आधुनिक माना जा सकता है जहा तक उसने सदस्य शक्ति के जड-स्रोतो और/अथवा यान्त्रिक उपकरणो के प्रयोग को अपने प्रयत्नो के प्रभाव को कई गुना बढाने मे करते है।"[38] वार्ड के अनुसार, आधुनिक समाज की विशेषता यह है कि "उसके पास अपने पर्यावरण की भौतिक और सामाजिक परिस्थितियो को नियन्त्रित अथवा प्रभावित करने की बहुत अधिक क्षमता हो और उसकी मूल्य व्यवस्था ऐसी हो जो इस क्षमता की वांछनीयता और परिणामो के सम्बन्ध मे मूलत आशावादी हो।"[39] सिरिल ब्लैक समाज को उसी स्थिति मे आधुनिक मानने को तैयार है जब 'वह अपनी परम्परागत सस्थाओ को तेजी से परिवर्तित होने वाली उन कार्य-विधियो के अनुरूप बनाने की क्षमता रखता हो जो मनुष्य के ज्ञान मे अभूतपूर्व वृद्धि तथा वैज्ञानिक क्रान्ति के द्वारा प्राप्त, पर्यावरण पर उसके नियन्त्रण का प्रतिनिधित्व करती है।"[40] रस्टोव की दृष्टि मे भी आधुनिक समाज उसी को माना जा सकता है "जिसमे मनुष्य आपस मे निकट का सहयोग स्थापित करके प्रकृति पर अपने नियत्रण को तेजी के साथ बढा सके।"[41] इन लेखको ने आधुनीकरण को ऐतिहासिक और प्रकार्यात्मक दोनो प्रकार की प्रक्रिया माना है। अपने ऐतिहासिक रूप मे आधुनीकरण वह प्रक्रिया है जिसमे से पश्चिमी समाज अठारहवी शताब्दी मे, रूस जैसे समाज क्रमश जारशाही और बाद मे साम्यवादियो के नेतृत्व मे, जापानी समाज मैजी पुन स्थापना के युग मे और अनेक समकालीन समाज पिछले कुछ वर्षों मे, अपने-अपने देश के नेताओ के नेतृत्व मे, गुजरे हैं। प्रकार्यात्मक दृष्टि से आधुनीकरण वह सामाजिक-सास्कृतिक प्रक्रिया है जिसने सामन्ती युग के स्वामी और सेवक के सम्बन्ध को आधुनिक युग के नियोक्ता और कर्मचारी के सम्बन्ध मे परिवर्तित कर दिया है। माना जाता है कि शिक्षा के प्रसार और व्यापक राजनीतिक मताधिकार की प्राप्ति के द्वारा आधुनीकरण की यह प्रक्रिया तेजी के साथ आगे बढ रही है।

प्रकार्यात्मक दृष्टि से ये लेखक राजनीतिक आधुनीकरण की तीन विशेषताए मानते है—(1) राजनीतिक सरचनाओ मे विभेदीकरण की वृद्धि, (2) केन्द्रीय प्रशासन की कार्य-विधियो का निरन्तर विस्तार, और (3) परम्परावादी अभिजन की घटती हुई अवनति। आइजेन्सटाड मानता है कि आधुनीकरण के परिणामस्वरूप (अ) सरचनात्मक विविधता और विभेदीकरण, और अनवरत सरचनात्मक परिवर्तनों, का प्रारम्भ होता है, जिसके परिणामस्वरूप केन्द्र पर व्यापक समूहो का प्रभाव पडने लगता है, और (ब) जिन नयी सरचनाओ का विकास होता है उनमे अनवरत परिवर्तन से निपटने के लिए पर्याप्त क्षमता होती है। सरचनात्मक विविधता और विभेदीकरण के परिणामस्वरूप जो अनवरत सरचनात्मक परिवर्तन आते हैं और उनके आधार पर

[38]मेरियन जे० लेवी, "मॉडर्नाइजेशन एण्ड दी स्ट्रक्चर ऑफ सोसाइटी," प्रिंगटन, 1966, पृ० 11।
[39]रॉबर्ट ई० वार्ड, "पोलिटिकल मॉडर्नाइजेशन एण्ड पोलिटिकल कल्चर इन जापान," 'वर्ल्ड पोलिटिक्स,' खण्ड 15, स० 5, जुलाई 1963, पृ० 570।
[40]सिरिल ब्लैक, 'दि डायनेमिक्स ऑफ मॉडर्नाइजेशन,' पो० उ०, पृ० 7।
[41]डेंकवर्ट ए० रस्टोव, 'ए वर्ल्ड ऑफ नेशन्स,' पो० उ०, पृ० 3।

जिन नयी संरचनाओं का प्रादुर्भाव होता है, उनकी क्षमता के कारण ही अनवरत विकास सम्भव हो पाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से, आइजेन्सटाड मानता है कि आधुनीकरण की प्रक्रिया दो अवस्थाओं में से होकर गुजरती है : (1) प्रारम्भिक युगों में मर्यादित आधुनीकरण (limited modernization) की वह अवस्था है जिसमें से पाश्चात्य देश अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में गुजर चुके हैं। इस युग में आधुनीकरण का परिणाम मध्यम वर्ग का उत्थान और प्रमुख निर्णय-निर्माण केन्द्रों में उनका समावेश था। इनके साथ ही साथ लौकिकता और वैज्ञानिक तकनीकी विकास की प्रक्रिया का भी आरम्भ हुआ, जिसके परिणामस्वरूप मध्य वर्ग की भौतिक सुविधाओं में बहुत अधिक प्रगति हुई। (2) मर्यादित आधुनीकरण के इस युग के बाद जन आधुनीकरण (mass modernization) का प्रारम्भ हुआ, जिसे हम पश्चिमी यूरोप में बीसवीं शताब्दी में देख रहे हैं। इस युग में आधुनीकरण का प्रभाव मध्यम वर्गों को पार कर साधारण जनता तक पहुंच गया है। पश्चिमी समाजों में पहले युग से दूसरे युग तक का संक्रमण धीमी गति से हुआ, और इस प्रक्रिया के पूरा होने में बहुत अधिक समय लग गया। परन्तु जो समाज आधुनीकरण के मार्ग पर चलने में पिछड़ गये थे, जैसा कि आज के विकासोन्मुख समाजों के बारे में कहा जा सकता है, उनमें राजनीतिक आधुनीकरण की यह प्रक्रिया मध्यम वर्ग में और जनसाधारण में लगभग एक साथ ही आरम्भ हुई, और इसके कारण उनकी राजनीतिक व्यवस्थाओं पर बहुत अधिक दबाव पड़ रहे हैं, और वे आज एक तनाव की स्थिति में हैं।[42]

डॉयच से प्रेरणा लेकर हटिंग्टन ने इस प्रक्रिया को सामाजिक गत्यात्मकता का नाम दिया है। *सामाजिक गत्यात्मकता*, डॉयच के द्वारा दी गयी व्याख्या के अनुसार, "वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्राचीन सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक प्रतिबद्धताएं क्षीण होने अथवा टूटने लगती है, और मनुष्य समाजीकरण, अथवा व्यवहार के नये प्रतिमानों को स्वीकार करने के लिए तत्पर दिखायी देते हैं।"[43] यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद (per capita gross national product), अथवा साक्षरता, *शहरी आबादी तथा राजनीतिक दलों की सदस्य-संख्या* आदि के आधार पर मापा जा सकता है। यह स्पष्ट है कि इसका अर्थ परम्पराओं (tradition), आधुनिकता (modernity) के बीच एक सम्पूर्ण विभाजन होता है, क्योंकि परम्परागत सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं के टूटने और जनसाधारण के मूल्यों और अपेक्षाओं में एक मूलभूत परिवर्तन आ जाने के बाद ही आधुनीकरण मार्ग प्रशस्त होता है। साक्षरता और शिक्षा के प्रसार में वृद्धि और बढ़ते हुए संचार साधन, प्रचार साधन, नगरीकरण और इस प्रकार के अन्य कारक ही जनता को

[42]एस० एन० आइजेन्सटाड 'दि पोलिटिकल सिस्टम्स ऑव एम्पायर्स,' न्यूयार्क, 1973, 'ब्रेक-डाउन इन मोडर्नाइजेशन,' "इकोनोमिक डेवेलपमेंट एण्ड कल्चरल चेंज," 12 जुलाई 1964, पृ० 345-67।

[43]कार्ल डॉयच, 'सोशल मोबिलाइजेशन एण्ड पोलिटिकल डेवेलपमेंट,' 'अमेरिकन पोलिटिकल साइंस रिव्यू,' खण्ड 55, 1961, पृ० 493-514।

मनोवृत्ति को बदलने मे सफल होते है। हंटिंग्टन के शब्दो मे, "सामाजिक जागरण अब एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के महाद्वीपों मे फैल गया है।" वह लिखता है, "नगरीयकरण तेजी के साथ बढ रहा है, साक्षरता धीरे-धीरे बढ रही है, औद्योगीकरण को आगे धकेला जा रहा है, प्रति व्यक्ति सफल राष्ट्रीय उत्पाद भी धीरे-धीरे आगे बढ रहा है, प्रचार के साधनो का विस्तार होता जा रहा है।" परन्तु, संस्था-निर्माण (institutionalization) की प्रक्रिया जब सामाजिक गत्यात्मकता (social mobilization) के साथ नही चल पाती, तब राजनीतिक व्यवस्था मे गम्भीर तनाव उपस्थित हो जाते हैं, और राजनीतिक विघटन, यहा तक की आधुनीकरण की प्रक्रिया के टूट जाने का खतरा उत्पन्न हो जाता है। इसका कारण आकलन और परिवर्तन के स्तर के बहुत अधिक निम्न होने और, उसकी तुलना मे, जनता की आकाक्षाओ की अभिव्यक्ति के स्तर के अत्यधिक ऊंचा होने से उठने वाले संघर्षों का समाधान ढूढ निकालने की व्यवस्था की अक्षमता होता है, जिसके परिणामस्वरूप प्रतिद्वन्द्विता और जनतंत्र की ओर बढ़ने के स्थान पर "जनतन्त्र का ह्रास" होने लगता है और स्वेच्छाचारी सैनिक शासनो और एक-दलीय सरकारो की स्थापना होने लगती है।[44]

जब कि राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता के सूचक राजनीतिक आधुनीकरण को राजनीतिक विकास का प्रमुख तत्त्व माना जा रहा था, अनेकों लेखक ने राजनीतिक संस्थायन (political institutionalization) की भी चर्चा की, यद्यपि कुछ अनिश्चित ढग से। राजनीतिक संस्थायन मे तीन बातो को लिया गया था : (अ) राजनीतिक गत्यात्मकता, (ब) राजनीतिक एकीकरण, और (स) राजनीतिक प्रतिनिधित्व। डॉयच ने सामाजिक गत्यात्मकता को राजनीतिक गत्यात्मकता के लिए आवश्यक माना। उसका विचार था कि सामाजिक गत्यात्मकता की प्रक्रिया जब राजनीतिक संरचनाओं, मूल्यो और प्रश्नो से प्रभावित होती है तब राजनीतिक गत्यात्मकता का आरम्भ होता है।[45] लूसियन पाई ने भी राजनीतिक विकास के अपने विश्लेषण मे जन-परियोजन (mass mobilization) और सहभागिता (participation) की चर्चा की है, परन्तु डॉयच के समान वह जन-परियोजन और सहभागिता को सामाजिक घटना नहीं मानता। वह उसे मूलतः एक ऐसी राजनीतिक प्रक्रिया मानता है जिसमे वैचारिक प्रेरणा राजनीतिक दल अथवा प्रभावशाली नेताओ से प्रभावित होकर जनसाधारण, निष्क्रियता की परम्परागत भावना को छोड़ कर, राजनीतिक गतिविधियो में सक्रिय सहभागी बन जाते हैं।[46] जहां तक राजनीतिक संस्थायन का प्रश्न है—हंटिंग्टन ने उसे सबसे अधिक महत्त्व दिया है। जबकि डॉयच और पाई ने संस्थायन का अर्थ उन सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनो से लिया है जो नयी संस्थाओं का निर्माण करने अथवा नयी संस्थात्मक सहभागिता को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, हंटिंग्टन का आग्रह इस बात

[44]सेमुएल पी० हंटिंग्टन 'पोलिटिकल डेवलपमेन्ट एण्ड पोलिटिकल डिके,' पी० उ०, पृ० 393।
[45]कार्ल डॉयच, पी० उ०।
[46]लूसियन पाई, 'आस्पेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट,' 1966।

पर है कि राजनीतिक-सामाजिक संस्थाएं स्वयं संरचनाओं और आदर्शों के एक ऐसे जटिल सम्मिश्रण का रूप ले लें जो राजनीतिक व्यवस्था और सम्पूर्ण समाज दोनों को ही प्रभावित करे। हंटिंग्टन की दृष्टि में, राजनीतिक विकास का अर्थ "राजनीतिक संगठनों और क्रिया-विधियों का संस्थायन है," और उसका परिचय राजनीतिक व्यवस्था की अनुकूलनशीलता, जटिलता, स्वायत्तता और ससक्तता की दिशा और उसके स्तर से मिलता है। (1) अनुकूलनशीलता (adaptability) का अर्थ है कि यह नेतृत्व की एक ऐसी दीर्घकालीन और अनवरत शृंखला का निर्माण करे जो व्यवस्था में समय-समय पर आने वाली नयी चुनौतियों का सफलता से सामना कर सके। (2) जटिलता (complexity) का अर्थ है कि राज्य में संस्थाएं बहुत अधिक संख्या में हों और प्रत्येक संस्था अन्य किसी संस्था के द्वारा किसी प्रकार की बाधा डाले बिना अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने की स्थिति में हो। (3) स्वायत्तता (autonomy) का अर्थ है कि एक राजनीतिक व्यवस्था अन्य राजनीतिक व्यवस्थाओं से पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो और एक स्पष्ट रूप से निर्धारित भूभाग पर उसका अपना सम्पूर्ण नियन्त्रण हो। (4) ससक्तता (coherence) का अर्थ है कि राजनीतिक व्यवस्था में सहमति की भावना पर्याप्त मात्रा में पायी जाय। जब तक कोई राजनीतिक व्यवस्था अधिकतम अनुकूलनशीलता, जटिलता, स्वायत्तता और संसक्तता की दिशा में आगे बढ़ती रहती है, संस्थायन और राजनीतिक विकास भी प्रगति करते हैं। परन्तु यदि इसके विपरीत कठोरता (rigidity), सरलता (simplicity) अधीनता (subordination) और मतवैषम्य (disunity) जो अनुकूलनशीलता, जटिलता, स्वायत्तता और संसक्तता के विरोधी तत्त्व है—प्रगति करते हैं तो यह मानना पड़ेगा कि राजनीतिक व्यवस्था निश्चित रूप से राजनीतिक विघटन की ओर जा रही है।[47]

राजनीतिक विकास से सम्बन्धित कुछ लेखकों ने संस्थायन के महत्त्व पर जोर दिया है, परन्तु कुल मिलाकर अधिकांश लेखकों का आग्रह आधुनीकरण पर अधिक रहा है, जिसका मूल अर्थ राज्य के सामर्थ्य के विकास से है। राजनीतिक विकास का एक तीसरा पक्ष भी है जो राजनीतिक व्यवस्था की अनुक्रियाशीलता (*responsiveness*) पर जोर देता है, पर इस सम्बन्ध में विकसित देशों के बहुत कम लेखकों ने अधिक लिखा है। पाई ने इसे लोकतन्त्र निर्माण (democracy building) का नाम दिया है, और जब कि पाई ने इस बात को स्वीकार किया है कि यह एक मूल्य-भारित *संकल्पना* है, अधिकांश पाश्चात्य राजनीतिशास्त्रियों ने राजनीतिक विकास को लोकतन्त्र निर्माण के उस अर्थ में लिया है जिसमें पाश्चात्य लोकतन्त्रीय व्यवस्थाओं से मिलती-जुलती राजनीतिक संरचनाओं और क्रिया-विधियों की स्थापना आती है। दूसरे शब्दों में, लोकतन्त्र को चुनाव और संसद प्रणाली के औपचारिक उपकरणों के साथ एक यान्त्रिक रूप से सम्बद्ध कर दिया गया है।

विभिन्न पाश्चात्य लेखकों की रचनाओं का यदि गहराई से अध्ययन किया जाय तो

[47]सैमुएल पी० हंटिंगटन, 'पॉलिटिकल ऑर्डर इन चेंजिंग सोसाइटीज़,' पी० ३०।

यह अर्थ निकाला जा सकता है कि राजनीतिक विकास का अर्थ उनकी दृष्टि मे राजनीतिक आधुनीकरण और राजनीतिक सस्थायन दोनों से है, यद्यपि यह बात स्पष्ट रूप से नहीं कही गयी है। उदाहरण के लिए, *मायरॉन वीनर ने राजनीतिक विकास की* व्याख्या उस प्रक्रिया के सन्दर्भ मे की है जो (अ) राजनीतिक व्यवस्थाओं के प्रकार्यों का विस्तार करती है, (ब) राजनीतिक एकीकरण के उस स्तर का, जिसे इन प्रकार्यों के विस्तार के लिए आवश्यक माना जा सकता है, निर्वाह करती है, और (स) एकीकरण की प्रक्रिया के द्वारा अनुप्रेरित समस्याओं से निपटने के लिए राजनीतिक व्यवस्था को क्षमता प्रदान करती है। सस्थायन की आवश्यकताओं के साथ राजनीतिक व्यवस्था के प्रकार्यों के विस्तार, जिनका प्रतिनिधित्व राजनीतिक एकीकरण के ऊचे उठते हुए स्तरों के द्वारा होता है, और उसकी बढ़ती हुई क्षमता पर उसके आग्रह को देखते हुए यह स्पष्ट दिखायी देता है कि वीनर राजनीतिक सस्थायन को राजनीतिक विकास का एक आवश्यक तत्त्व मानता है।[48] लुई इर्विंग हॉरॉविट्ज़ राजनीतिक विकास को आधुनीकरण और औद्योगीकरण का मिश्रण मानता है। औद्योगीकरण से *उनका अर्थ उत्पादन में विज्ञान और तकनीक के प्रयोग और मशीनों के अधिकतम उपयोग से तो है* ही, वह यह भी मानता है कि उसके साथ ही समाज मे कुछ नये विचारों और सस्थाओं का विकास भी आवश्यक है, क्योंकि केवल उन्हीं के द्वारा इस उपयुक्त वातावरण का *विकास किया जा सकता है* जिसमे तकनीक और यान्त्रिक उत्पादन मे वृद्धि हो सके।[49] लूसियन पाई (अ) समानता, (ब) क्षमता (जिसका अर्थ वास्तव मे राजनीतिक सामर्थ्य से है), और (स) विकेन्द्रीकरण और विशिष्टीकरण को राजनीतिक विकास की प्रक्रिया के आवश्यक अग मानता है। पाई और अन्य लेखकों के द्वारा समानता की सकल्पना को राजनीतिक विकास का एक आवश्यक अंग माना गया है, इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि *वे लोग सहभागिता सम्बन्धी परिवर्तियों को आवश्यक मानते हैं।* समानता का अर्थ (अ) राजनीतिक प्रक्रियाओ मे सहभागिता, (ब) कानून के सन्दर्भ मे समानता, और (स) सार्वजनिक पदो पर उपलब्ध, न कि आरोपित, योग्यता के आधार पर नियुक्त किये *जाने की समानता है।* एप्टर का भी यह विश्वास है कि राजनीति का विकास राजनीतिक आधुनीकरण से कुछ अधिक है, यद्यपि उसने राजनीतिक विकास की संकल्पना के सम्बन्ध मे विस्तार से नही लिखा है। वह विकास को एक सामान्य और आधुनीकरण को एक विशिष्ट घटना मानता है। एप्टर के अनुसार विकास का प्रारम्भ तब होता है, प्रकार्यात्मक भूमिकाए जब समाज मे बहुत अधिक संख्या मे और सयोजित ढग से उपलब्ध होती हैं। एप्टर *सामाजिक एकीकरण और प्रकार्यात्मक सहभागिता* के महत्त्व के सम्बन्ध मे, जो राजनीतिक सस्थायन के आवश्यक अग हैं, सम्पूर्ण रूप से जागरूक दिखायी देता है।

[48]मायरॉन वीनर, "पोलिटिकल इन्टेग्रेशन एण्ड पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट," एनल्स बर 358, 1965, पृ० 52-64।

[49]इर्विंग लुई हॉरॉविट्ज़, 'थ्री वर्ल्ड्स ऑफ डेवेलपमेन्ट,' न्यूयार्क, 1966।

राजनीतिक विकास के पाश्चात्य सिद्धान्त : एक आलोचना

राजनीतिक विकास की संकल्पना संयुक्त राज्य अमरीका में, शीत युद्ध के दौरान, अपने जन्म के कारण उस देश में प्रचलित इस तत्कालीन धारणा के साथ जुड़ गयी कि यदि तीसरे विश्व के देश आर्थिक विकास की अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा कर लें तो उन्हें साम्यवाद के आकर्षण से मुक्त किया जा सकता था। इस कारण यह स्वाभाविक हो गया कि राजनीतिक विकास का अर्थ, रॉबर्ट पैकनहैम के शब्दों में, "साम्यवाद-विरोधी और अमरीका-समर्थक राजनीतिक स्थायित्व" से लिया जाने लगा।[50] यह आशा की जा रही थी कि आर्थिक विकास और प्रतिनिधिक संस्थाओं की स्थापना के साथ राजनीतिक स्थायित्व, विचारधारा-मुक्त दृष्टिकोण और अमरीका-समर्थक विदेश नीति का इन देशों में अपने आप विकास होने लगेगा। यह भी माना जा रहा था कि अधिक अच्छी संचार-व्यवस्थाओं, मूल्यों और राजनीतिक संस्कृति में परिवर्तन, और राजनीतिक दल और लोक-सेवा जैसे विशिष्ट संरचनात्मक क्षेत्रों का विकास हो जाने पर तीसरे विश्व के देशों को साम्यवादी हलचलों से मुक्त रखा जा सकेगा। परन्तु जैसे-जैसे समय आगे बढ़ता गया अनपेक्षित घटनाएं सामने आने लगीं। आर्थिक विकास और आधुनीकरण की प्रक्रियाएं अपेक्षित दिशा के विरुद्ध जाती हुई दिखायी दीं। आर्थिक विकास तो हुआ, परन्तु उसके साथ-साथ अमीर और गरीब के बीच की खाइयां बढ़ीं, धनी लोग अपना तादात्म्य पाश्चात्य उद्योगपतियों, अथवा बहुराष्ट्रीय संगठनों, के आर्थिक स्वार्थों के साथ स्थापित करते देखे गये और गरीबों में असन्तोष और बेचैनी की मात्रा बढ़ने लगी। औद्योगीकरण और नगरीयकरण, जो पश्चिमी देशों से प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता के परिणाम थे, ग्रामीण और नागरिक दोनों ही क्षेत्रों में बढ़ती हुई गरीबी का रूप लेते दिखायी दिये। विप्लवी आन्दोलनों, नगरीय अव्यवस्थाओं, आर्थिक विघटन और राजनीतिक भ्रष्टाचार के बीच जनतान्त्रिक संस्थाओं के कार्यान्वयन का परिणाम यह हुआ कि, उन्हें कुचलने के बहाने, शासकीय अभिजन वर्ग को व्यक्तिगत सत्ता प्राप्त करने और शासक राजनीतिक दल को अपना स्थायित्व स्थापित करने का अवसर मिल गया।

राजनीतिक विकास के सम्बन्ध में लिखे गये पाश्चात्य साहित्य के परीक्षण से हम यह पाते हैं कि उसमें राजनीतिक व्यवस्था में सामर्थ्य के विकास और शासकीय अभिजन वर्ग के प्रभावशाली होने पर अधिकाधिक जोर दिया जा रहा था। हंटिंग्टन ने राजनीतिक विकास और आधुनीकरण में भेद किया है, और वह आधुनीकरण को, जिससे उसका अर्थ राज्य की बढ़ती हुई क्षमता से है, अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। संस्थापन से भी हंटिंग्टन का अर्थ इस प्रकार की राजनीतिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं के निर्माण से है जो समाज में राजनीतिक सत्ता की प्रमुखता को बनाये रखने की दृष्टि से आवश्यक हों। उसकी रुचि विशिष्ट योजनाओं को पूरा करने की राजनीतिक अधि-

[50] रॉबर्ट ए० पैकनहम "पोलिटिकल डेवलपमेन्ट डॉक्ट्रिन इन दी अमेरिकन फ़ोरेन प्रोग्राम," 'वर्ल्ड पोलिटिक्स,' खण्ड 18, 1966, पृ० 194-235।

कारियो की क्षमता मे कम है, उनके द्वारा अपना प्रभुत्व बनाये रखने और नीचे से आने वाली मांगों को मर्यादित रखने मे अधिक है। राजनीतिक विकास का अर्थ, इस प्रकार, राष्ट्र-निर्माण से हट कर राज्य-निर्माण के रूप मे समझा जाने लगा।[51] "क्राइसेज़ एण्ड सीक्वेन्सेज़ इन पोलिटिकल डेवलपमेन्ट" नाम के प्रिंसटन विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ के लिओनार्ड बाइन्डर और अन्य सम्पादको ने राजनीतिक विकास का अर्थ प्रशासकीय क्षमता, विभेदीकरण और समानता के एक बहु-आयामीय समन्वयन से लिया है।[52] हटिंग्टन की पुस्तक और इस ग्रन्थ दोनों मे ही मूल्यो के महत्त्व को पीछे धकेल दिया है, और इस बात पर अधिक आग्रह है कि राजनीतिक व्यवस्था को बनाये रखने मे राजनीतिक सत्ता की क्या भूमिका होनी चाहिए और विद्वानो को एक प्रकार से निमन्त्रित किया गया है कि वे स्थापित अधिकारियो के प्रभुत्व को जोडतोड की राजनीतिक तकनीको के द्वारा अधिक मजबूत बनाने के लिए नये उपायो और साधनों का विकास करें।

सभ्यता के आरम्भ से लेकर कुछ समय पहले तक राजनीतिक चिन्तको के समक्ष मूल प्रश्न यह था कि "अच्छा समाज क्या है, और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है?" अब इस प्रश्न को इस रूप मे प्रस्तुत किया जा रहा है "स्थायी समाज क्या है, और अभिजन वर्ग के नेतृत्व मे राजनीतिक व्यवस्था की मजबूती के साथ स्थापना करने का सबसे अच्छा साधन क्या हो सकता है?" राजनीतिक व्यवस्था को अब सर्वोच्च राजनीतिक भलाई की प्राप्ति के लिए एक आवश्यक शर्त नहीं माना जा रहा है, बल्कि स्वयं उसे ही सर्वोच्च राजनीतिक भलाई मान लिया गया है, बिना इस बात पर ध्यान दिये कि राजनीतिक व्यवस्था किसे अधिक से अधिक लाभ पहुचाती है, शासकों को अथवा जनता को। हटिंग्टन ने तो यहा तक कहा है कि विभिन्न देशों मे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक भेद उनमे "शासन के प्रकार का नहीं, शासन की मात्रा का है।"[53] इसके विपरीत राजनीतिक पतन से उसका अर्थ राजनीति मे जनसाधारण का प्रवेश, और सगठित हितों, जातियों अथवा समूहो द्वारा राजनीति को प्रभावित करने का प्रयत्न है, चाहे वह सार्वजनिक हित मे ही क्यो न हो। शासको और प्रशासक-संस्थाओ के द्वारा प्रयोग मे लाये जाने वाले दमन के परिणामस्वरूप जो अव्यवस्था फैलती है उसे राजनीतिक पतन की परिभाषा से बाहर रखा गया है। राजनीतिक गत्यात्मकता को अव्यवस्था का एक कारण मानना उस अव्यवस्था की उपेक्षा करना है जो अभिजन वर्ग को अपनी विशेष अधिकारों को सुरक्षित रखने की खोज से प्रेरित होती है। जैसा बैरिंग्टन मूर ने लिखा है, "यदि क्रान्तिकारी हिंसा गुरु और नाटकीय ढग से हमारे सामने आती है तो हम

[51]सेमुएल पी० हटिंग्टन, 'पोलिटिकल आर्डर इन चेंजिंग सोसाइटीज़,' पी० उ०।

[52]लियोनार्ड बाइण्डर, जेम्स एस० कोलमैन, जोसेफ ला पैलोम्बारा, लूसियन डब्ल्यू० पाई, सिडनी वर्बा और मायरॉन वीनर, 'क्राइसेज़ एण्ड सीक्वेंसेज़ इन पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट,' प्रिंसटन विश्वविद्यालय प्रेस, 1971।

[53]सैमुएल० पी० हटिंग्टन, 'पोलिटिकल आर्डर इन चेंजिंग सोसाइटीज़,' पी० उ०, पृ० 1।

इस बात की भी उपेक्षा नहीं कर सकते कि प्रशासकीय संस्थाओं के द्वारा काम में लायी जाने वाली हिंसा (जो दमन और परिहार्य मृत्यु के रूप में अभिव्यक्त होती है) कुछ कम व्यापक नहीं है।"[54]

पश्चिमी राजनीतिशास्त्रियों को स्वतन्त्रता से अधिक व्यवस्था की चिन्ता है। हटिंग्टन की दृष्टि में "प्रमुख समस्या स्वतन्त्रता नहीं है, परन्तु एक विधिमान्य राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण है। स्वतन्त्रता के बिना व्यवस्था की कल्पना की जा सकती है परन्तु व्यवस्था के बिना स्वतन्त्रता की नहीं। सत्ता को सीमित करने से पहले यह आवश्यक है कि सत्ता का अस्तित्व तो हो···"[55] हटिंग्टन की यह बात तो सही है कि, तर्क की दृष्टि से, व्यवस्था स्वतन्त्रता से पहले आती है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि समय-क्रम की दृष्टि से भी व्यवस्था की पहले स्थापना की जाय और तब स्वतन्त्रता की बात सोची जाय। पाई को इस बात की चिन्ता है कि "बहुत से विकासशील देशों में राष्ट्रीय नेताओं के पास पर्याप्त अधिकार नहीं हैं, और प्रशासनिक संस्थाओं की सत्ता को स्वाभाविक और सम्पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया जा रहा है।"[56] ला पालोम्बारा ने भी अपना यह खेद प्रकट किया है कि "विकासशील राष्ट्रों में राजनीतिक सत्ता की स्पष्ट विशेषता यह है कि यह अधिकांश अभिजन वर्ग को बहुत कम मात्रा में उपलब्ध है।"[57] यह मान लिया गया है कि अधिकार और सत्ता के इस अभाव के कारण ही विकासोन्मुख देश अब तक उस आवश्यक सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन को लाने में असमर्थ रहे हैं जिसे विकास के लिए आधारभूत माना गया है।

इन लेखकों के साथ इस दृष्टि से तो सहमत होना सम्भव है कि विकासोन्मुख देशों में प्रायः यह देखा गया है कि प्रशासन के पास बहुत कम सत्ता होती है, परन्तु स्वतन्त्रता और स्वाधीनता जैसे दूसरे मूल्य भी हैं जिन्हें विकासशील देशों के प्रशासक अपनी जनता तक पहुंचाने में असमर्थ रहे हैं। यह समझना कठिन है कि उन अन्य मूल्यों की दृष्टि में, जो राजनीतिक विकास के लिए यदि अधिक नहीं तो कम से कम उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितनी व्यवस्था, व्यवस्था को ही क्यों प्राथमिकता दी जाय। यह प्रश्न भी पूछा जा सकता है: व्यवस्था और स्वतन्त्रता दोनों को साथ-साथ दृढ़ बनाने की चेष्टा क्यों न की जाय? वास्तव में यदि किसी देश में राजनीतिक व्यवस्था तो तेजी के साथ मजबूत होती जाती है और जनता में स्वतन्त्रता की भावना का विकास पिछड़ जाता है तो उसमें भी गम्भीर खतरे हैं। रूस में इस प्रकार का विकास हुआ और उसके परिणामस्वरूप, एक लोकतान्त्रिक व्यवस्था नहीं, तानाशाही की स्थापना हुई। इंगलैण्ड

[54]बैरिंगटन मूर, 'सोशल ओरिजिन्स ऑफ डिक्टेटरशिप एण्ड डेमोक्रेसी: लॉर्ड एण्ड पैजेन्ट इन दी मेकिंग ऑफ दी मॉडर्न वर्ल्ड,' बोस्टन, 1966, पृ० 523। इसी लेखक की पुस्तक, 'रिफ्लेक्शन्स ऑन दी कॉजेज ऑफ ह्यूमन मिजरी एण्ड अपॉन सर्टेन प्रोपोजल्स टू एलिमिनेट देम,' बोस्टन, 1973 भी उल्लेखनीय है।

[55]सैमुएल पी० हंटिंग्टन, 'पोलिटिकल ऑर्डर इन चेंजिंग सोसाइटीज,' पी० उ०, पृ० 7-8।

[56]लूसियन पाई, 'आइडियाज एण्ड सीक्वेंसेज,' पी० उ०, पृ० 41।

[57]ला पालोम्बारा, 'आइडियाज एण्ड सीक्वेंसेज,' पी० उ०, पृ० 273।

व्यवस्था और स्वतन्त्रता दोनों के साथ-साथ विकसित होने का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। संयुक्त राज्य अमरीका में, एक प्रकार से, स्वतन्त्रता का विकास पहले हुआ, व्यवस्था का बाद में।

राज्य-निर्माण के प्रयत्नों के एक अंग के रूप में सेना को मजबूत बनाने और तानाशाही के विकास में भी एक निकट का सम्बन्ध है। पाश्चात्य देशों में अस्त्र-शस्त्रों की अमर्यादित उपलब्धि के साथ, अनेक विकासोन्मुख देशों में, प्रतिरक्षा की दृष्टि से कम और शासक वर्ग की शक्ति को बढ़ाने की दृष्टि से अधिक, सैनिक शक्ति को मजबूत बनाने का परिणाम यह हुआ है कि प्रायः सैनिक अधिकारियों ने सत्ता अपने हाथ में ली है। अनेक विकासोन्मुख देशों में, जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति की तुलना में, सेना पर बहुत अधिक खर्च किया जाता है। रॉबर्ट डाल ने इस बात का उल्लेख किया है कि किसी भी अन्य क्षेत्र (मजदूर वर्ग, राजनीतिक दल, प्रशासन अथवा उद्योग धन्धों) को विदेशी स्रोतों से इतनी अधिक सहायता नहीं मिलती जितनी सेना को। डाल ने इस तथ्य की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि अमरीका और इंगलैण्ड दोनों में ही उदार प्रवृत्तियों का विकास उन युगों में हुआ जब उनकी सैनिक शक्ति बहुत कम थी।[59] सेना के मजबूत होने का यह परिणाम तो होता ही है कि विदेशी आक्रमण का अधिक सफलता के साथ मुकाबला किया जा सकता है, परन्तु उससे शासक दल को यह अवसर भी मिल जाता है कि उसकी सहायता से, अथवा उसे काम में लाने की धमकियों से, वह आन्तरिक विरोध को कुचल सके।

इस तथ्य को भी नहीं भुलाया जा सकता कि आर्थिक विकास और राजनीतिक स्थिरता अपने आप में लक्ष्य नहीं हैं, परन्तु साधन मात्र हैं। यह जानना बहुत आवश्यक है कि किस प्रकार का विकास हो रहा है और स्थिरता के सम्बन्ध में भी गहराई से यह देखना आवश्यक है कि किस प्रकार की स्थिरता को दृढ़ बनाया जा रहा है। संस्थापन (institutionalization) एक स्वस्थ प्रक्रिया है, परन्तु यदि उस पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया जाता है तो यह अपने आप में बीमारी का एक लक्षण बन जाती है। हंटिंग्टन ने संस्थापन के साथ जिन मूल्यों को सम्बद्ध किया है—संसक्तता (coherence), स्वायत्तता (autonomy), सामर्थ्य (capacity) और अनुकूलन क्षमता (adaptability)—वे सब अत्यधिक उपयोगी मूल्य हैं, परन्तु यह पता लगाना भी आवश्यक है कि यदि स्वायत्तता और अनुकूलन क्षमता के बीच चुनना पड़े तो शासक वर्ग प्रायः क्या करेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रशासन यदि शक्तिशाली है तो उसमें सार्वजनिक हितों को पूरा करने की अधिक क्षमता होगी, परन्तु उतनी ही अधिक क्षमता सार्वजनिक हितों को ठुकरा देने की भी होगी। "सार्वजनिक हितों" की व्याख्या भी विभिन्न दृष्टिकोणों से की जा सकती है। हंटिंग्टन, बिना किसी झिझक के, सार्वजनिक हितों की व्याख्या प्रशासन-संस्थाओं के स्थूल स्वार्थों के

[59] रॉबर्ट डाल, 'पोलार्की : पार्टिसिपेशन एण्ड अपोजीशन,' न्यू हेवन, 1971, पृ० 48-50।

रूप में करता है, बिना इस बात की चिन्ता किये कि उसका प्रभाव जनसाधारण पर, जिनके हितों का समर्थन करने की प्रशासक वर्ग से अपेक्षा की जाती है, क्या पड़ेगा। बाइण्डर ने प्रशासन के द्वारा 'संकटों' के समाधान को बहुत महत्त्व दिया है—तादात्म्यता (identity), वैधता (legitimacy), सहभागिता (participation), अन्त:प्रवेश (penetration), वितरण (distribution) आदि के संकटों के, परन्तु वह यह निर्णय शासकों पर छोड़ देता है कि संकटों का समाधान हुआ है अथवा नहीं—बिना इस बात की चिन्ता किये कि जनसाधारण को उसकी कितनी कीमत चुकानी पड़ी है। एकीकरण अथवा समाकलन (जिसके अन्तर्गत जनसाधारण के द्वारा प्रशासन व्यवस्थाओं का समर्थन, अथवा उसका दिखावा, आता है) धोखा देने वाला हो सकता है, जब तक कि जनसाधारण और समाचारपत्रों को अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता न हो। ह्यू स्ट्रैटन ने ठीक ही लिखा है कि "अत्याचार, अथवा असमानता, अथवा शोषण को भी समाकलित और सम्पूर्णतः प्रकार्यात्मक व्यवस्थाएं हो सकती हैं।"[23]

पाश्चात्य राजनीतिशास्त्रियों की कृतियों में प्रकट किये हुए विचारों पर संजाति केन्द्रवाद (ethno-centricism) की छाप स्पष्ट रूप से दिखायी देती है। उनकी यह स्पष्ट मान्यता है कि जो राजनीतिक मूल्य, संस्थाएं और प्रक्रियाएं संयुक्त राज्य अमरीका अथवा अन्य पाश्चात्य देशों के लिए उपयुक्त हैं वे विश्व के शेष देशों के लिए भी उपयुक्त हैं, और यदि संयुक्त राज्य अमरीका ने आज इतिहास की अनेक मंजिलों को सफलता के साथ पार करते हुए एक शक्तिशाली प्रशासन की स्थापना की है तो किसी विकासोन्मुख देश के लिए ऐसे शक्तिशाली प्रशासन की स्थापना जो जनता के आन्दोलन का विश्वास के साथ मुकाबला कर सके—उन आन्दोलनों का आधार चाहे कितना ही न्यायपूर्ण क्यों न हो और उनकी अभिव्यक्ति विनम्र और उदारवादी—वांछनीय लक्ष्य होना चाहिए। जान पड़ता है कि वे लेखक इस बात को भूल गये हैं कि संयुक्त राज्य अमरीका ने शक्ति के अपने वर्तमान आकर्षक ढांचे को स्वतन्त्रता के एक दीर्घकालीन प्रयोग के आधार पर स्थापित किया है, जबकि बहुत से विकासोन्मुख देशों में, जहां राजनीतिक व्यवस्थाएं कमजोर दिखाई देती हैं, स्वतन्त्रता और स्वाधीनता के मूल्यों का अस्तित्व ही नहीं है।

राजनीति विकास : तृतीय विश्व का एक दृष्टिकोण

संयुक्त राज्य अमरीका में राजनीतिशास्त्रियों ने राजनीतिक विकास पर जो भी लिखा है उस सारे साहित्य का गहराई के साथ अध्ययन करने के बाद ब्राजील निवासी लैटिन अमरीकी लेखक हीलियो जैगुआराइब ने अपनी अनेक रचनाओं में राजनीतिक विकास का एक व्यापक और अधिक विश्वसनीय सिद्धान्त प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया

[23]ह्यू स्ट्रैटन, 'दि पॉलिटिकल माइंड,' लन्दन, 1969, पृ० 262।

है।[60] वह राजनीतिक विकास को राजनीतिक आधुनीकरण और/राजनीतिक सस्थायन का योग मानता है। प्रक्रिया के रूप मे राजनीतिक आधुनीकरण का अर्थ वह राज्य की सक्रियात्मक (operational) परिवर्तियों—(अ) विवेकोन्मुख अभिवृत्तियां (rational orientation), (ब) संरचनात्मक विभेदीकरण (*structural differentiation*), और (स) सामर्थ्य (capability)—में वृद्धि मानता है और राजनीतिक सस्थायन का अर्थ राज्य की सहभागी परिवर्तियों (*participational variables*)—(अ) राजनीतिक गत्यात्मकता (*political mobilization*), (ब) राजनीतिक एकीकरण (*political integration*), और (स) राजनीतिक प्रतिनिधित्व (political representation) मे वृद्धि मानता है। जेगुएराइब की दृष्टि मे राजनीतिक *विकास का अर्थ है* .

(1) राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता का विकास, इस दृष्टि से कि सामाजिक व्यवस्था की एक उप-व्यवस्था के रूप मे राज्य-व्यवस्था को अधिक प्रभावशाली बनाया जा सके;

(2) सम्बन्धित समाज के सर्वतोमुखी विकास में राजनीतिक व्यवस्था के योगदान में वृद्धि, इस अर्थ मे कि राजनीतिक साधनों के द्वारा समस्त समाज का विकास किया जा सके; और

(3) राजनीतिक व्यवस्था की अनुक्रियाशीलता का विकास, उसके प्रतिनिधित्व, वैधता और सेवा क्षमता का विकास, इस अर्थ मे कि राजनीतिक साधनों के द्वारा राजनीतिक और सामाजिक एकीकरण मे वृद्धि की जा सके।

राजनीतिक विकास का उद्देश्य, अन्ततोगत्वा क्या हो सकता है, यदि उसमे अपने आपको समाज के सर्वतोमुखी विकास का साधन बनाने की तत्परता नही है ? इस व्यापक दृष्टि से देखें तो राजनीतिक विकास का स्पष्ट अर्थ राजनीतिक साधनों के *द्वारा समस्त समाज का विकास है, व्यवस्था की क्षमता मे वृद्धि, जिसे आधुनीकरण का अन्तिम लक्ष्य मान लिया गया है, वास्तव मे राजनीतिक विकास की प्रक्रिया का केवल एक अग है—राजनीतिक सस्थायन और राजनीतिक और सामाजिक एकता मे वृद्धि, उसके दूसरे आवश्यक और अभिन्न अग हैं। राजनीतिक विकास मे,* जेगुएराइब के अनुसार, तीन बातें आती हैं: (1) *राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता* का विकास, (2) सम्बन्धित समाज के *सर्वतोमुखी विकास मे राजनीतिक व्यवस्था* की भूमिका, और (3) *राजनीतिक व्यवस्था की अनुक्रियाशीलता मे वृद्धि। यह स्पष्ट*

[60] हीलियो जेगुएराइब की प्रमुख रचनाएं हैं 'इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट,' संशोधित संस्करण, कैम्ब्रिज, मैसे०, हार्वर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, *1969*, और 'पोलिटिकल डेवेलपमेन्ट : ए जनरल थियरी एण्ड ए लेटिन अमेरिकन स्टडी,' *हार्पर एण्ड रो प्रकाशक, न्यूयार्क, 1973*। उसने ब्राजील के *राजनीतिक विकास के सम्बन्ध मे रेमण्ड वर्नोन द्वारा सम्पादित* 'हाउ लेटिन अमेरिका व्यूज दी यू० *एस० इन्वेस्टर,' न्यूयार्क, प्रेगर,* 1965 तथा आई० एल० हॉरोविट्ज तथा कई अन्य व्यक्तियों के द्वारा *सम्पादित 'लेटिन अमेरिकन रेडिकेलिज्म,' न्यूयार्क,* विंटाज बुक्स, 1969 मे भी ब्राजील के राजनीतिक विकास के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण लेख लिखे हैं।

रूप में समझ लेना है कि यदि इनमें से किसी एक का विकास होता है और अन्य दो का नहीं तो उसे एक विशिष्ट प्रकार का विकास माना जाना चाहिए न कि सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था का विकास। राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता के उसके दो अन्य पक्षों के लिए एक आवश्यक पृष्ठभूमि होने के कारण ही उसे राजनीतिक विकास का सबसे महत्त्वपूर्ण रूप माना गया है। विशिष्ट, अथवा आंशिक, राजनीतिक विकास सामाजिक राजनीतिकरण का कारण हो सकता है, परन्तु केवल *सामान्य राजनीतिक* विकास के परिणामस्वरूप ही सामाजिक एकीकरण में वृद्धि होती है। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक *विकास का अर्थ राजनीतिक साधनों* के द्वारा समस्त समाज का विकास करना है जिसमें राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता में वृद्धि के साथ राजनीतिक विकास की अनुक्रियाशीलता भी सम्मिलित है।

जेगुएराइब ने राजनीतिक विकास की आठ प्रमुख परिवर्ती मानी हैं, जिन्हें उसने तीन भागों में बाटा है—(अ) संक्रियात्मक (operational) परिवर्ती, (ब) सहभागिता (participational) परिवर्ती, और (स) दिशा-निदेशक (directional) परिवर्ती। संक्रियात्मक परिवर्तियों में—(1) विवेकोन्मुख अभिवृत्ति, (2) संरचनात्मक विभेदीकरण और (3) सामर्थ्य आते हैं, सहभागिता परिवर्तियों में (4) राजनीतिक गत्यात्मकता, (5) राजनीतिक एकीकरण और (6) राजनीतिक प्रतिनिधित्व सम्मिलित हैं, और दिशा-निदेशक परिवर्तियों में (7) राजनीतिक उच्च-कोटिता (superordination) और (8) विकासोन्मुख अभिवृत्ति सम्मिलित हैं। संक्रियात्मक परिवर्तियों को पहले लें तो *यह कहा जा सकता है कि विवेकोन्मुख अभिवृत्ति में* निर्णय-निर्माण और निर्णय के क्रियान्वयन की प्रक्रिया दोनों का विवेक-सम्मत होना सम्मिलित है। विवेकोन्मुख अभिवृत्ति का अर्थ, जिस अर्थ में इन शब्दों का यहां पर प्रयोग किया गया है, राज्य के लौकिकीकरण और नियन्त्रण-सामर्थ्य में वृद्धि से है। संरचनात्मक विभेदीकरण को भी हमें तीन स्तरों पर समझना होगा, अन्तःसमाजीय (inter-societal), समाजान्तरिक (intra-societal) और व्यवस्थागत (intra-systemic)। समाज और उसकी राजनीतिक व्यवस्था को अन्य समाजों और उनकी राजनीतिक व्यवस्थाओं से भिन्न करके देखने का अर्थ होगा समाज की स्वायत्तता का आग्रह। समाज की एक उप-व्यवस्था के रूप में राजनीतिक व्यवस्था को उसकी *अन्य उप-व्यवस्थाओं—सांस्कृतिक,* सहभागी और आर्थिक से भिन्न करके देखने का अर्थ होगा राजनीतिक व्यवस्था की स्वायत्तता का आश्वासन और स्वयं राजनीतिक *व्यवस्था के अन्तर्गत उसकी अपनी उप-व्यवस्थाओं के बीच, दूसरे शब्दों में, संरचना*त्मक विभेदीकरण और प्रकार्यात्मक स्वायत्तता पर जोर देना।

इस सर्वमान्य सिद्धान्त की सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सामाजिक व्यवस्था की किसी भी उप-व्यवस्था में, वह राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक कुछ भी हो, किये जाने वाले परिवर्तनों का प्रत्यक्ष प्रभाव दूसरी उप-व्यवस्थाओं पर भी पड़ेगा। समाज के लक्ष्यों को प्राप्त करने वाली व्यवस्था होने, और सांस्कृतिक, सहभागी और आर्थिक व्यवस्थाओं की सुरक्षा और व्यवस्था का

आश्वासन दे सकने की स्थिति मे होने के कारण, राजनीतिक व्यवस्था इस स्थिति मे है कि यदि उसके स्वरूप मे कोई बड़ा परिवर्तन होता है तो उसके परिणाम-स्वरूप अन्य उप-व्यवस्थाओ मे भी उसी प्रकार के परिवर्तनो का आरम्भ होता है। दूसरे शब्दो मे, यदि राजनीतिक व्यवस्था का आधार बल-प्रयोग पर अधिक है और एकीकरण की भावना पर कम, तो यह बिलकुल सम्भव है कि अन्य व्यवस्थाओ मे भी तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी, और यदि बल-प्रयोग राजनीतिक व्यवस्था का सम्पूर्ण आधार ही बन जाता है तो यह बिलकुल सम्भव है कि उसकी परिणति समस्त समाज के विघटन मे हो। यह सच है कि समाज के सर्वांगीण विकास, अथवा सहभागिता की जड़ो को मजबूत बनाने, की पहली आवश्यक शर्त यह है कि देश मे एक समर्थ राजनीतिक व्यवस्था हो, परन्तु हमे साथ ही यह भी समझ लेना है कि व्यवस्था का समर्थ होना सम्पूर्ण राजनीतिक विकास की दिशा मे केवल एक कदम है, चाहे वह अपने आप मे कितना ही महत्त्वपूर्ण कदम क्यो न हो, और यदि उसकी परिणति समाज के सर्वांगीण विकास मे नही होती, जिसमे उसकी सहभागी सस्थाओ का विकास भी शामिल है, जिसके अभाव मे राजनीतिक और सामाजिक एकता की कल्पना भी नही की जा सकती, तो उसका अन्त राजनीतिक विघटन मे होगा। दूसरे शब्दों मे, व्यवस्था की सामर्थ्य तब तक अपूर्ण रहेगी जब तक उसके साथ समाज और उसकी सहभागी सस्थाओ के विकास को न जोड दिया जाय।

सामर्थ्य के विकास के लिए क्या साधन अपनाये जा रहे है, यह भी अपने आप मे एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। राजनीतिक व्यवस्था का उद्देश्य एक नये समाज का निर्माण करना है। यदि इस प्रक्रिया को बल-प्रयोग पर स्थापित कार्यो के द्वारा क्रियान्वित किया जाता है तो यह बिलकुल सम्भव है कि उसके परिणामस्वरूप समाज मे मतभेद और संघर्ष के तत्वो मे वृद्धि हो। हो सकता है कि इस प्रकार की कार्य-वाही को किसी एक आक्रामक अल्पसख्यक वर्ग का समर्थन प्राप्त हो, और वह अल्प-सख्यक वर्ग अपने विचारो मे प्रगतिशील भी हो सकता है, परन्तु जब तक इस प्रक्रिया मे जनता का बहुसख्यक वर्ग अपने को सम्मिलित कर पाने की स्थिति मे नही होता, उसका परिणाम यह होता है कि आक्रामक वर्ग भी आन्तरिक संघर्षों के थपेड़ो मे टूटने लगता है, चाहे काफी समय तक उन्हे अपने सामने आने से रोका जा सके। अधिक से अधिक प्रगतिशील व्यवस्थाए भी, यदि उनका आधार बल-प्रयोग पर होता है और उनके पीछे सामाजिक एकता का अभाव होता है, अपने आप मे एक विस्फोटक स्थिति लिये रहती है। यहा हमारा उद्देश्य यह नही है कि बिना उन सामाजिक उद्देश्यो को ध्यान मे रखे, जिन्हे यह वर्ग प्राप्त करना चाहता है, हम सभी प्रकार की दमनात्मक कार्यवाहियो की भर्त्सना करें। साधनो का महत्त्व है, परन्तु लक्ष्य भी अपने आप मे महत्त्वपूर्ण है। एक प्रगतिशील समाज की स्थापना के लिए काम मे लाये जाने वाले दमन को उसी परिप्रेक्ष्य मे नही रखा जा सकता जिसमे उन दमनकारी कार्यवाहियों को जिनका उपयोग राजनीतिक अभिजन वर्ग अपनी स्वार्थ-पूर्ति और व्यक्तिगत उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए, अथवा अपने को सत्ता मे रखने के

लिए, प्रयोग में लाता है। समाज में आर्थिक समानता अथवा सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए जो दमन काम में लाया जाता है उसमें और एक सत्तावादी, दक्षिण-पन्थी और प्रतिक्रियावादी व्यवस्था की स्थापना के लिए जिस दमन का प्रयोग किया जाता है उसमें अन्तर है। जारशाही रूस अथवा कुओमिन्तांग चीन में प्रतिक्रियावादी सरकारों के विरुद्ध क्रान्तिकारी साम्यवादी नेताओं ने जिस बल-प्रयोग को काम में लिया उसे उस दमन के सवर्ग में नहीं रखा जा सकता जिसका प्रयोग मुसोलिनी अथवा हिटलर ने अपने-अपने देशों में फासिस्ट अथवा नात्सी व्यवस्था स्थापित करने के लिए किया था। इन दोनों प्रकार की दमनपूर्ण कार्यवाहियों में अन्तर करना आवश्यक है, परन्तु इसके साथ ही हमें यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि अच्छे से अच्छे उद्देश्यों के लिए काम में लाया जाने वाला बल-प्रयोग भी एक व्यापक राजनीतिक और सामाजिक एकता का विकास करने में असफल रहता है, एक विशिष्ट समूह में एक विशिष्ट उद्देश्य के लिए एकता की स्थापना करने में चाहे वह सफल हो भी जाय। वास्तव में यह विचार, कि कोई भी राजनीतिक व्यवस्था ऐसे साधनों के द्वारा जिसमें बल प्रयोग का तनिक भी अंश न हो, समाज में राजनीतिक और सामाजिक एकता की स्थापना कर सकती है, कुछ अधिक आदर्शवादी ही प्रतीत होता है।

राजनीतिक विकास में अभिजनों की भूमिका

राजनीतिक विकास की समस्त प्रक्रिया में अभिजनों की प्रकृति और भूमिका बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। जिन समाजों में कृत्यात्मक (functional) अभिजन होते हैं वे कम समय में अधिक प्रगति कर सकते हैं, जब कि अन्य समाजों के लिए, जो इतने भाग्यशाली नहीं हैं, विकास की दिशा में आगे बढ़ना कठिन हो जाता है। इस कारण यह आवश्यक हो जाता है कि राजनीतिक विकास की समस्त प्रक्रिया में हम यह देखने का प्रयत्न करें कि जिस समाज का हम अध्ययन कर रहे हैं उसके अभिजन कृत्यात्मक हैं अथवा अपकृत्यात्मक (dysfunctional)। इन दो प्रकार के अभिजनों में भेद करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम उनमें केवल योग्यता, कुशलता, कुशाग्रता और राजनीतिक कौशल की खोज करें। नैतिक मूल्यों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। प्लेटो की मान्यता थी कि भ्रष्ट प्रशासन भ्रष्ट व्यक्तियों के हाथ में सत्ता के केन्द्रित हो जाने का परिणाम है। एथेन्स के इस महान दार्शनिक ने समस्या की गहराई में जाकर उसे समझने का प्रयत्न किया और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि भ्रष्ट व्यक्ति सत्ता में उस समय आते हैं जब जनसाधारण का नैतिक स्तर गिरा हुआ होता है। गलत ढंग की प्रवृत्तियों वाली जनता ही अयोग्य नेतृत्व को जन्म देती है। प्लेटो की मान्यता है कि किसी भी व्यवस्था में भ्रष्टाचार तभी एक व्यापक रूप लेता है जब ऐसे लोगों के हाथों में ऊंचे राजनीतिक अधिकार सौंप दिये जाते हैं जिन्होंने अपनी वासनाओं को नियन्त्रण में रखना नहीं सीखा है और जो ज्ञान और बुद्धि के ऊँचे स्तरों को प्राप्त नहीं कर सके हैं। इस कारण प्लेटो की यह मान्यता थी कि सत्ता प्राप्ति और अभिजन

स्तर पर प्रमुखता को नैतिक और बौद्धिक श्रेष्ठताओं से नीचा माना जाना चाहिए।

तब भी हमारे लिए इस समस्या का समाधान ढूढ़ना आवश्यक होता है : अभिजनों की श्रेष्ठता का सतत निर्वाह कैसे किया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर अरस्तू ने दिया जब उसने इस बात पर जोर दिया कि अभिजनों की श्रेष्ठता राज्य के सविधान की श्रेष्ठता पर निर्भर होती है और देश के राजनीतिक शासकों की नैतिक और बौद्धिक श्रेष्ठता के निर्वाह की दृष्टि से एक आदर्श सविधान का प्रारूप हमें दिया। अरस्तू के अनुसार एक आदर्श सविधान की यह भूमिका हो जाती है कि वह राजनीतिक अभिजनो को एक अच्छी नैतिक स्थिति मे बनाये रखे और उसके द्वारा राज्य को चिरस्थायी राजनीतिक श्रेष्ठता प्रदान करे। अरस्तू के इस विचार की सत्यता का समर्थन हमे पोलीबियस के इस विचार मे, कि अपने विस्तार के युग में रोम की सफलताओ का मूल रहस्य उसके सविधान की श्रेष्ठता था, और आगे आने वाले लेखको की उन रचनाओं मे, जिनमे इंगलैण्ड, जर्मनी और जापान के अभिजनों की श्रेष्ठता का कारण उनके कानूनो और परम्पराओ की श्रेष्ठता बताया, मिलता है, परन्तु यदि जनता स्वय नैतिक आदर्शों पर नही चलती तो क्या एक आदर्श सविधान राजनीतिक अभिजनो को अधिक समय तक नैतिक श्रेष्ठता मे बनाये रखने मे सफल हो सकेगा ? यह बिल्कुल सम्भव है कि अच्छे से अच्छा सविधान भी स्वार्थी और सत्ता के भूखे मनुष्यों को उसे अपने उद्देश्यों के अनुकूल तोड़ने-मोडने, और अपने स्वार्थों के लिए उसका दुरुपयोग करने, से न रोक सके। इस कारण अच्छे सविधान से भी कुछ अधिक की आवश्यकता है। इसका उत्तर गाधी ने दिया जब उन्होने बताया कि अच्छे से अच्छा प्रशासन भी तानाशाही का रूप ले सकता है यदि उसे एक सतत जागृत और सचेतन जनमत के द्वारा नियन्त्रण मे नही रखा गया। यह वह दृष्टिकोण था जिसे उदारवादियो ने मध्य युगो और सत्रहवी शताब्दी के बीच, सविदा-सैद्धान्तिकों से, विरासत में प्राप्त किया था और जिसके आधार पर कार्यपालिका, विधान सभा और न्यायपालिका के बीच शक्तियो के वितरण और केन्द्रीय सरकार और सघ की इकाइयो के बीच, यदि राज्य बड़ा हुआ तो, शक्ति के बटवारे की कल्पना की गयी थी।

अभिजनो की कृत्यात्मकता का निर्वाह कैसे किया जाय ? इस प्रश्न पर किसी विशद चर्चा की आवश्यकता नही होनी चाहिए कि अभिजन प्रतीकों के निरूपण, निर्णयों के निर्माण और वस्तुओं के नियन्त्रण के द्वारा समाज के विभिन्न स्तरों—सास्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक के लिए कुछ निश्चित कृत्यो को सम्पन्न करते हैं, और उसी के अनुपात मे शक्ति, प्रतिष्ठा और प्रभाव का उपभोग करते हैं। यदि वे *(अ) अपनी कार्य-सम्पन्नता की प्रभावशालिता,* और (ब) शक्ति, प्रतिष्ठा, और प्रभाव अथवा धन के उपभोग, और (स) इन प्रतीकों के बीच सन्तुलन स्थापित कर सकें, तो वास्तव मे वे समाज के निर्माण मे बहुत प्रभावशाली योग दे सकते हैं। दूसरे शब्दो मे, उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे, बदले मे, समाज को कम से कम उतना तो दें जितना वे उससे प्राप्त करते हैं। समाज से वे जो प्राप्त करते हैं यदि बदले मे उससे कुछ अधिक देते हैं तो यह सम्भव है कि आदर और प्रेम की उस भावना के

कारण, जिसे उन्होंने जनता के हृदयों में जन्म दिया है, समाज का और अधिक तेजी के साथ और अधिक अच्छा विकास कर सकें। दूसरी ओर, यदि समाज से जितना वे उसे वापस देने का सामर्थ्य रखते हैं उससे अधिक प्राप्त करते हैं, सार्वजनिक लाभ की दृष्टि से उतना नहीं जितना अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए, तो वे समाज के विकास के लिए बाधा बन जाते हैं। राजनीतिक अभिजनों के द्वारा सेवाओं को देने (directional performance) और आनन्द का उपभोग करने (exaction enjoyment) के बीच उपयुक्त सन्तुलन का निर्वाह हो रहा है या नहीं इसका सबसे अच्छा निर्णय जागृत जनमत के द्वारा ही दिया जा सकता है। यदि वे उसका निर्वाह करने की स्थिति में है तो जनता के द्वारा उनकी स्वीकृति, दूसरे शब्दों में, वैधता अधिक दृढ़ बनेगी।

राजनीतिक विकास की संक्रियात्मक शर्तें

नये राज्यों के राजनीतिक विकास को किन स्थितियों से सहायता मिल सकती है, यह भी एक आवश्यक प्रश्न है जिसे राजनीतिक विकास के साहित्य में पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया गया है। ये स्थितियाँ (अ) सामान्य हो सकती हैं, जिनका समस्त राजनीतिक विकास में उपयोग किया जा सके, और (ब) स्थूल भी, जिनकी आवश्यकता विशिष्ट स्थितियों में हो। कुछ लेखकों ने, जिनमें आमण्ड और आइजेन्सटाड प्रमुख हैं, इन स्थितियों पर प्रकाश डाला है, और यद्यपि उनकी रचनाओं को इस दृष्टि से बहुत विशद तो नहीं माना जा सकता, वे उन आवश्यकताओं के सम्बन्ध में जो विकास की प्रक्रियाओं में सहायक होती हैं, कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव अवश्य देते हैं।

आमण्ड ने राजनीतिक विकास के लिए पांच आवश्यकताएं मानी हैं—(1) विकास की अवस्थाओं की आनुक्रमिकता (successiveness), (2) साधनों की उपलब्धता (availability), (3) अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं का साथ-साथ विकास (congruent development), (4) राजनीतिक व्यवस्था की पर्याप्त अन्तर्निहित क्षमता, और (5) चुनौतियों के प्रति अभिजनों में पर्याप्त अनुक्रियाशीलता। उसका यह दृढ़ विश्वास है कि राजनीतिक विकास की विभिन्न अवस्थाएं एक के बाद एक आनी चाहिएं न कि कई अवस्थाएं एक दूसरी के साथ। आमण्ड की दृष्टि में यह भी आवश्यक है कि विकास के लिए समाज के पास पर्याप्त साधन हों। आमण्ड राजनीतिक व्यवस्था को समाज की एक उप-व्यवस्था मानता है और उसका विश्वास है कि राजनीतिक विकास की सफलता के लिए समाज की सांस्कृतिक, आर्थिक, और सहभागी उप-व्यवस्थाओं का विकास साथ-साथ होना चाहिए। यह काफी नहीं है कि अभिजनों को विकास के मानवी और प्राकृतिक साधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हों, यह भी आवश्यक है कि राजनीतिक व्यवस्था में उन चुनौतियों का सामना करने के लिए, जो समय-समय पर उनके सामने आती हैं, अन्तर्निहित क्षमता भी पर्याप्त मात्रा में हो। यह भी आवश्यक है कि अभिजन समाज से आने वाली चुनौतियों का सकारात्मक और रचनात्मक प्रत्युत्तर देने की स्थिति में हों।

आइजेन्सटाड मानता है कि जिन आधारभूत शर्तों का उसने उल्लेख किया है उन्हें

यदि पूरा किया जा सके तो राजनीतिक अभिजनो को अपने-अपने समाजो के विकास का उत्तरदायित्व सफलता के साथ पूरा करने मे सहायता मिलेगी। आइजेन्सटाड द्वारा निर्धारित शर्तों की इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है :

(1) संचार साधनो का पर्याप्त पुनर्गठन, इस उद्देश्य से कि अभिजनो के लिए *विकासात्मक प्रयत्नो मे जनसाधारण को नियोजित करना सम्भव हो,*

(2) देश मे शिक्षा का पर्याप्त विकास—*प्रारम्भ मे प्राथमिक शिक्षा का विकास,* जिससे जनसाधारण मे चेतना फैले, और बाद मे माध्यमिक शिक्षा का प्रसार, जिससे समस्त समाज शिक्षा के एक अच्छे स्तर को प्राप्त कर सके,

(3) नये विकासात्मक कार्यों के लिए समाज के निम्न और साधारण क्षेत्रों से पर्याप्त संख्या मे जनसाधारण का नियोजन (mobilization)—आइजेन्सटाड सामाजिक गत्यात्मकता को नियोजित रखने मे विश्वास रखता है, जिससे उसे उस तेज गति से बढ़ने से रोका जा सके जो अभिजनों की *जनसाधारण पर शासन और उनका समाजीकरण करने की क्षमता से* बाहर हो,

(4) *अभिजन वर्ग की कृत्यात्मकता का अनवरत रूप से निर्वाह,* जिससे उनके द्वारा समाज को एक निश्चित दिशा दी जा सके, और

(5) अन्त मे, अभिजनो के पास विकास की एक दृढ योजना, इस अर्थ मे कि वे न केवल अपनी योजनाओ का स्पष्टता के साथ निरूपण कर सकें, परन्तु उन्हे प्रभावशाली ढग से कार्यान्वित भी कर सकें।

इन पाच शर्तों को आवश्यक बताते हुए आइजेन्सटाड कुछ ऐसी अपकृत्यात्मक बातो की भी चर्चा करता है जो राजनीतिक *विकास के मार्ग मे बाधक सिद्ध हो सकती हैं :* (अ) *सत्ता का बार-बार हस्तान्तरण, जिससे व्यवस्था की स्थिरता के भंग होने की आशका रहती है,* (ब) शासक अभिजनों मे बहुत अधिक स्वार्थपूर्णता और भ्रष्टाचार, *अथवा* उनके सिद्धान्तो और व्यवहार मे बहुत अधिक अन्तर, और (स) ऊचे प्रकार्यों, अवसरो और पुरस्कारो के वितरण मे न्याय की भावना की कमी। यह एक उल्लेखनीय बात है कि आमण्ड और आइजेन्सटाड ने जिन शर्तों को आवश्यक बताया है उन सब का सम्बन्ध राजनीतिक व्यवस्था, और संस्थाओं की उपलब्ध उन साधनों से है जिनका निर्माण राजनीतिक अभिजन विभिन्न स्तरो पर कर सके हैं, और राजनीतिक व्यवस्था और राजनीतिक *अभिजनों के द्वारा चुनौतियों का सफलता के साथ सामना* करने की उनकी क्षमता से है। *ये सब आन्तरिक शर्तें हैं,* और जब कि यह सच है कि इनके *और अन्य आन्तरिक शर्तों के* आनुक्रमिक क्रियान्वयन पर ही राजनीतिक व्यवस्था को निर्भर रहना पडता है, बाह्य परिस्थितिया भी राजनीतिक विकास के लिए सहायक हो सकती हैं, और बाधक भी, परन्तु आन्तरिक परिस्थितियों को प्राथमिकता देना इस कारण आवश्यक है कि विकासशील देशो मे राजनीतिक व्यवस्थाओं के टूटने का कारण आन्तरिक चुनौतिया अधिक होती है, बाह्य कारकों के द्वारा निर्माण की गयी बाधाएं कम।

राष्ट्रीय जीवन-क्षमता और राजनीतिक विकास

राष्ट्रीय जीवन-क्षमता (viability) को राजनीतिक विकास की आधारभूत आवश्यकता माना जाना चाहिए। राजनीतिक विकास के साहित्य में राष्ट्रीय जीवन-क्षमता पर अधिक चर्चा न होने का कारण शायद यह रहा है कि साम्यवादी और नव उदारवादी दोनों ही विचारधाराएं, आचरण में उस पर कट्टरता के साथ व्यवहार करते हुए भी, सैद्धान्तिक दृष्टि से, राष्ट्रवाद की संकल्पना को गौण मानती हैं। साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीयता को अधिक महत्त्व देते हैं और नव उदारवादी राष्ट्र की आर्थिक और भौतिक समृद्धि को। जहां तक राष्ट्रीय जीवन-क्षमता का प्रश्न है, साम्यवादी और पश्चिमी दोनों ही समाज उसे पर्याप्त मात्रा में प्राप्त कर चुके हैं। परन्तु, विकासोन्मुख राज्यों के राजनीतिक विकास के लिए वह एक महत्त्वपूर्ण अनिवार्यता है। राष्ट्रीयता की भावना के प्रति पश्चिमी लेखक चाहे कितनी ही उपेक्षा की भावना की अभिव्यक्ति क्यों न करें, यह एक अकाट्य तथ्य है कि विकासोन्मुख और विकसित दोनों समाजों के लिए राष्ट्र समाज की एक आधारभूत इकाई रहा है और भविष्य में भी एक लम्बे समय तक रहेगा। इस विवाद में पड़ना आवश्यक नहीं है कि 'राष्ट्र' का अर्थ क्या है। इस सम्बन्ध में कार्ल फ्राईड्रिख द्वारा दी गयी राष्ट्र की परिभाषा को एक अच्छी कार्यकारी परिभाषा माना जा सकता है। फ्राईड्रिख लिखता है, "राष्ट्र एक ऐसा संसक्त समूह है जो, संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा निर्धारित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की सीमाओं में, 'स्वतन्त्रता' का उपभोग करता है, जो इस प्रकार के समूह पर प्रभावशाली ढंग से प्रशासन करने के लिए एक निश्चित प्रादेशिक भूभाग की व्यवस्था करता है और जो प्रशासन को वह समर्थन प्रदान करता है जिसके द्वारा उसे विश्व-व्यवस्था के एक भाग के रूप में वैधता प्राप्त होती है।" दूसरे शब्दों में, जीवन-क्षमता प्राप्त राष्ट्रीय व्यवस्था से किसी समाज में एक ऐसे राष्ट्रीय राज्य के अस्तित्व का बोध होता है, जिसकी सीमाओं में विभिन्न समूह, कम अथवा अधिक, मेल-जोल की भावना से रहते हैं— इस अर्थ में कि अभिजन, उप-अभिजन और जनसाधारण के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हैं और राजनीतिक अभिजन, समाज से अपना नैतिक और भौतिक समर्थन प्राप्त करते हुए, उपलब्ध मानवी और प्राकृतिक साधनों का उपयोग प्रभावशाली ढंग से करने की स्थिति में हैं। जिस समाज में अधिक राष्ट्रीय एकता पायी जाती है वह ऐसे राजनीतिक अभिजनों का निर्माण करने में सफल होता है जो वांछनीय राष्ट्रीय लक्ष्यों का निर्धारण करने और ऐसी संस्थाओं का विकास करने की, जिनके माध्यम से इन राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके, स्थिति में होते हैं, और उनकी प्राप्ति के लिए प्रतिबद्ध रहते हैं।

साम्यवादी और पश्चिमी देशों के विकसित राष्ट्र राज्यों में राष्ट्रीय एकीकरण एक निश्चित परिपक्वता के स्तर तक पहुंच गया है और इन देशों के राजनीतिक अभिजन आज अपने को इस स्थिति में पाते हैं कि वे अपने आर्थिक, और आवश्यकता हो तो प्रादेशिक और औपनिवेशिक, साधनों का और अधिक विस्तार कर सकें। परन्तु विकासोन्मुख देशों में जहां राष्ट्रीय एकीकरण प्रायः बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था

मे पाया जाता है, राज्य-निर्माण की तुलना मे, राष्ट्र-निर्माण, जो राजनीतिक से अधिक नैतिक समस्या है, सम्पूर्ण रूप से आवश्यक हो जाता है। राष्ट्रीय जीवन-क्षमता के परिणामस्वरूप ही सम्बन्धित समाज मे राजनीतिक सामर्थ्य का निर्माण और निर्वाह सम्भव हो पाता है—बाह्य क्षेत्र मे, समाज के बाहर से आने वाले दबावो से उसकी प्रतिरक्षा के लिए और, आन्तरिक क्षेत्र मे, उसकी विश्वसनीयता, प्रभाविता, अनुकूलनशीलता और नमनीयता को सुदृढ बनाने की दृष्टि से। न्यूनतम पर्याप्त क्षमता के साथ न्यूनतम पर्याप्त साधनो का होना भी आवश्यक है। वास्तव मे इन दोनों का चोली-दामन का साथ है। यदि राजनीतिक नेतृत्व समर्थ है तो वह उपलब्ध साधनों के सीमित होते हुए भी, उनका कही अधिक अच्छे ढग से उपयोग कर सकता है। इसके विपरीत, यदि वह राष्ट्रीय साधनो के उपयोग के सम्बन्ध मे उपयुक्त तौर-तरीकों का विकास करने मे समर्थ, अथवा दूरदृष्टा, नही है तो वह उपलब्ध साधनो को भी बहुत कम समय मे बर्बाद कर सकता है। ज्यो-ज्यों इन साधनो का विकास होगा और उन्हे उपयोग मे लाया जायेगा, राजनीतिक सामर्थ्य मे वृद्धि की सम्भावना भी बढ़ जाती है। राष्ट्रीय एकीकरण का यह भी अर्थ है कि विभिन्न प्रकार के *सांस्कृतिक*, सहभागी राजनीतिक और आर्थिक अभिजनों मे सक्रिय विनिमय होता रहे। वास्तव मे, *अभिजनो के बोच की यह अन्त.क्रिया ही राष्ट्रीय एकीकरण और जीवन-क्षमता का* निर्माण करती है। राष्ट्रीय एकीकरण को, इस कारण, तृतीय विश्व मे राजनीतिक विकास के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण अग माना जाना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का दवाव

एक प्रमुख तथ्य, जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र मे अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है, विकसित और विकासोन्मुख, अमीर और गरीब, देशो के बीच की व्यापक और *बढती हुई खाई है। विकासोन्मुख विश्व मे सभी देशो मे नवोदित आशाओ की* क्रान्ति नवोदित कुठाओं की क्रान्ति के द्वारा पीछे धकेली जा रही है। विकासोन्मुख देश इस तथ्य के प्रति सतत जागरूक हैं कि पिछली अनेक शताब्दियों मे उनके आर्थिक शोषण और सर्वनाश का उत्तरदायित्व आज के विकसित देशों पर है, और वे आज की अपनी स्थिति का मूल कारण न केवल उन राष्ट्रो का मानते हैं जो अब तक साम्राज्यवादी थे परन्तु उनकी यह धारणा है कि विकसित देशों से सभी प्रकार की सम्भव सहायता प्राप्त करने का उन्हे अधिकार है। विकासोन्मुख विश्व आज सभी *प्रकार के संकटों से घिरा हुआ है*—आबादी मे भयकर गति से वृद्धि, नागरिक और ग्रामीण दरिद्रता का कई गुना बढ़ जाना, जातीय और साम्प्रदायिक दगे, राजनीतिक आन्दोलन, उन्हे दबाने के लिए प्रशासनिक दमन नीति, गृह-युद्ध, भ्रष्टाचार, परम्परागत मूल्यो का नष्ट होना, मुद्रा-स्फीति, बढ़ते हुए राष्ट्रीय कर्ज और घटती हुई विदेशी विनिमय से प्राप्त होने वाली आय। अब हम तथ्यों को देखते हैं तो हमे पता लगता है कि अधिकांश विकासोन्मुख देश, न केवल अमीर देशों की वेग से होने वाली वृद्धि की तुलना मे परन्तु, सम्पूर्ण रूप से भी अधिक गरीब हो गये हैं। जो बात अधिकांश

विकासोन्मुख देशों में उनके आन्तरिक जीवन में घटित होती जा रही है—अमीरों का और अधिक अमीर होते जाना, अमीर व गरीब के बीच की खाई का और अधिक बढ़ते जाना और ऐसे लोगों की संख्या का जो जीवन-निर्वाह के स्तर से भी नीचे अपना जीवन बिता रहे हैं, आबादी के एक तिहाई से बढ़ कर दो तिहाई हो जाना—यह सब अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी दोहराया जा रहा है। मानवता का दो तिहाई भाग, जिसमें विश्व के अधिकांश राज्यों की आबादी आ जाती है, अत्यधिक गरीब है, और ज्यों-ज्यों हम बीसवीं शताब्दी के अन्त की ओर बढ़ते जा रहे हैं हम एक ऐसी स्थिति के निकट पहुंच रहे हैं जिसमें विश्व का विभाजन 20% से 30% तक एक ऐसे अल्प-मध्यम वर्ग में, जिसमें साधारणत. धनी से लेकर बहुत अधिक धनी तक व्यक्ति हैं, और 70% से 80% तक के एक ऐसे बहु-मध्यम वर्ग में, जिनके लिए भूख, बीमारी, अज्ञान और व्यक्तिगत कुंठा दिन-प्रतिदिन के कठोर नियम बनते जा रहे हैं, विभाजित हो जायेगा। संयुक्त राष्ट्र-संघ के उस घोषणापत्र पर, जिसने एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना का प्रारम्भ किया, हस्ताक्षर किये जाने के तीस वर्ष बाद, जैसा कोकोयोक सम्मेलन की घोषणा में कहा गया, यह व्यवस्था आज एक निर्णायक मोड़ पर आ पहुंची है। समस्त मानव कुटुम्ब के लिए एक अधिक अच्छे जीवन का निर्माण करने की उसकी आशाएं अधिकांशतः अब धूमिल पड़ती जा रही हैं। संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना के समय की तुलना में आज संसार में कहीं अधिक भूखे, बीमार, आश्रयहीन और अशिक्षित व्यक्ति मौजूद हैं। विश्व-समाज "अपनी बढ़ती हुई आबादी के लिए सुरक्षित और आनन्दपूर्ण जीवन की व्यवस्था करने में सर्वथा असफल रहा है।"[6]

एक ऐसी नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के, जो इस उद्देश्य को प्रभावशाली ढंग से पूरा कर सके, विकास की चर्चा प्रायः सुनायी देती है। परन्तु, क्या यह सम्भव है कि हम इच्छा मात्र से अथवा योजना बनाकर एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का निर्माण कर सकें? यह तो स्पष्ट है कि आज की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था विज्ञान और तकनीक के विकास के द्वारा लाये गये क्षिप्र परिवर्तनों का भार सम्भालने की स्थिति में नहीं है, परन्तु एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था भी केवल इच्छा मात्र से अथवा काल्पनिक योजनाएं बनाकर अस्तित्व में नहीं लायी जा सकती। हममें से कौन ऐसा है जो अपनी हार्दिक इच्छाओं के अनुरूप एक नये विश्व का निर्माण करना न चाहेगा? परन्तु, सभी समाजशास्त्री यह जानते हैं कि इच्छा मात्र से हम अनन्त आनन्द के उपभोग के स्वर्ग को प्राप्त नहीं कर सकते। यह सच है कि किसी भी परिवर्तन को लाने के लिए मानव प्रयत्न की आवश्यकता है, परन्तु एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के विकास की दिशा में हमें धीरे-धीरे और नवीन यथार्थताओं के अनुकूल अपने को ढालते हुए, जो मानवी इच्छा और योजना के फलस्वरूप अस्तित्व में आयी हैं, चलना होगा। यह सच है कि

[6] यह घोषणापत्र जो मैक्सिको के कोकोयोक नाम के नगर में विशेषज्ञों के एक दल के द्वारा, 8 12 अक्तूबर 1974 में आयोजित संयुक्त राष्ट्र-संघ की दो संस्थाओं की एक सम्मिलित विचार-गोष्ठी के बाद, जिसमें तकनीकी और आर्थिक महत्त्व की समस्याओं पर, श्रीमती बारबरा वैकमन की अध्यक्षता में चर्चा की गयी थी, प्रकाशित किया गया।

विज्ञान और तकनीक मानव नियन्त्रण के परे होते जा रहे हैं, और उन्हें व्यवस्थित करने की आवश्यकता है, *और यह काम राजनीति का है न कि विज्ञान का। यह भी सच है कि* विज्ञान के विकास को वाछनीय ढग से व्यवस्थित अथवा सगठित करने की प्रक्रिया अब तक बहुत अधिक निर्बल और अव्यवस्थित रही है, और इसी के कारण आज विज्ञान और राजनीति मे हम एक तनाव की स्थिति पाते हैं। परन्तु इस तनाव को दूर करने का निश्चित ही यह तरीका नही है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और राष्ट्रीय प्राधिकरण के बीच एक दूसरे तनाव को जन्म दिया जाय। जैसा जॉन गेराल्ड रागी ने लिखा है, "आज हमारे सामने एक "समग्र स्थिति" है, जिसका निर्माण केवल विज्ञान के द्वारा नही वल्कि *उसके प्रति राष्ट्रीय अनुक्रियाशीलताओ और अन्तर्राष्ट्रीय समझ-बूझ के, अपने आप मे* वह चाहे कितनी ही सीमित क्यो न रही हो, प्रतिमानो के द्वारा भी हुआ है, जिसके प्रति हमे एक "समग्र अनुक्रिया" का विकास करना है, मनमाने ढग से नही परन्तु अपने सामने की यथार्थताओ को ध्यान मे रखते हुए। विज्ञान और तकनीक की प्रगति को रोक देने मे, जो किसी भी प्रशासन अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के बूते के बाहर है, *स्थिति का समाधान नही खोजा जा सकता। उसके लिए यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय* संगठन पर विज्ञान और तकनीक की प्रतिक्रिया के सम्बन्ध मे हम अपने ज्ञान को बढाए। राष्ट्रीय सम्प्रभुता की सकल्पना की भर्त्सना, जिसके पीछे यह विचार दिखायी देता है कि यदि हमे वास्तव मे एक प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना करनी है तो हमे राष्ट्रीय सम्प्रभुता की कुर्बानी देनी होगी, आजकल एक साधारण बात हो गयी है। परन्तु यह एक सम्पूर्णत: भ्रान्तिपूर्ण विचार है। राष्ट्रीय सम्प्रभुता अथवा स्वायत्तता एक ऐसी कल्पना नही है जिसे इच्छा मात्र से मिटाया जा सके, और न ऐसी वस्तु है *जिसकी भर्त्सना करना वाछनीय हो।* वास्तव मे, राष्ट्रीय राज्यो की प्रादेशिक सीमाओ मे रहने वाले समाज के विकास के लिए, और किसी नये अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की स्थापना के लिए भी, राष्ट्रीय स्वायत्तता ही एकमात्र आधार हो सकती है। हमारा उद्देश्य एक ऐसे व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते को प्राप्त करना होना चाहिए जो राष्ट्रीय राज्यो की स्वायत्तता और अखण्डता को बनाये रख सके, न कि ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना करना जिसका निर्माण राष्ट्रीय राज्यो के खण्डहर पर किया जाय।[82]

बढती हुई राष्ट्रीय *आत्म-निर्भरता* ही वह आधार है जिस पर अभीप्सित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का भवन खडा किया जा सकता है। राष्ट्र की आत्म-निर्भरता का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता नही है, उसका अर्थ है *विश्व के साधनो का एक ऐसा दृढ पुनः* वितरण कि उसकी आधारभूत आवश्यकताए पूरी की जा सकें। इस निर्भरता का आधार प्रमुख रूप से राष्ट्र के अपने साधनों—प्राकृतिक और मानवी पर रखा जा सकता है। बाहर के प्रभावो और शक्तियो पर निर्भरता अन्तत. राजनीतिक दबावो और व्यापार

[82]जोन जेराल्ड रग्गी, 'इन्टर्नेशनल रिस्पौंसेज टू टेक्नोलॉजी: कौंसेप्ट्स एण्ड ट्रेन्ड्स," 'इन्टर्नेशनल ओर्गेनाइजेशन,' ग्रीष्म 1975, खण्ड 29, सं० 3, पृ० 557-583।

के शोषणात्मक प्रतिरूपों को दृढ़ बनाती है। जहां तक तकनीक का प्रश्न है, उसे बाहर से ज्यों का त्यों आयात करने से यह अच्छा है कि उसका विकास अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल किया जाय, इसके परिणामस्वरूप अपने आप ही विश्व की अर्थनीति का, और सम्भवतः राष्ट्र की अर्थनीति का भी, विकेन्द्रीकरण होगा। परन्तु यह तो निश्चित है कि उसके फलस्वरूप राष्ट्रों की सहभागिता और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि होगी। यह भी सम्भव है कि अपने समाज के विकास के उद्देश्य से की जाने वाली राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता के लक्ष्य की खोज किसी राजनीतिक अर्थव्यवस्था को इस बात के लिए बाध्य कर दे कि वह अन्तर्राष्ट्रीय अर्थनीति से, अस्थायी रूप से ही सही, अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर ले। एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में, जो आर्थिक निर्भरता को स्थायित्व प्रदान करती है, पूर्ण रूप से सहभागी होते हुए आत्म-निर्भरता को प्राप्त करना असम्भव हो सकता है। यह निश्चित है कि अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से सम्बन्ध विच्छेद करने के किसी भी प्रयत्न का वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के द्वारा कड़ा प्रतिरोध किया जायेगा और इसके लिए वह अनेक प्रकार की आर्थिक जोड़तोड़ का सहारा लेगी—ऋण वापस ले लेना अथवा ऋण देने पर रोक लगा देना, अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध और आर्थिक बाध्यताएं लगाना, अपने गुप्तचर विभागों द्वारा दूसरे देशों में उथल पुथल पैदा करना, बल प्रयोग, जिसमें अत्याचार जन आन्दोलन विरोधी कार्य, यहां तक कि सम्पूर्ण हस्तक्षेप तक आ जाते हैं, कुछ ऐसी कार्यवाहियां हैं जो अभी भी काम में लायी जा रही हैं। नये राज्यों के लिए यह आवश्यक है कि वे उन देशों की क्रिया-विधियों के सम्बन्ध में जो आर्थिक व राजनीतिक दृष्टियों से उनसे अधिक शक्तिशाली हैं, सतर्क रहें। इन सब कारणों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि एक सशक्त और स्वायत्तशासी राज्य ही नयी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के विकास के लिए उपयुक्त आधार बन सकता है।

कुछ निष्कर्षात्मक विचार

राजनीतिक विकास के अर्थ और उद्देश्य के सम्बन्ध में एक नये सिरे से सोचना आवश्यक है। विकास का अर्थ वस्तुओं का विकास नहीं मनुष्यों का विकास है—ऐसा *विकास, जिसमें मानव-मात्र की आधारभूत आवश्यकताएं, भोजन, वस्त्र, आवास, स्वास्थ्य* और शिक्षा की आधारभूत आवश्यकताएं पूरी की जा सकें। वृद्धि अथवा विकास की कोई भी ऐसी प्रक्रिया को, जो समाज को मानव की इन आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति की दिशा में नहीं ले जाती, विकास का नाम नहीं दिया जा सकता। वृद्धि की ऐसी प्रक्रिया को जो केवल अमीर अल्प-संख्यक वर्ग को ही लाभान्वित करती है और, विभिन्न देशों के बीच और उन देशों के भीतर, असमानताओं का निर्वाह करती है, अथवा उन्हें बढ़ाती है, विकास का नाम नहीं दिया जा सकता। सच पूछा जाय तो वह शोषण की ही एक प्रक्रिया है। यह एक कठोर वास्तविकता है कि विकासोन्मुख देशों में आज गरीब वर्गों की, जिनमें समस्त मानवता का कम से कम 40% भाग आ जाता है, आधारभूत आवश्यकताएं असन्तुष्ट रहती हैं। पाश्चात्य समाजशास्त्रियों के द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त, जिसे विकासोन्मुख राष्ट्रों के अभिजनों ने हर्षपूर्वक स्वीकार कर

लिया है, क्योंकि यह उनके अपने स्वार्थों के अनुकूल पड़ता है, कि कुछ थोड़े से लोगों को लाभ पहुंचाने वाले क्षिप्र आर्थिक विकास का फल धीरे-धीरे जनसाधारण तक पहुंच जाता है, गलत और भ्रामक सिद्ध हुआ है। 'वृद्धि पहले और लाभ के वितरण में न्याय बाद में,' इस विचार का परिणाम यह हुआ है कि समाज के ऊपर के वर्ग की समृद्धि में तो वृद्धि हुई है, पर लाभों का वितरण प्रायः नहीं के बराबर हुआ है। इस कारण इस छनती सिद्धान्त (trickle down) को केवल तिरस्कार की दृष्टि से ही देखा जा सकता है। आधारभूत आवश्यकताओं की जो चर्चा यहां की गयी है उसका यह अर्थ नहीं है कि 'अन्य आवश्यकताएं,' 'अन्य लक्ष्य' और 'अन्य मूल्य' ऐसे नहीं हैं जो उतने ही महत्त्वपूर्ण न हों। वास्तव में, विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और विचारों और प्रेरणाओं के खुले आदान-प्रदान का अधिकार भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन का निर्माण स्वयं करने और देश की राजनीतिक व्यवस्था के निर्णयों में भाग लेने का भी पूरा अधिकार है। यह कहना भी न्यायसंगत होगा कि विकास की व्याख्या में काम करने का अधिकार भी सम्मिलित किया जाना चाहिए, जिसका अर्थ केवल यही नहीं है कि प्रत्येक को काम दिया जाय परन्तु यह भी है कि वह काम ऐसा हो जिसके द्वारा वह अपने व्यक्तित्व का सहज रूप में विकास कर सके। साथ ही उसका यह अधिकार भी होना चाहिए कि ऐसी उत्पादन पद्धतियों को, जो मनुष्यों का उपयोग उपकरण के रूप में करती है, समाज से यह छूट न मिल सके कि वे समाज और परिवार से उसके सम्बन्धों को तोड़ दें और वह अपने में अलगाव की भावना विकसित करने के लिए विवश हो, जो समाज आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने के नाम पर इन 'अन्य आवश्यकताओं' को, जो उतनी ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, उपेक्षा करता है वह विकास की दिशा में नहीं, पतन की ओर जाने वाला समाज है।

जिन महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की ऊपर चर्चा की गयी है वे सभी विकास के आधारभूत तत्त्व हैं, और यदि यह स्वीकार कर लिया जाता है तो विभिन्न देशों में उनके द्वारा ऐसे मार्गों का चयन किया जा सकता है जो एक दूसरे से भिन्न हों। प्रत्येक देश, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और अन्य कारणों के आधार पर, विकास का स्वयं अपना मार्ग चुन सकता है। अब समय आ गया है कि विकास के एकरेखीय (linear) होने की उस कल्पना का, जिसका विकास 1960 के दशक में कुछ प्रख्यात अमरीकी राजनीतिशास्त्रियों ने किया था और जिसके पीछे यह मान्यता है कि सभी देशों को अन्ततः उन देशों के ऐतिहासिक प्ररूप को स्वीकार करना होगा जो किसी न किसी कारण से आज समृद्धिशाली दिखायी देते हैं, सम्पूर्ण तिरस्कार किया जाय। वास्तव में वह स्थिति पाश्चात्य समाजों के सन्दर्भ में जिसे आज विकास का नाम दिया जाता है, एक संक्रामक रोग की स्थिति है। आज के विश्व में हमें एक ओर विकास का एक अत्यधिक निम्न स्तर दिखायी देता है और दूसरी ओर विकास सभी मर्यादाओं का अतिक्रमण करता हुआ दिखायी देता है। मनुष्य के लिए भोजन आवश्यक है, परन्तु यह सम्भव है कि वह आवश्यकता से कहीं अधिक भोजन अपने पेट में ठूस ले। कोकोयोक घोषणा के शब्दों में "अधिक से अधिक वस्तुओं का उत्पादन और उपभोग करने से हमें सहायता नहीं मिलती, यदि उसके

परिणामस्वरूप हमें नींद की गोलियों और मानसिक अस्पतालों पर अधिक निर्भर होना पड़े।" आज तो अधिक विकसित देश ही पर्यावरण पर भारी दबाव डाल रहे हैं, और न केवल अपने लिये परन्तु दूसरों के लिए भी नयी-नयी समस्याएं खड़ी कर रहे हैं। विकासोन्मुख विश्व के कम विकसित होने का उत्तरदायित्व मुख्यतः विश्व में एक तृतीयांश भाग में (स्वयं जिसके अन्तर्गत आज भी जनसंख्या का एक बड़ा भाग अविकसित जीवन बिता रहा है) आवश्यकता से अधिक विकसित होने पर है, यद्यपि इस सम्बन्ध में विकासोन्मुख देशों को भी, जो विकास की गलत दिशाओं पर चल रहे हैं, दोषों से सम्पूर्णतः मुक्त नहीं किया जा सकता।

सभी अविकसित देशों में जनसंख्या तेजी से साथ बढ़ रही है, परन्तु विश्व के साधनों के तेजी के साथ समाप्त होने का उत्तरदायित्व केवल अविकसित देशों की बढ़ती हुई जनसंख्या पर नहीं रखा जा सकता। अति-विकसित देशों में लापरवाही के साथ प्राकृतिक साधनों को समाप्त करने की प्रवृत्ति भी दिखायी देती है—यह एक ऐसी प्रवृत्ति है जो विभिन्न देशों में असमान सम्बन्धों के कारण दृढ़ होती जा रही है। कोकोयोक घोषणा के शब्दों में ही, "पिछले तीस वर्षों का अनुभव हमें यह बताता है कि देश के भीतर की क्रय-विक्रय की प्रक्रियाओं के द्वारा निर्देशित और शक्तिशाली अभिजनों के द्वारा उनके अपने हित में कार्यान्वित की गयी आर्थिक विकास की एकाकी खोज का भी विकासशील देशों पर विनाशात्मक प्रभाव पड़ता है। आबादी का 5% भाग जिसमें सबसे धनी लोग आ जाते हैं, सब लाभों को स्वयं हथिया लेता है, और यह बिलकुल सम्भव है कि उसका 20% भाग, जो सबसे अधिक गरीब है, और भी अधिक गरीब होता जाता है।" 1972-74 के बीच में, जिसके पहले विश्व एक व्यापक मुद्रास्फीति के युग में से गुजर चुका था, भोजन, खाद और ईंधन के दाम तीन गुना से ज्यादा बढ़ गये थे और विकासोन्मुख देशों में व्यापक पैमाने पर लोगों को भूख से मृत्यु होने का तात्कालिक खतरा पैदा हो गया था। इसका कारण यह नहीं था कि अनाज नहीं था परन्तु यह था कि जिन लोगों को भरपेट भोजन मिल रहा था वे उस अनाज का उपयोग कर रहे थे। उत्तरी अमरीका में खाद्य पदार्थों, अधिकांशतः मांस का उपयोग 1965 की तुलना में प्रति व्यक्ति 300 पाउण्ड बढ़ गया था, और 1900 पाउण्ड तक जा पहुंचा था। यह अतिरिक्त 350 पाउण्ड एक साधारण भारतीय की वर्ष भर की अनाज की आवश्यकता को पूरा कर सकता था। इसका अर्थ यह नहीं है कि 1965 में उत्तरी अमरीका का एक साधारण नागरिक इस कारण भूखों मर रहा था कि उसके भोजन में 350 पाउण्ड की कमी थी। वास्तव में, भोजन की इस वृद्धि ने उसे आवश्यकता से अधिक भोजन का उपयोग करने की प्रेरणा दी, जिसकी उसे आवश्यकता नहीं थी और जो अब उसके स्वास्थ्य के लिए खतरे का एक कारण बना था। विश्व भर के अनाज की वर्तमान पैदावार का यदि अधिक न्यायपूर्ण आधार पर पुनः वितरण कर दिया जाय तो कहीं भी किसी भी व्यक्ति को भूखों मरने की आवश्यकता नहीं होगी। कमी भोजन की नहीं है, कमी न्यायपूर्ण वितरण की है। इस कारण आवश्यकता इस बात की है कि जो कम विकसित है उसका विकास किया जाय और जिसका आवश्यकता से

अधिक 'विकास' हो चुका है उसके विकास मे कमी की जाय, तभी ठीक ढग का विकास सम्भव होगा। यह आवश्यक है कि विकास के उद्देश्य के सम्बन्ध मे हमारी परिभाषाओं को बदला जाय और हम एक ऐसे विश्व का निर्माण करने मे जुट पड़ें जिसमे मनुष्य के द्वारा प्रकृति के शोषण और मनुष्य के द्वारा मनुष्य के शोषण को कम से कम किया जा सके।

इस स्थिति का समाधान तभी सम्भव हो सकता है जब तृतीय विश्व के देश अपने लिए विकास की एक ऐसी दिशा चुनें जो, एक ओर तो उनके इतिहास, सस्कृति और प्रतिभा के, और दूसरी ओर तेजी से बदलते हुए अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरणो के, अधिक अनुकूल हो। अविकसित स्थिति, जैसा एडवर्ड जे० वुडहाउस लिखता है, केवल एक वस्तुपरक स्थिति नही है जिसकी पहचान राष्ट्रीय सकल उत्पादन की न्यूनता से हो, यह एक मस्तिष्क की स्थिति भी है, तुलनात्मक रूप मे अनुभव किये गये अभाव की स्थिति, और यह स्थिति *उस समय उत्पन्न होती है "जब जनता की आवश्यकताएं ऐसी नयी-नयी मागो का रूप लेने लगती हैं जो सदा ही बहु-मध्यक वर्ग की पहुच के बाहर होती* हैं।" विकासोन्मुख देशो मे, जैसा वुडहाउस लिखता है, जनसाधारण के लिए थोडा बहुत ज्ञान रखने वाले, पर सुलभता से उपलब्ध, चिकित्सको की आवश्यकता अधिक है, नागरिक अभिजनो के हृदय रोग के विशेषज्ञो और बडे-बडे अस्पतालो की कमी, बसो की आवश्यकता अधिक है व्यक्तिगत कारो की कम, उन स्थानो की आवश्यकता अधिक है जहां सार्वजनिक वस्तुओ को ठण्डा करके रखा जा सके, व्यक्तिगत रेफ्रिजरेटरों की कम, घर बैठे शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाओ और वर्ष मे एक दो महीनों के लिए व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करने वाले विद्यालयो की आवश्यकता अधिक है, स्कूल और कॉलेजो के *लिए नयी-नयी इमारतो और पाश्चात्य ढग की शिक्षा व्यवस्था की कम, मजबूत बैलगाडियो की,* जो कच्ची सडको पर सामान को धीरे-धीरे ढो सकें, आवश्यकता अधिक है, तेज गति से चलने वाले ऐसे ट्रको की जिनमे बिजली के यन्त्र लगे हो कम।"[63] उस सीमा से, जहा पूजी और उन्नत तकनीक को आत्मसात् किया जा सकता है, आगे आने का अर्थ, उन समाजो के लिए, जो पाश्चात्य प्ररूप का अनुकरण करने का प्रयत्न कर रहे हैं, जीवन और सस्कृति को गम्भीर क्षति पहुचाना है।

विश्व के सामने आज केवल दो मार्ग खुले हुए हैं—(अ) तृतीय विश्व के देशों के लिए उन सभी बाहरी प्रभावों को दूर रखना जो *तुलनात्मक अभाव की सृष्टि करते हैं और समाज के सीमित साधनो के गलत वितरण को प्रोत्साहन देते हैं, (ब) औद्योगिक देशो के लिए,* अपनी घरेलू अर्थनीतियों की गति को धीमा करके शून्य-विकास के स्तर पर ले आना और ऐसी नीतियो को प्रोत्साहित करना जिनका लक्ष्य उपभोग मे कमी हो। विकासोन्मुख और विकसित विश्व के इन दोनों भागो मे से इन मार्गों पर चलने के लिए कोई भी तैयार दिखायी नहीं देता। इसी कारण हमारे सामने यह खतरा पैदा

[63]एलवर्ड जे० वुडहाउस "रिवीजनींग दी फ्यूचर ऑफ दी थर्ड वर्ल्ड : एन इकॉनोमिकल पर्सपेक्टिव ऑन डेवेलपमेन्ट," "वर्ल्ड पौलिटिक्स," खण्ड 25, सं० 1, अक्तूबर 1972, पृ० 1-33।

हो गया है कि लैटिन अमरीकी देशों में आज जो कुछ हो रहा है वह जल्दी अथवा देर से, बहुत करके जल्दी ही—समस्त एशिया और अफ्रीका पर छा जाय—"संरक्षण प्रशुल्क की आड़ में अकुशल उद्योग-धन्धों के द्वारा एकाधिकार कीमतों पर बेची जाने वाली अनुपयोगी वस्तुओं का उत्पादन, मौलिक परिवर्तनों को लाने की किसी भी प्रक्रिया का शक्तिशाली अभिजनों के द्वारा सफलता के साथ विरोध, और जनसंख्या के बड़े-बड़े भागों का अमानवीय भौतिक परिस्थितियों में जीवन बिताते रहना।[64] एक तीसरा मार्ग जिसे कुछ लेखकों ने सुझाया है यह है कि धनी राष्ट्र एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना करें जो सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वितरण कर सके, परन्तु इसकी सम्भावना भी बहुत कम दिखायी देती है।

यदि विकास की कल्पना एक ऐसे समाज के निर्माण के सन्दर्भ में की जाती रहेगी जिसका उद्देश्य उपभोग की अधिक से अधिक सामग्री का उपयोग करना है, तो निर्धन राष्ट्रों के लिए जो सम्भवतः कभी भी धनी राष्ट्रों की स्थिति तक नहीं पहुंच सकेंगे, यह आवश्यक हो जाता है कि वे विकास के अपने उद्देश्यों की नये सिरे से व्याख्या करें। आवश्यकता आज इस बात की है कि करोड़ों व्यक्तियों की अभिवृत्तियों और उनके व्यवहार में मौलिक परिवर्तन लाया जाय। हील ब्रूनर लिखता है, 'प्रगति' से यदि हमारा अर्थ समाज की गति को पाश्चात्य मानववाद के आदर्शों की दिशा में ले जाना है, और मनुष्य की स्थिति में गुणात्मक और परिमाणात्मक वृद्धि करना है तो यह स्पष्ट है कि हमें प्रगति के अपने विचारों को ऐतिहासिक भविष्य के कल्पनातीत क्षितिज से भी परे धकेल देना होगा ...।"[65] केनेथ बोल्डिंग ने और भी अधिक स्पष्ट-भाषी शब्दों में इस सारी स्थिति का मूल्यांकन किया है। वह लिखता है, "अधिक सम्भावना इसी बात की है कि आज के अविकसित देश विकास कर ही न सकें। आज कोई भी वस्तु पर्याप्त मात्रा में शेष नहीं बची है। उन असंख्य तत्वों की जो विकासात्मक अर्थनीति के लिए आवश्यक है, सर्वथा कमी है ... आर्थिक विकास वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा वह अशुभ घड़ी नजदीक लायी जा रही है जब सभी वस्तुएं समाप्त हो जायेंगी।"[66] अब समय आ गया है जब विकासोन्मुख देश इस चेतावनी को गम्भीरता से लें और 'विकास' की अपनी दिशा को बदलें।

[64] वही, पृ० 28-29।

[65] रॉबर्ट हीलब्रूनर, 'दि फ्यूचर एज हिस्ट्री,' न्यूयार्क, 1966, पृ० 204।

[66] केनेथ बोल्डिंग, 'दि इकॉनॉमिक्स ऑफ दी कमिंग स्पेसशिप अर्थ,' हेनरी जैरेट द्वारा सम्पादित 'एनवायरनमेन्टल क्वालिटी इन ए ग्रोइंग इकॉनॉमी,' बाल्टीमोर, 1966, पृ० 166।

अध्याय 7

प्रतिरूप, अनुरूपण और आधुनिक राजनीति-विज्ञान

(MODELS, SIMULATIONS AND MODERN POLITICAL SCIENCE)

प्रतिरूप (model) शब्द का प्रयोग सामाजिक विज्ञानों में एक ऐसी कार्यकारी बौद्धिक संरचना के लिए किया जाता है जिसकी सहायता से हम सामाजिक अथवा भौतिक स्थितियों को अधिक अच्छी तरह से समझ सकें। इस प्रकार की स्थितियां वास्तविक भी हो सकती हैं, और काल्पनिक भी। दूसरे शब्दों में प्रतिरूप एक ऐसे आदर्श को प्रतिबिम्बित करता है जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं, अथवा एक ऐसी प्रक्रिया को मूर्त रूप देता है जिसका हम अनुसरण करना चाहते हैं। प्लेटो ने, अपने ढंग से, एक आदर्श राज्य के प्रतिरूप की ही संरचना की थी, और अरस्तू ने संविधानों के ऐसे प्रतिरूप दिये थे जो विकास की विभिन्न मंजिलों से गुजरते हुए विभिन्न समाजों के लिए उपयुक्त हो सकते हों। परन्तु, इस शब्द का प्रयोग जब हम आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों के सन्दर्भ में करते हैं तो यह आवश्यक हो जाता है कि मूल्यों को हम अपनी विवेचना से दूर रखें। दूसरे शब्दों में, प्रतिरूपों को हम इस प्रकार की शुद्ध बौद्धिक संरचनाएं मान कर चल सकते हैं जिनके द्वारा हमें चिन्तन और शोध के कार्यों को एक व्यवस्थित रूप देने में सहायता मिलती है। प्रतिरूप में विभिन्न प्रकार के वे सभी संवर्ग, अधिमान्यताएं, अभ्युपगम और संप्रत्यय सम्मिलित किये जा सकते हैं, जिनकी सहायता से हम अपने शोध कार्य के लिए संगृहीत सामग्री को व्यवस्थित रूप दें, व्यवस्थित सामग्री का विश्लेषण कर सकें, और उसके एक आकलन और दूसरे आकलन के बीच के सम्बन्धों का निर्धारण कर सकें। इन प्रतिरूपों को साधारणतः शब्दों, चार्टों अथवा ग्राफों के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है। सामाजिक विज्ञानों में पिछले कुछ वर्षों में होने वाले विकास का एक अंग गणितीय प्रतिरूपों (mathematical models) को अधिक से अधिक संख्या में काम में लाना रहा है। एक अच्छे प्रतिरूप का काम—वह गणितीय हो अथवा किसी अन्य प्रकार का—यह है कि उससे हमें उस घटना को समझने में जिसको हम जाँच कर रहे होते हैं सहायता मिलती है। यदि यह हमें इस प्रकार की सहायता नहीं देता है तो उसे अस्वीकृत कर देना, एक परिवर्तित रूप देना अथवा नये सिरे से उसका निरूपण करना हमारे लिए आवश्यक हो जाता है। इस सारी विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि किसी प्रतिरूप की उपयोगिता इस पर निर्भर नहीं रहती कि वह यथार्थता का वास्तविक चित्रण करने में सक्षम है ··· ऐसा तो बहुत कम

सम्भव हो पाता है— परन्तु इस पर कि वह ऐसी उपयुक्त प्रविधियों अथवा दृष्टिकोणों का सुझाव दे सकता है, अथवा उपयोगी अन्तर्दृष्टि प्रदान कर सकता है, जिनकी सहायता से किसी समस्या का ठीक से अध्ययन करने में हमें सुविधा मिल सके।

अनुरूपण (simulation) प्रयोगशाला में अथवा प्रायोगिक स्थिति में, किसी भी व्यवस्था के कुछ चुने हुए पक्षों को, जो वास्तविक भी हो सकते हैं और काल्पनिक भी, प्रस्तुत करने का एक प्रयत्न है। राजनीतिक व्यवहार की जटिलता के कारण, छोटे समूहों की स्थिति के अलावा, यह कभी सम्भव नहीं हो पाता कि उसका सर्वांगीण अनुरूपण किया जा सके, अथवा उसे उसके सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत किया जा सके। इस कारण, अनुरूपण को उद्देश्यपूर्ण बनाने की दृष्टि से यह आवश्यक हो जाता है कि इस समस्त प्रक्रिया को अधिक से अधिक सरल बनाने का प्रयत्न किया जाय। इस प्रकार, प्रतिरूपण में स्थिति-विशेष को, जिसमें वास्तविक व्यक्ति भाग लेते हैं और अपनी-अपनी भूमिकाएं अदा करते हैं, कल्पना के द्वारा एक सजीव रूप देने का प्रयत्न किया जाता है और कुछ लोग, अपने को उस स्थिति में मान कर, उस प्रकार का व्यवहार करते हैं जैसा वे लोग करेंगे जिन पर उसे अदा करने की वास्तविक जिम्मेदारी होगी। इसमें प्राय. इस प्रकार की स्थितियां चुनी जाती हैं जिनका सम्बन्ध परम्परागत ढंग के सैनिक युद्ध खेलों से, अथवा निर्णय-सिद्धान्त से, अथवा समूहों की गतिशीलता से होता है। यह सदा ही आवश्यक नहीं होता कि अनुरूपण के लिए जीवित व्यक्तियों को ही चुना जाय। उसका प्रयोग कम्प्यूटरों की सहायता से भी किया जा सकता है और तब यह आवश्यक होता है कि कम्प्यूटर में सम्बद्ध सूचना को भर दिया जाय। कुछ ऐसे अनुरूपणों का भी प्रयोग किया गया है जिसमें मानवी अन्त:क्रियाओं और कम्प्यूटरीकरण की कुछ विशेषताओं, दोनों को सम्मिलित कर दिया गया है। इस प्रकार की व्यवस्था को मानव-परिवेश (man-milieu) अनुरूपण का नाम दिया गया है। यदि किसी अनुरूपण में केवल मनुष्यों का ही प्रयोग किया जाय तो कुछ भूमिकाएं अनिर्दिष्ट छोड़ी जा सकती हैं, परन्तु यदि कम्प्यूटर का उपयोग किया जाय तो यह आवश्यक हो जाता है कि सम्बद्ध परिवर्ती घटकों और निर्णय-सम्बन्धी नियमों का स्पष्टीकरण बहुत विस्तार से किया जाय। अब प्रश्न यह उठता है कि प्रतिरूप और अनुरूपण में क्या अन्तर है। वास्तव में अनुरूपण प्रतिरूप से बहुत भिन्न प्रक्रिया नहीं है, यद्यपि उसे औपचारिक प्रतिरूप का नाम देना उस समय कठिन हो जाता है जब जीवित व्यक्तियों की सहायता से उसका प्रयोग किया जा रहा है। दूसरी ओर, यदि केवल कम्प्यूटरों की सहायता से ही यह प्रयोग किया जा रहा हो तो प्रतिरूप में और इस प्रकार के अनुरूपण में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता।

इसमें सन्देह नहीं कि राजनीति के अध्ययन में औपचारिक प्रतिरूपों, अनुरूपणों और गणितीय संरचनाओं का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। हैन्स स्पीयर, हैरल्ड गेट्ज़काओ, रिचर्ड ब्रोडी, लिंकन ब्लूमफील्ड और अन्य लेखकों की रचनाएं राजनीति-विज्ञान के साहित्य

का महत्त्वपूर्ण अंग बन चुकी हैं।[1] यदि शोध की तकनीक के रूप में इसका प्रयोग किया जाय तो, एक नियन्त्रित स्थिति में और प्रायोगिक आधार पर, परिवर्ती घटकों की जोड़-तोड़ में इससे पर्याप्त सहायता मिल सकती है। *नीति के सम्बन्ध में सम्भाव्य प्रयोगों का* सुझाव देने और उनके परिणामों का अनुमान लगाने के कामों में भी अनुरूपणों को कुछ सीमा तक काम में लाया गया है, परन्तु अभी शायद यह कहने का समय नहीं आया है कि सिद्धान्तों के परीक्षण और निरूपण में, एक विश्वसनीय कसौटी के रूप में, कहा तक *उसे प्रयोग में लाया जा सकता है।*

राजनीति-विज्ञान को औपचारिक प्रतिरूपों, अनुरूपण और गणितीय संरचनाओं के प्रयोग की प्रेरणा अर्थशास्त्र से मिली, जहां तर्कमूलक आर्थिक मनुष्य की संकल्पना को प्रयोग में लाने की दिशा में उसे एक स्वाभाविक विस्तार माना जा सकता था। *आज की स्थिति यह है कि गणितशास्त्र को राजनीति-विज्ञान में प्रयोग में लाने का* अधिक महत्त्वपूर्ण काम या तो अर्थशास्त्रियों ने किया है या अर्थशास्त्रियों और राजनीति-*शास्त्रियों ने मिलजुल कर। किसी भी राजनीतिशास्त्री ने यह काम अकेले अभी तक* नहीं किया। राजनीतिक निर्णय-निर्माण का एक आर्थिक प्रतिरूप हमें राजनीतिशास्त्री रॉबर्ट ए० डाल और अर्थशास्त्री चार्ल्स ई० लिण्डब्लौम की संयुक्त रचना में मिलता है। *लोकतान्त्रिक राजनीति का एक बहुचर्चित प्रतिरूप अर्थशास्त्री एन्थनी डाउन्स* ने प्रस्तुत किया, और प्रशासनिक व्यवहार का प्रतिरूप हर्बर्ट ए० साइमन ने, जिसका *प्रशिक्षण प्रमुखतः गणितशास्त्र में हुआ था।*[2] इन कृतियों में डाउन्स के द्वारा लिखी गयी पुस्तक "एन इकॉनॉमिक थियरी ऑफ डेमोक्रेसी" को हम इस उपागम की उप-*लब्धियों और मर्यादाओं का एक अच्छा उदाहरण मान सकते हैं।* अर्थशास्त्री होने के नाते डाउन्स के लिए यह मान लेना स्वाभाविक था कि जितने भी पात्र अथवा तत्त्व राजनीतिक प्रक्रियाओं में भाग लेते हैं वे सब, आर्थिक पात्रों और तत्त्वों के समान, तर्क-मूलक हैं। डाउन्स ने, वास्तव में, *तर्कमूलक व्यक्ति की अर्थशास्त्रीय कल्पना को ही* राजनीतिक क्षेत्र में अनुवादित करने का प्रयत्न किया। किसी व्यवस्था को लोकतान्त्रिक मान लेने के लिए उसने आधुनिक लोकतान्त्रिक व्यवस्था की कुछ सुपरिचित विशेषताओं

[1] इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रकाशन उल्लेखनीय हैं : हैरल्ड गेट्जकाओ द्वारा सम्पादित 'सिम्यु-लेशन इन पोलिटिकल साइंस रीडिंग्स,' एंगलवुड क्लिफ्स, एन० जे०, प्रेंटिस-हॉल, 1962, और हैरल्ड गेट्जकाओ, चेडविक एफ एलगर, रिचर्ड ए० ब्रोडी, रॉबर्ट सी० नोर्थ और रिचर्ड सी० स्नाइडर, 'सिम्युलेशन इन इन्टरनेशनल रिलेशन्स : डेवेलपमेन्ट्स फॉर रिसर्च एण्ड टीचिंग,' एंगलवुड क्लिफ्स, एन० जे० प्रेंटिस-हॉल, 1963 एण्ड्यू एम० स्कोट और अन्य लेखक, 'सिम्युलेशन एण्ड नेशनल डेवेलपमेन्ट,' न्यूयार्क, जोन वाइली एण्ड सन्स, 1966।

[2] डाल और लिण्डब्लौम, 'पोलिटिक्स, इकॉनॉमिक्स एण्ड वेल्फेयर,' न्यूयार्क, हार्पर एण्ड ब्रदर्स, 1953, एन्थनी डाउन्स, 'एन इकॉनॉमिक थियरी ऑफ डेमोक्रेसी', हार्पर एण्ड रो, 1957, हर्बर्ट ए० साइमन, 'मॉडेल्स ऑफ मैन, सोशल एण्ड रेशनल,' जोन वाइली एण्ड सन्स, इन्क०, 1957, इस सम्बन्ध में कैनथ ऐरो, 'सोशल चोइस एण्ड इन्डिविजुअल वैल्यू,' 1951, और डन्कन ब्लैक, 'दि थियरी ऑफ कमेटीज एण्ड इलेक्शन्स', 1958, भी उल्लेखनीय हैं।

को चुन लिया, जैसे द्वि-दलीय अथवा सचिव सरकार, निश्चित समय पर चुनाव, वयस्क मताधिकार, प्रत्येक व्यक्ति को एक मत देने की व्यवस्था, राजनीतिक दलों की चुनाव में भाग लेने की स्वतन्त्रता, बहुमत का शासन, आदि। डाउन्स यह मान कर चला कि, व्यक्ति हों अथवा समूह, राजनीति में भाग लेने वाले सभी पात्र एक ही ढंग से आचरण करेंगे। राजनीतिक दलों के सम्बन्ध में उसकी मान्यता थी कि वे व्यक्तियों के ऐसे समूह हैं, चुनाव में भाग लेने में जिनका प्रमुख लक्ष्य केवल सत्ता हथियाना है। उसकी मान्यता थी कि सभी राजनीतिक दल एक ही लक्ष्य अपने सामने रखते हैं। वह लक्ष्य सत्ता प्राप्त करने का है और, यदि वे पहले से सत्ता में हैं तो, दुबारा चुनाव जीतने का, जिससे वे सत्ता में बने रहें। यह मान लिया गया था कि प्रत्येक व्यक्ति तर्कमूलक भी था और स्वार्थी भी, और यह भी कि राजनीतिक दलों के सदस्य सदा ही स्वार्थपूर्ण, न कि नि:स्वार्थ, उद्देश्यों के लिए सत्ता ग्रहण करना चाहते हैं। यदि उनके द्वारा सामान्य जनता को कुछ लाभ पहुंच जाता है तो उसे स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की खोज का एक आकस्मिक फल मान कर टाला जा सकता था। मतदाता के सम्बन्ध में भी स्वभावतः ही वह यह मान्यता लेकर चला था कि, राजनीतिक दल के ही समान, वह भी तर्कमूलक ढंग से काम करता है और स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की खोज में लगा रहता है। वह यह भी अच्छी तरह जानता है कि कोई राजनीतिक दल अपने आश्वासनों को न कभी पूरा करता है, न उन्हें पूरा करना उसका वास्तविक उद्देश्य ही होता है। उसका एक मात्र उद्देश्य तो चुनाव को जीतना है। इस प्रकार की परिस्थिति में चुनावों में एक प्रकार की अनिश्चितता रहती है जिसके कारण ये राजनीतिक दल, जो चुनाव में भाग लेते हैं, अपना-अपना प्रभाव डालने के उद्देश्य से मतदाताओं में अपने तथाकथित उद्देश्यों का प्रचार करने लगते हैं और आवश्यकता पड़ने पर, सिद्धान्तों अथवा विचारधाराओं की दुहाई भी देते हैं। डाउन्स ने इस प्रकार की दिन, प्रतिदिन की राजनीतिक घटनाओं को एक गणितीय प्रतिरूप के सांचे में ढालने का प्रयत्न किया, यद्यपि इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि इस प्रक्रिया में उसे बहुत सी ऐसी प्रमुख समस्याओं पर प्रकाश डालने में भी सफलता मिली जिन पर अधिक शोध करने के लिए गुंजाइश थी। डाउन्स का प्रतिरूप आने वाले वर्षों में राजनीति-विज्ञान की अनेक शोधों के लिए एक पथ-प्रदर्शक बन गया।'

कुछ विशिष्ट प्रकार के प्रतिरूपों पर आधारित उपागमों के अध्ययन से पहले कुछ व्यापक प्रश्नों पर चर्चा कर लेना आवश्यक हो जाता है। इस सम्बन्ध में सबसे पहले तो हमें यह समझ लेना है कि राजनीति-विज्ञान में शोध-कार्य के लिए तार्किक अथवा गणितीय प्रतिरूपों के निरूपण का काम अत्यधिक जटिल है। यह काम एक गूढ़ तर्कशास्त्री अथवा गणितज्ञ का ही हो सकता है—समाजशास्त्री तो अधिक से अधिक यही कर सकता है कि वह उसे अपनी खोज के क्षेत्र में प्रयोग में लाने का प्रयत्न करे। यहां वही प्रश्न उठता है जो किसी समय सांख्यिकी के सम्बन्ध में उठाया गया था। क्या यह सम्भव है कि राजनीतिशास्त्री के पास वैसा ही प्रशिक्षण अथवा कौशल हो, जिसकी अपेक्षा केवल एक प्रशिक्षित गणितज्ञ से ही की जा सकती है? किसी गणितीय प्रतिरूप

को राजनीतिक अध्ययन में प्रयोग में लाने से पहले यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि वह क्या, और कहां तक, उस खोज के लिए उपयुक्त है जिसमें राजनीतिशास्त्री लगा हुआ है। उपयुक्तता के इस प्रश्न का निर्णय कौन करे। क्या राजनीतिशास्त्री शुद्ध गणितज्ञ के पास यह प्रार्थना लेकर जाय कि वह उसकी जांच के क्षेत्र के लिए उपयुक्त प्रतिरूप गढ़ कर उसे दे, अथवा वह स्वयं ही गणितीय प्रतिरूपों के निरूपण के लिए आवश्यक दक्षता प्राप्त करने की कोशिश करे? यदि इस प्रकार की प्रार्थना लेकर वह गणितज्ञ के पास जाता है तो क्या हम यह अपेक्षा कर सकते हैं कि इस सम्बन्ध में उपयुक्त निर्णय दे सकने की दक्षता गणितज्ञ के पास है और उसका गढ़ा हुआ प्रतिरूप वास्तव में उस विशिष्ट राजनीतिक अध्ययन के लिए उपयुक्त होगा जिसमें राजनीतिशास्त्री लगा हुआ है? दूसरी ओर, क्या हम राजनीतिशास्त्री से यह अपेक्षा कर सकते हैं कि वह एक अत्यधिक परिष्कृत ढंग के गणितीय प्रतिरूपों का निरूपण करने की स्थिति में है? दोनों में से किसी भी स्थिति में क्या हम एक ही व्यक्ति से दो विभिन्न क्षेत्रों में दक्षता प्राप्त करने के, लगभग असम्भव से, कार्य की अपेक्षा नहीं कर रहे हैं? राजनीतिशास्त्रियों के द्वारा गणितीय प्रतिरूपों के प्रयोग अथवा निरूपण में सबसे पहली कठिनाई तो यही है।

दूसरी कठिनाई उस समय उपस्थित होती है जब हम किसी औपचारिक तार्किक अथवा गणितीय प्रतिरूप को, उसके गढ़ने का स्रोत कोई भी क्यों न हो, स्थूल राजनीतिक घटनाओं के अध्ययन में प्रयोग में लाना चाहते हैं। प्रतिरूप दो प्रकार के हो सकते हैं—या तो पूर्वरूप से गढ़े हुए, जिन्हें ज्यों का त्यों गणितशास्त्र में से उठा लिया गया हो, अथवा ऐसी तर्कपूर्ण संरचना वाले, जिन्हें किसी विशेष उद्देश्य के लिए गढ़ा गया हो। पर, प्रतिरूप किसी भी प्रकार का क्यों न हो, उसे प्रयोग में लाने में अत्यधिक कठिनाइयां सामने आयेंगी, प्राविधिक और व्यावहारिक दोनों ही प्रकार की। प्रतिरूप के प्रयोग में लाने का अर्थ केवल यही तो नहीं है कि तर्कमूलक सम्बन्धों के एक प्राक्कलन का निर्माण करने के उद्देश्य से शोध सामग्री को सवर्गों के किसी ऐसे प्राक्कलन में ठूंस दिया जाय जिसकी व्याख्या स्वीकृत प्रतिरूप के द्वारा की गयी हो, बिना इस बात को सोचे कि यह कहां तक सम्बद्ध राजनीतिक खोज के उद्देश्य को पूरा करता है। इस सम्बन्ध में हमें यह नहीं भूलना है कि प्रत्येक राजनीतिक खोज का अपना एक विशिष्ट उद्देश्य होता है और यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि वह उद्देश्य प्रतिरूपों को गढ़ना और उनके जोड़तोड़ करते रहना मात्र नहीं है। किसी प्रतिरूप को हम राजनीतिक खोज में ठीक ढंग से प्रयोग में लाते हैं या नहीं, यह प्रतिरूप की विशेषताओं और शोध सामग्री की प्रकृति पर तो निर्भर रहता ही है, परन्तु उसका सबसे बड़ा आधार खोज का उद्देश्य होता है। प्रतिरूप को प्रयोग में लाने की अनेक विधियां हो सकती हैं, और यह बिल्कुल सम्भव है कि सभी विधियों को काम में लाने के बाद भी खोज के उद्देश्य की प्राप्ति के अपने लक्ष्य में हम असफल ही रहें।

प्रतिरूप का निरूपण कर लेने और राजनीतिक खोज में उसे प्रयोग में लाने के बाद भी हमें अनेक प्राविधिक और व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना होता है। तार्किक और गणितीय तकनीकों में विशिष्ट "वस्तुओं" के अन्त:सम्बन्धों को समझने

मे सहायता मिल सकती है और उसका कारण यह होता है कि उनका व्यवहार एक ही ढग का होता है। परन्तु राजनीतिक शोधो मे, जिनका सम्बन्ध "मनुष्यो" से होता है, यह सम्भव नही है। आनुभविक वास्तविकताओ को गणित मे ढाले गये औपचारिक प्रतिरूपो की पकड़ मे लाना एक दु.साध्य काम है। वास्तव मे वैज्ञानिक के द्वारा और समाजशास्त्री के द्वारा प्रयोग मे लाये जाने वाले प्रतिरूपो मे एक मूलभूत अन्तर है। वैज्ञानिक का प्रश्न होता है—क्या यह एक अच्छा प्रतिरूप है ? और, उसका उत्तर उन कसौटियो पर निर्भर करता है जो उसके क्षेत्र मे प्रतिरूपो की परिभाषा के लिए काम मे लायी गयी हो। परन्तु, सामाजिक विज्ञानो मे मूलभूत प्रश्न यह है, क्या वह प्रतिरूप उद्देश्य की दृष्टि से एक उपयुक्त प्रतिरूप है ? और इसके लिए उसकी कसौटी यह होती है कि क्या वह प्रतिरूप उस उद्देश्य को पूरा कर सकेगा जो समाजशास्त्री के मन मे है और यदि कर सकेगा तो किस मात्रा तक। सामाजिक विज्ञानों मे प्रयोग मे लाये गये प्रतिरूप का मूल्य प्रमुखत. इस पर निर्भर रहता है कि वह उद्देश्य की खोज मे कहा तक सहायक है। सामाजिक विज्ञानो मे यह आवश्यक हो जाता है कि प्रतिरूप को आनुभविक स्थिति से सम्बद्ध करके देखा जाय। किसी प्रतिरूप को लाभप्रद ढंग से काम मे लाने के लिए यह आवश्यक है कि (अ) समाजशास्त्री प्रतिरूप के गुण धर्म से पूर्ण रूप से परिचित हो और (ब) उन आनुभविक परिस्थितियो पर भी उसका पूरा अधिकार हो जिनके अध्ययन के लिए वह उक्त प्रतिरूप को काम मे लाना चाहता है। प्रतिरूप जटिल है अथवा अत्यधिक परिष्कृत इस बात से समाजशास्त्री का उतना सरोकार नही है जितना इस बात से कि जिस उद्देश्य के लिए उसका प्रयोग किया जा रहा है उसके लिए वह कहा तक प्रामाणिक है।

मूल प्रश्न यह है: राजनीतिक प्रक्रियाओ को समझने में हमें औपचारिक प्रतिरूपो से कहाँ तक सहायता मिल सकती है ? यह स्पष्ट है कि औपचारिक प्रतिरूप सिद्धान्त का स्थान नहीं ले सकते। प्रतिरूप का काम विश्लेषण अथवा मूल्यांकन करना नही है, यह काम वास्तव मे सिद्धान्त का है। अधिक से अधिक यह यही कर सकता है कि विश्लेषण अथवा मूल्यांकन की प्रक्रिया मे सहायता पहुचा सके अथवा उन सूत्रो पर प्रकाश डाल सके जिनमे विभिन्न तत्त्व एक दूसरे के साथ सम्बद्ध होते है। इसमे सन्देह नही कि आनुभविक प्रश्नों को यदि औपचारिक तार्किक भाषा मे प्रस्तुत किया जाय तो समस्या के स्पष्टीकरण मे कुछ सीमा तक उससे अवश्य सहायता मिलती है। इसका दूसरा लाभ यह है कि ऐसे विषयों मे जहा प्रयोग सम्भव नहीं है, और राजनीतिक खोज के अधिकाश विषय इसी प्रकार के होते है, प्रतिरूपो से अपनी प्राक्कल्पनाओं के परीक्षण मे कुछ सीमा तक हमे सहायता मिल सकती है। तीसरी बात यह है कि प्रतिरूप हमें आने वाली घटनाओ को समझने मे निश्चित रूप मे सहायता पहुचाते हैं। यह काम अर्थशास्त्र मे उन्होने पर्याप्त रूप मे किया है और राजनीति-विज्ञान मे—जैसे चुनाव सम्बन्धी अध्ययनों मे—कभी-कभी। विश्लेषण मे उससे विशेष सहायता की अपेक्षा नही की जा सकती। प्रतिरूपों का निरूपण और प्रयोग राजनीति-विज्ञान मे उपयोगी हो सकता है, परन्तु साथ ही हमे यह भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि मूल विषय अथवा अर्थ की उपेक्षा, औपचारिक

प्रतिरूपो पर बहुत अधिक निर्भरता और प्रतीको और तार्विक संरचनाओ के महत्व को बढ़ा-चढ़ा कर बताना राजनीति-विज्ञान के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकता है।

सम्प्रेषण-सिद्धान्त

विभिन्न शास्त्रों से उपागम और सन्दर्भ-संरचनाएं लेने की समकालीन परम्परा का पालन करते हुए कुछ लेखको ने, जिनमे कार्ल डब्ल्यू० डॉयच प्रमुख है, सम्प्रेषण और सन्तान्त्रिकी (साइबरनेटिक्स) के आधार पर राजनीतिक विश्लेषण के एक नये उपागम का विकास किया है।[3] यह सिद्धान्त सम्प्रेषण-सिद्धान्त कहलाता है और प्रशासन और राजनीति के कुछ निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सचालन और समायोजन की प्रक्रियाओ की उपयोगिता को उस अर्थ मे देखता है जिसमे सचार-वाहन को स्टियरिंग के द्वारा अभीप्सित लक्ष्य की ओर तेजी से दौडाया जा सकता है। इसके साथ ही हमे यह जान लेना चाहिए कि सम्प्रेषण-सिद्धान्त अथवा उपागम निर्णयो के परिणामो मे उतनी रुचि नहीं लेता जितनी उनके निर्माण की प्रक्रिया मे—यह शायद साइबरनेटिक्स के प्रतिरूप के अनुकूल ही है क्योकि उसमे भी लक्ष्य से अधिक महत्व सचालन और समायोजन की प्रक्रियाओं को दिया जाता है। सचालन की प्रक्रिया पर, जो वाहन को गति देने मे सहायक होती है, अधिक ज़ोर देने से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि यह उपागम गतिशीलता की समस्याओ मे बहुत अधिक रुचि रखता है। विश्लेषण की इस पद्धति की मूल इकाई सूचना का प्रवाह (information flow) है, क्योकि उसी के माध्यम से सचालन की प्रक्रिया को गति के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है।

सम्प्रेषण-सिद्धान्त उस ढग के कार्यकारी प्रतिरूपो पर बहुत अधिक ज़ोर देता है जो अभियान्त्रिकी (इंजीनियरिंग) के क्षेत्र मे प्रयोग मे लाये जाते हैं। डॉयच सम्प्रेषण-सिद्धान्त की अपनी व्याख्या का आरम्भ ही संचार-अभियान्त्रिकी (communication engineering) और शक्ति अभियान्त्रिकी (power engineering) मे अन्तर बताने से करता है, जैसा नॉर्बर्ट वीनर और अन्य लेखको ने भी किया है। डॉयच लिखता है कि शक्ति-अभियान्त्रिकी मे परिवर्तन प्राय उसी अनुपात मे होता है जिसमे शक्ति का उपयोग होता है। इसके विपरीत, सचार-अभियान्त्रिकी मे थोडी सी शक्ति का प्रयोग भी कभी-कभी "सन्देश" के "प्राप्तकर्ता" की स्थिति मे बहुत भारी परिवर्तन ले आता है, ऐसे परिवर्तन जो प्रयोग मे लायी गयी शक्ति के अनुपात मे सहस्रो गुना बडे होते हैं। सम्प्रेषण-सिद्धान्त का समस्त आधार परिवर्तन पर है। परिवर्तन शक्ति के द्वारा लाया जाता है, परन्तु यह प्राप्त सूचना और उस पर अमल करने पर निर्भर रहता है कि प्राप्तकर्ता मे कितना बडा परिवर्तन लाया जा सका है। इसकी तुलना उस सूचना से की जा

[3] कार्ल डब्ल्यू० डॉयच, 'दि नर्वज़ ऑफ गवर्नमेण्ट,' ग्लैको, इलीनोय, दी फ्री प्रेस, 1963, इस विषय पर डॉयच के विचारों को विस्तार से समझने के लिए देखिए : कार्ल डब्ल्यू० डॉयच, "कम्युनिकेशन मोडेल्स एण्ड डिसीज़न सिस्टम्स," जेम्स सी० चार्ल्सवर्थ द्वारा सम्पादित 'कोन्टेम्पोरेरी पोलिटिकल एनालिसिस', न्यूयार्क, दि फ्री प्रेस, 1968।

सकती है जो बन्दूक की नली को किसी निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर मोड़ देने के लिए आवश्यक होती है। बन्दूक का घुन्दा दबाने में प्रायः कुछ भी शक्ति नहीं लगती, परन्तु जिस लक्ष्य की ओर बन्दूक का निशाना होता है उस पर जोरदार प्रभाव पड़ता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संकेत को ले जाने के लिए कितनी शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी, यह जानना उतना उपयोगी नहीं है जितना यह कि उसके उपयोग का परिणाम क्या निकला। इस सम्बन्ध में डॉयच फोटोग्राफी और टेलिविज़न के उदाहरण देता है, जहां फोटोग्राफिक प्लेट में सूर्य की किरणें और रसायन-तत्त्व अथवा टेलिविज़न के तार में बिजली का आवेग, टेलिविज़न की लहरें और पर्दे का ऊपरी स्तर मिल कर सम्प्रेषण के कार्य को प्रभावशाली बनाने में सहायक होते हैं।

सम्प्रेषण-सिद्धान्त की मूल संकल्पनाएं

सम्प्रेषण-सिद्धान्त प्रशासन को विभिन्न सूचना प्रवाहों के आधार पर स्थित निर्णय-निर्माण की एक व्यवस्था मानता है। पर सम्प्रेषण-सिद्धान्त को ठीक से समझने के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम इस सिद्धान्त में प्रयुक्त किये जाने वाले प्रमुख शब्दों की परिभाषाओं को समझने की चेष्टा करें। सम्प्रेषण-सिद्धान्त का आधार दो प्रकार की संकल्पनाओं पर टिका हुआ है: (1) वे संकल्पनाएं जिनका सम्बन्ध व्यवस्था का संचालन करने वाली संरचनाओं से है, और (2) वे संकल्पनाएं जिनका लक्ष्य विभिन्न प्रकार के प्रवाहों और प्रक्रियाओं को समझना है। पहले वर्ग में वे संरचनाएं आती हैं जिन्हें हम स्वागतकर्ताओं (receptors), अथवा स्वागत-व्यवस्थाओं (reception systems) का नाम दे सकते हैं। ये स्वागत-व्यवस्थाएं आन्तरिक और वैदेशिक दोनों ही प्रकार के पर्यावरणों से सूचना प्राप्त करती हैं। परन्तु यह बात उतनी आसान नहीं है जितनी दिखायी देती है। स्वागत की संकल्पना में केवल सूचना को प्राप्त कर लेने का कार्य ही सम्मिलित नहीं है—उसमें प्राप्त सूचना की जांच-पड़ताल और उसके आवश्यक अंशों का चुनाव आदि बहुत सी बातें आ जाती हैं। अधिकांश व्यवस्थाएं प्राप्त सूचना की जांच-पड़ताल के लिए ऐसी नियामक पद्धतियों का विकास कर लेती हैं जो बिना किसी प्रयास के प्रयोग में लायी जा सकें। निर्णय-निर्माण के उपकरण में बहुत सी ऐसी संरचनाओं के द्वारा, जो स्मृति (memory) अथवा मूल्य-निर्धारण प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करती हैं, इस सूचना की जांच-पड़ताल होती है और उन केन्द्रों के द्वारा जो वास्तविक निर्णय लेते हैं उन्हें क्रियात्मक रूप देने की दिशा में कार्यवाही की जाती है। स्मृति का प्रतिनिधित्व करने वाली संरचना प्राप्त सूचना को तुरन्त ही प्रक्रियाओं और परिणामों से सम्बन्ध रखने वाले भूतकालीन अनुभवों के साथ जोड़ देती है। मूल्य निर्धारण करने वाली संरचनाएं सम्भावनाओं को अधिमान्यताओं से सम्बद्ध कर देती हैं। इसके बाद ही निर्णय-निर्माण की मंजिल आती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि संचालक संरचनाओं की सूची यहीं समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त और भी बहुत सी संरचनाएं हैं। वास्तव में उतनी संरचनाएं जितनी की कल्पना की जा सके, जिनका उत्तरदायित्व निर्णय-निर्माण के स्तर पर लिये गये निर्णयों को मूर्त रूप देना है—और इनके अतिरिक्त वे अनेक

संरचनाएं भी है जो निर्णयो की प्रतिक्रिया के सम्बन्ध मे सूचना को फिर से व्यवस्था मे भेजती है जो तुरन्त ही एक नये आगत (input) का रूप ले लेती हैं और इस प्रकार साधारण व्यवस्था की समस्त प्रक्रिया एक बार फिर से आरम्भ हो जाती है।

अब तक हम सकल्पनाओ के उस सवर्ग की चर्चा कर रहे थे जिसका सम्बन्ध संचालक संरचनाओ से है। सकल्पनाओ का वह सवर्ग, जिसका सम्बन्ध सूचना-प्रवाहो से है, शायद अधिक महत्वपूर्ण है। डॉयच की मान्यता है कि सूचना 'सूचना-प्रवाहो का एक आकृतिबद्ध आवलन' (a patterned set of information flows) है जो सम्प्रेषण के एक जाल (network) का रूप ले लेता है। प्रवाह की इस सकल्पना के साथ कई अन्य सकल्पनाएं भी जुडी हुई है, विशेषकर, सरणियो अथवा चैनलो (channels), भार (load) और भारवाहिनी क्षमता (load capacity) की। भार का अर्थ सूचना की उस मात्रा से है जो एक निर्दिष्ट समय मे कुल मिलाकर भेजी अथवा प्राप्त की जा सकती है, और भार-क्षमता इस पर निर्भर है कि सूचना के लाने ले-जाने के लिए कितने, और किस प्रकार के, चैनल मौजूद हैं। राजनीतिक व्यवस्थाओ मे, भार की प्रकृति, समय और उसकी अपनी गुणात्मकता के महत्त्व के अनुसार बदलती रहती है। डॉयच कुछ ऐसे अन्य कारको का उल्लेख करता है जिनके साथ भार-क्षमता का निकट का सम्बन्ध है। वे हैं—ग्रहणशीलता (receptivity), विश्वस्तता (fidelity), नेपथ्य का कोलाहल (background noise), विकृति (distortions)। यदि कोई उपकरण प्राप्त होने वाली सूचना से कुशलता के साथ निपट पाता है तो उसे हम अनुक्रियात्मक मानेंगे। उसकी विश्वस्तता इस बात पर निर्भर होगी कि प्रत्यक्षण (perception), चयन (selection) और निपटारे (handling) का काम, जहा तक इनका सम्बन्ध विभिन्न प्रक्रियाओ मे से भेजी जाने वाली सूचना से है, वह कहा तक ठीक-ठीक कर पाता है। सूचना के प्रवाह की तरलता पर विभिन्न प्रकार की विशिष्ट विकृतियो का और सामान्य नेपथ्य-कोलाहल का प्रभाव पड सकता है। उस स्थिति मे हम कहेगे कि उपकरण म विश्वस्तता की कमी है। डॉयच की यह भी मान्यता है कि सम्प्रेषण-व्यवस्था मे उन पिछले अनुभवो का चयन करने, और उन्हें पुनर्जीवित करने की ऐसी क्षमता होनी चाहिए कि आगत सूचना के साथ उन्हे सम्बद्ध किया जा सके। इसे प्रत्याह्वान अथवा पुन. स्मरण (recall) की संज्ञा दी जा सकती है। व्यवस्था की उस क्षमता को, जो एक व्यापक पैमाने पर प्राप्त होने वाली सूचना का इस कुशलता के साथ निपटारा कर सके कि निर्धारित उद्देश्यो की प्राप्ति की दृष्टि से सहायक परिणामो को लाने वाले निर्णय शीघ्र से शीघ्र लिये जा सकें, डॉयच ने 'सयोजित क्षमता' (combinational capacity) का नाम दिया है।

विश्लेषण की इस स्थिति मे यह आवश्यक दिखायी देता है कि सम्प्रेषण व्यवस्था के कुछ गुणात्मक पक्षो के सम्बन्ध मे चर्चा कर ली जाय। किसी अच्छी व्यवस्था की पहली शर्त यह है कि वह सन्तुलन की एक अत्यधिक अस्थैतिक स्थिति में होनी चाहिए। यदि ऐसा नही है तो परिवर्तन की हल्की सी भी प्रक्रिया को आरम्भ करने की दिशा मे सकेत देने के लिए बहुत बड़ी मात्रा मे शक्ति आवश्यक होगी। इसके विपरीत, यदि

ग्राही व्यवस्था अत्यंतिक सन्तुलन की स्थिति में है तो वह पर्यावरण से आने वाली सूचना के प्रति अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त कर सकेगी। यहाँ हमें इस बात को भी ध्यान में रखना है कि ग्राही उपकरण में सन्तुलन की अत्यंतिक स्थिति के अतिरिक्त उसकी चयनात्मकता पर भी बहुत कुछ निर्भर रहता है। इस विचार को समझाने के लिए डॉयच ने ताले और चाबी का उदाहरण दिया है। यदि ताला खोलने के लिए सही चाबी का उपयोग किया जाय तो उसके लिए प्रयत्न की बहुत कम मात्रा में आवश्यक होगी, परन्तु इसके लिए यह बहुत जरूरी है कि ताले और चाबी दोनों के खाँचों की सस्थिति एक दूसरे के अनुरूप हो। सादे ताले बहुत सी चाबियों के द्वारा खोले जा सकते हैं, परन्तु बहुत अधिक पेचीदा तालों को खोलने के लिए उन्हीं के लिए विशेष रूप से तैयार की गयी चाबियों की आवश्यकता होती है। ग्राही व्यवस्थाएं सादा भी हो सकती हैं और जटिल भी। ग्राही व्यवस्था की प्रकृति और चयनात्मक क्षमता के साथ यह भी आवश्यक है कि विभिन्न बिम्बों (images) के रूप में जो सूचना भेजी जा रही है वह अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। फोटोग्राफी के सम्बन्ध में हम देखते हैं कि फोटो के सुन्दर होने के लिए केवल फिल्म का अच्छा होना ही काफी नहीं है, परन्तु यह भी जरूरी है कि जिस वस्तु की फोटो ली जा रही है वह स्वयं अपने आप में सुन्दर है। इसी तरह से टेप पर यदि हम किसी व्यक्ति की आवाज को रिकॉर्ड करते हैं तो रिकॉर्ड करने वाले यन्त्र अच्छे होने के साथ ही साथ वह आवाज भी सुन्दर होनी चाहिए जो रिकॉर्ड की जा रही है।

सम्प्रेषण-सिद्धान्त की ओर डॉयच के विशेष रूप से आकर्षित होने का एक कारण परिमाणीकरण के सम्बन्ध में उसकी अधिमान्यता भी है। उसका विचार है कि सूचना का माप-तोल और उसकी गिनती की जा सकती है, और भेजी गयी सूचना किस मात्रा में सही अथवा विकृत रूप में प्राप्त की जा रही है उसका अनुमान लगाने के लिए सम्प्रेषण-सरणियों की उपलब्धि, क्षमता अथवा मर्यादा का परिमाणात्मक रूप से अध्ययन किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में जान पड़ता है, डॉयच पर विद्युत-अभियान्त्रिकी (electrical engineering) के क्षेत्र में किये गये गणित पर आधारित अत्यधिक उच्चस्तरीय और परिष्कृत परिमापन का काफी प्रभाव है। वह यह स्वीकार करता है कि सूचना प्राप्त करने की बहुत-सी ऐसी जटिल प्रविधियां हो सकती हैं जिनका परिमापन सम्भव न हो, परन्तु सरल प्रविधियां भी हैं जिनका परिमापन इस दृष्टि से करना सम्भव है कि ग्राही परदे तक आने में, जिसकी ग्रहणशीलता की मात्रा से भी वह परिचित है, सम्प्रेषित बिम्ब का कितना शतांश बीच में रह गया और कितना ठीक से परदे तक पहुँच सका। डॉयच ने समूहों और समाजों, राज्यों और अन्तर्राष्ट्रीय समाजों, सभी प्रकार के संगठनों की संश्लिष्टता का मापन करने के लिए सूचना प्रवाहों के अध्ययन की पद्धति का प्रयोग किया है, और यह जानने का प्रयत्न किया है कि क्या ये चैनलें, जिनमें से सूचना प्रवाहित होती है, उसे, तुलनात्मक दृष्टि से कम से कम विकृति के साथ, उसके निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँचाने में सफल होती हैं, अथवा सूचना का यह

प्रवाह बीच-बीच मे रुकता और फसता हुआ जाता है।[4] यदि सूचना मे विकृति कम है अथवा बीच मे लुप्त हो जाने वाले भाग की मात्रा कम है और सूचना असम्बद्ध संदेशो (नेपथ्य के कोलाहल आदि) के बीच अपना वेग खो नही देती तो हम कह सकते हैं कि सूचना की चैनल अच्छी है, और जिस व्यवस्था मे यह विशेषता मौजूद है वह आदेशों के आदान-प्रदान के लिए एक अच्छी शृंखला का निर्वाह कर पाने की स्थिति मे है। सम्प्रेषण-सिद्धान्त के अनुसार, इस प्रकार, जातीय अथवा सास्कृतिक अथवा राजनीतिक व्यवस्था का सम्प्रेषण-चैनलो के एक जाल के रूप मे अध्ययन किया जा सकता है और इस बात की माप-तोल के बाद कि उक्त व्यवस्था के विभिन्न भाग कहा तक एक दूसरे के साथ ससक्त और सश्लिष्ट हैं और उसकी क्षमता का निर्धारण कर सकते है और, साथ ही, इस बात का अनुमान भी लगा सकते हैं कि कहा तक अधिक से अधिक विषयों से सम्बद्ध सूचनाओ के अधिक से अधिक भाग को प्राप्त करने और भेज पाने मे वे सफल है।

अब हम इस स्थिति मे हैं कि प्रतिसम्भरण (feedback) की प्रक्रिया का विश्लेषण कर सकें, विशेषकर उस नकारात्मक प्रतिसम्भरण (negative feedback) का, जिसे एक प्रकार से सम्प्रेषण-सिद्धान्त की आत्मा माना जा सकता है। सम्प्रेषण-सिद्धान्त मे प्रतिसम्भरण की सकल्पना नॉर्बर्ट वीनर से ली गयी है जिसने उसकी व्याख्या इन शब्दों मे की है कि यह किसी यन्त्र के, अपेक्षित नही परन्तु, वास्तविक निष्पादन (performance) पर नियन्त्रण है।[5] प्रतिसम्भरण प्रक्रिया को, विशेषकर पाश्चात्य पाठको के द्वारा, समझने मे कोई कठिनाई नही है, क्योकि वे अपने दिन प्रतिदिन के जीवन मे इसके अनेक उदाहरण देखते है। मकानो मे 'थर्मोस्टाट' लगे होते है, जिनके द्वारा तापमान नियन्त्रित रखा जा सकता है, दफ्तरो मे, स्वय-चालित 'एलिवेटर' हैं, जिनकी सहायता से ऊची से ऊची मजिल तक पहुचा जा सकता है। वे बन्दूकें जो लक्ष्य की स्थिति मे परिवर्तन के साथ अपने आप अपेक्षित दिशा मे मुड़ जाती हैं, लड़ाकू हवाई जहाजो को नष्ट करने वाले स्वय-चालित यन्त्र और निर्देशित प्रक्षेपण अस्त्र (guided missiles) आदि नियन्त्रण अभियान्त्रिकी के उदाहरण हैं जो चारो ओर देखे जा सकते हैं। इस प्रक्रिया को डॉयच ने नकारात्मक प्रतिसम्भरण का नाम दिया है। नकारात्मक प्रतिसम्भरण से उसका अर्थ उन प्रक्रियाओ से है जिनके माध्यम से निर्णयो और उनके क्रियान्वयन से उत्पन्न होने वाले परिणामो की सूचना व्यवस्था मे इस ढग से प्रवेश करती है कि वह व्यवस्था के व्यवहार को अप्रयास ही ऐसी दिशा मे मोड़ देती है जो उसे सम्बद्ध लक्ष्यो की प्राप्ति के अधिक निकट ले जा सके। नकारात्मक प्रतिसम्भरण प्रक्रिया के विचार के पीछे प्रमुख धारणा यह है कि विद्युत अथवा यान्त्रिकी

[4] के० डब्ल्यू० डॉयच, 'नेशनलिज्म एण्ड सोशल कम्युनिकेशन,' कैम्ब्रिज, न्यूयार्क, एम० आई० टी० प्रेस, वाइली, 1953।

[5] नॉर्बर्ट वीनर, 'दि ह्यूमन यूज ऑफ ह्यूमन बिइंग्स', साइबरनेटिक्स एण्ड सोसाइटी, हफ्लर्ड एण्ड क०, इन्कं०, 1950।

व्यवस्थाओं के समान सभी व्यवस्थाएं आन्तरिक असन्तुलन की स्थिति में रहती है और यह असन्तुलन ही व्यवस्था को गतिशीलता प्रदान करता है। असन्तुलन की यह स्थिति उत्पन्न होते ही व्यवस्था एक ऐसी दिशा की ओर मुड़ने लगती है जिसमें यह आन्तरिक सन्तुलन कम होने लगे।

सम्प्रेषण-सिद्धान्त के पीछे एक आवश्यक मान्यता यह है कि लक्ष्यों तक सन्तोषजनक ढंग से पहुंचने के लिए नकारात्मक प्रतिसम्भरण का पर्याप्त मात्रा में मौजूद होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि उसके पास (अ) लक्ष्य की स्थिति, (ब) उसके और लक्ष्य के बीच के फासले, और (स) किस गति से व्यवस्था इस फासले को तय कर सकती है, इन सभी बातों के सम्बन्ध में सही सूचना मिल रही है। एक अच्छी व्यवस्था की पहचान यही है कि यह सूचना को अविकृत रूप में और ठीक समय पर प्राप्त कर सके और उसके आधार पर अपनी स्थिति और व्यवहार में, समय रहते, आवश्यक और पर्याप्त परिवर्तन ला सके। डॉयच मानता है कि राजनीतिक व्यवस्था में भी यह सारी प्रक्रिया उतनी ही सरल और व्यवस्थित होनी चाहिए जितनी किसी जीवित प्राणी की स्नायविक (nervous) व्यवस्था में। एक स्वस्थ शरीर का यह चिन्ह है वातावरण की स्थिति के कारण यदि उसके तापमान अथवा श्वासगति में परिवर्तन होता है तो, बिना किसी विशेष प्रयत्न के, वह अपने आपको उसके अनुकूल ढाल लेता है। जान पड़ता है कि डॉयच का यह विश्वास है कि प्रशासन में भी इसी प्रकार की क्षमता होनी चाहिए। उसके सामने घरेलू और बाहरी दोनों ही प्रकार की नीतियों के सम्बन्ध में कुछ निर्धारित उद्देश्य अथवा लक्ष्य होते हैं और यह उसका दायित्व है कि वह अपने व्यवहार का निदेशन इस दृष्टि से करे कि उन लक्ष्यों तक पहुंचा जा सके। यह तभी सम्भव हो सकता है जब प्रशासन-व्यवस्था के पास अनवरत रूप से और सही ढंग से सूचनाएं आती रहती हैं: (अ) उस उद्देश्य अथवा लक्ष्य के सम्बन्ध में जिसे वह प्राप्त करना चाहती है, (ब) उसकी वर्तमान स्थिति और लक्ष्य के बीच के अन्तर के सम्बन्ध में, और (स) इस सम्बन्ध में कि लक्ष्य तक पहुंचने के लिए सही ढंग और अनवरत रूप में सूचनाओं को प्राप्त करते रहने के उसके अपने प्रयत्न कहां तक सफल हो रहे हैं। यदि उसे इस बात का पता लग जाता है कि लक्ष्य तक पहुंचने की आवश्यक क्षमता उसके पास है, और वह इस स्थिति में भी है कि पर्याप्त प्रयत्न के द्वारा, लक्ष्य तक पहुंच सकता है तो उसके लिए केवल यह जानना शेष रह जाता है कि लक्ष्य तक पहुंचने के लिए अच्छे से अच्छे साधन उसके पास क्या हो सकते हैं।

डॉयच ने सम्प्रेषण-सिद्धान्त के विश्लेषण में चार परिमाणात्मक तत्त्व जोड़ कर अपने संकल्पनात्मक ढांचे को और भी अधिक परिष्कृत बना दिया है। ये चार तत्त्व हैं—भार (load), पश्चता (lag), अभिलाभ (gain), और अग्रता (lead)। भार का अर्थ—संचारण-सरणियों की क्षमता देखते हुए उनके अनुपात में प्रतिसम्भरण प्रक्रियाओं द्वारा प्राप्त की गयी सूचना, तथा प्रतिसम्भरण की जितनी सुविधाएं उसके पास हैं उनके सन्दर्भ में व्यवस्था की क्रिया-विधियों के विस्तार में, परिमाण, है। दूसरे शब्दों में,

भार का अर्थ परिवर्तनों की उस व्यापकता और गति से है जो कोई भी ऐसी व्यवस्था जो उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहती है अपने लक्ष्यों की स्थिति में ला सकती है। यदि लक्ष्य एक चलता हुआ समुद्री जहाज, अथवा उडता हुआ हवाई जहाज, अथवा तेजी से चलने वाली कोई अन्य वस्तु है तो सूचना की दृष्टि से भार बहुत अधिक होगा। पश्चता का अर्थ निर्णयों और कार्यों के परिणामों के सम्बन्ध में सूचना के समय पर और सही रूप में पहुच जाने पर भी व्यवस्था के द्वारा उसे समझने अथवा उस पर सही कार्यवाही करने में शिथिलता से है। सूचना के प्राप्त होने अथवा उस पर कार्यवाही करने में पश्चता अथवा देरी के कई कारण हो सकते हैं—सूचना के आने की गति का धीमापन, उसके सम्प्रेषण अथवा उसका अर्थ समझने में गलती, अथवा व्यवस्था के ग्राही भागों में नये मार्ग पर तेज और प्रभावशाली ढग से चल पडने की तत्परता का प्रभाव। यदि चैनलों के माध्यम से प्रवाहित होने वाला भार अत्यधिक है, अथवा व्यवस्था की अनुक्रिया-शीलता में बहुत अधिक पिछडापन है, तो ऐसी व्यवस्था के लिए लक्ष्य तक पहुचना कठिन हो सकता है। अभिलाभ (gain) का अर्थ है प्राप्त होने वाली सूचना के प्रति अनुक्रिया (response) का व्यापक और प्रभावशाली होना। व्यवस्था द्वारा अनुक्रिया में ढिलाई का न होना ही काफी नहीं है, उसमें यह क्षमता भी होनी चाहिए कि सम्भावित अनुक्रिया और उसमें लगने वाले अपेक्षित समय के सम्बन्ध में वह पहले से अनुमान लगा सके। तभी वह सम्पूर्ण रूप से प्रभावशाली सिद्ध हो सकेगी। अग्रता (lead) का अर्थ है कि अपनी प्रस्तावित कार्यवाही के भावी परिणामों का पहले से ही अनुमान लगा कर व्यवस्था इस ढग से काम करे कि वह निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त कर सके।

अग्रता के विचार को और भी स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं। यदि कोई वायुयान, अथवा उडता हुआ पक्षी, हमारे निशान का लक्ष्य होता है तो हम उस स्थल को अपना निशाना नहीं बनाते जहा वह उस समय होता है, बल्कि उस स्थल को जहा वह उस समय होगा जब गोली वहा तक पहुचेगी। पर्याप्त अग्रता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि पहले से अनुमान लगाने की व्यवस्था की दक्षता बहुत बडी हुई हो। डॉयच प्रतिसम्भरण के प्रतिरूप को परम्परागत विश्लेषण की तुलना में अधिक श्रेष्ठ मानता है, क्योंकि, उसकी राय में, उसके द्वारा राजनीतिक व्यवस्थाओं की कार्य-विधियों के सम्बन्ध में बहुत से ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछे जा सकते हैं जो विश्लेषण की परम्परागत पद्धतियों में सम्भव नहीं हैं। प्रशासन के लिए यह सम्भव होना चाहिए कि वह देश की आन्तरिक अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों में सम्भावित परिवर्तनों का समय पर और ठीक से जायजा ले सके, जिससे वह उनके सम्बन्ध में समुचित व्यवस्था कर सके। सम्प्रेषण-सिद्धान्त की सहायता से प्रशासन इस बात का भी अन्दाजा लगा सकते हैं कि राजनीतिक नेतृत्व, हित समूहों, राजनीतिक सगठनों अथवा सामाजिक वर्गों का अनेक निर्णय-निर्माण व्यवस्थाओं पर किसी विशेष अवसर पर कितना भार पड रहा है। आपात-स्थिति अथवा किसी नयी चुनौती का सामना करने में प्रशासन अथवा शासक दल की सम्भावित अनुक्रिया में कितनी तेजी अथवा शिथिलता की सम्भावना रहेगी, वह इसका भी अनुमान लगा सकता है। देश के नीति-निर्माता क्या किसी स्थिति

को उसके उपस्थित होते ही पहचान लेते हैं, अथवा उसकी गम्भीरता को समझने में उन्हें कुछ समय लगता है ? आपसी सलाह-मशविरे अथवा विचार-विमर्श की व्यवस्था क्या तुरन्त की जा सकती है, अथवा उसमें कुछ ढील होने की आशंका है ? अधिकारियों सैनिकों अथवा नागरिकों तक आदेश पहुंचाने का काम फुर्ती से किया जा सकता है, अथवा उसमें देर लग जाती है ? यदि प्रशासन इन प्रश्नों का उत्तर सन्तोषजनक रूप से देने की स्थिति में है तो यह सम्भव है कि वह बहुत सी कार्यवाहियों में आने वाली सम्भावित शिथिलता में कमी कर सके। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था के पास इस बात की सही जानकारी का होना आवश्यक है कि उसके विभिन्न अंग—लोक-सेवाएं, हित-समूह, राजनीतिक संगठन और नागरिक—किसी चुनौतीपूर्ण स्थिति का सामना करने में कितना अभिलाभ बताने की क्षमता रखते हैं। उसे यदि आने वाली समस्याओं का पहले से अनुमान लगा लेने की अपनी योग्यता का सही ज्ञान है तो वह अपनी अनुक्रियाओं में, स्थिति-विशेष का मुकाबला करने के लिए पर्याप्त अग्रता भी ला सकेगा। वे प्रशासन जो इन तत्त्वों के सम्बन्ध में सतर्क रहते हैं, उन्हें उन सूचनाओं के साथ जो उनके पास आती रहती हैं सम्बद्ध करने की स्थिति में हैं, और इन तत्त्वों को लक्ष्य की खोज की अपनी आवश्यकता के लिए व्यवस्थित करते रहते हैं, वे उन दूसरे प्रशासनों की तुलना में, जो राजनीतिक व्यवस्थाओं में इन सम्प्रेषण-सारणियों की कार्य-विधि के अस्तित्व से परिचित नहीं हैं, कहीं अधिक सफल होने की आशा रख सकते हैं।

डॉयच यह भी मानता है कि सम्प्रेषण-सिद्धान्त किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की मात्रा (degree of capability) के सम्बन्ध में सुनिश्चित सूचना दे सकता है। सुनिश्चित इस कारण कि उसका आधार परिमाणीकरण पर है, न कि ज्ञात और अज्ञात तत्त्वों के एक अनिश्चित ढेर पर। किसी भी देश की राष्ट्रीय शक्ति का मूल्यांकन करने के लिए परम्परागत दृष्टिकोण उसके धार्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक अथवा सामाजिक मूल्यों का जायजा लेता है। इसके विपरीत, सम्प्रेषण उपागम की सहायता से हम राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता का अधिक सही अनुमान लगा सकेंगे और ठीक से यह जान सकेंगे कि समस्त राजनीतिक क्रिया पर उसका कितना नियन्त्रण है, अपने अस्तित्व को बनाये रखने की आवश्यक शर्तों को पूरा करने में उसकी दक्षता कितनी है, और अपने लक्ष्यों तक पहुंचने में वह कितना प्रभावशाली है। दूसरे शब्दों में, उसकी योग्यता इस पर निर्भर होगी कि संचालन (steering) व्यवस्था के रूप में काम करने और अपने लक्ष्यों तक प्रभावशाली ढंग से पहुंचने की उसकी क्षमता कितनी है। डॉयच एक ऐसे उपागम की मर्यादाओं से अपरिचित नहीं है जो राजनीतिक व्यवस्थाओं का मूल्यांकन 'स्टीयरिंग' व्यवस्थाओं के रूप में करता है। वह यह अच्छी तरह से जानता है कि राज्य-व्यवस्थाओं की उपलब्धियों का मूल्यांकन केवल इसी आधार पर नहीं किया जा सकता है कि उनमें अत्यधिक कुशलता से कार्य करने की क्षमता है। उनके लिए यह और भी अधिक आवश्यक है कि वह अपने नागरिकों का व्यक्तित्व और चरित्र विकसित करने में असमर्थ हो और उन्हें अपने व्यक्तिगत विकास के लिए अधिक से अधिक सुविधाएं प्रदान कर सके। एक यान्त्रिक दृष्टिकोण पर आधारित होने के कारण सम्प्रेषण-व्यवस्था इस स्थिति में भी नहीं

है कि वह उन मनोवैज्ञानिक कारकों को ठीक से समझ ले जो लक्ष्यो को निर्धारित करने, अथवा किस मात्रा में उन्हें प्राप्त किया जा रहा है यह जान लेने, में सहायक होते हैं अथवा लक्ष्यो (goals) और लक्ष्य बिम्बो (goal images) मे भेद कर सके, यद्यपि जहा तक इस अन्तिम प्रश्न का सम्बन्ध है, प्रयत्न किये जाने पर यह विभेदीकरण करना और उसकी सूचना सचालन (steering) प्रक्रिया तक पहुचाना असम्भव नही है।

निषेधात्मक प्रतिसम्भरण (negative feedback) का काम व्यवस्था तक ऐसी सूचना पहुचाना है जो उसकी वर्तमान कार्यवाही को, यदि वह कार्यवाही उसे अपने लक्ष्य से भिन्न दिशा मे ले जा रही है, प्रत्यावर्तित कर सके, और उसे सही दिशा मे मोड सके। परन्तु, ऐसी स्थिति की भी कल्पना की जा सकती है जिसमे व्यवस्था तक पहुचाने वाला प्रतिसम्भरण स्वय अभीप्सित लक्ष्य की ओर बढने वाली उसकी गति को विकृत कर रहा हो अथवा उसे उल्टी दिशा मे ढकेल रहा हो। इस प्रकार की प्रतिक्रिया को निश्चयात्मक प्रतिसम्भरण (positive feedback) का नाम दिया गया है। प्राय यह देखा गया है कि किसी आतकित भीड तक यदि कोई उत्तेजनात्मक सूचना पहुचा दी जाय तो उसकी भावनाए और भी भडक उठती हैं और वह मरने-मारने पर आमादा हो जाती है। यही बात मुद्रा-स्फीति और मूल्यवृद्धि के अवसरो पर भी देखी जाती है। समाज का एक वर्ग यह सोच कर कि दूसरा वर्ग उससे पहले ही अपनी वस्तुओ का भाव न बढा दे स्वय इस प्रकार की कार्यवाही शुरू कर देता है और तब, प्रतिक्रिया के रूप मे, सभी वस्तुओ के भाव धडाधड बढते चले जाते हैं। ऐसी घटनाए जहा सूचनाए, स्थिति को सँभालने के स्थान पर उसे और भी बिगाड़ देती हैं प्राय आन्तरिक राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो दोनो मे ही होती रहती हैं। यह सूचना मिलने पर कि विरोधी देश तेजी के साथ शस्त्रीकरण मे लगा हुआ है एक देश प्राय यह मान लेता है कि यह सारी तैयारी उसी के विरुद्ध की जा रही है। वह इस खतरे को बहुत ही अतिरजित रूप मे देखता है और अपने शस्त्रीकरण की मात्रा बढा देता है। इसका परिणाम दूसरे देश की नीतियो पर क्या पड़ता है, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। स्थिति दिन पर दिन तनावपूर्ण होती जाती है और एक दिन आता है जब युद्ध अनिवार्य हो जाता है। यदि राजनीतिज्ञ सम्प्रेषणो को सही रूप मे समझ लेने के महत्त्व को जानता है और गम्भीरता के साथ अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त करता है तो वह सकट का सामना सफलता के साथ कर सकता है। इतिहास ऐसे उदाहरणो से भरा पडा है जब राष्ट्रो का प्रतिशोध विवेक-सम्मत सीमाओ को लाघ कर आगे बढ गया है, परन्तु कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जब प्रतिशोध की भावनाओ को ठोस नियन्त्रण मे रखा गया है। यदि कोई देश अपने विरोधी पडोसी को तेजी के साथ शस्त्रीकरण करते देखता है तो यह स्वाभाविक है कि वह अपने शस्त्रीकरण की गति को कम न करे, परन्तु यह बिलकुल सम्भव है कि वह, दूसरे देश के शस्त्रीकरण की तुलना मे, अपने शस्त्रीकरण की गति को कुछ धीमा रखे और ऐसी स्थिति मे अपेक्षा की जा सकती है कि दूसरी ओर से आने वाले प्रतिरोध की गति भी कुछ शिथिल पडेगी और मित्रता की भावना मे, युद्ध के कारणों का निवारण किया जा सकेगा। आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे सघर्ष की

स्थिति के कुछ पक्षों को निषेधात्मक प्रतिसम्भरण प्रतिक्रिया और निश्चयात्मक प्रतिसम्भरण प्रतिक्रिया दोनों ही दृष्टियों से परखा गया है, और निवारण (deterrence) के सिद्धान्तकारों ने इस सम्बन्ध में कुछ अध्ययन हमारे सामने प्रस्तुत किये हैं।[6]

डॉयच का दावा केवल यही नहीं है कि उसके द्वारा प्रतिपादित सम्प्रेषण-सिद्धान्त में स्थिति विशेष का सही मूल्यांकन करने और परिमाणात्मक आधार पर उसका मापन करने की क्षमता है। वह इस सिद्धान्त से यह भी अपेक्षा रखता है कि वह राज्य को अपने लक्ष्यों में परिवर्तन करने और अनुभव से सीखने की क्षमता भी प्रदान करे। इन संकल्पनाओं को उसने लक्ष्य-परिवर्तन प्रतिसम्भरण (goal-changing feedback) और अधिगम (learning) का नाम दिया है। जिस राजनीतिक व्यवस्था ने सम्प्रेषण उपागम को आत्मसात् कर लिया है वह यदि चाहे तो इच्छा के अनुसार लक्ष्य में परिवर्तन करने की क्षमता का विकास भी कर सकती है। लक्ष्य कभी स्थैतिक नहीं होते। सांस्कृतिक प्रतिमानों और राजनीतिक अभिजन वर्ग की व्यक्तित्व संरचना में परिवर्तन के अनुसार राजनीति की निर्णय-निर्माण व्यवस्थाओं के लक्ष्यों में भी परिवर्तन आते रहते हैं। यह स्पष्ट है कि केवल प्रतिसम्भरण प्रक्रियाएं लक्ष्यों में परिवर्तन लाने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। यदि कोई राजनीतिक व्यवस्था एक लक्ष्य प्राप्त कर चुकी है, उदाहरण के लिए प्रशासन की संतादात्मक व्यवस्था, तो उसके लिए यह सम्भव होना चाहिए कि जनता की भौतिक आकांक्षाओं के सम्बन्ध में आने वाली सूचनाओं के सन्दर्भ में वह अपने को एक अधिक व्यापक लक्ष्य, अर्थात् समाजवाद, की दिशा में मोड़ ले। यह मानते हुए भी कि अभिजन वर्ग की मूल्य-व्यवस्था में परिवर्तनों के कारण किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के लक्ष्य अज्ञात रूप से बदलते रहते हैं परन्तु, यदि निर्णय-निर्माताओं को इन प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में जानकारी हो, तो वे इस प्रकार का परिवर्तन अधिक सरलता के साथ ला सकते हैं।

सम्प्रेषण-सिद्धान्त के सम्बन्ध में डॉयच द्वारा प्रतिपादित संकल्पनाओं की सूची यहीं समाप्त नहीं हो जाती। डॉयच ने अधिगम (learning), नवीनीकरण (innovation), संवृद्धि (growth) और आत्म-रूपान्तरण (self-transformation) की संकल्पनाओं का भी प्रयोग किया है। अधिगम राजनीतिक व्यवस्था की उस दक्षता का नाम है जो उसे प्राप्त होने वाली सूचना के प्रकाश में व्यवस्था की आन्तरिक संरचना और प्रक्रियाओं में आवश्यक परिवर्तन और समायोजन के द्वारा अपनी कार्य-विधियों को

[6]इस सम्बन्ध में निम्न पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं: मोर्टन ए० कैपलन, 'दि स्ट्रेटेजी ऑफ लिमिटेड रिटेलियशन,' पोलिसी मेमोरेण्डम, सं० 19, दि सेन्टर फॉर इण्टर्नेशनल स्टडीज़, प्रिंसटन, प्रिंसटन विश्वविद्यालय प्रेस, 1960; टोमस सी० शेलिंग, 'दि स्ट्रेटेजी ऑफ कॉनफ्लिक्ट,' कैम्ब्रिज, हार्वर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1960, हर्मन कान, 'ऑन थर्मोन्यूक्लियर वार,' प्रिंसटन, प्रिंसटन विश्वविद्यालय प्रेस, 1960; और 'ऑन एस्केलेशन : मैटाफर्स एण्ड सीनेरियोज़,' न्यूयार्क, प्रेगर, 1965, मूई ए० कोज़र कन्टीन्यूटीज़ इन दी स्टडी ऑफ सोशल कॉनफ्लिक्ट,' न्यूयार्क, फ्री प्रेस, 1967; और एन० जे० डेमर्थ, [लीच, और आर० ए० पीटरसन द्वारा सम्पादित 'चिंटर, चेंज एण्ड कॉनफ्लिक्ट,' न्यूयार्क, फ्री प्रेस,

बदलने मे सहायता देती है। कोई भी राजनीतिक व्यवस्था जब गम्भीर परिवर्तन के साथ केवल समझौता करने की स्थिति से आगे बढ़ती है तब वह नवीनीकरण, संवृद्धि और आत्म-रूपान्तरण की प्रक्रियाओं का सहारा लेती है, जिनके कारण केवल लक्ष्यो, संरचनाओं अथवा प्रक्रियाओं मे ही अन्तर नही आता, यह सब तो अनुकूल परिवर्तन (adaptive change) के अन्तर्गत आता है—परन्तु मूलभूत प्रकृति मे परिवर्तन, *नितान्त नयी दिशाओं मे संवृद्धि और सम्पूर्ण आत्म-रूपान्तरण*, जिनके द्वारा राजनीतिक व्यवस्था के प्रकार्यों मे गुणात्मक परिवर्तन आ जाता है, प्राप्त किये जा सकते हैं। रूपान्तरण का अर्थ, इस प्रकार, व्यवस्था की उस दक्षता से है, जो परिवर्तन की प्रक्रियाओं का आन्तरिक रूप से निर्वाह करने और उसमे अन्ततः गुणात्मक परिवर्तन ले आने की स्थिति को सम्भव बनाती है, परन्तु यह अत्यन्त आवश्यक है कि राजनीतिक व्यवस्था उस क्रियाविधि और उस कौशल के सम्बन्ध मे, जिसके द्वारा वह लक्ष्य मे परिवर्तन लाना चाहती है, अत्यधिक सतर्क रहे। डॉयच ने ऐसे उदाहरण दिये है जिनमे राज्यो को इस कारण कि उन्होने कुछ बहुत ऊंचे लक्ष्य जनता के सामने रखे और जनता उन्हे शीघ्र से शीघ्र प्राप्त करने के लिए उद्विग्न और अधीर हो उठी, अथवा इस कारण कि उन्होने अपने लक्ष्यो को बीच मे ही बदल दिया, अथवा इस कारण कि वे उनके सम्बन्ध मे समाज के सभी वर्गों का सहयोग प्राप्त करने मे असफल रहे, बहुत बडी कठिनाइयों का सामना करना पडा। इसमे सन्देह नही कि यदि उन क्षेत्रो का पता लगाया जा सके जिनमे राज्य-व्यवस्थाएं अपने लक्ष्यो का निर्धारण करती हैं, और विभिन्न कूटनीतियो के द्वारा उनमे परिवर्तन लाती हैं, तो राजनीति-विज्ञान के विद्यार्थियो के लिए शोध के बहुत से नये आयाम खुल जायेंगे।

सम्प्रेषण सिद्धान्त : एक आलोचना

अब समय आ गया है कि हम सम्प्रेषण-सिद्धान्त की उपलब्धियो और मर्यादाओ की समीक्षा करें। ओरन यग ने यह ठीक ही लिखा है कि प्राक्कल्पनाओ को मूर्त रूप देने और परिमाणात्मक विश्लेषण की दिशा मे यह उपागम अत्यन्त समर्थ है।[7] परन्तु, साथ ही, इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की भी हम उपेक्षा नही कर सकते कि इस उपागम का आग्रह प्रमुखतः निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया पर है, निर्णयो के परिणामो पर बहुत कम। वह सूचना के प्रवाहो का, और उन विभिन्न संरचनाओ की प्रकृति का जो उन्हे दिशा देती है, अध्ययन करता है, परन्तु सूचना की सार-वस्तु के सम्बन्ध मे उदासीन प्रतीत होता है। अपनी अनेक शोध परियोजनाओ मे डॉयच ने इस बात मे बडी रुचि दिखायी है कि विभिन्न देशो के बीच व्यापार का परिमाण क्या है, आने-जाने वाली डाक के थैले कितने भारी हैं, और राजनयिक समझौतो की संख्या कितनी है। यह इस दृष्टि से स्वाभाविक था कि इसी प्रकार की परिवर्तियो (variables) का परिमाणीकरण किया

[7]ओरन आर० यग, 'सिस्टम्स ऑफ पोलिटिकल साइन्स,' एगलवुड क्लिफ्स, न्यू जर्सी, प्रेंटिस हॉल, इन्क०, पृ० 56।

जा सकता है। उपागम की इस मर्यादा के भीतर रहते हुए डॉयच ने आगत सूचनाओं और उनके *प्रति व्यवस्थाओं की क्या प्रतिक्रिया होती है,* इसके *अध्ययन के लिए* अत्यधिक श्रेष्ठ उपकरणों का निर्माण किया है, जिनकी सहायता से हम उनका अध्ययन बहुत बारीकी से कर सकते हैं, और इस प्रकार के अध्ययन से निर्णय-निर्माताओं को *अपने काम में बहुत अधिक सहायता मिल सकती है। परन्तु राजनीति एक बहुत* अधिक जटिल विषय है और उसकी पेचीदगियां अधिक से अधिक चौकस निरीक्षक की आंखों से भी प्राय: बच निकलती हैं। सम्प्रेषण-सिद्धान्त के द्वारा निर्णय-निर्माताओं के *लिए शक्ति के केन्द्र और उसकी बहुत सी गतिविधियों को* पहचान लेना सम्भव हो सकता है, परन्तु शक्ति, जिसे सभी राजनीतिक क्रियाओं का आधार माना जा सकता है, अपने आप में अध्ययन का एक बहुत ही धोखा देने वाला विषय है, और जहां तक शक्ति की क्रिया-विधियों को समझने का प्रश्न है, यह स्पष्ट है, सम्प्रेषण-सिद्धान्त उसे समझने में सफल नहीं हो पाया है। व्यापकता और गहराई दोनों ही दृष्टियों से शक्ति के प्रयोग में सदैव परिवर्तन होता रहता है। इसके अतिरिक्त, शक्ति और प्रभाव में भी बहुत बड़ा अन्तर है। परिमाणात्मक प्रविधियों की सहायता से (और सम्प्रेषण-सिद्धान्त उनसे आगे जाने का दावा नहीं करता) उन विभिन्न अभिजन वर्गों के, जिनके हाथ में सत्ता होती है, *व्यवहार* को समझना, अथवा वैधानिक शक्ति के स्रोतों का पता लगा पाना, अत्यधिक कठिन है, और इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि राजनीतिक व्यवहार के विश्लेषण में ये प्रश्न बड़े महत्त्व के हैं और सम्प्रेषण-सिद्धान्त ने *इनकी ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है।*

अन्य व्यवहारपरक उपागमों के समान ही, सम्प्रेषण-सिद्धान्त स्थिति के अनुरक्षण पर अधिक जोर देता है। यद्यपि डॉयच को 'सन्तुलन' (equilibrium) शब्द की तुलना में 'स्थायित्व' (stability) शब्द अधिक पसन्द है। '*स्थायित्व*' की संकल्पना, प्रतिसम्भरण की क्रिया-विधियों के माध्यम से, समायोजन और नियन्त्रण की प्रक्रिया को काम में लेकर, संचालन (steering) की अनेक विषमताओं को समझने में सहायक हो सकती है, यद्यपि इसके साथ ही यह कहना भी आवश्यक होगा कि ऐसे निर्णयों के निर्माण की प्रक्रिया को समझने के लिए जो मूलत: आन्तरिक हैं, और *नियन्त्रण की अन्य बहुत सी विषमताओं* (control pathologies) को समझने के लिए, इस उपागम से विशेष सहायता नहीं मिल सकती, क्योंकि उसके लिए कहीं अधिक परिष्कृत संकल्पनात्मक सूझबूझ की आवश्यकता होती है। अधिगम और लक्ष्य-परि*वर्तन की संकल्पनाएं हमें राजनीतिक व्यवस्था में 'संशोधनात्मक', अथवा विकासवादी* परिवर्तन लाने में सहायता दे सकती हैं, जो अपने आप में एक बड़ा लाभ है, परन्तु क्रान्तिकारी परिवर्तन और विघटन की प्रक्रियाओं को समझने में यह उपागम बहुत अधिक सहायक नहीं है, यद्यपि यह मानना होगा कि अतिभार और संचालन-विषमताओं और प्रवर्धक (amplifying) प्रतिसम्भरण की संकल्पनाओं के माध्यम से डॉयच ने क्रान्तिकारी परिवर्तन की सम्भावनाओं को भी, वे कितनी भयावह क्यों न हों, अपने ध्यान में रखा है। पार्सन्स के व्यवस्था प्रश्न की भाषा में यह कहा जा सकता है कि

सम्प्रेषण-सिद्धान्त व्यवस्थाओ के अनुरक्षण की समस्याओ से सफलतापूर्वक निपट सकता है, विकासवादी परिवर्तन से निपटने मे उसे कुछ कठिनाई का सामना करना पडता है, परन्तु क्रान्तिकारी परिवर्तन की समस्याओ से निपटना उसके लिए बडा दूभर हो सकता है।

सम्प्रेषण-सिद्धान्त की तीसरी, और इन दोनो से अधिक गम्भीर आलोचना यह है कि यह सिद्धान्त एक अत्यधिक यान्त्रिक (mechanistic) सिद्धान्त है, और मानव व्यवहार को उसने एक मूलतः अभियान्त्रिकी रूप देने का प्रयत्न किया है। वास्तव मे, सम्प्रेषण-सिद्धान्त का जन्म क्लॉड ई० शैनन और नौबर्ट वीनर द्वारा प्रतिपादित सूचना सिद्धान्त तथा डब्ल्यू० रौस एशबी द्वारा स्वतन्त्र रूप से विकसित सयान्त्रिकी प्ररूप के गर्भ से हुआ। शैनन और वीनर विद्युत-सचारण की कुछ समस्याओ को सुलझाने का प्रयत्न कर रहे थे। वीनर के सामने यह समस्या थी कि नेपथ्य से आने वाले अनेक सकेतो मे से एक सकेत को दूसरे से कैसे भिन्न किया जाय, जबकि शैनन का प्रयत्न यह था कि वह सन्देशो को कूटबद्ध (encode) कर सके और उन्हे कम से कम अशुद्धियो, और अधिक से अधिक तेजी, के साथ उन चैनलो के द्वारा जिनमे कोलाहल की मात्रा बहुत अधिक थी, दूर तक पहुचा सके। अपने इन प्रयत्नो को इन लोगो ने एक सिद्धान्त का नाम दिया।[8] वीनर संयान्त्रिकी के प्रतिरूप से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने यह धारणा बना ली कि शोध के अनेको क्षेत्रो मे उसका प्रयोग सफलता के साथ किया जा सकता था। उसकी आकांक्षा तो समस्त वैज्ञानिक शोध को सतान्त्रिकी के साचे मे ढाल कर एक नया रूप देने की थी। वह मानता था कि सतान्त्रिकी पर आधारित सकल्पनात्मक सरचना सभी प्रकार की घटनाओ के अन्वेषण के लिए न केवल पर्याप्त परन्तु आवश्यक भी थी। वीनर के शब्दों मे कि "समाज को केवल उसके सदेशो और सचार सुविधाओ के अध्ययन के माध्यम से ही समझा जा सकता था . .।"[9] ऐशबी ने सम्प्रेषण-सिद्धान्त की प्रतिबद्धता को और भी आगे बढ़ाया। उसकी मान्यता थी कि "उन अनेक मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और आर्थिक विषमताओं से, जो निरन्तर बढने वाली अपनी जटिलताओ के कारण हमे अधिकाधिक अपनी जकड मे लेती जा रही हैं, निपटने के लिए आवश्यक

[8] साइबरनेटिक्स' शब्द एक ग्रीक शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ है खेवट, अथवा चालक, अथवा और अब उसका प्रयोग न केवल वीनर और शैनन द्वारा विकसित किये गये सूचना-सिद्धान्त के विभिन्न रूपों के लिए ही किया जाता है परन्तु खेल के सिद्धान्तो, स्व नियन्त्रित यन्त्रों, कम्प्यूटरों और तन्त्रिकीय (nervous) व्यवस्था सम्बन्धी शरीर क्रिया-विज्ञान में भी शैनन की रचनाओं और सम्प्रेषण-सिद्धान्त के विकास से उसके सम्बन्ध पर देखिए : जे० आर० प्रेरी, 'सिम्बल्स, सिगनल्स एण्ड नौइज : दि नेचर एण्ड प्रोसेस ऑफ कम्युनिकेशन,' हार्पर एण्ड रो प्रकाशन, 1961; 'साइबरनेटिक्स' शब्द का प्रयोग सबसे पहले वीनर ने अपनी 'साइबरनेटिक्स,' जौन वाइली एण्ड सन्स, इन्क०, 1948 में किया और उसका अधिक प्रचलन अपनी 'दि ह्यूमन यूज ऑफ ह्यूमन बिइंग्स साइबरनेटिक्स एण्ड सोसाइटी,' डब्लडे एण्ड कं०, इन्क०, 1950, में किया।

[9] नौबर्ट वीनर, पी० उ०, पृ० 16।

साधन जुटाने की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण साधन माना जा सकता था।"[10] डॉयच ने वीनर, बीनर, और ऐशबी से प्रेरणा लेकर इस प्रतिरूप को राजनीतिक घटनाओं के अध्ययन में प्रयोग में लाने का प्रयत्न किया। वास्तव में यह उपागम विद्युत अभियान्त्रिकी के क्षेत्र से किसी वस्तु को उठा कर उसे सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में ज्यों का त्यों प्रतिष्ठित कर देना चाहता है। सहज ही यह प्रश्न उठता है : इस प्रकार की चेष्टा क्या अपने आप में एक दुःसाध्य चेष्टा नहीं है ?

अपने इस प्रयत्न के बचाव में डॉयच का कहना है कि यन्त्रों, कम्प्यूटर और सतान्त्रिकी में तेजी से बढ़ते हुए परिष्करण के कारण यान्त्रिकी और जैविक संरचनाओं के बीच का अन्तर मिटता जा रहा है और अब तो हम ऐसे स्व-चालित यन्त्रों से अधिकाधिक परिचित होते जा रहे हैं जो न केवल पर्यावरण के साथ परन्तु स्वयं अपने व्यवहार के परिणामों के साथ प्रतिक्रियात्मक व्यवहार की क्षमता रखते हैं, और उनमें से कुछ के पास, एक मर्यादित रूप में नहीं, अधिगम की क्षमता भी है, इस अर्थ में कि वे सूचना का संचयन (storing), प्रक्रमण (processing) और उपयोग कर सकते हैं। डॉयच के इस तर्क में कुछ सार होते हुए भी यह स्पष्ट है कि इस सादृश्य को बहुत दूर तक नहीं ले जाया जा सकता। निष्प्राण प्रक्रिया वाले प्रतिरूप मानव व्यवहार को समझने के लिए कदापि पर्याप्त नहीं हो सकते। डॉयच की अपनी योजना में भी, परिणामों अथवा निष्कर्षों की तुलना में, प्रक्रियाओं पर अधिक जोर दिया गया है। राजनीति में प्रक्रियाओं के महत्त्व को दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक स्वीकार किया जा रहा है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि परिणाम और निष्कर्ष उन से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। सम्प्रेषण-सिद्धान्त में प्रवाहों और प्रक्रियाओं को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया है, और राजनीतिक व्यवहार का मूल्यांकन उपलब्धि-संकेतकों (performance indicators) की दृष्टि से करने की प्रवृत्ति पायी जाती है, और व्यक्तिगत इकाइयों की गुणात्मकता, और राजनीति की सारभूत समस्याओं, के विश्लेषण की तुलना में प्रवाहों के परिमाणात्मक मापन पर अधिक जोर दिया गया है। यह मानते हुए भी कि राजनीति-विज्ञान में परिमाण का अपना महत्त्व है, परन्तु उसकी तुलना में गुणात्मकता और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस उपागम की कमजोरियों का उल्लेख करते हुए ओरन यग ने भी उपलब्धि-संकेतकों की खोज में झूठी गणना और विकृत परिमाणीकरण के खतरों का जिक्र किया है और लिखा है कि इसके कारण यह भी सम्भव है कि सार वस्तु का गुणात्मक और सान्दर्भिक महत्त्व हमारी दृष्टि से बिलकुल ही ओझल हो जाय।[11]

सम्प्रेषण-सिद्धान्त की कमजोरी केवल यही नहीं है कि प्रतिरूपों को अभियान्त्रिकी से

[10] डब्ल्यू० रॉस एशबी, 'एन इन्ट्रोडक्शन टू साइबरनेटिक्स,' जॉन वाइली एण्ड सन्स, न्यूयार्क, 1963, पृ० 6। यह ग्रंथ सबसे पहले 1956 में प्रकाशित हुआ था। उनका दूसरा प्रमुख ग्रन्थ 'डिजाइन फॉर ए ब्रेन : दि ओरिजिन ऑफ एडैप्टिव बिहेवियर,' द्वितीय संस्करण, जॉन वाइली एण्ड सन्स, न्यूयार्क 1960 (प्रथम प्रकाशन 1952) है।

[11] ओरन यग, पी० उ०, पृ० 60।

उठाकर ज्यों का त्यों राजनीति-विज्ञान मे प्रयोग मे लाने का प्रयत्न किया गया है, उससे भी अधिक चिन्ता की बात यह है कि प्रतिरूप-निर्माण उस उद्देश्य को पूरा करने मे सफल नही हो सका है जिसके लिए सामाजिक विज्ञानो मे उसका अधिकाधिक प्रयोग किया जा रहा है। प्रतिरूप-निर्माण का उद्देश्य साधारणतः जटिल समस्याओं को साधारण भाषा मे समझाना होता है परन्तु, जहा तक डॉयच का प्रश्न है, उसके द्वारा प्रयोग मे लाया गया प्रतिरूप स्वय इतना जटिल हो गया है कि घटनाओं को समझने मे सहायता पहुचाने के स्थान पर वह हमे और भी अधिक उलझन मे डाल देता है। इसके साथ एक अन्य कठिनाई यह भी है कि अभियान्त्रिकी में से लिये गये बहुत से शब्दो का प्रयोग सदा ही उस कडी तकनीकी दृष्टि से नही किया गया है जिसकी डॉयच जैसे उच्च कोटि के समाजशास्त्री से अपेक्षा की जा सकती थी। कई बार उनका प्रयोग दिन-प्रतिदिन काम मे लाये जाने वाले अर्थों मे कर लिया गया है, और उसका परिणाम यह हुआ है कि अपने अभीप्सित अर्थ को स्पष्ट करने मे वे असफल रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि, सरचनात्मक और सारभूत दोनों ही स्तरो पर, सम्प्रेषण-सिद्धान्त मे अनेक दोष आ गये है। राजनीतिक परिवर्तन और विकास सम्बन्धी सूचना-प्रवाहो को समझने के लिए जिन सरचनाओ की आवश्यकता होती है उन्हे भी एक दूसरे से भिन्न करके देखने में वह असफल रहा है। इस उपागम की सबसे बडी कठिनाइया सार के स्तर पर वस्तुओ को समझने में आती है। वह औपचारिकता और अत्यधिक तार्किकता की विशेषताओ को अत्यधिक महत्त्व देता है, जब कि हम जानते हैं कि राजनीतिक जीवन मे वास्तविक निर्णय-निर्माण प्रक्रियाए प्रायः धीरे-धीरे वेग ग्रहण करती हैं और वे सदा ही उस तार्किकता को अभिव्यक्त नही कर पाती जिनकी डॉयच उनसे अपेक्षा करता है।

सम्प्रेषण-सिद्धान्त की कठिनाइया उस समय हमारे सामने और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जब हम उसे क्रियान्वित करना चाहते हैं। भूमिका की विशिष्टता की जिस ऊंची मात्रा मे इस उपागम मे अपेक्षा की जाती है उसे प्राप्त करना वास्तविक जीवन मे शायद ही कभी सम्भव हो सके। सूचना के जो चैनल और सरचनाए उसे मूर्तरूप देते है वे कभी भी उतने औपचारिक नही होते। राजनीतिक घटनाओ की प्रक्रिया को निर्देशित करने वाली प्रविधिया कभी भी इतने सुनिश्चित रूप मे हमारे सामने नही आती। लक्ष्य को किस दिशा मे मोडना है यह ज्ञान तो दूर रहा, लक्ष्य क्या है, यह भी जब निर्णय-निर्माताओं के सामने सदा स्पष्ट नहीं होना, और न उस कौशल का ज्ञान ही उनके पास होता है जिसकी सहायता से उसे वे इच्छित दिशा मे मोडना चाहेंगे, तो यह जानने से क्या लाभ कि किन आवश्यक साधनो की सहायता से वे अभीप्सित परिवर्तन ला सकते है? सम्प्रेषण-सिद्धान्त को कार्यान्वित करने की इन कठिनाइयो को समझ लेने के बाद हमे यह देख कर आश्चर्य नहीं होना कि आनुभविक शोध मे कभी भी गम्भीरता के साथ उसका पालन नही किया गया है। डॉयच का ही उदाहरण लें तो हम यह कह सकते है कि उसने समस्त बौद्धिक प्रखरता के होते हुए भी, इस सिद्धान्त का निर्माण और प्रतिपादन तो किया है, परन्तु स्वय उसने उसका बहुत कम आनुभविक प्रयोग किया है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि इस उपागम के प्रतिपादन में डॉयच ने जिन संकल्पनाओं का निर्माण किया है वे राजनीतिक व्यवस्था के प्रकार्यों को समझने में सहायक सिद्ध नहीं हुई हैं। सम्प्रेषण को हम उसके दिन-प्रतिदिन के व्यवहार में काम में लिये जाने वाले अर्थ में ही लें तो भी यह मानना पड़ेगा कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में, और आन्तरिक राजनीति में भी, उसकी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यदि सूचना का प्रवाह सरल है और निर्णय-निर्माण व्यवस्था रचनात्मक ढंग से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर सकने की स्थिति में है तो बहुत सी समस्याएं सरलता से सुलझायी जा सकती हैं। परन्तु, यहां यह बात भी स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि राजनीति-विज्ञान में सम्प्रेषण का सिद्धान्त अभियान्त्रिकी के क्षेत्र में प्रयोग में लाये गये सम्प्रेषण के सिद्धान्त से बिलकुल भिन्न है। राजनीति-विज्ञान में समस्या केवल सम्प्रेषण की नहीं है, उससे अधिक यह वस्तुओं को उनके सही रूप में देखने, परखने और समझने की है। यदि कोई सन्देश अविकृत रूप में सम्प्रेषित किया गया तो भी यह सम्भव है कि राजनीतिज्ञ उसे तोड़-मोड़ कर प्रस्तुत करें। वीनर और वीनर, वीनर के लम्बे चौड़े दावों के बावजूद, मर्यादित समस्याओं को सम्प्रेषण के और भी मर्यादित क्षेत्र में सुलझाने का प्रयत्न कर रहे थे। उनका सम्बन्ध प्रमुखतः यन्त्रों के संचालन और नियन्त्रण से था और सन्तान्त्रिकी को, उसके व्यापक से व्यापक अर्थ में, यन्त्रों को देखने और उनके संचालन और नियन्त्रण को समझाने का एक साधन मात्र माना जा सकता है। सन्तान्त्रिकी में मूल औपचारिक इकाई रूपान्तरण है। प्रचालक (operator) संकार्य (operand) में उस वस्तु में जिसका वह संचालन कर रहा है, एक परिवर्तन ले आता है जिसे हम संक्रमण (transition) कह सकते हैं परन्तु जहां तक यन्त्रों का प्रश्न है, प्रचालक, संकार्य और संक्रमण इन तीनों को आसानी से पहचाना जा सकता है। इसके विपरीत, सामाजिक विज्ञानों में यह कहना बहुत कम अवसरों पर सम्भव हो पाता है कि 'संचालक' को प्रेरित करने वाले उद्देश्य वास्तव में क्या हैं?

सन्तान्त्रिकी का सम्बन्ध प्रमुखतः एक नियत (determinate) यंत्र के सुनिश्चित व्यवहार से है, जो सदा एक ही ढंग से व्यवहार करता है। यन्त्र होने के नाते उसे एक ही दिशा की ओर मोड़ा जा सकता है और यदि उस यन्त्र की वर्तमान स्थिति और गति के सम्बन्ध में सही जानकारी है तो यह निर्धारित किया जा सकता है कि यह किस समय किस स्थान पर होगा। डॉयच द्वारा प्रतिपादित सम्प्रेषण-सिद्धान्त यन्त्रों के इस सादृश्य को सामाजिक व्यवस्थाओं के अध्ययन में प्रयोग में लाना चाहता है। वह यह मान कर चलता है कि राजनीतिक व्यवस्था के पास वे सभी गुण हैं जो किसी यन्त्र में होते हैं, और, आवश्यक कौशल के द्वारा, उसे एक विशिष्ट दिशा में मोड़ा जा सकता है। परन्तु यह समझना कठिन है कि कोई भी ऐसा प्रशासन जिसके पास दुनिया भर की अधिक से अधिक सूचनाएं उपलब्ध हैं, यह जानते हुए भी कि लक्ष्य के और उसके बीच में कितना फासला है—(यह मान भी लिया जाय कि इस फासले को मापा जा सकता है) और उस फासले को तय करने के लिए उसे क्या करना है (यह मानते हुए कि उसे अपनी शक्तियों और कमजोरियों का ठीक से पता है)—किस प्रकार अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर चल सकेगा।

यह थोड़ा हास्यास्पद प्रतीत होता है कि समाजशास्त्रियों ने उन चेतावनियों पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया जो इस सिद्धान्त के अभियन्ता प्रतिपादक बराबर देते रहे हैं। स्वयं ऐशबी ने लिखा है, "प्रतिसम्भरण की संकल्पना, जो कुछ प्रारम्भिक स्थितियों में इतनी सरल और स्वाभाविक दिखायी देती है, विभिन्न भागों के अन्तःसम्बन्धों में जटिलता आ जाने पर कृत्रिम और अनुपयोगी हो जाती है।" जब केवल दो भाग इस प्रकार एक दूसरे के साथ जुड़े होते हैं कि वे एक दूसरे को लगातार प्रभावित करते रहते हैं तो प्रतिसम्भरण समग्र व्यवस्था की विशेषताओं के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण और उपयोगी सूचनाएं देने की स्थिति में होता है, परन्तु जब इन भागों की संख्या दो से चार भी हो जाती है और यदि उनमें से प्रत्येक भाग अन्य तीन भागों को प्रभावित करता है, तो बीस परिपथ (circuits) हमारे सामने खुल जाते हैं, और इन सभी परिपथों की विशेषताओं का पता लग जाने पर भी हम यह नहीं कह सकते कि व्यवस्था के सम्बन्ध में हमें पूरी सूचना प्राप्त हो गयी।[12] वास्तव में, राजनीतिक व्यवस्था अपने आप में इतनी पेचीदा है कि यह सम्भव नहीं है कि उसका विश्लेषण सम्बन्धित भागों को एक दूसरे से जोड़ने वाले सरल प्रतिसम्भरण के दृष्टिकोण से किया जा सके। ऐशबी ने "स्थायित्व" की संकल्पना के दुरुपयोग की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में भी लिखा है, "केवल उसी स्थिति में जब कि घटनाएं बहुत अधिक सरल होती हैं, जैसा राजनीति में शायद ही कभी होता है, सन्तुलन और स्थायित्व जैसे शब्दों का कोई अर्थ हो सकता है।"[13] हमारे समाजशास्त्रियों ने इन चेतावनियों पर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने प्रतिसम्भरण की संकल्पना को, बिना गहराई से सोचे-समझे, समस्त समाजों के सम्बन्ध में प्रयोग में लिया है। इस प्रकार की जटिल समग्रताओं में प्रतिसम्भरण के विशिष्ट परिपथों की अन्धी खोज को, जिसका अन्त में कुछ परिणाम नहीं निकलता है, व्यवस्था के हमारे ज्ञान को विस्तृत बनाने का सर्वश्रेष्ठ साधन मान लिया गया है। इस कारण यह देख कर हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि न तो सूचना सिद्धान्त और न सन्तान्त्रिकी सिद्धान्त राजनीतिशास्त्रियों पर कोई बड़ा प्रत्यक्ष प्रभाव डाल सका है, यद्यपि सम्प्रेषण प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में अवश्य अनेक अध्ययन किये गये हैं। उनमें डॉयच की शोध असन्दिग्ध रूप से प्रमुख है, परन्तु वह भी उपयोगी सुझाव देने में विशेष प्रभाव नहीं डाल सकी है। उसने अपने प्रतिरूप के द्वारा प्रशासनों की कार्यवाही के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं, पर जहां तक उनके समुचित उत्तरों का सम्बन्ध है उससे विशेष सहायता नहीं मिलती। प्रश्न अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं, और सन्तान्त्रिकी के उपागम को उन्हें उठाने का श्रेय दिया जा सकता है, परन्तु उनके समाधान के सम्बन्ध में उसके पास कोई उत्तर नहीं है।

निर्णय-निर्माण उपागम

राजनीतिक विश्लेषण में निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया का महत्त्व स्थापित करने की

[12] डब्ल्यू॰ रोस एशबी, 'एन इन्ट्रोडक्शन टू साइबरनेटिक्स,' पी॰ उ॰, पृ॰ 54।
[13] वही, पृ॰ 85।

दृष्टि से रिचर्ड सी० स्नाइडर और उसके सहयोगियों ने दूसरे विश्व युद्ध के बाद एक नये उपागम का विकास किया।[11] रोज़ेनो ने अपनी कृतियों में प्रिंसटन विश्वविद्यालय के उस उत्तेजक वातावरण की चर्चा की है जिसमें स्नाइडर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटनाओं के अध्ययन के लिए निर्णय-निर्माण विश्लेषण को एक पूर्ण उपागम की दृष्टि से विकसित करने में लगा हुआ था। इस उपागम के प्रतिपादन में लिखे गये अपने पहले प्रारूप (draft) का स्नाइडर ने प्रिंसटन विश्वविद्यालय के अपने सहयोगियों में जून 1954 में वितरण किया। उस स्थैतिक विश्लेषण में, जो संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक और व्यवस्थावादी सैद्धान्तिकों के द्वारा राजनीति के अध्ययन में प्रयोग में लाया जा रहा था और निर्णय-निर्माण के अपने विश्लेषण में अन्तर बताते हुए स्नाइडर ने अपने इस प्रारूप में दावा किया था कि, क्योंकि इसका आधार प्रक्रिया विश्लेषण पर था, उसमें गतिशील स्थितियों के अध्ययन में विशेष सहायता मिल सकती थी। स्थैतिक विश्लेषण से, उसके अनुसार, यह सूचना तो मिल सकती थी कि दो समय-बिन्दुओं के बीच होने वाले परिवर्तन की क्या प्रकृति थी और किन परिस्थितियों में वह परिवर्तन आया था, परन्तु परिवर्तन के कारणों को जानने, अथवा परिवर्तन की प्रक्रिया क्या रही उसे समझने, में उससे विशेष सहायता नहीं मिलती थी। इसके विपरीत, प्रक्रिया विश्लेषण में समय और परिवर्तन दोनों का सम्मिश्रण होने तथा उसका सम्बन्ध (व्यवहारपरक) घटनाओं की क्रमबद्धता से होने के कारण उसके द्वारा सम्बन्धों और स्थितियों दोनों में परिवर्तन का अध्ययन अधिक अच्छी तरह से किया जा सकता था।

प्रक्रिया विश्लेषण में स्नाइडर के अनुसार, दो पद्धतियाँ सम्भव थीं— (1) जिसका सम्बन्ध अन्त:क्रिया (interaction) से था और (2) जिसका सम्बन्ध निर्णय-निर्माण (decision making) से था। अन्त:क्रिया विश्लेषण दो स्थितियों के बीच के सम्बन्ध का विवरण दे सकता था और उसका मापन कर सकता था, परन्तु यह बताने में असमर्थ था कि किस प्रकार, अथवा किन कारणों से, स्थिति का विकास एक विशेष ढंग से हुआ। इसका उत्तर उसकी दृष्टि में निर्णय-निर्माण विश्लेषण के द्वारा दिया जा सकता था। स्नाइडर ने निर्णय-निर्माण विश्लेषण पद्धति को सी० राइट मिल्स द्वारा सुझायी गयी सूक्ष्म सामाजिक शोध का एक अंग बताया और उसे सामाजिक कार्य विश्लेषण का एक अंग अथवा रूप माना था। पार्सन्स और शील्स ने कार्य की परिभाषा देते हुए लिखा था कि वह पात्र अथवा पात्रों, लक्ष्यों, साधनों और स्थितियों के आनुभविक अस्तित्व पर

[11] रिचर्ड सी० स्नाइडर और एडगर एस० फ्रनिस, जू०, 'अमेरिकन फ़ॉरेन पॉलिसी फ़ॉर्म्युलेशन, प्रिंसिपल्स एण्ड प्रोग्राम्स,' न्यूयार्क, होल्ट, 1954; रिचर्ड सी० स्नाइडर, एच० डब्ल्यू ब्रुक और बर्टन सैपीन, 'डिसीज़न-मेकिंग एज़ एन ए एप्रोच टू दी स्टडी ऑफ़ इण्टरनेशनल पॉलिटिक्स,' फ़ॉरेन पॉलिसी एनैलिसिस प्रोजेक्ट, ऑर्गेनिज़ेशनल बिहेवियर सेक्शन, प्रिंसटन विश्वविद्यालय, 1954, स्नाइडर ब्रुक और सैपीन द्वारा सम्पादित 'फ़ॉरेन पॉलिसी डिसीज़न मेकिंग : एन एप्रोच टू ए स्टडी ऑफ़ इण्टरनेशनल पॉलिटिक्स,' न्यूयार्क, फ्री प्रेस, 1962 में पुन: मुद्रित; स्नाइडर, "ए डिसीज़न-मेकिंग एप्रोच टू दी स्टडी ऑफ़ पॉलिटिकल फ़िनोमिना," रोलेण्ड यंग द्वारा सम्पादित 'एप्रोच टू दी स्टडी ऑफ़ पॉलिटिक्स,' —वान्सटन, इलीनोय, नॉर्थवेस्टर्न विश्वविद्यालय प्रेस, 1958।

निर्भर था।[15] स्नाइडर ने यह दावा किया कि निर्णय-निर्माण विश्लेषण के लिए पार्संस का उपागम पर्याप्त नहीं है और बताया कि उसके लिए एक सावृतिक (phenomenological) उपागम की आवश्यकता है, इस अर्थ मे कि वह पार्संस की योजना मे सुझाये गये कार्य के तार्किक प्रतिरूप को अपना आधार मान कर नही चलता और न प्रेक्षक की कसौटियो को पात्रों पर लादने का प्रयत्न ही करता है।[16] इस उपागम का विकास स्नाइडर ने आरम्भ मे अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को समझने के लिए किया था, परन्तु वह अपने इस उपागम से इतना प्रभावित हुआ कि बाद मे उसने दावा किया कि उसका प्रयोग, न केवल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के, वरन सभी प्रकार की राजनीतिक प्रक्रियाओ के अध्ययन मे किया जा सकता था।

स्नाइडर की शिकायत थी कि सार्वजनिक नीतियों मे शताब्दियों से ली जाने वाली रुचि, और लोक-प्रशासन के क्षेत्र मे व्यवस्थावादी विश्लेषण, के होते हुए भी अब तक निर्णय-निर्माण की किसी ठोस सकल्पना का विकास नही किया गया था। नीति, उद्देश्य, निर्णय, निर्णय-निर्माण आदि शब्दों का व्यापक रूप से प्रयोग किया जा रहा था, पर किसी ने उनकी व्याख्या करने अथवा उनके सम्बन्ध मे किसी प्रकार का मतैक्य (consensus) विकसित करने का प्रयत्न नही किया था। बर्नार्ड[17] और साइमन[18] लोक-प्रशासन के उन विद्वानो मे से पहले थे जिन्होने प्रशासनिक सगठनो मे निर्णय के महत्त्व की प्रमुखता पर जोर दिया था, परन्तु इन दोनो मे से किसी ने भी निर्णय-निर्माण व्यवहार के वर्णन अथवा विश्लेषण मे अन्तर्निहित बौद्धिक क्रियाओ के विश्लेषण का प्रयत्न नही किया था। स्नाइडर की दृष्टि मे इस विषय पर साहित्य एक प्रकार से था ही नही। निर्णयो के सार और उन औपचारिक संरचनाओ के सम्बन्ध मे जिनमे निर्णय-निर्माण किया जाता था, ग्रन्थ के ग्रन्थ भरे पड़े थे, परन्तु निर्णय और निर्णय-निर्माण की प्रक्रियाओ के विश्लेषण के सम्बन्ध मे बहुत कम साहित्य था। यह सब होते हुए भी इस उपागम का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। इस उपागम का प्रयोग न्यायाधीशो के निर्णय-निर्माण सम्बन्धी व्यवहारो, नियामक अभिकरणो, ससदात्मक प्रक्रियाओ, और व्यक्तित्व सिद्धान्त तथा निर्णय-निर्माताओ के व्यक्तित्वों के अध्ययनो मे किया जा रहा था। स्नाइडर के अनुसार गैर-सरकारी समूहो के व्यवहार मे भी वह उपयोगी सिद्ध हुआ था। लोक-प्रशासन के साहित्य के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन के क्षेत्र मे भी उसका व्यापक प्रयोग किया जा रहा था परन्तु लोक-प्रशासन के समान ही, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे भी, सस्थाओ के सम्बन्ध मे तो बहुत कुछ लिखा जा रहा था, परन्तु विदेश-नीति के निर्माण की प्रक्रियाओ के सम्बन्ध मे लगभग बिलकुल भी नहीं। इसी प्रकार की स्थिति राजनयिक इतिहास के क्षेत्र मे भी थी। कई वर्षों तक इस क्षेत्र

[15] टैलकौट पार्संस और एडवर्ड शील्स, 'टुवर्ड्स ए जनरल थियरी ऑफ एक्शन,' हार्वर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1951।

[16] रिचर्ड सी० स्नाइडर, 'ए डिसीजन-मेकिंग एप्रोच,' रोलैण्ड यग, पी० उ०, पृ० 11।

[17] चेस्टर बर्नार्ड, 'दि फक्शन्स ऑफ दी एक्जेक्यूटिव,' कैम्ब्रिज, हार्वर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1938।

[18] हर्बर्ट साइमन, 'मॉडल्स ऑफ मैन : सोशल एण्ड रैशनल,' पी० उ०।

मे काम करने के बाद स्नाइडर को इसका विश्वास हो गया था कि यह संकल्पना "राजनीति के अध्ययन के विभिन्न प्रमुख पूरक उपागमो मे से एक" थी और "राज-नीति-विज्ञान की प्रमुख विश्लेषणात्मक समस्याओ को समझने मे उससे इतनी सहायता मिल सकती थी कि कुछ विद्वानो की बौद्धिक प्रतिभा का उसमे पर्याप्त रूप से लगाया जाना एक उपयोगी काम था।"[19]

स्नाइडर द्वारा प्रतिपादित निर्णय-निर्माण सिद्धान्त के मूल मे यह सीधा-सादा विचार है कि (अ) जो भी राजनीतिक कार्यवाही होती है वह कुछ विशेष व्यक्तियों के द्वारा ही की जाती है, और (ब) यदि हम इस *कार्यवाही की गत्यात्मकता को समझना चाहते हैं* तो उसे अपने दृष्टिकोण से नहीं बल्कि उन व्यक्तियो के परिप्रेक्ष्य से देखना चाहिए जिन पर निर्णय लेने का उत्तरदायित्व होता है। अपने निर्णय का अतिक्रमण करके और पात्रों के परिप्रेक्ष्य को स्वीकार करके ही प्रेक्षक कार्य का पर्याप्त विश्लेषण करने मे समर्थ हो सकता है। सभी राजनीतिक कार्यों के मूल मे निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया पायी जाती है और इस कारण केवल उसी को अपना आधार मान कर हम राजनीतिक पात्रों, परिस्थितियों और प्रक्रियाओं का उचित रूप मे विश्लेषण कर सकते हैं। किसी भी *राजनीतिक कार्य को ठीक रूप मे समझने के लिए यह आवश्यक है कि (अ) किसने* अथवा किन्होंने, उन महत्त्वपूर्ण निर्णयो को लिया जिनके कारण वह कार्य किया गया, और (ब) उन बौद्धिक और अन्त:क्रियात्मक प्रक्रियाओं का मूल्यांकन करना जिनका अनुसरण करके निर्णय-निर्माता अपने निर्णयों तक पहुंचे।

उन कारको का विश्लेषण करते हुए जो निर्णय-निर्माताओ को प्रभावित करते हैं, और चयन सम्बन्धी उनके निर्णयों को संरचना और सार प्रदान करते है, स्नाइडर उन्हे उद्दीपक समुच्चयों (sets of stimuli) मे प्रमुखत: तीन समूहो मे बाँटता है—आन्तरिक परिपार्श्व (internal setting), बाह्य परिपार्श्व (external setting) और निर्णय-निर्माण प्रक्रिया। आन्तरिक परिपार्श्व का अर्थ उस समाज से है जिसमे अधिकारी अपने निर्णय लेते हैं। उसमे जनमत के अतिरिक्त, मूल्यो के सम्बन्ध मे प्रमुख मूल्य-अभिविन्यास (*value-orientations*), सामाजिक संगठन की प्रमुख विशेषताएं, समूह संरचनाएं और प्रकार्य, प्रमुख संस्थात्मक अभिरचनाएं (patterns), आधारभूत सामाजिक प्रक्रियाएं (प्रौढ़ों का सामाजीकरण, जनमत-निर्माण, आदि) और सामाजिक *विभेदीकरण (differentiation)* और विशिष्टीकरण (specialization) आते हैं। बाह्य परिपार्श्व का अर्थ अन्य राज्यों से, जिनका अर्थ उन राज्यो के निर्णय-निर्माताओं की *क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से, तथा उन समाजों से जिनके लिए वे काम करते हैं, और उनके भौतिक पर्यावरण से है। तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व निर्णय-निर्माण प्रक्रियाएं हैं*—जिनका प्रारम्भ प्रशासनिक संगठनों के गर्भ मे होता है और जिनका वे एक भाग हैं। स्नाइडर के अनुसार निर्णय-निर्माण प्रक्रिया के तीन प्रमुख उप-संवर्ग हैं. (1) सक्षमता के क्षेत्र (spheres of competence), (2) संचारण और सूचना, और (3) अभि-

[19]रिचर्ड सी॰ स्नाइडर, पूर्वोक्त ग्रंथ, पी॰ 3॰, पृ॰ 38।

प्राय। इनमे, साधारण रूप से, प्रशासन को, और विशेषकर उन इकाइयो को, जो निर्णय-निर्माण का काम करती है, भूमिकाएं, आदर्श और प्रकार्य सम्मिलित है। निर्णय-निर्माण के ढाचे के अन्तर्गत, इस प्रकार, सामाजिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ का एक जटिल और अन्योन्याश्रित समुच्चय सम्मिलित है, जिसके अध्ययन के लिए स्नाइडर ने, व्यवहारपरक राजनीतिशास्त्रियो की परम्परा के अनुसार, ऐसी बहुत सी सकल्पनाओ के प्रयोग पर जोर दिया है जिनका विकास समाजशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्रो मे हुआ था और जिनके माध्यमो के द्वारा ही निर्णय-निर्माताओ के प्रेक्षणो, उद्देश्यो, अनुभवो और अन्तःक्रियाओ को ठीक से समझा जा सकता है।[20]

स्नाइडर का विश्वास है कि यद्यपि इस उपागम का विकास सबसे पहले अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के सीमित क्षेत्र मे किया गया था, राजनीति-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों मे भी उसके प्रयोग की बहुत अधिक सम्भावनाएं थी। स्नाइडर ने निर्णय-निर्माण कारको और प्रक्रियाओ का अध्ययन निर्णय-निर्माण व्यवस्था के ढाचे के अन्तर्गत किया था। अब तक राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख पात्र माना जा रहा था और उसके व्यवहार को विश्व की स्थिति की वस्तुपरक यथार्थताओ के सन्दर्भ मे समझने का प्रयत्न किया गया था। यह मानकर चला गया था कि राज्यो के लक्ष्य और व्यवहार को भौगोलिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक और तकनीकी परिस्थितियो के आधार पर समझा

[20]रिचर्ड सी० स्नाइडर के अतिरिक्त जोसेफ फ्रैंकेल, लॉरेंस एडवर्ड कौसलो तथा कुछ अन्य लेखको ने भी निर्णय-निर्माण उपागम के सम्बन्ध मे कुछ प्रतिरूपो का निरूपण किया है, पर इनमे, स्नाइडर को छोड़ कर, फ्रैंकेल के प्रतिरूप ने ही कुछ ख्याति प्राप्त की है। फ्रैंकेल ने, स्नाइडर की तुलना मे, मनोवैज्ञानिक और सक्रियात्मक (operational) परिपार्श्वों को अधिक महत्त्व दिया है। उसके अनुसार, जबकि "मनोवैज्ञानिक" पर्यावरण सभाव्य निर्णयो की मर्यादाओ का निर्धारण करते हैं, सक्रियात्मक पर्यावरण सभाव्य प्रभावशाली कार्यों की मर्यादा निर्धारित करते हैं। मनोवैज्ञानिक परिपार्श्व मे फ्रैंकेल ने तीन प्रकार के परिवर्तियो को महत्त्वपूर्ण माना है। वे हैं—सूचना, बिम्ब और मूल्य। जोसेफ फ्रैंकेल, 'दि मेकिंग ऑफ फौरेन पोलिसी : एन एनालिसिस ऑफ डिसीशन-मेकिंग,' ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, लन्दन, 1963। माइकेल ब्रीचर ने फ्रैंकेल की आलोचना करते हुए लिखा है कि अपने सुझाये हुए दोनो परिपार्श्वों मे वह समायोजन स्थापित करने मे असफल रहा है, और सक्रियात्मक पर्यावरण की तुलना मे उसने मनोवैज्ञानिक पर्यावरण को अधिक महत्त्व दिया है। (ब्रीचर, स्टीनबर्ग और स्टीन, "ए फ्रेमवर्क ऑफ रिसर्च ऑन फौरेन पोलिसी बिहेवियर," दि जरनल ऑफ कौनफ्लिक्ट रिजॉल्यूशन,' खण्ड 13, स० 1, 1969, पृ० 75-101।) लौरेंस कौसलो ने, जिसने निर्णय-निर्माण उपागम का अपना अध्ययन मेक्सिको के सन्दर्भ में किया, परिपार्श्व को चार भागो मे बांटा है—(अ) आन्तरिक परिपार्श्व, (ब) बाह्य परिपार्श्व, (स) विदेश मन्त्रालय, और (द) निर्णय निर्माण प्रक्रिया। आन्तरिक परिपार्श्व मे ऐतिहासिक कारक, आर्थिक प्रभाव, और सास्कृतिक प्रभाव आते हैं। बाह्य परिपार्श्व मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, विदेश मन्त्रालय में मन्त्रालय का गठन, खेल के नियम, विदेश-नीति की प्रक्रिया, आदि, और निर्णय-निर्माण प्रक्रिया मे निर्णय की प्रवृत्ति, वे व्यक्ति जिनका निर्णय से सम्बन्ध है, निर्णय का अपेक्षित महत्त्व और समय और कार्य के दबाव (लौरेन्स एडवर्ड कौसलो, "मेक्सिकन फौरेन पोलिसी डिसीशन मेकिंग, दि म्यूच्यूएल एडजस्टमेन्ट ऑफ नीड्स एण्ड इन्फ्लेन्सेस," अप्रकाशित पी-एच० डी० प्रबन्ध कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, रिवरसाइड, 1969।)

जा सकता था और राज्य के व्यवहार पर इन सबका इतना अधिक प्रभाव मान लिया गया था कि वह अपने को उससे मुक्त करने की स्थिति में नहीं था। दूसरे शब्दों में किसी विशेष स्थिति में जो भौगोलिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक अथवा तकनीकी परिस्थितियाँ होती हैं वे मिल कर उन वस्तुपरक यथार्थताओं का एक समूह मानी जा सकती हैं जिनके सामने विदेश-नीति को बनाने वाले अधिकारी झुकने के लिए विवश हैं। इस दृष्टिकोण से राज्य के लक्ष्यों और राष्ट्रीय हितों को उन वस्तुपरक परिस्थितियों के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है जिसमें वह इतिहास के किसी विशेष युग में स्थित हो। किसी ने यह बताने का प्रयत्न नहीं किया था कि—ये सब कारक चाहे कितने भी वस्तुपरक क्यों न रहे हों—राज्य का व्यवहार वास्तव में निर्णय-निर्माताओं का व्यवहार है, और वह इस पर निर्भर रहता है कि निर्णय-निर्माता इन कारकों को किस रूप में देखते हैं। यह एक असन्दिग्ध तथ्य है कि राज्य का कार्य, अन्ततः अधिकारियों द्वारा किया जाने वाला कार्य है और अधिकारी उन परिस्थितियों के अन्तर्गत काम करते हैं जो उनकी दृष्टि में वस्तुपरक होती हैं। परम्परागत दृष्टिकोण की इन कमियों को देखते हुए स्नाइडर ने इस बात पर जोर दिया कि निर्णय-निर्माण की उन प्रक्रियाओं का, जो अधिकारियों द्वारा क्रियान्वित की जाती हैं, आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों के उस मिश्रित सन्दर्भ में, जिसमें वे उन्हें देखते हैं, अध्ययन किया जाना चाहिए। स्नाइडर ने, इस प्रकार, राज्य का तादात्म्य निर्णय-निर्माताओं के साथ स्थापित किया और अपना यह विश्वास प्रकट किया कि उन्हें एक आनुभविक घटना मानकर चलना चाहिए और विश्लेषणकर्ता के लिए यह सम्भव होना चाहिए कि वह उस अमूर्त संसार से, केवल जिसमें ही वह अब तक तल्लीन था, उतर कर नीचे आये और मनुष्यों की अन्तःक्रियाओं के विश्व को नजदीक से देखे।

निर्णय-निर्माण सिद्धान्त के प्रतिपादन में स्नाइडर के द्वारा दिये गये इन तर्कों को समझ लेने के बाद अब हम उसके आलोचकों के तर्कों को ले सकते हैं। ये तर्क दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—(1) वे जो न्यायसंगत हैं, और (2) वे जो उतने न्यायसंगत नहीं हैं। यह विचित्र बात है कि निर्णय-निर्माण सिद्धान्त के आलोचकों ने दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों को अपनाया है—कुछ ने तो इस सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर की है कि वह बहुत अधिक तर्कवादी (rational) है, और कुछ ने इस आधार पर कि वह तर्क-हीन कारकों को बहुत अधिक महत्त्व देता है। यह तो स्पष्ट है कि ये दोनों ही दृष्टिकोण एक साथ सही नहीं हो सकते। प्रथम वर्ग के आलोचकों के तर्क का आधार यह है कि स्नाइडर ने निर्णय-निर्माण के अपने सिद्धान्त की विवेचना में अनेक संवर्गों और उप-संवर्गों को गिनाया है। इस बात से जान पड़ता है कि वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि (1) निर्णय-निर्माता प्रत्येक संवर्ग के अन्तर्गत आने वाले प्रत्येक निर्णय की सभी सम्भावनाओं का गम्भीरता से अध्ययन करते हैं, (2) उनके आधार पर वे अनेक विकल्पों का निरूपण करते हैं, (3) प्रत्येक सम्भावित विकल्प पर गहराई के साथ विचार करते हैं, और तब (4) उनमें से एक का चयन करते हैं। स्नाइडर का कभी भी यह अर्थ नहीं था कि निर्णय-निर्माता बड़ी निष्ठा के साथ इन सभी प्रक्रियाओं में से गुजरते हैं। उसका

अर्थ तो केवल यही था कि अधिकारियों के पास (1) विभिन्न मूल्यों के तुलनात्मक महत्त्व के सम्बन्ध मे, ज्ञात अथवा अज्ञात, कोई धारणा होती है, (2) इन मूल्यों के प्राप्त करने के साधनों के सम्बन्ध मे, स्पष्ट अथवा अस्पष्ट, उनके अपने कुछ अनुमान होते हैं, (3) अपने साधनों को उन लक्ष्यों के साथ जिन्हे वे प्राप्त करना चाहते हैं संयोजित करने के लिए वे, व्यापक रूप मे अथवा सक्षेप मे, कुछ प्रयत्न करते हैं, और (4) अन्त मे उन्हे स्थिति का मुकाबला करने के लिए किसी न किसी विकल्प को चुनना पड़ता है, जो स्पष्ट भी हो सकता है और अस्पष्ट भी। जहां तक उन बहुत से सवर्गों और उप-सवर्गों का सम्बन्ध था जिनका उल्लेख स्नाइडर ने किया था, उनसे उसका अर्थ यह कभी नही था कि निर्णय-निर्माता उनमे से प्रत्येक पर पूरा ध्यान देने की स्थिति मे होते हैं। बहुत कुछ उनकी सूझ बूझ पर भी निर्भर रहता है। यदि उनकी राय मे आन्तरिक परिस्थितियों की तुलना में बाह्य परिस्थितियां अधिक महत्त्वपूर्ण होती है तो वे उन पर अधिक ध्यान देते है, अन्यथा आन्तरिक परिस्थितियो पर। स्नाइडर के कहने का अर्थ यह था कि निर्णय लेते समय उसके लिए बाहरी और आन्तरिक दोनों ही परिस्थितियों को ध्यान मे रखना आवश्यक होता है।

स्नाइडर के निर्णय-निर्माण सिद्धान्त के कुछ अन्य आलोचकों की शिकायत है कि यह सिद्धान्त शोधकर्ता से अपेक्षा करता है कि, स्वय मनोविज्ञान विश्लेषण मे अपरिपक्व होते हुए भी, वह उन व्यक्तित्व सम्बन्धी विशेषताओ, वैयक्तिक राग-द्वेषों, और अनियन्त्रित इच्छाओ की खोज मे निकल पड़े जो सम्भवत. अधिकारियों के व्यवहार को प्रेरित कर रहे हैं। स्पष्टतः यह एक अन्यायपूर्ण आलोचना है। स्नाइडर ने, इसके बिल्कुल विपरीत, यह बताने का प्रयत्न किया है कि विदेश-नीति के विश्लेषण मे नीति-निर्माता के व्यवहार के अधिकांश भाग को, बिना उसकी विलक्षणताओं पर ध्यान दिये, बिना इस बात की खोज किये कि उसका कॉलेज का जीवन कैसा था, अथवा अपनी पत्नी के साथ उसके वर्तमान सम्बन्ध कैसे हैं, अथवा उसकी व्यावसायिक महत्त्वाकांक्षाएं क्या है, समझा जा सकता है। स्नाइडर ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि जब विदेश-नीति के अध्येता, यदि वे विशिष्ट अन्तर्राष्ट्रीय पात्रों के व्यवहार को गहराई से समझना चाहते हैं, अभिप्रेरणात्मक (motivational) तत्त्वो की सर्वथा उपेक्षा नही कर सकते, परन्तु उनके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे उन सब अन्तर्निहित उद्देश्यो और प्रयोजनों की गहराई मे जाने का प्रयत्न करें जिनका प्रभाव निर्णय-निर्माता के व्यवहार पर पड़ सकता है। स्नाइडर ने बड़े स्पष्ट रूप से अभिप्रेरक तत्त्वो को दो भागो मे बांटा है—(1) वे जिन्हे कोई अधिकारी, निर्णय-निर्माण समूह के सदस्य और सहभागी होने के नाते, सहज रूप मे प्राप्त करता है, और (2) वे जिन्हे वह अपने बचपन और प्रौढ़त्व के दिनो मे अपने असख्य वैयक्तिक अनुभवो मे से विकसित करता है। पहले सवर्ग मे वे समकालीन परिस्थितियां आती है जिनके कारण साधारणतः निर्णय लिया जाता है (स्नाइडर ने उन्हे in order to उद्देश्यो का नाम दिया है)। दूसरे संवर्ग मे मनोवैज्ञानिक तत्त्व (because of उद्देश्य) आते है जो अभिप्रेरणाओ के मूल मे होते हैं। स्नाइडर की दृष्टि

में, यदि किसी निर्णय को प्रथम सवर्ग में आने वाले उद्देश्यों के प्रकाश में समझा जा सकता है तो दूसरे सवर्ग के तत्त्वों को जानने की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए। विदेश-नीति के वे ऐतिहासिक तत्त्व जो उसे युगों से प्रभावित करते आ रहे हैं, उस राजनीतिक दल के मूल्य जिसका नियन्त्रण विदेश विभाग पर है, और विदेशों में होने वाली घटनाओं और सरकार की वर्तमान प्रतिबद्धताओं और भावी योजनाओं के बीच सम्बन्ध तथा प्रशासनिक अधिकार में किसी अधिकारी की भूमिका कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण है। निर्णय-निर्माताओं की संगठनात्मक प्रक्रिया में अन्तर्निहित भूमिका, सन्धि की वे वाध्यताएं और परम्परागत मूल्य जिनसे वे बंधे हुए हैं, और उन लक्ष्यों में अन्तर्निहित है जिनकी दिशा में उन्हें नीतियों को मोड़ना है, यही अधिक प्रभावशाली तत्त्व हैं। दूसरे शब्दों में, निर्णय-निर्माताओं के कार्यों पर, वैयक्तिक अभिप्रेरणाओं की तुलना में, उनके राजनीतिक उद्देश्यों का अधिक प्रभाव पड़ता है।

निर्णय-निर्माण उपागम की आलोचना अन्य दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों से भी की गयी है—(1) इस दृष्टिकोण से कि वह वैदेशिक परिस्थितियों की तुलना में आन्तरिक स्थिति को अधिक महत्त्व देता है, और (2) इस दृष्टि से भी कि वह आन्तरिक स्थिति से अधिक प्रभावित होता है और वैदेशिक परिस्थितियों की अपेक्षा करता है। स्नाइडर का अपना झुकाव स्पष्टतः इस ओर है कि वह राज्य के कार्यों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण को बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है, परन्तु उसने इस बात की भी उपेक्षा नहीं की है कि उन पर देश के भीतर की घटनाओं और प्रवृत्तियों अथवा प्रशासन के विभिन्न विभागों की आन्तरिक प्रक्रियाओं का प्रभाव भी पड़ता है। यदि निर्णय-निर्माण पर वैदेशिक पर्यावरण का बहुत अधिक प्रभाव है तो शोधकर्ता के लिए उसका परीक्षण करना आवश्यक होता है, परन्तु इस वैदेशिक प्रभाव की निर्णय-निर्माण व्यवस्था पर वास्तव में क्या प्रतिक्रिया होती है, उसे इस बात को भी अपने ध्यान में रखना पड़ता है, और संचारण व संगठन की प्रक्रियाओं के माध्यम से इस प्रतिक्रिया की सूचना किस प्रकार व्यवस्था तक पहुंचायी जाती है, इसका अध्ययन भी उसके लिए आवश्यक है। यदि कोई शोधकर्ता अपनी शोध में आन्तरिक अथवा वैदेशिक में से किसी एक पर अधिक जोर देता है, जबकि ऐसा करना वांछनीय नहीं है, तो यह उसका अपना दोष है न कि निर्णय-निर्माण उपागम का।

निर्णय-निर्माण उपागम की एक अधिक ठोस आलोचना तो यह हो सकती है कि वह किसी विश्वासप्रद सिद्धान्त (theory) का विकास करने में असफल रहा है। स्नाइडर ने सवर्गों और उप-सवर्गों की एक लम्बी सूची तो प्रस्तुत की है, परन्तु उन्हें एक समग्र रूप देने में असफल रहा है, जो तभी सम्भव हो सकता था जब वह किसी सिद्धान्त का निर्माण कर पाता। वह यह बताने में सफल नहीं हो सका है कि निर्णय-निर्माण के विभिन्न स्रोतों की तुलनात्मक सामर्थ्य क्या है, आन्तरिक, बाह्य और संगठनात्मक परिस्थितियां किस प्रकार बदलती जाती हैं, अथवा इन विभिन्न पर्यावरणों का अन्तः सम्बन्ध क्या है। रोजेनो के शब्दों में, "उसने ऐसे अन्धेरे क्षेत्रों पर प्रकाश डाला है जिनके सम्बन्ध में अब तक खोज नहीं की गयी थी, परन्तु वह स्पष्ट रूप से यह नहीं बता

सकता है कि इस खोज के उपकरण क्या है। वह हमारा ध्यान नये अभ्युपगमों और सकल्पनाओ की ओर आकर्षित करता है, परन्तु यह नही बताता कि कब, कहा और कैसे उन पर काम किया जा सकता है। उसने उन समस्याओ का सुझाव दिया है, जिन पर लाभप्रद शोध की जा सकती है, परन्तु इस सम्बन्ध मे वह कोई ठोस सकेत नही दे पाया है कि शोधकर्ता किस प्रकार अपने काम को आगे बढा सकता है।"[21] स्नाइडर के गवर्ग एक दूसरे से असम्बद्ध दिखायी देते हैं। वह यह तो स्पष्ट कर देता है कि एक सगठनात्मक सन्दर्भ मे, अधिकारियो के परिप्रेक्ष्य से उद्देश्यो के आन्तरिक और बाह्य दोनो स्रोतो को समझना कितना आवश्यक है, परन्तु यह नही बता पाता कि उन्हे प्रेरणा कहा से मिलती है। वह यह मान लेता है, बडी आशावादिता के साथ, कि वैदेशिक नीति सम्बन्धी अध्ययन अब एक परिपक्व अवस्था मे पहुच गया है और अधिक परिपक्व होता जा रहा है, परन्तु यदि यह बात सही है तो यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि हाल के वर्षों मे भी जब वैदेशिक नीति सम्बन्धी अध्ययनो ने और भी अधिक परिपक्वता प्राप्त कर ली है, सिद्धान्त निर्माण की दिशा मे अब तक कोई गम्भीर प्रयत्न क्यो नही किया गया है।

निर्णय-निर्माण उपागम की इन सब कमियों को स्वीकार करते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और विदेश-नीति के अध्ययनो मे हम स्नाइडर के योगदान को उपेक्षा की दृष्टि से नही देख सकते। स्नाइडर के प्रयत्नो से ही यह सम्भव हो गया है कि जबकि पहले हम यह मान कर चलते थे कि राज्यो का अपना कोई अमूर्त अस्तित्व है, और वस्तुपरक यथार्थता को समझने के लिए किसी एक विशेष कारण की खोज किया करते थे। अब हमारा ध्यान प्रमुखत मानवी पात्रो पर केन्द्रित रहता है। इसके अतिरिक्त निर्णय-निर्माण उपागम से सम्बन्ध रखने वाली शब्दावली को, जिसकी रचना स्नाइडर और उसके साथियो ने की, अब विदेशी-नीति के क्षेत्र मे ही नही परन्तु सभी राजनीतिक प्रक्रियाओ के क्षेत्र मे व्यापक रूप मे स्वीकार कर लिया गया है। रोज़ेनो ने ठीक ही लिखा है कि निर्णय-निर्माण उपागम को अब विदेश-नीति के विश्लेपण के व्यवहार मे सम्मिलित कर लिया गया है। वह लिखता है, "जिन प्रवृत्तियो को इसने चुनौती दी थी उन्हे अब अधिकाश रूप मे त्याग दिया गया है और जिन नयी बातों का इसने सुझाव दिया था उन्हे नीति-निर्माताओ की व्यावहारिक मान्यताओ मे इतना अधिक आत्मसात् कर लिया गया है कि उन्हे विस्तार से समझाना अथवा उन मूल स्रोतों का उल्लेख करना जहा से उन्हे प्राप्त किया गया था, अब आवश्यक नही रह गया है।"[22] शोधकर्ता अब

[21]जेम्स एन० रोज़ेनो, 'दि प्रेमिज़ेज एण्ड प्रौमिज़ेज ऑफ डिसीजन-मेकिंग एनालिसिस,' जेम्स सी० चार्ल्सवर्थ, पी० उ०, पृ० 208। कुछ वर्षों के बाद शायद अपनी इस प्रकार की आलोचना के प्रत्युत्तर के रूप मे, स्नाइडर ने 56 ऐसी योजनाए प्रस्तुत की जिन पर निर्णय-निर्माण सिद्धान्त की सहायता से शोध की जा सकती थी, पर इनमे भी हम सैद्धान्तिक निरूपण कम पाते हैं, शोध की प्रविधियों पर चर्चा अधिक। देखिए जेम्स ए० रौबिसन, 'नेशनल एण्ड इन्टर्नेशनल डिसीजन-मेकिंग : ए रिपोर्ट टू दि कमेटी ऑन रिसर्च ऑन पीस,' न्यूयार्क, इन्स्टीट्यूट फॉर इन्टर्नेशनल ऑर्डर, 1961।

[22]जेम्स एन० रोज़ेनो, पी० उ०, पृ० 211।

इस स्थिति में हैं कि वे अन्तर्राष्ट्रीय पात्रों के व्यवहार के सम्बन्ध में कुछ प्राक्कल्पना का निरूपण और परीक्षण कर सकें। वे इस स्थिति में भी हैं कि यदि चाहें तो, अपनी इन शोधों में अनुरूपण (simulation) की तकनीक का प्रयोग कर सकते हैं और खेल सिद्धान्त (game theory) के तर्क को भी अपना सकते हैं। पर, इस सिद्धान्त की इन सब उपलब्धियों के होते हुए भी, इस वस्तुस्थिति से भी हम इनकार नहीं कर सकते कि आनुभविक शोध के क्षेत्र में इस उपागम का गम्भीर प्रयोग अब तक केवल उसी शोध-परियोजना तक सीमित रहा है जिसे स्नाइडर ने अपने कुछ साथियों की सहायता से पूरा किया था।

निर्णय-निर्माण उपागम के सम्बन्ध में एक अन्य आलोचना, जो सम्प्रेषण प्रतिरूप के सम्बन्ध में भी सही मानी जा सकती है, यह है कि उसमें निर्णयों के परिणामों से अधिक महत्त्व उस तक पहुंचने की प्रक्रियाओं को दिया गया है। रॉबिन्सन और माजक ने निर्णय-निर्माण अध्ययनों के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्वों में से एक यह बताया है कि उसका विस्तार प्रक्रिया और परिणाम के आपसी सम्बन्धों के अध्ययन से किया जाय। अब तक निर्णय विश्लेषण का सम्बन्ध अधिकतर 'प्रक्रिया के भीतर' की बातों से रहा है, प्रक्रिया और परिणाम के आपसी सम्बन्ध से उतना नहीं। इसका कारण शायद यह रहा है कि आधुनिक समाज और राजनीतिक व्यवस्थाओं में निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया स्वयं अधिक से अधिक जटिल होती जा रही है, क्योंकि निर्णय-निर्माण का अधिकार केवल विभिन्न स्तरों—स्थानीय, राज्य सम्बन्धी और संघात्मक पर और प्रशासन की विभिन्न शाखाओं, संस्थाओं और संगठनों में विकेन्द्रित हो गया है, परन्तु एक ओर तो लोक-सेवाएं बहुत अधिक बढ़ गयी हैं और दूसरी ओर सम्प्रेषण और प्रभाव के चैनल प्रशासन के बाहर के असंख्य व्यक्तियों और समूहों तक फैल गये हैं, जिनका निर्णय-निर्माण पर कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता ही है।[23] फ्रैंकेल के शब्दों में, "हमारे चारों ओर निर्णय-निर्माण प्रक्रिया का जाल इतना अधिक फैल गया है कि जो लोग महत्त्वपूर्ण निर्णय लेते हैं वे दिखायी नहीं देते हैं और, अदृश्य रहने के कारण, वे स्वयं नहीं जानते कि वे निर्णय उनके द्वारा लिए जा रहे हैं। इसका परिणाम असंख्य अनुभागित और उत्तरदायी व्यक्तियों के द्वारा लिये गये निर्णयों और कार्यों से उत्पन्न होने वाली एक सगठित उत्तरदायित्व-हीनता में दिखायी देता है . . . ।"[24] इन प्रवृत्तियों के कारण निर्णय प्रक्रियाओं के सूत्रों को खोज निकालने का काम अत्यधिक कठिन हो गया है और स्वभावतः निर्णय-निर्माण के एक व्यापक सिद्धान्त के विकास में कठिनाइयां आयी हैं। निर्णय-निर्माण 'सिद्धान्त' की आज की स्थिति के सम्बन्ध में, निष्कर्ष के रूप में, हम यही कह सकते हैं कि यह संकल्पों का ऐसा आयतन है जो परिस्थितियों के सम्बन्धों की विशिष्टता को बताने वाले वक्तव्यों से निर्मित एक 'उपागम' अथवा 'संकल्पनात्मक

[23]जेम्स ए० रौबिन्सन और आर० रोजर माजक, 'दि थियरी ऑफ डिसीजन-मेकिंग,' जेम्स सी० चार्ल्सवर्थ, पी० उ०, पृ० 187।

[24]चार्ल्स फ्रैंकेल, 'दि डेमोक्रेटिक प्रौसपेक्ट,' न्यूयार्क हार्पर एण्ड रो, 1962।

योजना' है, परन्तु उसे 'सिद्धान्त' का नाम नहीं दिया जा सकता। वास्तव में, निर्णय-निर्माण उपागम के आधार पर यदि किसी सिद्धान्त के निर्माण का कठिन काम हाथ में नहीं लिया जा सका है तो उसका प्रमुख कारण निर्णय-निर्माण के अध्ययन की व्यापकता, और समाज के अनेक भागों से सम्बन्धित बौद्धिक, सामाजिक और अनेक अन्य प्रक्रियाओं के अन्त सम्बन्धों की जटिलता है।

खेल सिद्धान्त

एक दूसरा सिद्धान्त, उपागम अथवा सकल्पनात्मक सयोजना—उसे किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है, यद्यपि उसके लिए सिद्धान्त शब्द अधिक प्रचलित है—जिसका प्रभाव आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों में अधिक वैज्ञानिक होने का दावा रखने वालों पर सबसे अधिक है, खेल-सिद्धान्त अथवा खेलों का सिद्धान्त है।[25] इसकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है कि "यह सघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता की स्थितियों में, जिसमें प्रत्येक सहभागी अथवा खिलाड़ी अधिक से अधिक लाभों और कम से कम हानियों की खोजों में लगा हुआ है, तर्कसगत निर्णयों की व्यूहरचना से सम्बन्ध रखने वाले विचारों का एक आकलन है। खेल सिद्धान्त का आधार राजनीतिक अध्ययनों में गणितीय प्रतिरूपों के प्रयोग पर है। इसका प्रारम्भ 1920 के दशक में एमिल बोरेल के द्वारा किया गया था और उस समय उसे एक रोचक बौद्धिक व्यायाम से अधिक नहीं माना गया था, परन्तु बाद में जॉन वॉन न्यूमान नाम के एक गणितज्ञ ने इसका विकास आर्थिक व्यक्ति अथवा 'तर्कमूलक' (rational) पात्र के व्यवहार की व्याख्या करने की शास्त्रीय समस्या से जूझने के एक प्रयत्न के रूप में किया। परन्तु उसकी लोकप्रियता तभी बढ़ी जब जॉन वॉन न्यूमान ने अर्थशास्त्री ओस्कर मोर्गेनस्टर्न के सहयोग से, 1944 में, "थियरी ऑफ गेम्स एण्ड इकॉनॉमिक बिहेवियर" नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की।[26] राजनीति-विज्ञान में इस प्रतिरूप के प्रवेश और कुछ सीमा तक उसके प्रयोग का श्रेय आर० डकन लूस और हॉवर्ड राइफा[27], मार्टिन शूबिक[28] और अनातोल रैपोपोर्ट[29]

[25]जैक सी० प्लैनो और रोबर्ट ई० रिग्स, 'डिक्शनरी ऑफ पोलिटिकल एनालिसिस,' हिन्सडेल, इलीनोय, दि ड्राइडन प्रेस, इन्क० 1973, पृ० 33।

[26]जॉन वॉन न्यूमान और ओस्कर मोर्गेनस्टर्न, 'थियरी ऑफ गेम्स एण्ड इकॉनॉमिक बिहेवियर,' प्रिंसटन, एन० जे०, प्रिंसटन विश्वविद्यालय प्रेस, 1944।

[27]आर० डकन लूस और हॉवर्ड राइफा, 'गेम्स एण्ड डिसीजन्स इन्ट्रोडक्शन एण्ड क्रिटिकल सर्वे,' जॉन वाइली एण्ड सन्स, इन्क०, 1957।

[28]मार्टिन शूबिक द्वारा सम्पादित, 'गेम थियरी एण्ड रिलेटेड एप्रोचेज टू सोशल बिहेवियर,' न्यूयार्क, जॉन वाइली एण्ड सन्स, इन्क०, 1964।

[29]अनातोल रैपोपोर्ट, 'टू पर्सन गेम थियरी : दि एसेन्शल आइडियाज,' एन आर्बर, मिशीगन विश्वविद्यालय प्रेस, 1966; 'फाइट्स गेम्स एण्ड डिबेट्स,' एन आर्बर, मिशीगन विश्वविद्यालय प्रेस, 1960, 'स्ट्रैटेजी एण्ड कौंशेन्स,' न्यूयार्क, हार्पर एण्ड रो, 1964।

को दिया जा सकता है। इस सिद्धान्त का अधिकतर प्रयोग राष्ट्र-समूहों के व्यवहार, न्यायिक व्यवहार और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की संघर्ष स्थितियों में अधिक किया गया है, और इन क्षेत्रों में उसके प्रमुख प्रतिपादक मॉर्टन ए० कैप्लन[30], विलियम एच० राइकर[31] और टॉमस सी० शैलिंग[32] हैं।

खेल सिद्धान्त का प्रारम्भ शतरंज, ब्रिज, पोकर अथवा ब्रिज जैसे कमरे के भीतर खेले जाने वाले ऐसे खेलों से हुआ जो दो या अधिक खिलाड़ियों के बीच खेले जाते हैं, और जिनमें संघर्ष, निर्णय-निर्माण और सहयोग के तत्त्व अत्यन्त महत्त्व के हैं, और जहाँ प्रत्येक खिलाड़ी का निर्णय अन्य खिलाड़ियों के निर्णयों पर निर्भर रहता है, और इन सब विशेषताओं के कारण, जिनका केन्द्र-बिन्दु खेल में भाग लेने वाले विभिन्न खिलाड़ियों की पारस्परिक निर्भरता है। इस प्रकार की स्थिति में, जहाँ प्रत्येक खिलाड़ी खेल के "जीतने" में रुचि रखता है, और दो अथवा अधिक खिलाड़ियों को निर्णय लेने होते हैं, और इन निर्णयों में से किसी एक के चयन के लिए अधिमान्यताओं का विकास करना पड़ता है, यह आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक को दूसरे के लिए उपलब्ध विकल्पों और उसकी अधिमान्यताओं का कुछ ज्ञान हो। इस प्रकार के खेलों की विशेषता यह है कि इसमें किसी एक खिलाड़ी के लिए स्वयं किसी निर्णय को चुन लेना सम्भव नहीं है : जो भी निर्णय वह लेता है वह अविच्छिन्न रूप से दूसरे खिलाड़ियों के द्वारा लिये जाने वाले निर्णय, अथवा निर्णयों, पर निर्भर होता है।

इस प्रकार के खेलों को खेलने के लिए कम से कम दो खिलाड़ियों की आवश्यकता होती है, परन्तु यह संख्या दो से अधिक भी हो सकती है। प्रत्येक खिलाड़ी दूसरे खिलाड़ियों के दृष्टिकोणों को ध्यान में रख कर ही अपना निर्णय बना सकता है। इसका यह अर्थ हुआ कि उसे इस बात का प्रयत्न करना पड़ता है कि वह दूसरे व्यक्ति के दृष्टिकोण से समस्या को देखने का प्रयत्न करे, जिसके बिना वह अपने लिए किसी प्रकार का निर्णय लेने की स्थिति में ही नहीं होता। प्रत्येक खिलाड़ी को अपना निर्णय दूसरे खिलाड़ियों के द्वारा लिये जाने वाले निर्णयों की अपेक्षाओं के आधार पर बनाना होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस खेल में व्यावहारिकता का महत्त्व और बौद्धिक चुनौती दोनों का योग है। प्रत्येक खिलाड़ी के लिए निश्चित व्यवहार का पालन करना इस प्रकार के खेल का एक अनिवार्य अंग बन जाता है। खिलाड़ियों के द्वारा लिये गये निर्णयों की संगति केवल उसी के साथ होना आवश्यक नहीं है जो निर्णय के सम्बन्ध में उसकी अपनी अपेक्षा है, परन्तु उसके साथ भी जो उसके सम्बन्ध में दूसरों की अपेक्षा है। खेल सिद्धान्त की व्याख्या, इस प्रकार, इन शब्दों में की जा सकती है कि

[30]मोर्टन ए० कैप्लन, 'सिस्टम एण्ड प्रोसेस इन इण्टरनेशनल पोलिटिक्स,' न्यूयार्क, जॉन वाइली एण्ड सन्स, इन्क०, 1957।

[31]विलियम एच० राइकर, 'दि थियरी ऑफ पोलिटिकल कोलीशन्स,' येल विश्वविद्यालय प्रेस, 1962।

[32]टॉमस सी० शैलिंग 'दि स्ट्रेटेजी ऑफ कॉन्फ्लिक्ट,' कैम्ब्रिज, मैस०, हार्वर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 'आर्म्स एण्ड इन्फ्लुएन्स,' न्यू हेवन, येल विश्वविद्यालय प्रेस, 1966।

"वह खिलाडियो की एक दूसरे के निर्णयों के सम्बन्ध मे तर्क-सगत और व्यवहार-सम्मत अपेक्षाओ का औपचारिक अध्ययन" है।[33] सघर्ष और सहयोग की सम्भावनाओ की स्थितियों में सोच समझ कर लिये गये निर्णयो के कुछ पक्षो के अध्ययन के लिए यह एक गणितीय प्रतिरूप है और, शूबिक के शब्दों मे, "इसका सम्बन्ध उन प्रक्रियाओ से है जिनमे पर्यावरण पर प्रभाव डालने वाले कूटनीतिक कारको पर वैयक्तिक निर्णय का केवल आशिक नियन्त्रण ही सम्भव है।"[34] ऐसी सभी स्थितियो मे जहा दूसरो से सम्बन्धित निर्णयो का लेना आवश्यक होता है—युद्ध मे सलग्न सेनापति, कूटनीतिक वार्ताओ मे लगे राजनयिक, मतदाताओ को प्रभावित करने मे प्रयत्नशील राजनीतिज्ञ, समूहो अथवा गुटो को सगठित करने के प्रयत्न मे लगे हुए विधान सभा के सदस्य, सभी के लिए खेल सिद्धान्त की उपयोगिता है। कमरे मे खेले जाने वाले उन खेलो मे जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है और सामाजिक विज्ञानों मे प्रयोग मे लाये जाने वाले खेल सिद्धान्त मे सादृश्य यह है कि दोनों मे ही खेल की प्राय. अपनी एक स्पष्ट व्याख्या होती है, उसकी अपनी सुस्पष्ट और कौशलपूर्ण नियमावली होती है, खिलाडियो के लिए उपलब्ध सूचना को प्रत्येक अवसर पर स्पष्ट किया जाता है, और खेल मे प्राप्त अको को लिपिबद्ध करने की प्रक्रिया भी पूर्ण रूप मे पायी जाती है।

व्यवहारपरक राजनीति-विज्ञान के अन्य उपागमो अथवा सिद्धान्तो के समान खेल सिद्धान्त को भी समझना सरल हो जाता है, यदि उससे सम्बन्ध रखने वाली सकल्पनाओ के अर्थ को हम स्पष्ट रूप मे समझ लें। इसमे पहली सकल्पना खिलाडियो अथवा निर्णय-निर्माताओ की है। वे व्यक्ति भी हो सकते हैं और सस्थाए भी। प्रत्येक खिलाडी को एक तर्क-मूलक इकाई माना गया है जिसके अपने सुस्पष्ट उद्देश्य होते हैं और जिसके पास काम मे लाने के लिए साधनो का एक आकलन है, जिसकी सहायता से वह उन शक्तियो का मुकाबला करने, और उन्हे परास्त करने, का प्रयत्न करता है जिनके साथ उसके प्रतिद्वन्द्विता अथवा सघर्ष के सम्बन्ध है। खेल के नियम स्पष्ट रूप से यह व्याख्या कर देते है कि इन साधनो को किस प्रकार से काम मे लाया जा सकता है। साधारण खेलो के नियमो और खेल सिद्धान्त मे काम मे लाये गये नियमो मे एक अन्तर यह है कि जब कि साधारण खेलो के नियम खेले जाने वाले खेल के सम्बन्ध मे परम्परागत, अथवा मौखिक, रूप से निश्चित किये गये कुछ स्वीकृत सिद्धान्तो की व्याख्या करते हैं, खेल सिद्धान्त के नियमो का निर्माण वे लोग करते है जिनके पास उन्हे प्रयोग मे लाने की 'पर्याप्त शक्ति' है और इस कारण इसमे, निर्धारित नियमो की तुलना, मे इस बात पर अधिक ध्यान दिया जाता है कि किस 'खिलाडी' के पास खेल को जीतने के लिए कितने शक्तिशाली साधन है। इसमे 'खेल के नियम' की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि खिलाडियो के बीच साधनो का बटवारा किस प्रकार का है और इन साधनो को काम मे लाने के लिए किसके पास कितनी कूटनीतिक सभावनाए हैं। नियमो की व्याख्या, इस प्रकार, उन

[33] टो० सी० शेलिंग, 'व्हाट इज गेम थियरी,' जेम्स सी० चार्ल्सवर्थ, पी० उ०, पृ० 213।
[34] मार्टिन शूबिक, 'दि यूजेज ऑफ गेम थियरी,' जेम्स सी० चार्ल्सवर्थ, पी० उ०, पृ० 240।

साधनों के सन्दर्भ में की जाती है जिन्हें खिलाड़ी प्रयोग में लाने के लिए प्रस्तुत हैं। उदाहरण के लिए, यदि आणविक शस्त्र रखने वाले देशों के बीच यह एक मूक सहमति है कि वे उसका प्रयोग नहीं करेंगे तो उन्हें 'अन्तर्राष्ट्रीय खेल' के 'नियमों' का एक भाग नहीं माना जायेगा। परन्तु, यदि उन्हें प्रयोग में लाने की धमकी का सामना करना हो, जैसी स्थिति 1962 में क्यूबा के मामले में थी, जबकि रूस द्वारा क्यूबा को भेजे गये आणविक अस्त्र आणविक शक्तियों के एक विश्वव्यापी सन्तुलन को कमजोर देने की धमकी दे रहे थे, तो इस धमकी को 'नियमों' को बदलने के प्रयत्न के रूप में लिया जा सकता था और उस स्थिति में प्रतिघात करना आवश्यक हो गया था, जैसा कि कैनेडी ने अमरीकी नौ सेना को क्यूबा द्वीप को चारों ओर से घेर लेने के अपने आदेश के द्वारा किया।

भविष्य में उठ खड़ी होने वाली किसी काल्पनिक स्थिति के यथार्थ रूप लेने में वे क्या करेंगे, इस सम्बन्ध में खेल सिद्धान्त में, खिलाड़ियों को विभिन्न निर्णयों में से किसी एक का चयन पहले से कर लेना होता है। भविष्य सम्बन्धी इन स्थितियों को खेल के परिणामों (*outcomes*) का नाम दिया गया है। परिणाम का अर्थ प्रायः उस सम्बन्ध से होता है जो खिलाड़ियों और खेल में प्राप्त होने वाले पुरस्कार, अथवा अभीप्सित उद्देश्य, की प्राप्ति के बीच होता है। शतरंज के खेलों में तो केवल तीन ही "परिणाम" सम्भव हैं—जीत, हार और बराबरी, परन्तु, दूसरे खेलों में परिणामों की संख्या बहुत अधिक हो सकती है। सभी सम्भावित परिणामों को "सम्भावनाओं" (prospects) का नाम दिया गया है। शतरंज, ब्रिज अथवा पोकर जैसे मनुष्य द्वारा आविष्कृत खेलों में खेल का आविष्कारक प्रायः सम्भावनाओं की एक बहुत सीमित शृंखला बताता है, जो संख्या और सम्भाव्य मिश्रणों, दोनों ही की दृष्टि से मर्यादित होती है, परन्तु वास्तविक जीवन में इन मर्यादाओं को ध्यान में रखना सम्भव नहीं हो पाता। प्रत्येक खिलाड़ी के लिए खेल से विशिष्ट अपेक्षा, अथवा उससे प्राप्त होने वाले पुरस्कार के सम्बन्ध में उसकी अपनी कल्पना होती है। खेल सिद्धान्त में इसे पे ऑफ (pay off) का नाम दिया गया है। शतरंज में सबसे बड़ा 'पे ऑफ' बाजी को जीतना है, यद्यपि कभी-कभी जीतने का अर्थ एक बड़ी धनराशि अथवा स्थानीय अथवा राष्ट्रीय चैम्पियनशिप को प्राप्त करना भी होता है। बाजी का बराबर रहना दूसरी श्रेणी का सबसे अच्छा 'पे ऑफ' माना जायेगा, और हारना तीसरी श्रेणी का। खेल सिद्धान्त में खिलाड़ी उन कूटनीतियों को हृदयगम करने का प्रयत्न करता है जिन्हें अपनाकर कोई भी खिलाड़ी अपने 'पे ऑफ' की मात्रा को अधिक से अधिक बढ़ा सकता है, अथवा खेल के परिणामों के सम्बन्ध में उसकी जो पहली अधिमान्यता रही हो उसके नजदीक से नजदीक आ सकता है।

व्यूहरचना (*strategy*) खेल सिद्धान्त की केन्द्रीय संकल्पना है। (यह जानते हुए भी कि सर्वथा विवेक-युक्त निर्णय-निर्माता, अथवा खिलाड़ी, केवल एक सैद्धान्तिक संरचना अथवा एक कृत्रिम प्राणी है) खेल सिद्धान्त में यह मान कर चला जाता है कि खिलाड़ियों के व्यवहार सर्वथा विवेक-संगत होंगे, और यह भी कि प्रत्येक खिलाड़ी न केवल पूर्ण रूप से विवेकशील है परन्तु अपने उद्देश्यों की प्राथमिकताओं को भी पूर्ण रूप से समझता है,

'पे ऑफ' की खोज में किन साधनों को वह प्रयोग में ला सकता है, इसकी उसे सम्पूर्ण जानकारी है, और वह, अनिवार्य रूप से, 'पे ऑफ' की अपनी कल्पना और अधिमान्यताओं के अपने मापदण्ड के अनुसार, उसे अधिक से अधिक मात्रा में प्राप्त करने के प्रयत्नों में लगा हुआ है। रैल्फ एम० गोल्डमैन के शब्दों में "उसके पास, परिस्थितियां चाहे कितनी विरोधी और संघर्षमयी क्यों न हों, अभीप्सित परिणाम, अथवा परिणामों, को प्राप्त करने के लिए आवश्यक रूप से किये जाने वाले कार्यों की एक सम्पूर्ण योजना है," जिस के साथ "वे सब आवश्यक उपयोजनाएं भी मौजूद हैं जिन्हें खिलाड़ी अपनी-अपनी चाल के रूप में प्रयोग में लायेगा।"[35] संक्षेप में, खेल सिद्धान्त की मान्यता है कि, तर्कमूलक *होने के कारण, खिलाड़ी एक ऐसी व्यूहरचना का निर्माण कर सकता है जिसमें सभी* सम्भव परिस्थितियों का मुकाबला करने की क्षमता हो—इस प्रकार की स्थिति वास्तविक जीवन में चाहे कितनी ही असम्भव क्यों न हो। शतरंज जैसे खेल में भी जहां केवल तीन ही प्रकार के परिणाम निकल सकते हैं, असंख्य सम्भावनाओं को ध्यान में रखना पड़ता है, और लाखों अलग-अलग तरीकों से उसे खेला जा सकता है। पोकर के सम्बन्ध में, जो शतरंज का एक कम जटिल रूप है, कहा गया है कि "यदि खिलाड़ी 10% से कम गलती की सम्भावना वाली सर्वश्रेष्ठ चाल के सम्बन्ध में एक सर्वश्रेष्ठ युक्ति का पता लगाना चाहे तो उनमें से प्रत्येक खिलाड़ी के लिए लगभग दो अरब बार गुणा करना और जोड़ करना आवश्यक होगा।"[36] व्यूह-निर्माण की संकल्पना के अतिरिक्त और भी *अनेक सम्बद्ध संकल्पनाएं हैं, जैसे न्यूनतम-अधिकतम (mini-max strategy) युक्ति* की संकल्पना, जिसमें, यह मानते हुए भी कि प्रत्येक खिलाड़ी के पास सम्भाव्य व्यूह-रचनाओं की एक सीमित संख्या है, अपेक्षा की जाती है कि खिलाड़ी कम से कम खतरा उठा कर अधिक से अधिक सफलता प्राप्त कर सके। इसके अतिरिक्त 'सैडल पॉइन्ट' (saddle point) की संकल्पना है जिसमें दोनों प्रतिद्वन्द्वी, व्यक्ति अथवा समूह, अन्त में बराबर-बराबर मात्रा में सफलता प्राप्त करते हैं।

खेल सिद्धान्त एक प्रकार का नहीं है, उसके अनेक प्रकार हैं। इसमें एक पद्धति वह है जिसमें केवल दो खिलाड़ी होते हैं, और एक को ठीक उतना ही लाभ मिलता है जितनी दूसरे की हानि होती है, और दोनों खिलाड़ियों के परिणामों का योगफल शून्य होता है। यह 'ज़ीरो-सम टू-पर्सन्स गेम' (zero-sum two-persons game) कहलाता है। दूसरी व तीसरी पद्धतियां वे हैं जिनमें प्रतिद्वन्द्वियों की संख्या दो या दो से अधिक होती है, *खिलाड़ी पुरस्कार का, किसी न किसी प्रकार से, आपस में बटवारा कर लेते हैं,* और यह आवश्यक नहीं होता कि एक का लाभ दूसरे की हानि के ठीक बराबर ही हो। इन्हें क्रमश: 'नॉन-ज़ीरो-सम टू-पर्सन्स गेम' (non-zero-sum two-persons game) और *'ज़ीरो-सम एन पर्सन्स गेम' (zero-sum n-persons game)* का नाम दिया गया

[35] रैल्फ एम० गोल्डमैन, 'कॉन्टेम्परेरी प्रौस्पेक्ट्स इन पोलिटिक्स,' न्यूयार्क वॉन नोस्ट्राण्ड रैन्होल्ड कं०, 1972, पृ० 337।

[36] ह्यू स जे० मोर्गन्थो, "दि थियरी ऑफ गेम," 'साइंटिफिक अमेरिकन,' सं० 180, मई 1949।

है। इसके अतिरिक्त 'नॉन-जीरो-सम एन-पर्सन्स गेम' (non-zero-sum n-persons game) भी होते हैं, जिनमें तीन या तीन से अधिक खिलाड़ी भाग लेते हैं। इस पद्धति के अन्तर्गत खेल की स्थिति में अनेक नयी विशेषताओं का समावेश कर लिया जाता है, और दो अथवा अधिक खिलाड़ियों के लिए यह सम्भव हो पाता है कि वे अपने साधनों को एकत्र करके, और सामूहिक रूप से अपने निर्णय लेते हुए, अन्य खिलाड़ियों के विरुद्ध अपना एक संगठन बना लें। खेल के दौरान भी कई बार *खिलाड़ी अपने-अपने अलग गुट* बना लेते हैं, जिसके परिणामस्वरूप प्रतिद्वन्द्वियों की संख्या कम हो जाती है। खेल सिद्धान्त में इसे खिलाड़ियों की एक टोली बना कर (by ganging up) उस खिलाड़ी पर धावा बोल देने का नाम दिया गया है जिसके *जीतने की सम्भावना* सबसे अधिक हो, और इस प्रकार उसकी विजय की सम्भावना को कम किया जा सके। यदि किसी गुट को सहायता की आवश्यकता हो तो वह दूसरे खिलाड़ियों में से एक अथवा अधिक के साथ सौदेबाजी भी कर सकता है, चाहे उसके लिए उस खिलाड़ी, अथवा अन्य खिलाड़ियों, को जिसकी/जिनकी सहायता से उसकी जीत निश्चित हो जाती है कितनी ही कीमत क्यों न देनी पड़े। गुट के किसी सदस्य के लिए यह भी सम्भव है कि वह सभी अन्य खिलाड़ियों के साथ सौदा कर ले और इस प्रकार जीतने की अपनी सम्भावना को और भी अधिक निश्चित बना ले। इस तरह की गुटबन्दी को 'खेल के भीतर खेल' (game-within-a game) का नाम दिया गया है, और इसमें *खिलाड़ी समझौतों* को कार्यान्वित करने और इस उद्देश्य से कि प्रतिपक्ष के खिलाड़ियों द्वारा ऊंची कीमत देने के वायदों के आधार पर उनके अपने पक्ष में ऐसे खिलाड़ियों को, जिन्हें अधिक लाभ की आशा न हो, तोड़ा न जा सके,[37] नियमों का कड़ाई के साथ पालन करते हैं, अथवा अपने साधनों का पूरा उपयोग करते हैं। इस प्रकार का खेल प्राय: जनतान्त्रिक व्यवस्थाओं में, चाहे वे अध्यक्षात्मक हों अथवा संसदात्मक, बहुमत की सरकारों को बनाने में देखा जाता है। जो व्यक्ति अध्यक्ष पद के लिए उम्मीदवार है वह ऐसे व्यक्ति को उपाध्यक्ष बनाने का आश्वासन दे सकता है जिसकी सहायता से अध्यक्ष बनने की उसकी सम्भावना और अधिक मजबूत हो सके, अथवा किसी राजनीतिक दल का कोई नेता अपने दल के अन्य नेताओं के साथ, अथवा दूसरे राजनीतिक दलों के सदस्यों के साथ, समझौता कर ले और, इस दृष्टि से कि विधान सभा में उसे सम्पूर्ण बहुमत प्राप्त हो सके, उन्हें मन्त्रिमण्डल अथवा मन्त्रिपरिषद में स्थान देने का आश्वासन दे।

खेल सिद्धान्त को प्रयोग में लाते समय *हमें उसके दो भागों में स्पष्ट अन्तर करना होगा।* पहला भाग औपचारिक गणितीय संयन्त्र है, जो सम्पूर्ण मूलतः और सांकेतिक है और जिसके लिए आनुभविक जगत से उसका किसी भी प्रकार का सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। दूसरा भाग 'सिद्धान्त' (theory) का भाग है, जिसमें ऐसे नियम आ जाते हैं जो औपचारिक प्रतिरूप के तत्त्वों को कुछ निश्चित आनुभविक घटनाओं से

[37]एल० एस० शेपली और एम० शुबिक, "ए मैथड फ़ॉर एवेल्युएटिंग दी डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ़ पॉवर इन ए कमेटी सिस्टम," 'अमरिकन पॉलिटिकल साइंस रिव्यू,' खण्ड 48, 1954, पृ० 787-92।

जोडते है । इस कारण इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे की जाने वाली परिचर्चा के प्रत्येक शब्द का, और इस सम्बन्ध मे दिये गये प्रत्येक सामान्य वक्तव्य अथवा प्रमेय (theorem) का दो भिन्न-भिन्न अर्थों मे प्रयोग होता है—एक औपचारिक सम्बन्ध की सयोजना के अन्तर्गत और, दूसरा, उस आनुभविक सयोजना के अन्तर्गत जिसमे औपचारिक प्रतिरूप को प्रयोग मे लाया जा रहा है । उदाहरण के लिए, आनुभविक दृष्टि से, 'गुटबन्दी' (coalition) का अर्थ खेल मे भाग लेने वाले दो खिलाडियो के बीच के आपसी समझौते से है, परन्तु गणितीय दृष्टि से उसका अर्थ दो आघातियो (matrices) के सम्मिश्रण से है । इसी प्रकार से, 'चाल' (move) का अर्थ, आनुभविक दृष्टि से खिलाडी के द्वारा की जाने वाली कार्यवाही से होता है, परन्तु गणितीय दृष्टि से उसका अर्थ व्यवस्थित प्रतीको (ordered symbols) की एक पक्ति (row) अथवा स्तम्भ (column) से होगा । खेल सिद्धान्त के प्रयोग मे इस सिद्धान्त को सदा ही ध्यान मे रखना आवश्यक है कि उसका आरम्भ सदैव औपचारिक प्रतिरूप से किया जाना चाहिए, और, तब, प्रतिरूप के द्वारा निर्दिष्ट सयोजना के अन्तर्गत, प्रयोग मे लाये गये *शब्दो के सुनिश्चित अर्थों को निर्धारण करने का प्रयत्न करना चाहिए ।*

खेल सिद्धान्त के कुछ प्रयोग : मॉर्टन कैपलन, विलियमन एच० राइकर और टॉमस सी शेलिंग

राजनीति-विज्ञान मे खेल सिद्धान्त के प्रयोगो के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण कैपलन, शेलिंग और राइकर की रचनाओ मे मिलते है, और इन सभी ने उसका प्रयोग, आन्तरिक राजनीति मे नही, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे किया है । कैपलन ने खेल विश्लेषण को "व्यूहरचना की समस्याओ के विश्लेषण के लिए सबसे अच्छा उपकरण" माना है, और उसकी धारणा है कि यदि उसका उपयोग ठीक प्रकार से किया जाय तो उससे 'नीतियो मे सफलता प्राप्त करने की सम्भावना बहुत अधिक बढ जायगी ।" परन्तु "सिस्टम एण्ड प्रोसेस इन इन्टरनेशनल पौलिटिक्स" नाम की उसकी पुस्तक मे अपनायी गयी विश्लेषण-पद्धति से इस बात की पुष्टि नही होती । "व्यूहरचना और शासन-कला (statecraft) पर लिखे गये तीन अध्यायो मे से, जिसमे लेखक से अपेक्षा की गयी थी कि वह खेल सिद्धान्त के प्रयोग की समस्याओ के समाधान बताने का प्रयत्न करेगा, दो अध्यायों का अन्त केवल तकनीक सम्बन्धी विचारो की चर्चा मे, जिसका आनुभविक निर्णय-निर्माण मे बडा हल्का सा और अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है," होता है । यह कहना कठिन है कि इन अध्यायो के लिखने मे कैपलन का उद्देश्य नीति निर्माताओं के लिए पथ-प्रदर्शन का था, अथवा केवल उन उपायो का सुझाव देने का था जिनकी सहायता से वे अपनी जानकारी को किसी निर्दिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए काम मे ला सकते है । राजनीतिक कार्यवाही के सम्बन्ध मे उसने जो सुझाव दिये हैं वे किसी भी प्रखर बुद्धि वाले व्यक्ति के द्वारा दिये जा सकते है—वे किसी आनुभविक शोध का परिणाम नही कहे जा सकते । "यदि प्रतिरक्षा का कोई इरादा नही है तो निश्चयात्मक वक्तव्य देकर दूसरे पक्ष को धोखे मे डालना बुद्धिमानी की बात नही है ।" अथवा ' अपने इरादे के बारे मे, जिस

सीमा तक इरादे को पूरा करने का विचार है, उससे अधिक निश्चयात्मक बात कहना बुद्धिमानी की बात नहीं है।" इस प्रकार के कथनों के समर्थन के लिए किसी अत्यधिक जटिल गणितीय प्रतिरूप की आवश्यकता नहीं है।

कैपलन की लिखने की विछिन्न और असम्बद्ध शैली खेल सिद्धान्त के महत्त्व के सम्बन्ध में उसके दावों का समर्थन नहीं करती। जान पड़ता है कि जैसे इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में वह इतना परेशान हो गया है कि वह उसे गणितज्ञों के हाथ में सौंप देना चाहता है। वह कहता है कि बहुत कम राजनीतिशास्त्रियों के पास गणितीय *योग्यता अथवा व्यूहरचना की गणितीय समस्याओं को सुलझाने का समय है।* यह स्पष्ट है कि राजनीतिक घटनाओं के अध्ययन में खेल सिद्धान्त को कभी भी उस रूप में प्रयोग में नहीं लाया जा सकता जिसमें कैपलन ने उसे प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। मीहान ने ठीक ही लिखा है कि "कैपलन की मूल कठिनाई खेल सिद्धान्त को उस ढंग से प्रयोग में लाने की उसकी इच्छा है जिसे, आज की स्थिति में, तनिक भी न्याय-संगत नहीं माना जा सकता।"[38] अन्य लेखकों ने भी इस सिद्धान्त को प्रयोग में लाने के पीछे जो मान्यताएं हैं उन्हें सन्तुष्ट करने की कठिनाइयों, और असम्भवता, पर प्रकाश डाला है। अनातोल रैपोपोर्ट ने लिखा है कि यदि खेल सिद्धान्त का प्रयोग करना है तो उसके पास वास्तविक समस्याओं का यथार्थवादी समाधान होना चाहिए, और (राजनीति की) वास्तविक समस्याएं इतनी अधिक कठिन हैं कि उन्हें खेल सिद्धान्त की आधारी नहीं समझा जा सकता।[39] वास्तव में, यह सारा उपागम तार्किकता की संकल्पना पर आधारित है, और यह संकल्पना राजनीति में, जहां समाजीकरण प्रक्रियाओं और सांस्कृतिक मूल्यों की उपेक्षा नहीं की जा सकती, सन्तोषप्रद ढंग से काम नहीं कर सकती। इस सम्बन्ध में सारी कठिनाई यह है कि सरल से सरल आनुभविक स्थितियों में भी प्रत्येक पात्र के सामने इतने अधिक विकल्प होते हैं कि उनकी कल्पना करना भी असम्भव है। इस कारण राजनीतिक खोज की आवश्यकताओं को पूरा करने की दृष्टि से खेल सिद्धान्त को प्रयोग में लाने का एक मात्र साधन उसे, निर्णय-निर्माण के विश्लेषण से भिन्न, अन्य उद्देश्यों को पूरा करने के लिए काम में लाना था, जो काम शेलिंग ने संघर्ष (conflict) के अपने अध्ययन में और राइकर ने गुट-निर्माण (coalitions) के अपने अध्ययन में किया है—एक ने खेल सिद्धान्त के *संकल्पनात्मक मंयत्र को स्पष्टीकरण की* एक पद्धति के रूप में और दूसरे ने आनुभविक घटनाओं में खोज के आधार के रूप में उसका प्रयोग किया है। खेल सिद्धान्त के प्रति मौलिक आदर प्रकट करते हुए, उन्होंने उसमें इतना *परिवर्तन ला दिया है कि उसकी औपचारिकता और कठोरता का बहुत बड़ा अंश* उसमें से निकल गया है, और वह राजनीतिक अध्ययनों के लिए एक अधिक उपयोगी सिद्धान्त बन गया है।

[38]यूजीन मीहान, 'कॉन्टेम्परेरी पोलिटिकल थॉट : ए क्रिटिकल स्टडी,' होमवुड, इलीनोय, दि डोर्सी प्रेस, 1967, पृ० 317।

[39]अनातोल रैपोपोर्ट, 'टू-पर्सन गेम थियरी : दि एसेन्शल आइडियाज,' पी० उ०, पृ० 193।

कैपलन के समान राइकर ने भी खेल सिद्धान्त के प्रतिरूप का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिए किया है। उसने उसके "एन-परसन-जीरो-सम गेम" वाले प्रतिरूप को चुना है, जिसके पीछे यह मान्यता है कि सभी खिलाडी तर्कमूलक है, उनके पास पूरी जानकारी है, और खिलाडियो मे गुप्त मन्त्रणाए और सौदेबाजी चलती रहती है। परन्तु, राइकर ने तार्किकता की इस सकल्पना मे थोडा सशोधन किया है। इस अर्थ मे कि वह यह नही मानता कि प्रत्येक खिलाडी के पास सम्पूर्ण जानकारी है, अपने विश्लेषण का आधार वह सूचना की उस स्थिति को बनाता है जो व्यवस्था के पास एक विशेष समय पर उपलब्ध होती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे खेल सिद्धान्त को प्रयोग मे लाने मे उसका प्रमुख उद्देश्य उन सामान्य सिद्धान्तो मे से कुछ का पता लगाना है जो गुटों और समूहो के निर्माण को प्रभावित करते हैं। राइकर ने खेल सिद्धान्त के प्रतिरूप को आनुभविक अथवा ऐतिहासिक शोध सामग्री के अध्ययन मे काम मे लाने के लिए तीन प्रमुख नियमो को चुना है, वे है "आकार" (size) नियम, "व्यूहरचना" (strategic) नियम, और "असन्तुलन" (disequilibrium) नियम। आकार नियम की अपनी विवेचना के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुचा है कि गुट बनाने मे सदा ही यह उद्देश्य नही होता कि उसमे अधिक से अधिक राष्ट्रो को सम्मिलित किया जाय। गुट का आकार केवल उतना बडा रखा जाता है जितना निर्णय-निर्माताओ की दृष्टि मे उनके गुट को विजय के लिए आवश्यक है। गुट का आकार इस पर भी निर्भर होता है कि गुटबन्दी के अनेक नियमो के सम्बन्ध मे निर्णय-निर्माताओ के पास कितनी जानकारी है। यदि उनके पास पर्याप्त जानकारी नही है तो वे स्थिति के सन्दर्भ मे जिस आकार का गुट आवश्यक होगा उससे बडे आकार का गुट बनायेंगे। राइकर द्वारा विकसित प्रतिरूप मे सूचना का नियम आकार के नियम के साथ जुडा हुआ है, और उसका प्रयोग उन प्रक्रियाओ की जाच पडताल मे किया जाता है जिन्हें गुटो के निर्माण मे काम मे लिया जाता है। राइकर ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि गुटो मे पहले थोडे राष्ट्र सम्मिलित होते हैं, और बाद मे, सौदेबाजी के द्वारा, अन्य राष्ट्रो को सम्मिलित किया जाता है। जब एक छोटा गुट बन जाता है तो जो सदस्य उसमे सम्मिलित नही हो पाते वे इस भय के कारण कि वह उनके प्रति आक्रामक कार्यवाही न कर बैठे, एक दूसरा छोटा गुट बना लेते हैं। परन्तु अन्तिम उद्देश्य यही रहता है कि यह छोटा गुट एक विजयी गुट का रूप ले ले। यह कैसे सम्भव हो? यहा व्यूहरचना नियम की सहायता लेनी पडती है। किसी भी गुट को विजयी गुट मे बदल देने और उसकी सफलता की सम्भावनाओ को अधिकतम बढाने के लिए 'व्यूहरचना' आवश्यक है। यदि कोई गुट इस लाभप्रद स्थिति मे है कि वह अपने सदस्यो को मिलने वाले पुरस्कारो की मात्रा बढा सकता है तो सम्भव है कि यह गुट अन्ततः विजयी सिद्ध हो। परन्तु इसके पीछे दो स्पष्ट मान्यताएं है: (1) सदस्य उस गुट को, जिसमे वे सम्मिलित हो गये है, छोडेंगे नही और (2) उनको मिलने वाले लाभो मे उनकी सहमति के बिना कमी नही की जायेगी।

राइकर का तीसरा नियम असन्तुलन नियम है। जो प्रतिरूप उसने चुना है वह अस्थिर है और उसमे सन्तुलन की कमी है, और यदि कभी वह एक अस्थायी सन्तुलन

को प्राप्त कर भी लेता है तो बहुत जल्दी वह उसे खो देता है। राइकर ने इस प्रकार यह बताने का प्रयत्न किया है कि यह कहना कि कोई भी राजनीति केवल इस कारण कि वह तर्क पर आधारित है अवश्य स्थिर सिद्ध होगी, गलत होगा। गुटबन्दी में सदा ही अस्थिरता और असन्तुलन के तत्त्व मौजूद रहते हैं। इस सम्बन्ध में राइकर ने असन्तुलन के स्रोतों और सन्तुलन के निर्वाह के साधनों की विशद रूप से चर्चा की है और उन बाहरी और भीतरी कारकों का परीक्षण किया है जो उन्हें प्रभावित करते हैं। उसका अपना झुकाव आन्तरिक कारकों को अधिक प्रभावशाली मानने की दिशा में है। वह लिखता है, "नेताओं के पतन में, वे मनुष्य हों अथवा राष्ट्र, मुझे ऐसा लगता है कि नेताओं के अपने गलत अनुमान, उनकी फिजूल-खर्ची और, हॉब्स के शब्दों में, अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करने की अविश्रान्त खोज बजन (सत्ता) में परिवर्तन का प्रमुख कारण होती है, और, यदि ऐसा है तो हमें यह मानना पड़ेगा कि निर्णय-निर्माण व्यवस्था अनिवार्यतः और सम्पूर्ण रूप से सदा ही असन्तुलन की स्थिति में रहती है।"[10]

दूसरा प्रमुख राजनीतिशास्त्री, जिसने खेल सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में प्रयोग में लिया है, और कैपलन और राइकर दोनों ही की तुलना में अधिक प्रभावशाली ढंग से, वह शैलिंग है। मीहान के शब्दों में शैलिंग की कृतियों को "खेल सिद्धान्त में विकास और राजनीतिक समस्याओं के अध्ययन में खेल सिद्धान्त उपागम की उपयोगिता, दोनों ही की दृष्टि से एक अच्छा योगदान" माना जा सकता है।[11] खेल सिद्धान्त के प्रयोग से, कम से कम उन पात्रों के द्वारा जो सदा ही अपने तर्कमूलक निर्णयों का आधार दूसरे व्यक्तियों के द्वारा लिये गये निर्णयों पर रखते हैं, प्राप्त किये जाने वाले लाभों को स्पष्ट करने के साथ ही उसने खेल सिद्धान्त में बहुत कुछ संशोधन भी किया है। वास्तव में शैलिंग इस प्रकार के एक खेल सिद्धान्त की खोज में है जो समाजशास्त्रियों के द्वारा अधिक लाभप्रद ढंग से प्रयोग में लाया जा सके और, इस कारण, उसे उपयोगी बनाने की दृष्टि से, वह इस सिद्धान्त की औपचारिक सम्पूर्णता और सुनिश्चितता के साथ समझौता करने को तैयार है। शैलिंग ने तीन प्रकार के मौलिक परिवर्तनों का सुझाव दिया है जिनका सम्बन्ध क्रमशः खेलों, चालों और व्यूहरचना सम्बन्धी चिन्तन के मूल आधारों से है। जहां तक खेल के प्रकार का सम्बन्ध है, उसका कहना है कि यह प्रतिस्पर्धात्मक खेलों की प्राथमिकता पर जोर देता है, परन्तु यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को उसके वास्तविक रूप में समझना चाहते हैं तो हम इस आनुभविक तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते कि शुद्ध संघर्ष अथवा शुद्ध सहयोग की संकल्पना का, जिसे खेल सिद्धान्त का प्रतिरूप अपना आधार मान कर चलता है, वास्तव में अस्तित्व ही नहीं है। तथ्य यह है कि शुद्ध संघर्ष

[10] विलियम एच० राइकर, "ए न्यू प्रूफ ऑफ दि साइज प्रिंसिपल," जोसेफ एल० बर्नड द्वारा सम्पादित, 'मैथेमेटिकल एप्लिकेशन्स इन पोलिटिकल साइंस,' खण्ड 2, आर्लिंग्टन प्रकाशन, 1966, पृ० 126-27।

[11] यूजीन मीहान, पी० उ०, पृ० 318-19।

और शुद्ध सहयोग एक ही सातत्य रेखा के दो छोर है। अधिकाश अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कुछ मात्रा संघर्ष की होती है और कुछ मात्रा पारस्परिक निर्भरता की। इस प्रकार की वास्तविक स्थिति का अध्ययन करने के लिए शैलिग ने "सौदेबाजी के खेल" (bargaining games) अथवा "मिश्रित उद्देश्य" (mixed motives) वाले खेलो की सकल्पना का आविष्कार किया है। इस प्रकार के खेलो में, उसका कहना है, जिन बौद्धिक प्रक्रियाओ को काम में लिया जाता है वे उनसे विलकुल भिन्न है जिनका प्रयोग शुद्ध संघर्ष अथवा शुद्ध सहयोग की स्थितियो में होता है। खेल सिद्धान्त के औपचारिक प्रतिरूप में, जिसे वह खेल का 'सामान्य' रूप मानता है, और अपनी इस सकल्पना में भेद करने के लिए उसने विस्तृत अथवा 'वृक्ष आकार के खेल' (game tree form of play) की सकल्पना का आविष्कार किया है। खेल सिद्धान्त के इस परिवर्तित रूप मे यह आवश्यक हो जाता है कि खेल में लिए गये प्रत्येक विशिष्ट निर्णय का अध्ययन किया जाय—न केवल उन मनोवैज्ञानिक कारको का जो व्यक्ति के निर्णय को निर्धारित करते हैं, परन्तु उस समग्र स्थिति का जिसके परिप्रेक्ष्य, और जिसकी 'व्याख्या' के सम्बन्ध में निर्णय लिया गया है।

"चाल" की संकल्पना के सम्बन्ध मे शैलिग ने एक नये दृष्टिकोण का विकास किया है। "चाल" कितने प्रकार की हो इसके सम्बन्ध मे उसकी कल्पना परम्परागत खेल सिद्धान्त के औपचारिक और अमूर्त रूप से भिन्न है—वह यह चाहेगा कि निर्णय सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक पक्षो को भी ध्यान मे लिया जाय। शैलिग का कहना है कि मानव व्यवहार के सम्बन्ध मे खेल सिद्धान्त जो मान कर चलता है हम पहले से ही उससे कही अधिक जानते हैं। हम जानते हैं कि मनुष्य केवल तर्कमूलक प्राणी से कुछ अधिक है और कोई कारण नही दिखायी देता कि हम "चालो" के प्रकार के अध्ययन मे अपनी इस जानकारी का उपयोग क्यो न करें। शैलिग ने "चालों" को व्यक्ति को मिलने वाले लाभ के विकल्पो के सन्दर्भ मे देखा है, और इस सम्बन्ध मे "धमकी देना," "वायदे करना," "पहल अपने हाथ मे न लेना," "मित्रो और शत्रुओं की पहचान," "अधिकार दूसरो को सौंपना," "मध्यस्थता स्वीकार करना," आदि शब्दो का प्रयोग किया है। इसी प्रकार शैलिग ने व्यूहरचना सम्बन्धी चिन्तन के मूल आधार मे भी परिवर्तन करने का प्रयत्न किया है। उसके विचार मे व्यूहरचना का चयन शुद्ध औपचारिक क्रियाविधियो से उतना नही किया जाता जितना आनुभविक दृष्टि से, और इस कारण उसके अध्ययन मे 'मिश्रित उद्देश्यो' के खेल को समझने का भी प्रयत्न करना चाहिए। शैलिग ने, इस प्रकार, निर्णय-निर्माण की क्रिया विधियो मे मानव अनुभव की जटिलता का समावेश करके खेल सिद्धान्त को काफी समृद्धिशाली बनाया है। वास्तव मे यह कहना अधिक सही होगा कि उसने खेल सिद्धान्त के पीछे चिन्तन के जो प्रतिमान हैं उन्हे अपने चिन्तन की शैली मे सम्पूर्ण रूप से समाविष्ट कर लिया है। साथ ही, शायद यह कहना भी गलत न होगा कि शैलिग ने यदि खेल सिद्धान्त का नाम भी न सुना होता तो भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे व्यूहरचनाओ की समस्याओ के विश्लेषण मे उसके योगदान मे किसी प्रकार की कमी नहीं हुई होती।

खेल सिद्धान्त : एक मूल्यांकन

खेल सिद्धान्त की समीक्षा के लिए पहली आवश्यकता उसकी आधारभूत मान्यताओं की निकटता से परीक्षण करने की है। यद्यपि उसके प्रयोग में उसके प्रमुख प्रतिपादकों ने थोड़े बहुत परिवर्तन कर दिये हैं, ये मान्यताएं सिद्धान्त में इतनी अधिक अन्तर्निहित हैं कि उसे समझने के किसी भी प्रयत्न में उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। खेल सिद्धान्त की पहली मान्यता तो यह है कि (1) निर्णय-निर्माता सम्पूर्णत: तर्क-संगत हैं, (2) अपने निर्णयों को वे, नैतिकता की चिन्ता किये बिना, बनाते हैं, और (3) उनके पास सभी खिलाड़ियों की चालों के सम्बन्ध में सम्पूर्ण जानकारी रहती है। क्या व्यवहार में यह कभी सम्भव हो सकता है? शतरंज अथवा ब्रिज में अच्छे से अच्छे खिलाड़ियों के लिए भी यह उतना ही सम्भव है कि उनकी सूचना गलत हो जितना उसका सही होना, अथवा उनके निर्णय उतने ही गलत हों जितने सही, अथवा उनकी स्मृति उतनी ही भ्रामक हो जितनी विश्वसनीय, अथवा अपनी चालों में वे उतने ही भाव-प्रधान हो जितने तर्क-संगत। दूसरी आधारभूत मान्यता उस स्थिति के सम्बन्ध में है जिसका सामना अध्येता को अपने विश्लेषण में करना होता है। खेल सिद्धान्त का अध्येता यह मानकर चलता है कि यह स्थिति जिसका वह अध्ययन कर कर रहा है या तो पूर्ण सूचना की है अथवा सूचना के पूर्ण अभाव की, पूर्ण स्मरण की है अथवा पूर्ण विस्मरण की, सम्पूर्ण ज्ञान की है अथवा सम्पूर्ण अज्ञान की, सम्पूर्ण परिकलन (calculation) की है अथवा परिकलन के सम्पूर्ण अभाव की—और उससे अपेक्षा की जाती है कि उसे इनमें से या तो एक स्थिति का सामना करना होता है या दूसरी का—जबकि वास्तव में कोई भी स्थिति कभी भी इस अतिवादी रूप में नहीं पायी जाती। इस कारण विश्लेषणकर्ता की यह प्रवृत्ति हो जाती है कि वह जिस घटक का अध्ययन कर रहा है उसके सम्बन्ध में या तो यह मान ले कि 'खिलाड़ी' की स्मृति सम्पूर्ण है, अथवा उसमें स्मृति नाम की वस्तु है ही नहीं, अथवा आधे समय तक उसकी स्मृति सम्पूर्ण रहती है और आधे समय में वह सब कुछ भूल जाता है, वह यह भी जानता है कि वह सब कुछ भूल रहा है, और दूसरा खिलाड़ी भी इस बात से परिचित है। यह सचमुच एक असम्भव स्थिति है। खेल सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक अन्य बात यह है—और इसकी चर्चा जोसेफ फ्लेचर ने विस्तार से की है—कि खेल सिद्धान्त व्यक्ति की नैतिकता में बिलकुल रुचि नहीं रखता। वह केवल 'स्थिति की नैतिकता' (situation ethics) को मानता है। खिलाड़ी का सम्बन्ध केवल परिणामों से है, बीच में होने वाली प्रक्रियाओं से बिलकुल भी नहीं, उस व्यूहरचना से है जिसके चयन की दूसरे खिलाड़ी से अपेक्षा रखी जा सकती है, इस बात से बिलकुल भी नहीं कि वह क्यों किसी एक विशेष व्यूहरचना का चुनाव करता है। दूसरे शब्दों में, उसे चयन के परिणाम के अतिरिक्त और किसी बात में रुचि नहीं है। उद्देश्यों और अभिवृत्तियों को इस सारी चर्चा से बाहर रखा गया है। अतएव, हत्या, भ्रूणहत्या, आत्महत्या अथवा हिंसा को केवल उनके परिणामों से मापा गया है, न कि इस दृष्टि से कि वे अपने आप में अच्छे हैं या बुरे। उदाहरण के लिए, आणविक 'निवारण' के परिणाम चाहे कितने

ही भयकर हों, यदि वह प्रतिरक्षा का साधन बन सकता है, तो उसका समर्थन किया जा सकता है, अथवा नही, यह एक ऐसी बात है जिसके सम्बन्ध मे परम्परागत नैतिकता का दृष्टिकोण एक होगा, 'स्थिति की नैतिकता' का बिलकुल दूसरा, और उसके बिलकुल विपरीत। वास्तव मे यह कहना उतना सही नही होगा कि 'स्थिति की नैतिकता' खेल सिद्धान्त मे अन्तर्निहित है जितना यह कहना कि 'स्थिति की नैतिकता' खेल सिद्धान्त को अपना साधन बना लेती है।[42]

इस सिद्धान्त की एक और कमी उस विशेष क्षेत्र को ठीक से निर्धारित करने के सम्बन्ध मे है जिसे इस सिद्धान्त के कार्यान्वियन का क्षेत्र माना जा सकता है। जब कभी हम आर्थिक सिद्धान्त अथवा सांख्यिकी सिद्धान्त अथवा निर्णय-निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्त की बात करते हैं तो हम सिद्धान्त और उसके प्रयोग के क्षेत्र मे—जैसे अर्थशास्त्र, सांख्यिकी अथवा निर्णय-निर्माण, स्पष्ट अन्तर करने की स्थिति मे होते हैं, परन्तु यह स्पष्ट नही है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से खेल सिद्धान्त के कार्यान्वियन को हम किस विशेष क्षेत्र मे रख सकते है। इसी प्रश्न को दूसरे ढग से इस रूप मे उठाया जा सकता है : गणितशास्त्र, खेल सिद्धान्त और राजनीति-विज्ञान के बीच क्या सम्बन्ध है, यदि कोई सम्बन्ध है तो ? अथवा जिस रूप मे शूबिक ने उसे पूछा है, गणितशास्त्र की ओर अभिवृत्त और शाब्दिक विश्लेषण मे रुचि रखने वाले राजनीतिशास्त्रियो मे क्या सम्बन्ध है ? खेल सिद्धान्त के प्रतिपादको के एक वर्ग ने गणितशास्त्र और शोध प्रविधियो पर बहुत जोर दिया है, और दूसरे वर्ग ने राजनीति-विज्ञान के सार विषय पर, *और इस बात को लेकर इन दोनो वर्गों मे दीर्घकालीन, परन्तु निष्फल,* वाद-विवाद चलता आ रहा है। एक ओर तो शोध प्रविधियो और गणितशास्त्र का कट्टर-समर्थक उस राजनीतिशास्त्री को, जो राजनीति का एक सामान्य और विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण लेता है, घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से देखता है, और दूसरी ओर यह दूसरा *वर्ग औपचारिक अथवा गणितीय योजनाओ को निरा पागलपन मानता है।* वास्तव मे, गलती दोनो ही की है, जो अपने-अपने दृष्टिकोणो पर आवश्यकता से अधिक बल देते है। गणितशास्त्र की ओर झुका हुआ राजनीतिशास्त्री समझता है कि राजनीतिक घटनाओ को समझने के लिए खेल सिद्धान्त का प्रयोग अनिवार्य है, जबकि गणितीय प्रतिरूपो के विरुद्ध धारणा रखने वाला राजनीतिशास्त्री इस प्रकार के प्रयत्न को निरर्थक और शरारतपूर्ण मानता है। इस कारण यह आवश्यक है कि हम इस सिद्धान्त की उपलब्धियो और मर्यादाओ, दोनो को ही स्पष्ट रूप से समझने का प्रयत्न करें। इस सिद्धान्त का समस्त आधार मनुष्य के तर्कमूलक होने की कल्पना पर आधारित होने के कारण, जैसा वास्तविक जीवन मे अपने पूर्ण रूप मे शायद ही कभी सम्भव होता हो, यह तो स्पष्ट है कि आनुभविक शोध मे, अथवा कूटनीतिक अथवा राजनीतिक *विकल्पो की खोज मे, उससे विशेष सहायता की अपेक्षा नहीं की जा सकती।* इस कारण हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुच सकते हैं कि यह सिद्धान्त व्यक्तियो के

[42] जोसेफ फ्लेचर, 'सिच्युएशन एथिक्स,' फिलाडेलफिया, वेस्टमिस्टर प्रेस, 1966।

द्वारा निर्णय लेने की प्रक्रिया का आनुभविक अध्ययन नहीं है, परन्तु उन शर्तों के सम्बन्ध में, जिनका पूरा किया जाना उन निर्णयों के तर्कमूलक अथवा व्यवहार-संगत होने के लिए आवश्यक माना जा सकता है, एक निगमनात्मक (deductive) सिद्धान्त है। यही कारण है कि कुछ लेखकों ने यह मत प्रकट किया है कि यह सिद्धान्त उतना नहीं है जितना विश्लेषण की एक संयोजना। संयोजना सिद्धान्त का स्थान नहीं ले सकती परन्तु सिद्धान्त के विकास में वह पर्याप्त रूप से सहायक हो सकती है।

भाग तीन

आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख धाराए
(MAINSTREAMS OF MODERN POLITICAL THOUGHT)

अध्याय 8

आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख धाराएं (1)

[MAINSTREAMS OF MODERN POLITICAL THOUGHT] (1)

विच्छिन्न-व्यक्तित्व के सिद्धान्त : सार्त्र से मार्क्यूज़े तक

(THEORIES OF ALIENATION : FROM SARTRE TO MARCUSE)

वर्तमान समाज व्यवस्था के पश्चिमी आलोचकों के द्वारा जिन प्रमुख समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है उनमे सबसे प्रमुख समस्या व्यक्ति की है जो एक सुगठित पूंजीवादी समाज और एक अत्यन्त केन्द्रीभूत राज्य-व्यवस्था के द्वारा लगातार कुचला जा रहा है, और जिसके परिणामस्वरूप उसने अपने भीतर एक अलगाव अथवा विच्छिन्नता (alienation) की भावना का विकास कर लिया है। *आज का मानव समाज अत्यन्त व्यापक, जटिल और साथ ही अत्यधिक सुगठित हो गया है, परन्तु उसके गठन* का समस्त आधार उत्पादन की कुशाग्रता पर टिका हुआ है, जिसके सन्दर्भ में व्यक्ति एक *उत्पादक मात्र बनकर रह गया है, और व्यक्तिगत सम्बन्धो का कोई अर्थ नही रह गया* है। समाज, विशेष कर पश्चिमी देशो मे जहा विच्छिन्न व्यक्तित्व की यह समस्या अधिक गम्भीर रूप मे पायी जाती है, अपेक्षाकृत अधिक समृद्धिशाली है, वस्तुओ का उत्पादन वह बडी प्रचुर मात्रा मे करता है, परन्तु पूंजीपति, *जो उत्पादन के इन समस्त साधनो का स्वामी है, परिस्थिति का उपयोग केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए करता* है। जहा तक साधारण नागरिक का प्रश्न है वह अपना सारा समय अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के कठिन प्रयत्नो मे, अथवा उन प्रयत्नों की चिन्ता मे, बिता देता है। व्यक्ति अपने जीवन के न्यूनतम साधनो के जुटाने, और अपनी दिन-प्रतिदिन की *आवश्यकताओ की पूर्ति के प्रयत्नो, मे इतना अधिक व्यस्त रहता है कि उसे अपने भीतर देखने अथवा अपने जीवन को एक ऊचे नैतिक और सास्कृतिक स्तर तक उठाने का समय बिलकुल नहीं मिलता। व्यक्ति का अन्य व्यक्तियों के साथ सम्पर्क होता* है कारखाने मे, दुकान पर, या भीड मे, अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाते-आते अथवा किसी आन्दोलन मे भाग लेते हुए, परन्तु उसके और समाज के बीच की दूरी बराबर बढती जा रही है और वह दिन-प्रतिदिन अपने को अधिक अकेला और समाज के द्वारा अधिक परित्यक्त महसूस करता है। वह केवल अपने दिन-प्रतिदिन के कार्यों

से ही अपने को असम्बद्ध नहीं पाता परन्तु, जैसा कि मार्क्स ने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं मे बताने का प्रयत्न किया था, वह अपने आपको समाज से, राज्य से, उन लोगों से जिनके साथ वह काम करता है, और यहां तक कि अपने आप से भी विच्छिन्न पाता है। उसके आर्थिक संगठन के समान, समाज का राजनीतिक संगठन भी इतना अधिक केन्द्रीभूत (centralized) और औपचारिक (formal) बन गया है कि यदि व्यक्ति अपने सतत प्रयत्नों के द्वारा काफी ऊंचे पद तक पहुंचने में सफलता प्राप्त कर भी लेता है तो भी उसकी स्थिति मशीन के एक पुर्जे से अधिक नहीं होती और उस व्यवस्था की क्रिया-विधि को, जिसका वह अपने को एक महत्त्वपूर्ण अंग मानने का दावा कर सकता है, प्रभावित करने की तनिक भी आशा नहीं कर सकता। परन्तु अधिकांश व्यक्तियों को छोटी स्थितियों में ही अपना सारा जीवन बिता देना पड़ता है। दूसरी ओर, कुटुम्ब अथवा सम्प्रदाय जैसे पुराने समूह जिनके साथ भूतकाल मे, आमोद-प्रमोद और हर्षोल्लास के वातावरण में, वह अपना कुछ समय बिता सकता था, तेजी के साथ विश्रृंखलित होते जा रहे हैं। वातावरण से टूट कर अलग हट जाने, और उनके साथ किसी प्रकार की एकरूपता स्थापित करने में सर्वथा असमर्थ होने, के कारण व्यक्ति अपने मन की शान्ति खो देता है, परन्तु उसके मानसिक सन्ताप का यहीं अन्त नहीं होता। अपने समाज और राज्य के बाहर वह देखता है कि ऐसे शक्तिशाली देश हैं जिनके पास विनाश की भयंकर शक्ति है और कोई दिन शायद ही जाता हो जब वह अपने समाचारपत्र में, घबराहट के साथ, यह न पढ़ता हो कि विश्व के इस भाग में अथवा उस भाग में संघर्ष की स्थिति के कारण एक छोटा मोटा युद्ध भड़क उठा है, और उसे बराबर यह डर रहता है कि उसका अपना देश, अपनी समस्त शक्ति के होते हुए भी, न जाने कब एक महान आणविक युद्ध की लपटों में आ जाय। व्यक्ति, इस प्रकार, सतत चिन्ता और परेशानी में अपना समय बिताने के लिए विवश रहता है।

विश्व के इतिहास मे यह परिस्थिति सर्वथा नवीन है। 19वीं शताब्दी में, जिसे व्यक्तिवाद और विवेकशीलता का स्वर्णयुग माना जाता है, राजनीतिक, दार्शनिक बड़े सन्तोष व आत्मविश्वास के साथ यह लिख सकता था कि व्यक्ति किस प्रकार अत्याचार और अविवेक की उन श्रृंखलाओं से, जिनमें वह कई शताब्दियों से जकड़ा हुआ था, धीरे-धीरे मुक्त होता जा रहा है। प्रतिद्वन्द्विता, व्यक्तिवाद, सामाजिक स्थितियों और रीति-रिवाजों के बन्धनों से ढील, निर्वैयक्तिकता और नैतिक बन्धनों से मुक्त होने की प्रक्रियाओं को विवेक के समर्थक इन दार्शनिकों ने ऐसी शक्ति माना जो अन्ततः व्यक्ति को भूतकाल के बन्धनों से मुक्त करने में सबसे बड़ा साधन सिद्ध होगी। व्यक्ति परिवर्तन, प्रगति, विवेक, स्वतन्त्रता—इन शब्दों को उनकी रचनाओं में बड़ा महत्त्व दिया गया है। उस युग की मनोवृत्ति में सन्तोष का भाव हमें व्याप्त दिखायी देता है। यह ठीक है कि 19वीं शताब्दी में भी हम विलियम पैन, रस्किन अथवा विलियम मॉरिस जैसे लेखकों को पाते हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में चेतावनी दी कि मानवता को, सांस्कृतिक और नैतिक दृष्टि से, औद्योगीकरण की इस तीव्र प्रक्रिया का बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ेगा। कौटुम्बिक बन्धनों का टूटना, ग्रामीण जीवन का विघटन, कारीगरों का अपने स्थान से

हटाया जाना, प्राचीन काल से चली आने वाली सुरक्षा की भावना का नष्ट होना—औद्योगीकरण के इन सभी अनिवार्य परिणामों को इन लेखकों ने पूर्व में कल्पना कर ली थी। परन्तु व्यक्तिवाद और विवेकवाद के समर्थकों की मान्यता थी कि यदि मानवता को प्रगति के पथ पर अग्रसर होना है तो उसे यह अनिवार्य मूल्य चुकाने के लिए तैयार रहना चाहिए। इतिहास के अपने अध्ययन के आधार पर उन्होंने यह सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया कि उन सभी युगों में, जिनमें मानवता ने महान उपलब्धियां प्राप्त की हैं, व्यवस्था का विघटन और परम्परा और सुरक्षा के बन्धनों का टूटना अनिवार्य रहा है, परन्तु 20वीं शताब्दी का आरम्भ होते-होते हम देखते हैं कि इतिहास के एक स्वर्णिम युग की ओर निरन्तर बढ़ते रहने के इस विश्वास का अस्त होने लगा था और शताब्दी के इस अपराह्न में अब यह स्थिति आ गयी है कि हमारे प्रमुख सामाजिक और राजनीतिक लेखकों में जो शब्द अधिकतर प्रयोग में लाये जा रहे हैं वे है—अव्यवस्था, विघटन, पतन, अरक्षा, विशृंखलता और अस्थायित्व।

आज के युग के प्रमुख सामाजिक आलोचकों में हम दार्शनिकों को लें तो नीबूर, सोरॉकिन, स्पेंगलर, टॉयनबी आदि में, और उपन्यासकारों, कवियों और नाटककारों को लें तो प्राउस्ट, मान, जॉयस, कफ्का, और इलियट आदि में हम यह भावना व्यापक रूप से फैली हुई देखते हैं कि आज की हमारी सस्कृति एक रोग-ग्रस्त संस्कृति है, जिसमें पराजय की वेदना और जीवन को ऊंचाई की ओर ले जाने वाली प्रक्रियाओं की असफलता की भावना प्रमुख रूप से पायी जाती है। आज के एक प्रमुख चिन्तक रॉबर्ट निस्वत ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है, "यदि पुनर्जागरण युग के विचारों में हमें विवेकशीलता का भाव प्रमुख रूप से मिलता है, यदि 18वीं शताब्दी में मनुष्य के प्रकृति-दत्त स्वभाव को प्रधानता दी गयी है, और 19वीं शताब्दी में आर्थिक अथवा राजनीतिक मनुष्य की श्रेष्ठता को महत्त्व दिया गया है तो यह बिलकुल सम्भव है कि हमारे युग के सम्बन्ध में आने वाले इतिहासकारों की यह मान्यता होगी कि 20वीं शताब्दी की प्रमुख समस्या समाज से विच्छिन्न अथवा असम्बद्ध व्यक्ति की है।"[1] आधुनिक युग की सृजनात्मक रचनाओं में और कफ्का की 'ट्रायल' और 'कासिल' नामक पुस्तकों को जिनका अच्छा प्रतिनिधि माना जा सकता है, चिन्ता को आज की मानसिक स्थिति का सबसे प्रमुख विशेषण माना गया है। इनमें से अधिकांश रचनाओं में घटनाओं का प्रमुख आधार एक ऐसा व्यक्ति है जो समाज से उखड़ा हुआ है, समाज में जिसका अपना कोई स्थान नहीं है, जिसका समस्त जीवन मानवी सम्बन्धों का अर्थ तलाश करने में बीत जाता है, जो किसी भी प्रकार के नैतिक समुदाय का एक अंग बन जाना चाहता है (परन्तु बन नहीं पाता)।[2] संक्षेप में, एक एकाकी और दिग्भ्रान्त व्यक्ति का चित्र उभर कर बार-बार हमारे सामने आता है जो छोटी से छोटी वस्तुओं से

[1] रॉबर्ट निस्वत, 'क्वेस्ट फॉर कम्यूनिटी, ए स्टडी इन दी एथिक्स ऑफ ओर्डर एण्ड फ्रीडम,' न्यूयार्क, आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1950, पृ० 1।

[2] वही, पृ० 11-12।

सार्थकता की खोज करता है और जो किसी जातीय अथवा वर्ग अथवा समूह के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने के संघर्ष में जुटा हुआ है। 20 वीं शताब्दी के प्रमुख इतिहासकार आ० टॉयनबी ने लिखा है, "सर्वहारा की प्रमुख विशेषता न तो गरीबी है, न किसी निम्न वर्ग के कुटुम्ब में जन्म लेना, परन्तु वह चेतना है और आक्रोश की वह भावना है जो इस चेतना के द्वारा अनुप्राणित होती है—कि वह समाज में अपने परम्परागत स्थान से वंचित कर दिया गया है और उस मानव समुदाय से, जिसे वह अपना वास्तविक घर मानता था उसे बहिष्कृत कर दिया गया है, और यह आवश्यक नहीं है कि आर्थिक उपलब्धियों के प्राप्त हो जाने पर सर्वहारा होने की इस मानसिक स्थिति से उसे छुटकारा मिल सके।"[3] निस्बत ने इसे नियति का एक "क्रूर परिहास" माना है कि एक ऐसे युग में जब वातावरण पर मनुष्य का नियन्त्रण सबसे अधिक है, वह अपने आपको दुर्बल और निःसहाय पाता है। आधुनिक काल के सामाजिक आलोचकों की रचनाओं में, मीहान के अनुसार, चार प्रकार के व्यक्तियों का चित्रण पाया जाता है: (1) व्यक्ति जो अकेला और नि.सहाय है और अपने भीतर एक मूल्य-व्यवस्था की तलाश में लगा हुआ है, (2) व्यक्ति जिसके मन में कुचले जाने की भावना है और जो अपने को अपना दम घोटे जाने की स्थिति में पाता है, (3) व्यक्ति जो अपने से और समाज से, दोनों से ही, विच्छिन्न और असम्बद्ध पाता है, (4) व्यक्ति जो सत्य और औचित्य के पथ से भटक गया है।[4] इस अध्याय के शेष भाग में हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि आज के सामाजिक और राजनीतिक चिन्तकों ने व्यक्तिगत रूप से उस परिस्थिति के प्रति, जिसे वे सभी अत्यधिक गम्भीर मानते हैं, क्या प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं।

(अ) अस्तित्ववादी चिन्तक

एक आन्दोलन के रूप में अस्तित्ववाद[5] की जड़ें सॉरेन कीर्कगार्द (1813-1855) की रचनाओं में पायी जाती हैं, और उसके विकास में फ्राइड्रिश नीत्शे की रचनाओं का प्रमुख हाथ रहा है।[6] कीर्कगार्द[7] डेनमार्क का एक धार्मिक नेता था और उसकी रचनाएं

[3]आर्नोल्ड टॉयनबी, 'ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री,' लन्दन, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1946, खण्ड 5, पृ० 63।

[4]यूजीन जे० मीहान, 'कॉन्टेम्परेरी पॉलिटिकल थॉट, ए क्रिटिकल स्टडी,' होमवुड, इलीनोय, दि डोर्सी प्रेस, 1967, पृ० 382 83।

[5]अस्तित्ववाद पर प्रमुख ग्रन्थ हैं: हैरल्ड जे० ब्लैकहम, 'सिक्स एक्जिस्टेंशियलिस्ट थिंकर्स,' न्यूयार्क, मैकमिलन, 1952, एच० एच० हाइनेमन, 'एक्जिस्टेंशियलिज्म एण्ड दि मॉडर्न प्रेडिकामेन्ट,' न्यूयार्क, हार्पर एण्ड ब्रदर्स, 1953, विलियम बैरेट, 'इर्रेशनल मैन ए स्टडी इन एक्जिस्टेंशियल *फिलॉसफी,*' गार्डन सिटी, न्यूयार्क, डबलडे एण्ड कम्पनी, इन्क० *1958,* मार्जे ग्रीन *द्वारा सम्पादित,* 'एक्जिस्टेंशियलिज्म बसेस मार्क्सिज्म,' न्यूयार्क, डैल पब्लिशिंग कं० 1966।

[6]फ्राइड्रिश नीत्शे के प्रमुख ग्रन्थ हैं: 'दस स्पेक जैराथुस्त्रा,' अनु० थॉमस कॉमन, मॉडर्न लायब्रेरी इन्क०, तिथि उल्लिखित नहीं, 'बियोंड गुड एण्ड ईविल,' अनु० मेरियाने कोवान, हेनरी रेगनरी कं०, 1955, 'दि बर्थ ऑफ ट्रैजेडी एण्ड दी जीनियोलोजी ऑफ मोरल्स', अनु० फ्रैंसिस गोल्फिंग, डबलडे एण्ड कम्पनी, इन्क०, 1956।

[7]अस्तित्ववाद के सम्बन्ध में कीर्कगार्द के विचारों को समझने के लिए सबसे अच्छी पुस्तक उसकी 'कन्क्लूडिंग अनसाइंटिफिक पोस्टस्क्रिप्ट' है, जिसका अनुवाद डेविड एफ स्वेनसन द्वारा और प्रकाशन

ईसाई धर्म के सन्दर्भ में लिखी गयी थी। कीर्कगार्द ईसाई धर्म को अत्यधिक बौद्धिक रूप देने के उस आन्दोलन के, जो उसके समय में पूरे जोर पर था, विरुद्ध था, उसकी मान्यता थी कि ईसाई धर्म को बुद्धि के द्वारा नहीं, केवल भावना के आधार पर ही, समझा जा सकता था। सत्य उसकी दृष्टि में अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता, वह व्यक्तिमूलक है और उसकी उत्पत्ति मनुष्य के हृदय की गहरी आकांक्षाओं में होती है। क्राइस्ट में जनसाधारण का विश्वास इस कारण नहीं है कि वे तर्क के द्वारा यह सिद्ध कर सकने की स्थिति में है कि उसने क्रूस पर मरना इस कारण स्वीकार किया था कि वह मानवता को उसके पापों से मुक्त करना चाहता था। क्राइस्ट में उनकी जो आस्था है उसके पीछे एक 'निराशा' की भावना है। कीर्कगार्द का प्रमुख आग्रह सत्य के व्यक्तिमूलक मानने के सिद्धान्त पर था, और एक प्रकार से देखा जाय तो यही सिद्धान्त बाद में समस्त अस्तित्ववादी दृष्टिकोण का प्रमुख आधार बन गया। अस्तित्ववाद के उन्नायकों में नीत्शे की गिनती इस कारण की जाती है क्योंकि वह पहला प्रमुख दार्शनिक था जिसने विश्व में व्यक्ति के एकाकीपन, और बाहर की दुनिया से मूल्यों को ग्रहण करने की उसकी अक्षमता, का गहराई के साथ चित्रण किया। सत्य के व्यक्तिमूलक होने का कीर्कगार्द का सिद्धान्त और मनुष्य के एकाकीपन का नीत्शे का चित्रण इन दो सिद्धान्तों पर अस्तित्ववाद का समस्त आधार टिका हुआ है। इन सिद्धान्तों को प्रथम विश्वयुद्ध के बाद एडमंड, हुसर्ल और मार्टिन, हाइडेगर की रचनाओं में एक नया जीवन मिला और यह मानने के लिए पर्याप्त कारण है कि ज्याँ पाल सार्त्र ने उनसे प्रेरणा ग्रहण की। अर्वाचीन अस्तित्ववाद का प्रमुख उन्नायक सार्त्र को माना जाता है, यद्यपि उसके विकास में एल्बर्ट कामू, कार्ल जैस्पर्स, गेबिरियल मार्सेल और कुछ अन्य चिन्तकों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

अस्तित्ववादियों ने मानव की स्थिति में से ही मानव के मूल्यों को ढूंढ निकालने का प्रयत्न किया, परन्तु, क्योंकि उन्हें अपने धर्म-निरपेक्ष और आधुनिक होने का गर्व था, उन्होंने धार्मिकता अथवा इतिहासवाद का सहारा लेने की अपेक्षा भावनाओं, अनुभूतियों और इन्द्रियगोचर अनुभव को अधिक महत्त्व दिया। एक लेखक ने अस्तित्ववाद को वैज्ञानिक बुद्धिवाद अवैयक्तीकरण, तानाशाही व्यवस्था और अन्ध विश्वास की प्रतिक्रिया माना है।[8] एक दूसरे लेखक ने लिखा है, "अस्तित्ववादी इस बात से बहुत अधिक चिन्तित है कि व्यक्ति दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक मात्रा में अपना व्यक्तित्व खोता जा रहा है, उन्हें ऐसा दिखायी देता है कि व्यक्ति बहुत से पदार्थों में से एक पदार्थ मात्र बन कर रह गया है, सृष्टि के इस बृहत् यन्त्र में धूल के एक कण के समान। व्यक्ति के इस

प्रिंसटन विश्वविद्यालय प्रेस द्वारा 1941 में हुआ। उसके अन्य मुख्य ग्रन्थ हैं : 'फीयर एण्ड ट्रेंबलिंग', प्रिंसटन, प्रिंसटन विश्वविद्यालय प्रेस, 1941 और 'दि सिकनेस अन्टू डैथ,' प्रिंसटन विश्वविद्यालय प्रेस, 1941। डब्ल्यू० एच० ओडेन द्वारा सम्पादित 'दि लिविंग थॉट्स ऑफ कीर्कगार्द,' मैक०, 1952 कीर्कगार्द के विचारों की एक अच्छी विवेचना है।

[8] यूजीन जे० मीहान, पी० उ०, पृ० 38।

पतन का उत्तरदायित्व वे केवल विज्ञान और तकनीक पर ही नहीं रखते, वे मानते हैं कि यान्त्रिक और बुद्धिवादी चिन्तन के अतिरिक्त उसका समस्त आधार आधुनिक औद्योगीकरण की जटिल व्यवस्था पर भी है।[9] एक तीसरे लेखक ने लिखा है कि अस्तित्ववाद "विचारों के दर्शन और वस्तुओं के दर्शन की पराकाष्ठाओं के विरुद्ध मानव के दर्शन की प्रतिक्रिया है।"[10]

अस्तित्ववाद के सम्बन्ध में इन प्रमुख विद्वानों के मतों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि उसका आग्रह, वातावरण पर नहीं, व्यक्ति पर है। अस्तित्ववाद के अनुसार, वातावरण व्यक्ति को नहीं बनाता, व्यक्ति स्वयं अपने आपको बनाता है। सार्त्र ने बड़े अलंकारपूर्ण शब्दों में लिखा है कि व्यक्ति वनस्पति अथवा गोभी का फूल नहीं है जिसका विकास सर्वथा वातावरण की स्थितियों के अनुसार ही होता है। उसके पास अपना मार्ग स्वयं चुनने की क्षमता है। उसका अनुभव उसका स्वयं का अनुभव है, उसके कार्य उसके अपने स्वयं के कार्य हैं, और अपना जीवन स्वयं जी कर और अपना मार्ग स्वयं चुनकर वह अपने मूल्यों का निर्माण भी स्वयं ही करता है। वह अपने कार्यों के लिए स्वयं ही सम्पूर्ण रूप से उत्तरदायी है। अस्तित्ववादियों के अनुसार व्यक्ति एक भावना प्रधान प्राणी है, न कि चिन्तन प्रधान और उसके तथाकथित विवेक द्वारा लिये गये निर्णय भी, लगभग सबके सब, उसकी भावनाओं, उसके रागद्वेषों और उसके अनुभवों की उत्पत्ति हैं। मनुष्य के जीवन का महत्त्व उतना ही है जितना मनुष्य स्वयं उसे प्रदान करता है। मूल्यों का अस्तित्व व्यक्ति के जीवन और उसकी अनुभूतियों पर निर्भर है, उनसे स्वतन्त्र हो कर उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं है।

ज्यॉ-पॉल सार्त्र

ज्यॉ-पॉल-सार्त्र[11] और अन्य अस्तित्ववादी संसार को समझने, अथवा उसकी व्याख्या करने, अथवा दर्शनशास्त्र की सूक्ष्म समस्याओं में उलझने में तनिक भी रुचि नहीं रखते। उनकी रुचि मनुष्य को समझने, उसकी व्याख्या करने, उसे संसार के सामने

[9] एडवर्ड मैकनाल बर्न्स, 'आइडियाज इन कॉनफ्लिक्ट,' मैथ्युएन, लन्दन, यूनीवर्सिटी पेपरबैक, 1963, पृ० 295।

[10] एमैनुएल मूनियर, 'एक्जिस्टेंशियलिस्ट फिलोसफीज', लन्दन, रोकलिफ, 1948, पृ० 2।

[11] ज्यॉ-पॉल सार्त्र उपन्यासकार, नाटककार और दार्शनिक है और साहित्यिक जगत में अपनी 'डर्टी हैंड्स,' 'नो एक्जिट,' 'नौसिया,' 'दि प्रस्टाइट' और अन्य सर्जनात्मक रचनाओं के कारण प्रसिद्ध है। उसका प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थ 'बीइंग एण्ड नथिंगनेस : एन एसे ऑन फेनोमेनोलोजिकल ऑन्टोलोजी,' अनु० हेजल बार्न्स, फिलोसोफिकल लाइब्रेरी, न्यू०, 1956 है। उसका दूसरा ग्रन्थ 'सर्च फॉर ए मैथड,' अनु० हेजल बार्न्स,' एल्फ्रेड ए० नोफ, न्यू०, 1963 है, जो वास्तव में उसके एक फ्रेंच-भाषा के ग्रन्थ की प्रस्तावना है। सार्त्र पर लिखे गये प्रमुख ग्रन्थ में देखिए आइरिस मर्डक, 'सार्त्र : रोमैंटिक रैशनलिस्ट,' न्यू हेवन, येल विश्वविद्यालय प्रेस, 1959, मौरिस क्रैन्स्टन, 'ज्यॉ-पॉल सार्त्र,' ग्रोव प्रेस, 1962, और विल्फ्रेड डेसन, 'दि मार्क्सिज़्म ऑफ ज्यॉ-पॉल सार्त्र,' डबल डे, 1966।

साहस के साथ खड़े होने का मार्ग तलाश करने मे सहायता देने और उसके जीवन को जीने के योग्य बनाने मे है। अस्तित्ववाद की व्याख्या करते हुए स्वय सार्त्र ने लिखा है, "अस्तित्ववाद से हमारा अभिप्राय एक ऐसे सिद्धान्त से है जो मनुष्य के जीवन को सम्भव बनाता है और साथ ही साथ इस बात की घोषणा भी करता है कि प्रत्येक सत्य और प्रत्येक कार्य को मानवीय वातावरण मे और मानवीय वैयक्तिकता के आधार पर समझा जा सकता है।"[12] दूसरे शब्दों मे, व्यक्ति अपने जीवन की पद्धति को स्वयं चुनता है। सार्त्र की रचनाओ और उसके दर्शनशास्त्र मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अधिक से अधिक आग्रह पाया जाता है। सार्त्र व्यक्ति की स्वतन्त्रता को इसी कारण महत्त्वपूर्ण मानता है कि स्वतन्त्रता ही वह वस्तु है जो उसे गौरव प्रदान करती है और एक ऐसे समाज मे जो उसे कुचलने पर तुला हुआ प्रतीत होता है, उसे गर्व और आत्मसम्मान की भावना के साथ जीने की प्रेरणा देती है। स्वतन्त्रता का लक्ष्य मनुष्य को सुखी बनाना नहीं है। उसका महत्त्व इसमे है कि उसके कारण उसमे उत्तरदायित्व की भावना आती है। स्वतन्त्रता की इस भावना के कारण ही वह अपने को कष्टो मे झोंकता है, पर उसका समस्त उत्तरदायित्व वह स्वय वहन करने के लिए तत्पर रहता है।

सार्त्र और अन्य सभी अस्तित्ववादियो ने इस बात से बराबर इनकार किया है कि स्वतन्त्रता से प्राप्त होने वाले उत्तरदायित्व के कारण मनुष्य अपने आपको जिन असह्य कठिनाइयो मे डालता रहता है *उनका समाधान बाहर की दुनिया का परित्याग कर देने,* अथवा मनुष्य के अपने भीतर सिमट कर रहने, मे है। स्वतन्त्रता समाज से कुछ पाने की आकांक्षा नही रखती। यह तो मनुष्य-स्वभाव का एक ऐसा गुण है जो उसके मनुष्यत्व मे अन्तर्निहित है और जो उसे वनस्पति के जीवन से भिन्न करता है। सार्त्र लिखता है, "स्वतन्त्रता मनुष्य के लिए अत्यधिक कष्ट देने वाली वस्तु है, परन्तु फिर भी मनुष्य स्वतन्त्र रहना चाहता है। जिस क्षण वह इस ससार मे प्रवेश करता है उसी क्षण से वह उन सभी कामो के लिए अपने को पूरी तौर से उत्तरदायी मानता है जो वह करता है।"[13] सार्त्र की यह भी मान्यता है कि मनुष्य के स्वतन्त्र होने और उसके अपनी स्वतन्त्रता के लिए बराबर संघर्ष करते रहने का अर्थ यह है कि वह अन्य व्यक्तियो की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करते रहने के लिए भी प्रस्तुत रहे। उसकी अपनी स्वतन्त्रता अन्य व्यक्तियो की स्वतन्त्रता से भिन्न नहीं है, वह अन्य व्यक्तियो की स्वतन्त्रता पर निर्भर है और *अन्य व्यक्तियो की स्वतन्त्रता उसकी अपनी स्वतन्त्रता पर आधारित है।* अस्तित्ववादी चिन्तन की इस धारा के परिणामस्वरूप ही 'सलग्नता' अथवा 'प्रतिबद्धता' के प्रसिद्ध सिद्धान्त का जन्म हुआ। एक प्रकार से देखा जाय तो 'प्रतिबद्धता' की संकल्पना का अस्तित्ववाद के उन मूल सिद्धान्तो से कोई सम्बन्ध नहीं दिखायी देता जिनकी चर्चा कीर्कगार्द अथवा नीत्शे की रचनाओं मे पायी जाती है। उनके सिद्धान्तों

[12] ज्यॉ-पॉल सार्त्र, "एग्ज़िस्टेंशियेलिज़्म," मोर्टन व्हाइट द्वारा सम्पादित, 'दि एज ऑफ़ एनालिसिस,' न्यूयार्क, हूटन मिफ़लिन, 1955, पृ॰ 122।

[13] वही, पृ॰ 128।

के आधार पर तो व्यक्ति के अपने को समाज से विमुख कर लेने की बौद्ध अथवा स्टोइक विचारधारा का समर्थन भी सम्भव था। अस्तित्ववाद पर 'प्रतिबद्धता' के इस सिद्धान्त की स्थापना सार्त्र के द्वारा ही की गयी, और उसका कारण वे विशेष परिस्थितियां थी जिनमे द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान फ्रांस गुजर रहा था और वह भयंकर अत्याचार था जो नात्सी दल के लोग फ्रांस की जनता पर कर रहे थे। सार्त्र के सामने प्रश्न यह था, "यदि वे मुझ पर अत्याचार करते हैं तो क्या मैं चुप रह सकता हूं?" इस प्रश्न का उत्तर स्पष्टतः नकारात्मक था। सार्त्र ने इस परिस्थिति से निकलने के लिए संगठन की आवश्यकता पर बल दिया। देश के लोगों के साथ, अपने विचार के लोगों के साथ, संगठन। उसने फ्रांस की जनता का आह्वान किया कि वह संगठित होकर जर्मन आततायियों का मुकाबला करे। स्वतन्त्रता और संगठन के इन सिद्धान्तों के साथ सार्त्र ने समानता के सिद्धान्त पर भी जोर दिया। समस्त विशेष सुविधाओं को समाप्त कर देने और सभी मनुष्यों को सर्वहारा की स्थिति में ले आने मे उसकी गहरी आस्था थी। इसी चिन्तन का यह परिणाम था कि सार्त्र दिन-प्रतिदिन की सार्वजनिक समस्याओं में उलझता गया और, क्योंकि नात्सीवाद का सबसे बड़ा विरोध साम्यवाद द्वारा किया जा रहा था, उसने अपने आपको साम्यवाद के सिद्धान्तों के साथ 'प्रतिबद्ध' पाया।

अस्तित्ववाद का जन्म, सार्त्र के अनुसार, हीगल के चिन्तन के विरुद्ध कीर्केगार्द की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ। हीगल के सामने सबसे प्रमुख समस्या स्वयं को जान लेने की थी। जो व्यक्ति के सामने तब उत्पन्न होती है जब समाज से उसका आमना-सामना होता है। रूसो के समान हीगल भी मानता था कि 'स्वयं की प्रतीति' का एकमात्र साधन समाज के नैतिक सिद्धान्तों को आत्मसात् कर लेना है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति स्वयं की 'वास्तविक प्रतीति' तभी करता है जब समुदाय के साथ उसका तादात्म्य स्थापित हो जाता है। हीगल ने समुदाय की व्याख्या राज्य के रूप में की थी, हीगल के प्रति कीर्केगार्द की आलोचना का प्रमुख आधार यह था कि उसने व्यक्ति के व्यक्तित्व को पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया था। व्यक्ति का समाज से भिन्न अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है और इस कारण विचारो की किसी एक विशेष व्यवस्था को ज्यों का त्यों स्वीकार करने की स्थिति में वह नहीं है। व्यक्ति की दुख की अनुभूति एक ऐसी वास्तविकता है जिसे दार्शनिक तर्कों के द्वारा नहीं मिटाया जा सकता। सार्त्र ने लिखा है, "वैयक्तिक जीवन का सम्बन्ध जीने से है, बुद्धि के द्वारा उसे समझा नहीं जा सकता।"[14] सार्त्र मानता है कि हीगल के दर्शन के विरुद्ध कीर्केगार्द की प्रतिक्रिया "विश्वास के बुद्धिवादी मानवीकरण के विरुद्ध, ईसाई रोमान्सवाद की प्रतिक्रिया है।"[15] सार्त्र का कहना है कि—"हीगल

[14]ज्यां-पॉल सार्त्र, "मार्क्सिज्म एण्ड एक्जिस्टेंशियेलिज्म," जेम्स ए० गोल्ड और विंसेंट थर्सबी द्वारा सम्पादित 'कोन्टेम्परेरी पोलिटिकल थॉट, ईशूज इन स्कोप, वोल्यूम एण्ड डायरेक्शन,' होल्ट राइनहार्ट एण्ड विंस्टन, न्यू०, 1969, पृ० 236, 'सर्च फॉर ए मैथड,' एच० बार्न्स द्वारा अनुवादित, न्यूयार्क, एल्फ्रेड ए० नोफ, 1963 से।

[15]वही, ।

और कीर्कगार्द दोनो ही, अपने-अपने स्थान पर, ठीक है। हीगल को वह इस कारण ठीक मानता है कि उसने कीर्कगार्द के समान एक खोखली वैयक्तिकता पर जोर नही दिया बल्कि अपने दर्शन के द्वारा *एक वास्तविकता को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया और* कीर्कगार्द को वह इस दृष्टि से ठीक मानता है कि उसने यह बताया कि दुख, आवश्यकता, वेदना और कष्ट, ये सब ऐसी ठोस वास्तविकताए है, ज्ञान के द्वारा जिनका अतिक्रमण सम्भव नही है। ज्ञान के द्वारा इन स्थितियो मे कोई परिवर्तन भी नही लाया जा सकता है।"[16] सार्त्र ने *इस प्रकार हीगल और कीर्कगार्द दोनों के दृष्टिकोणों के अपने-अपने* क्षेत्रो मे सही होने पर जोर दिया, परन्तु इसके साथ ही साथ उसने अपना यह मत भी प्रगट किया कि हीगल की अपेक्षा कीर्कगार्द की बात अधिक सही थी, क्योकि उसने चिन्तन से अधिक महत्त्व वास्तविकता को दिया था और इस प्रकार वास्तविकवाद की दिशा मे एक ठोस कदम रखा था।

सार्त्र के अनुसार, कीर्कगार्द का चिन्तन जिस प्रकार हीगल के चिन्तन की प्रतिक्रिया का एक रूप था, उसी प्रकार मार्क्स का चिन्तन भी हीगल के चिन्तन की *प्रतिक्रिया का ही एक दूसरा रूप था। हीगल ने व्यक्ति के लक्ष्य के साथ अपना तादात्म्य* स्थापित कर लेने की आवश्यकता पर बल दिया था। मार्क्स का मत था कि राज्य जैसी बाहरी और आर्थिक वस्तु के साथ व्यक्ति के तादात्म्य स्थापित कर लेने से समाज से उसकी विच्छिन्नता की समस्या नही सुलझाई जा सकती। मार्क्स के अनुसार व्यक्ति *अपने को समाज से विच्छिन्न तब महसूस करता है जब उत्पादन की शक्तियों और* उत्पादन के सम्बन्धो के बीच एक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है और, क्योकि आज के पूंजीवादी समाज मे यह संघर्ष एक भयंकर रूप मे वर्तमान है, व्यक्ति की इस विच्छिन्नता की भावना ने एक ऐतिहासिक सत्य का रूप ले लिया है। सार्त्र ने मार्क्स के इस कथन की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "यदि व्यक्ति अपने को विच्छिन्नता की इस भावना से मुक्त करना चाहता है तो उसकी 'चेतना का जागृत हो जाना' ही काफी नही है। व्यक्ति की अभिव्यक्ति कार्य के ठोस माध्यम से ही सम्भव है, पर उसके *लिए यह भी आवश्यक है कि एक क्रान्तिकारी परिस्थिति मे से वह गुजरे।*"[17] *मार्क्सवाद* को कर्म और क्रान्ति के साथ सम्बद्ध करके सार्त्र ने यह स्थापित करने की चेष्टा की कि जब कि, कीर्कगार्द और हीगल दोनो की बात, अपने-अपने दृष्टिकोणो से ठीक थी, मार्क्स की बात इन दोनों की बातो से अधिक ठीक थी। मार्क्स ने जहा एक ओर, *कीर्कगार्द के समान, व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व की यथार्थता* को स्वीकार किया, वही दूसरी ओर, हीगल के समान, पदार्थों की वास्तविकता के सन्दर्भ मे ही इस यथार्थता को समझने का प्रयत्न किया।

इस सारी दार्शनिक विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि अस्तित्ववाद का जन्म एक औद्योगिक समाज की पृष्ठभूमि पर, और उसकी विशेष परिस्थितियो के सन्दर्भ मे,

[16]वही।
[17]वही, पृ० 237।

हुआ। परन्तु इन परिस्थितियों के मौजूद रहते हुए भी, उसके विकास के अचानक रुक जाने का दायित्व भी सार्त्र ने स्वयं मार्क्सवाद के विकास की गति के अवरुद्ध हो जाने को दिया। मार्क्सवाद के एक सर्व-प्रमुख विचारधारा के रूप में स्थापना के बाद के वर्षों में अस्तित्ववाद का पुनर्जन्म हुआ। इसका प्रमुख कारण सार्त्र के अनुसार, जो 1956 तक स्वयं एक कट्टर साम्यवादी था, मार्क्सवाद के इस सिद्धान्त में कि मनुष्य का निर्माण वातावरण के द्वारा होता है और अस्तित्ववाद की इस आस्था में कि मनुष्य *अपना निर्माण स्वयं करता है, अन्तर्विरोध था।* दो *विश्वयुद्धों* के बीच के वर्षों में अस्तित्ववाद के फिर से जोर पकड़ने का कारण यह था कि मार्क्सवाद में व्यक्ति के महत्त्व को स्वीकार नहीं किया गया था। सार्त्र का विरोध मार्क्सवाद से नहीं है परन्तु वह मानता है कि मार्क्सवाद अपने वर्तमान रूप में एक अधूरा सिद्धान्त है और अस्तित्व-वाद को वह उसके पूरक के रूप में मानता है। इस दृष्टि से, कर्न्स के शब्दों में, हम कह सकते हैं कि सार्त्र "शायद सबसे विचित्र प्रकार का समाजवादी था।"[18] सार्त्र की मान्यता है कि मार्क्सवाद अपने आप में एक अपर्याप्त अथवा अधूरा सिद्धान्त नहीं है, परन्तु विकास की एक स्थिति तक पहुँच कर उसका आगे बढ़ना रुक गया। "साम्यवादी *क्रान्ति की सफलता के बाद रूस को इतने अधिक बाहरी और आन्तरिक शत्रुओं* से अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करना पड़ा कि उसे अपने सिद्धान्तों को एक कठोर और कट्टर रूप देने पर विवश हो जाना पड़ा। चारों तरफ से घिर जाने और अकेला पड़ जाने, और साथ ही औद्योगीकरण के दैत्याकार प्रयत्न का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेने, का परिणाम यह हुआ कि मार्क्सवाद विचारों के नये संघर्षों, व्यावहारिक आवश्यकताओं, और उनके साथ अनिवार्य रूप से सम्बद्ध गलतियों का आघात सहने की स्थिति में नहीं रह गया।"[19] बाहरी खतरों से बचाव और रूस के भीतर एक साम्य-वादी समाज के गठन की दोहरी आवश्यकताओं के बोझ के कारण मार्क्सवादी-लेनिन-वादी विचारधारा को अन्तर्निहित तार्किक परिणामों से पीछे हटने, और अपने भीतर सिमिट आने के लिए विवश होना पड़ा।

सार्त्र मार्क्सवाद से इतिहास के आधुनिक युग का कट्टर आलोचक है। उसने बड़ी कटुता, पर संवेदनशीलता, के साथ यह लिखा, "मार्क्सवाद ने हमें इस प्रकार से अपनी ओर आकर्षित किया जैसे चन्द्रमा लहरों के ज्वार को अपनी ओर खींचता है, और हमारे समस्त विचारों में आमूल परिवर्तन कर देने और सभी प्रकार के बूर्ज्वा चिन्तन को हमारे भीतर से बिलकुल निचोड़ देने के बाद उसने हमें अचानक किनारे पर लाकर अकेला पटक दिया··· उस विशेष परिस्थिति में, जिसमें लाकर हमें छोड़ दिया गया *था, मार्क्सवाद के पास हमें सिखाने के लिए कोई नयी बात नहीं रह गयी थी,* क्योंकि उस समय तक उसका विकास सर्वथा रुक गया था।"[20] सार्त्र ने आगे जा कर लिखा,

[18]कर्न्स, पी० उ०, पृ० 298।
[19]ज्यां-पॉल सार्त्र, पोइट और दमंबी में, पी० उ०, पृ० 242 43।
[20]वही, पृ० 242।

"परिस्थिति को अधिक गहराई से समझने और उसके परिणामस्वरूप हमे क्या कार्य करना है उसे जानने के लिए अब मार्क्सवाद का विशेष सन्दर्भ आवश्यक नहीं रह गया था। (मार्क्सवादी) विश्लेषण का अर्थ अब यह रह गया है कि सिद्धान्त की बातों को दृष्टि से ओझल कर दिया जाय, कुछ विशेष घटनाओ के महत्त्व को बढा चढा कर आका जाय, और तथ्यो को उनके प्रेरक तत्त्वो से विच्छिन्न कर दिया जाय, अथवा उनके लिए ऐसे तत्त्वों की कल्पना कर ली जाय जिनके आधार पर हम बाद मे अपने इस निष्कर्ष को न्यायसम्मत सिद्ध कर सकें कि वे अपरिवर्तनीय थे। · · मार्क्सवाद की खुली सकल्पनाए अब बन्द दीवारो के भीतर चिन दी गयी हैं, जबकि पहले उन्हे नया ज्ञान प्राप्त करने की कुजी माना जाता था—अब उन्हे ही समग्र ज्ञान माना जाने लगा है · · । मार्क्सवाद की जो सकल्पनाएं आज प्रचलित हैं उनका आधार भूतकाल के ज्ञान पर है, परन्तु आज का मार्क्सवाद उन्हे ही चिरन्तन ज्ञान मान कर चलता है।"[21] दूसरे शब्दों मे, मार्क्सवाद का सम्बन्ध इतिहास के विकासक्रम से टूट गया था, और उसने एक जड सिद्धान्त का रूप ले लिया था।

सार्त्र ने मार्क्सवाद के इस जड, स्थिर, अवरुद्ध और विकासशून्य स्वरूप की आलोचना की है। मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्तो से उसका कोई विरोध नही है, और यही कारण है कि नवम्बर 1956 मे रूस के द्वारा हगरी के विद्रोह के कुचले जाने तक वह फ्रांस के साम्यवादी दल का एक सदस्य रहा, और उसके बाद भी उसने मार्क्सवाद का त्याग नहीं किया। इसके विपरीत सार्त्र का यह दृढ विश्वास है कि आज की समस्याओं का समाधान मार्क्सवाद के सन्दर्भ मे ही निकल सकता है। उसके शब्दों मे, "मार्क्सवाद थक कर निढाल नही हो गया है, वह अभी भी तरुण है, शैशव की समस्त ताजगी लिये हुए। उसका विकास अभी प्रारम्भिक अवस्था मे है, इस कारण वह आज भी हमारे युग का प्रमुख दर्शन है। हम उसका अतिक्रमण नही कर सकते, क्योंकि हमने अभी उन परिस्थितियो का अतिक्रमण नहीं किया है जिन्होने उसे जन्म दिया था।"[22] इस प्रकार सार्त्र साम्यवादी दल की सदस्यता छोड देने के बाद भी साम्यवाद के मूल सिद्धान्तो का एक कट्टर समर्थक है, परन्तु साम्यवाद को वह तब तक अधूरा मानता है जब तक अस्तित्ववाद को उसके आधार के रूप मे स्वीकार न कर लिया जाय। मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्तो को स्वीकार करते हुए भी सार्त्र एक कट्टर व्यक्तिवादी और मानवतावादी है। मार्क्सवाद के साथ वह तब तक समझौता करने की स्थिति मे नहीं है जब तक मार्क्सवाद "मानववादी आयाम" (अथवा अस्तित्ववादी दृष्टिकोण) को अपने समस्त सिद्धान्तों का आधार न बना ले। सार्त्र यह भी मानता है कि अस्तित्ववाद की स्थापना मार्क्सवाद के आधार के रूप मे हो जाने के बाद अस्तित्ववाद के लिए अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखना अनावश्यक हो जायेगा।

सार्त्र का विश्वास है कि अस्तित्ववाद के उद्भव और विकास का मुख्य कारण यही

[21]वही, पृ० 246।
[22]वही, पृ० 248।

था कि व्यक्ति को मार्क्सवादी ज्ञान की परिधि से बाहर धकेल दिया गया था। उसका कहना है कि "मार्क्सवाद ने यदि मानव को अपने आधार के रूप में फिर से स्वीकार नहीं किया तो यह एक अमानवीय नृविज्ञान से भिन्न कुछ नहीं रह जायेगा।"[23] अस्तित्ववाद का समस्त प्रयत्न मानव को मार्क्सवादी दर्शन की परिधि में ले आना है। "जब तक उसका यह कार्य पूर्ण नहीं हो जाता तभी तक अस्तित्ववाद के अपना अस्तित्व अलग बनाये रखने का कोई आधार रहता है।"[24] सार्त्र के शब्दों में, "जब तक यह सिद्धान्त (मार्क्सवाद) अपनी इस कमी को स्वीकार नहीं कर लेता, जब तक उसका ज्ञान एक अन्धविश्वासपूर्ण तत्वदर्शन पर टिका रहता है, और यह जीवित मानव की समस्याओं को समझने का प्रयत्न नहीं करता, जब तक यह उन सब विचारधाराओं को विवेकहीन मान कर अस्वीकार करता रहता है जिनका उद्देश्य ज्ञान को अस्तित्व से भिन्न करना है, और जब तक मानव का ज्ञान उसके अस्तित्व के आधार पर फिर से स्थापित नहीं किया जाता, जैसा मार्क्स ने किया था, तब तक अस्तित्ववाद खोज के अपने स्वतन्त्र मार्ग पर चलता रहेगा।"[25]

एल्बर्ट कामू (1913-1960)

अस्तित्ववादी चिन्तन के विकास में सार्त्र के बाद सबसे अधिक योग जिस व्यक्ति का है वह है एल्बर्ट कामू—उपन्यासकार, नाटककार, और नोबेल पुरस्कार-विजेता।[26] कामू और सार्त्र के विचारों में गहरा अन्तर है, इतना गहरा कि कामू अपने को अस्तित्ववादी कहलाना भी पसन्द नहीं करता था। उसे सार्त्र का उग्र नास्तिकवाद सर्वथा अनुचित लगता है, सार्त्र के मानव अस्तित्व को प्राथमिक मानने के सिद्धान्त को वह अस्वीकार करता है परन्तु उसके अस्तित्ववादी होने से भी इनकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि, कीर्कगार्द और सार्त्र के समान ही, उसके सारे चिन्तन का आधार मानव के व्यक्तित्व पर टिका हुआ है। कामू के सम्बन्ध में कुछ समय तक एक यह विवाद भी चला कि वह, मूलतः, कलाकार और लेखक है अथवा दार्शनिक। परन्तु, इस प्रकार का विवाद निरर्थक था। कामू की कला की उत्पत्ति उसकी गहरी दार्शनिक आस्थाओं से

[23]वही, पृ० 253।

[24]वही।

[25]वही, पृ० 254-55।

[26]कामू के प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थ हैं : 'दि मिथ ऑफ सिसीफस एण्ड अदर एसेज,' अनु० जस्टिन ओ'ब्रायन एल्फ्रेड ए० नौफ, न्यू० 1955, प्रथम प्रकाशन 1942; 'दि रेबेल,' अनु० एन्थनी बोवर, न्यूयार्क, एल्फ्रेड ए० नौफ, न्यू०, 1956, प्रथम प्रकाशन 1951; 'नोट-बुक्स, 1942-1952,' अनु० जस्टिन ओ'ब्रायन, एल्फ्रेड ए० नौफ, न्यू० 1965। कामू के सम्बन्ध में लिखे गये ग्रन्थों में से कुछ ये हैं : फिलिप थोडी, 'एल्बर्ट कामू : ए स्टडी ऑफ हिज वर्क,' न्यूयार्क, दि मैकमिलन कं०, 1957, टॉमस हैना, 'दि थॉट एण्ड आर्ट ऑफ एल्बर्ट कामू,' शिकागो, रेगनरी, 1958, जॉन क्रुकशैंक, 'एल्बर्ट कामू एण्ड दि लिट्रेचर ऑफ रिवोल्ट,' ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1959, जर्मेन ब्री द्वारा सम्पादित, 'कामू : ए कलेक्शन ऑफ क्रिटिकल एसेज,' एंगलवुड क्लिफ्स, एन० जे० प्रेंटिस हॉल, इन्क०, 1962।

हुई है, और उसका दर्शनशास्त्र उसकी सर्जनात्मक रचनाओ मे से विकसित हुआ है। अधिकतर तो हम कामू के कलाकार और दार्शनिक दोनो रूपो को एक दूसरे मे आबद्ध पाते है। उसका प्रसिद्ध उपन्यास 'स्ट्रेंजर' 1942 मे प्रकाशित हुआ, यद्यपि वह लिखा कुछ वर्ष पहले जा चुका था, और उसी वर्ष उसका पहला विस्तृत दार्शनिक प्रवन्ध 'दि मिथ ऑफ सिसीफस' प्रकाशित हुआ और उसके कुछ समय के बाद 'मिस अडर स्टैंडिग और कैलीग्युला' नाम के उसके प्रसिद्ध नाटक। 1947 मे उसने 'प्लेग' नाम का एक उपन्यास प्रकाशित किया, जिसके कारण उसे अर्वाचीन फ्रासीसी साहित्य के प्रमुख लेखक के रूप मे प्रसिद्धि मिली और कुछ वर्षों के बाद, 1951 मे 'दि रेबेल' नाम का उसका लम्बा दार्शनिक प्रबन्ध प्रकाशित हुआ। 'दि रेबेल' मे जिस दार्शनिक सिद्धान्त का विकास किया गया है उसी की प्रस्थापना हम 'प्लेग' नाम के उसके उपन्यास मे और 'दि स्टेट' ऑफ सीज, और 'दि जस्ट असेसिन्स' नाम के नाटको मे पाते हैं। 1956 मे 'दि फॉल' नाम से उसका एक और उपन्यास प्रकाशित हुआ। एक कार दुर्घटना मे 4 जनवरी 1960 को कामू की मृत्यु हुई, परन्तु अपनी मृत्यु के दिन तक वह कला की सर्जनात्मक कृतियों और दर्शन के विश्लेषणात्मक ग्रन्थो की रचनाओ और प्रकाशन मे लगा हुआ था। परन्तु, यहा हमारा सम्बन्ध, उसकी साहित्यिक रचनाओ से नही, उसके दर्शन की मूल धाराओ से है, इस कारण हम उसके दार्शनिक दृष्टिकोण की उन मूल बातो की ही चर्चा करेंगे जो उसे एक प्रमुख अस्तित्ववादी दार्शनिक के रूप मे उपस्थित करती हैं।

कामू की समस्त रचनाओ मे, चाहे वे साहित्यिक कृतियां हो अथवा दार्शनिक ग्रन्थ, हमे सूत्र रूप मे जो विचार मिलता है वह जीवन की निरर्थकता का विचार है। सार्त्रे की दृष्टि मे जीवित रहना एक नि सत्व, अर्थहीन और थका देने वाला कार्य है। जीवन का एक लगा-बधा क्रम है। "सवेरे उठना, ट्राम या बस पकडना, चार घण्टे दफ्तर या कारखाने मे काम मे लगे रहना, दोपहर का भोजन, फिर ट्राम या बस की यात्रा, फिर चार घण्टे काम करना, और उसके बाद रात्रि का भोजन और सो जाना, और यह क्रम सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनिवार को एक सी ही नीरसता के साथ चलता रहता है।"[27] लेकिन तब एक दिन ऐसा भी आता है जब व्यक्ति, थक कर और हैरानी के साथ, अपने से पूछता है कि यह सब वह आखिर क्यो कर रहा है। वह अपने को परिस्थिति के साथ ढालने का प्रयत्न करता है, परन्तु जब यह बात उसकी समझ मे आ जाती है कि उसके इस प्रयत्न मे सचाई नही, केवल 'छलना' है, तो उसे सारे प्रयत्न की विसंगति और भी स्पष्ट दिखायी देने लगती है। इस प्रकार की स्थिति का उत्तर क्या विज्ञान से प्राप्त किया जा सकता है? कामू की मान्यता है कि अस्तित्व के पीछे विवेक का तत्त्व कितना है इसका स्पष्टीकरण विज्ञान के पास भी नही है। तब फिर व्यक्ति के सामने चारा क्या रह जाता है? कामू की दृष्टि मे इस विसगति से निबटने के लिए तीन मार्ग हैं—आत्म-हत्या, आशावान होना, अथवा जीवन को (उसकी सारी विसगति के

[27] कामू, 'दि मिथ ऑफ सिसीफस एण्ड अदर एसेज,' पी० उ०, पृ 10।

साथ) जीते चले जाना। कामू ने इन तीनों मार्गों की एक-एक करके व्याख्या की है। तब वह इस परिणाम पर पहुंचता है कि आत्महत्या इस समस्या का समाधान नहीं है। विसंगति मानव के मस्तिष्क की ही उपज है, इस कारण उसका अस्तित्व जीवन के बाहर कहीं सम्भव नहीं है। विसंगति एक वास्तविकता है और जीवन का अन्त कर देने के साथ वह मिट नहीं जाती। जीवन का संरक्षण, इस प्रकार, आवश्यक हो जाता है—"यदि मैं इस निर्णय पर पहुंचता हूं कि कोई वस्तु सत्य है तो उसका संरक्षण मेरा कर्तव्य हो जाता है।"[28] आत्म-हत्या विसंगति की समस्या का समाधान नहीं है, बल्कि उससे बच निकलने का एक असफल प्रयत्न है। समस्या का समाधान जब आत्महत्या के द्वारा सम्भव नहीं है तो जीवित रहने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता। कामू तब दूसरे मार्ग, जीवन के दृष्टिकोण को आशावान बनाने के पर्याय, की विवेचना करता है, और उसमें, और दार्शनिक आत्महत्या में कोई अन्तर नहीं देखता। विसंगति ही जब एक मात्र सत्य और मानव की स्थिति का मूल तत्त्व है तो केवल एक ही रास्ता व्यक्ति के सामने रह जाता है कि वह जिन्दा रहे और उस "भयंकर संघर्ष की वास्तविकता को स्वीकार करे जो मानव की जिज्ञासा और उसके प्रत्युत्तर में विश्व के चिरन्तन मौन" के रूप में चल रहा है।[29]

कामू इस प्रकार अपने ही तर्कों के आधार पर मानव जीवन के मूल्य को स्वीकार करने पर विवश होता है। परन्तु यदि जीवित रहना है, और जीवन की समस्याओं का डट कर मुकाबला करना है, तो व्यक्तिगत नैतिकता से हट कर सामाजिक नैतिकता की दिशा में आगे बढ़ना आवश्यक होगा। जीवित रहना एक व्यक्तिगत नहीं, सामाजिक समस्या है, इस तथ्य को स्वीकार कर लिया जाय तो जीवन के केवल दो मार्ग हमारे सामने खुले दिखायी देते हैं—एक निराशा का मार्ग है, जिसे नात्सियों ने स्वीकार किया था, और दूसरा न्याय का मार्ग, मानव मात्र के लिए न्याय प्राप्त करने का मार्ग। कामू, अपने दर्शन के समस्त नैराश्य के बावजूद, न्याय के लिए संघर्ष करने के इस मार्ग को पसन्द करता है। नात्सियों के पास कोई मानवी अथवा दैवी सिद्धान्त नहीं थे, और इस कारण उन्होंने पाशविक जगत के मूल्यों—हिंसा और चालाकी, को स्वीकार किया, और वे इस परिणाम पर पहुंचे कि व्यक्ति के लिए एक मात्र खोज शक्ति की जोखिमपूर्ण खोज है। नात्सीवाद के इस तर्क को काटने के लिए कामू के पास कोई प्रत्युत्तर नहीं था, परन्तु 'न्याय के प्रति भयंकर प्रेम' के कारण ही उसे इस मार्ग को अस्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा। कामू असीमित शक्ति की अन्ध खोज को केवल अस्वीकार ही नहीं करता, परन्तु इसके विपरीत वह यह मानता है कि "मनुष्य को, चिरन्तन अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए, न्याय की भावना को अपने जीवन में बहुत ऊंचा स्थान देना होगा दुख की दुनिया के विरुद्ध अपना विद्रोह प्रगट करने के लिए उसे आनन्द

[28]वही, पृ० 23।
[29]कामू, 'दि रेबेल,' पी० उ०, पृ० 6।

का निर्माण करना होगा।"[30] नैराश्य का तिरस्कार करके, इसी सन्दर्भ में, कामू ने 'संगठन' के विचार का प्रतिपादन किया है। संगठित होकर ही मनुष्य एक घृणास्पद जीवन के विरुद्ध संघर्ष कर सकता है। कामू के दर्शन में सर्वत्र विद्रोह का विचार फैला हुआ दिखायी देता है, पर उसकी उत्पत्ति उसकी न्याय की भावना में से हुई है। कामू ने अपने बाद के वर्षों के समस्त राजनीतिक चिन्तन में 'विद्रोह' की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है, और 'विद्रोह' की उसकी यह भावना बड़े तीखेपन के साथ 'दि स्टेट ऑफ सीज,' 'दि जस्ट असैसिन्स' और 'प्लेग' नाम की उसकी रचनात्मक कृतियों में प्रतिबिम्बित दिखायी देती है। 'विद्रोह' की यह कल्पना कामू को अनिवार्य रूप से 'हत्या' के विचार की ओर धकेलती है, परन्तु मानव के जीवन के साथ उसकी गहरी सहानुभूति है और उसी आधार पर उसने राज्य के द्वारा फांसी की सजा दिये जाने का सदा विरोध किया। इस सम्बन्ध में कामू का तर्क यह था कि जीवन एक ऐसी वस्तु है जिसे एक बार नष्ट कर देने के बाद पुन प्राप्त नहीं किया जा सकता। कामू राज्य के द्वारा की गयी हत्या में और न्याय की प्राप्ति के लिए व्यक्तियों के द्वारा की गयी हत्या में भेद करता है, राज्य के द्वारा हत्या उसकी दृष्टि में भर्त्सना के योग्य है। इस प्रकार राज्य के द्वारा की जाने वाली हत्या का विरोध करते हुए वह व्यक्तियों के द्वारा की जाने वाली हत्या को न्यायोचित ठहराता है, परन्तु, ऐसा जान पड़ता है कि उसका अपना यह तर्क उसे एक ऐसे स्थान पर ले जाता है जहां मानव के जीवन को नष्ट कर देने की भावना उसे चौंका देती है और हत्या को विद्रोह का एक अनिवार्य अंग मानने की दलील के साथ ही साथ वह एक दूसरा तर्क यह देता है कि विद्रोह की अपनी मर्यादाएं हैं, और इस प्रकार, हत्या के प्रति उसकी यह मानवी झिझक उसे विद्रोह के मार्ग से ही च्युत करती हुई दिखायी देती है, यद्यपि स्पष्ट शब्दों में अपनी इस कमजोरी को स्वीकार करने के लिए वह तैयार नहीं है।

कामू की इन दलीलों को अस्तित्ववाद के सन्दर्भ में देखने का प्रयत्न करें तो लगता है कि उनके भंवर-जाल में वह अधिक, और अधिक, गहरा डूबता चला गया है। वह आत्महत्या के मार्ग को अस्वीकार करता है, इस दलील के साथ कि "शरीर के निर्णय को उतना ही ठोस मानना चाहिए जितना कि मस्तिष्क के निर्णय को, और शरीर नष्ट होने की कल्पना से ही झिझकता है।"[31] आत्महत्या के मार्ग को अस्वीकार करके कामू जब जीवित रहने के मार्ग को स्वीकार कर लेता है तो स्वतन्त्रता, विद्रोह और "जीवन को पूरा जीने" की दृष्टि से उसे पराकाष्ठा तक ले जाने की आवश्यकता उसके सामने अधिकाधिक स्पष्ट होती जाती है।[32] इस स्थिति पर कामू विद्रोह में और हत्या में अन्तर करने लगता है। विद्रोह के सम्बन्ध में तो वह यह कहता है कि यह, स्वार्थ की भावना पर नहीं, मानवीय संगठन के सिद्धान्तों पर आधारित है, और जनसाधारण के कष्टों के

[30]कामू, 'रिजिस्टेंस, रिबेलियन एण्ड डेथ,' न्यूयार्क, एल्फ्रेड ए० नौफ, इन्क, 1961, पृ० 27-29।
[31]कामू, 'दि मिथ ऑफ सिसीफस एण्ड अदर एसेज,' पी० उ०, पृ० 6।
[32]वही, पृ० 46।

विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है, और हत्या के सम्बन्ध में वह कहता है कि मानव जीवन को, जिसे फिर से प्राप्त नहीं किया जा सकता, नष्ट कर देना एक नृशंस कार्य है। हत्या के मार्ग से पीछे हटने के बाद, (और अहिंसात्मक क्रान्ति का कोई मार्ग उसके सम्मुख स्पष्ट न होने के कारण) उसके पास इसके अतिरिक्त कुछ कहने को नहीं रह जाता कि विद्रोह की अपनी सीमाएं हैं। *क्रान्ति के नाम पर वह रूस की आतंकवादी कार्य-विधियों का* समर्थन करता है, परन्तु रूस की तानाशाही को वह अस्वीकार करता है। विद्रोह की इस भावना के पीछे "श्रमिक सर्वहारा" के प्रति, "जो कष्ट और मृत्यु से चकनाचूर हो गया है" और "जिसे ईश्वर का सहारा भी नहीं रह गया है," पूरी सहानुभूति है—"हमारा स्थान उपदेशकों से, चाहे वे पुराने हों अथवा नये, बहुत दूर और इस दुखी सर्वहारा के साथ है।"[33] कामू के विद्रोह की भावना के पीछे, इस प्रकार, सन्तप्त मानवता के प्रति सहानुभूति, प्रेम और वेदना की भावना सर्वत्र दिखायी देती है—"जिन्हें ईश्वर (धर्म) अथवा इतिहास का भरोसा नहीं रह गया है उनका जीवन उनकी सेवा में बीतने के लिए ही है जो, उन्हीं के समान, जीने में असमर्थ हैं—दलितों और पीड़ितों के साथ।"[34] राय पीयर्स ने ठीक ही लिखा है कि कामू अपने युग की सृष्टि है, और वह आधुनिक विश्व के साथ जीना चाहता है, उसे नष्ट करना उसका उद्देश्य नहीं है।[35] थार्सन ने लिखा है, "कामू के तर्क दुःसाध्य हैं, और साथ ही अस्पष्ट और अधूरे। उसकी रचनाएं सुन्दर और उत्कृष्ट हैं, परन्तु कभी-कभी शब्दाडम्बर से ऊपर नहीं उठ पातीं। परन्तु *राजनीतिक दर्शन में उसका चिन्तन इतना अधिक यथार्थवादी है जितना हमारे युग* का कोई भी अन्य चिन्तन शायद ही हो।"[36]

कार्ल जैस्पर्स और गेब्रियल मार्सेल

अस्तित्ववादी आन्दोलन के प्रवर्तकों में सार्त्र और कामू के साथ कार्ल जैस्पर्स[37] और गेब्रियल मार्सेल[38] की गिनती भी की जाती है, यद्यपि सार्त्र और कामू की तुलना में वे दोनों ही एक पिछली पीढ़ी के प्रतिनिधि थे। जैस्पर्स को एक दार्शनिक के रूप में अस्तित्ववाद का आधार-स्तम्भ माना जाता है। उस पर भी हीगल और नीत्शे का गहरा

[33] कामू, 'दि रेबेल,' पी० उ०, पृ० 303।

[34] वही, पृ० 305।

[35] रोय पीयर्स, 'कॉन्टेम्परेरी फ्रेंच पोलिटिकल थॉट,' ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1966।

[36] टोमस एल० थोर्सन, 'दि पोलिटिकल फिलोसफी ऑफ कामू,' कोम्टे और थार्सेवी, पी० उ०, पृ० 271 पर।

[37] कार्ल जैस्पर्स के प्रमुख ग्रन्थ हैं: 'मैन इन दी मॉडर्न एज,' अनु० ई० पीर एण्ड सी०, डबलडे एण्ड क०, एन०, 1957, प्रथम प्रकाशन 1931; 'एग्ज़िस्टेंशियलिज़्म एण्ड ह्यूमैनिज़्म,' रसेल एफ० मूर, 1952; 'रीज़न एण्ड एग्ज़िस्टेंस,' न्यूयार्क, नूनडे प्रेस, 1955; 'दि फ्यूचर ऑफ मैनकाइन्ड,' अनु० ई० बी० एश्टन, शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस, 1961, प्रथम प्रकाशन 1958।

[38] गेब्रियल मार्सेल के प्रमुख ग्रन्थ हैं: 'दि फिलॉसफी ऑफ एग्ज़िस्टेंस,' फिलोसोफिकल लायब्रेरी, एन०, 1949, 'मैन अगेंस्ट मास सोसायटी,' अनु० जी० एस० फ्रेज़र, रेगनरी क० 1962, प्रथम प्रकाशन 1952।

प्रभाव था। जैस्पर्स के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वह ऐसे चिन्तकों में, जिन्होंने अर्वाचीन इतिहास के खतरों के चिन्हों को इंगित किया है, प्रमुख था। ईश्वर, धर्म, राजनीतिक कार्यक्रम आदि कुछ मूलभूत समस्याओं के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद होते हुए भी मानवी मूल्यों, स्वतन्त्रता पर आये हुए संकट और मानव की चिन्ता के अनेक विषयों के सम्बन्ध में उनके विचार अस्तित्ववादी चिन्तन के अन्य लेखकों से मिलते जुलते हैं, परन्तु इन लेखकों की एक विशेषता यह है कि जनसाधारण को ये बड़ी हीन भावना से देखते हैं। उनकी मान्यता है कि साधारण व्यक्ति सदा सुख की खोज में रहता है, काम करने के लिए वह तभी तैयार होता है जब उसकी आवश्यकता उसे ऐसा करने के लिए विवश कर दे, अथवा चाबुक की मार से उससे काम कराया जाय। इन लेखकों की साधारण व्यक्ति में उतनी रुचि नहीं है जितनी असाधारण में, कलाकार अथवा सर्जनशील व्यक्ति में। एक अन्य अस्तित्ववादी लेखक, पॉल टिलिश,[39] ने जो जर्मनी का रहने वाला था पर बाद में अमरीका में बस गया था, व्यक्ति की चिन्ता और समाज की चिन्ता में अन्तर किया है, और यह बताने का प्रयत्न किया है कि कई बार एक स्वस्थ व्यक्ति के लिए भी एक रोगी समाज में रहना कठिन हो जाता है। परन्तु, इन दोनों प्रकार की चिन्ताओं से व्यक्ति कैसे छुटकारा प्राप्त कर सकता है, इसका उत्तर देने का टिलिश ने भी कोई प्रयत्न नहीं किया।

अस्तित्ववाद को दर्शन का नाम देना उचित नहीं होगा, और उसे राजनीतिक दर्शन की संज्ञा देना तो और भी अधिक अनुचित। अस्तित्ववादियों की मान्यता रही है कि उनकी बौद्धिक जिज्ञासा का लक्ष्य, दार्शनिक विश्लेषण में उलझना नहीं, परन्तु, मानव की यथार्थ स्थिति को उन विशिष्ट परिस्थितियों के सन्दर्भ में समझना है जिनमें वह आज अपने को पाता है। आधुनिक चिन्तन को उनकी सबसे बड़ी देन यह रही है कि उन्होंने 20वीं शताब्दी में व्यक्ति की जो स्थिति हो गयी है उसके सम्बन्ध में बड़ी सहानुभूति के साथ विचार किया है। अस्तित्ववादियों के चिन्तन में "रोमान्सवाद, रूढ़िवाद, अविश्वास, व्यावहारिकता और आदर्शवाद की वे सभी धाराएं, जो पिछले सौ वर्षों के इतिहास को प्रभावित करती रही हैं, एक दूसरे के साथ उलझी हुई दिखायी देती हैं।"[40] अस्तित्ववाद आज की महत्त्वपूर्ण सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का कोई ठोस विश्लेषण नहीं देता, वह हमें यह बताने में भी असमर्थ है कि सामूहिक सहयोग के आधार पर सामाजिक प्रयत्न की जो मांग उसने उठाई है उसे पूरा कैसे किया जा सकता है, और आज की प्रमुख राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को कैसे सुलझाया जा सकता है, इसके सम्बन्ध में कोई उपाय अथवा साधन बताने में भी वह सर्वथा असमर्थ है। उसकी इन कमियों को देखते हुए यह तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं लगता कि वह एक प्रभावशाली आन्दोलन का रूप नहीं ले सका। उसका प्रभाव यूरोप, विशेष कर फ्रांस और जर्मनी, तक सीमित रहा, और वहां भी 1950 का दशक समाप्त होते-होते वह

[39]पॉल टिलिश का प्रमुख ग्रन्थ 'दि करेज टु बी,' न्यू हेवन, येल विश्वविद्यालय प्रेस, 1952 है।
[40]बर्न्स, पी० उ०, पृ० 291।

कमजोर पड़ने लगा था। उसका कब अन्त हुआ, यह पता लगाने की किसी ने चिन्ता नहीं की। कामू एक कार दुर्घटना में मारा गया। जैसपर्स और मार्सेल ने अस्तित्ववाद का परित्याग कर दिया, और परम्परागत, धार्मिक वृत्ति वाले अनुदार व्यक्ति बनकर रह गये। सार्त्र फ्रांस के साम्यवादी दल की कार्य विधियों में अधिक उलझता गया, परन्तु 1956 में जब हंगरी के विद्रोह को रूस ने निर्दयतापूर्वक कुचल दिया तब उसे साम्यवाद से घृणा हो गयी और उसने साम्यवादी दल से त्यागपत्र दे दिया। अस्तित्ववाद के सम्बन्ध में, कुल मिलाकर, हम यही कह सकते हैं कि एक भयंकर अर्वाचीन परिस्थिति के विरुद्ध यह एक स्वस्थ भावनात्मक प्रतिक्रिया थी, पर इसके उन्नायकों ने हमें यह बताने का तनिक भी प्रयत्न नहीं किया कि उस परिस्थिति से हमें छुटकारा कैसे मिल सकता है।

(व) बीटनिक, हिप्पी और नवीन वामपन्थ

अमरीका में एक भिन्न प्रकार का आन्दोलन विकसित हुआ जिसके पीछे एक दैत्याकार समाज के अत्याचारों के विरुद्ध निरीह व्यक्ति की उसी प्रकार की कुण्ठा का भाव था जो हमें यूरोप के अस्तित्ववादियों में दिखायी देता है—यह आन्दोलन दूर-पार के स्थानों में—जैसे न्यूयार्क के ग्रीनविच गाव में, सैन फ्रांसिस्को के उत्तरी समुद्री तट पर, न्यू ऑर्लियन्स, शिकागो, और लोस एंजेलेस में फैला और इसके अनुयायी, जो सभी तरुण व्यक्ति थे, अपने को हिप्स्टर अथवा बिटनिक कहलाने में गर्व का अनुभव करते थे। इन लोगों ने औद्योगिक समाज और उसके द्वारा फैलाये गये बहुत से दोषों को तिरस्कार की दृष्टि से देखा। उस समाज में जो एक अन्तर्निहित विवेकहीनता थी उसके प्रति एक विवेकहीन प्रतिक्रिया थी, जिसे उन्होंने अपने व्यक्तिगत और साम्प्रदायिक जीवन में अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को ये समाज के बन्धनों से मुक्त कर देना चाहते थे, और समाज के प्रति कर्तव्य-परायणता, राष्ट्रीय ध्वज और धर्म का अपमान करने में इन्हें कोई संकोच नहीं था। नीग्रो जैज, लोक-संगीत और नशीले पदार्थों के सेवन में इन्हें विशेष रुचि थी, और वेश-भूषा और रहन-सहन के मामलों में सभी परम्पराओं को ये तोड़ देना चाहते थे। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जिस समाज में उनका पालन-पोषण हुआ था उसके प्रति उनके मन में तिरस्कार की एक गहरी भावना थी, परन्तु उसके पीछे विवेक और बुद्धि की कोई प्रेरणा नहीं थी। वे तो एक सनसनीखेज और सर्वथा उत्तरदायित्व-हीन जीवन बिताने में विश्वास रखते थे। समाज के नियमों, परम्पराओं, परिपाटियों और मूल्यों को उन्होंने तोड़ने का पूरा प्रयत्न किया और एक उमड़ते हुए और अव्यवस्थित जीवन को अपना लक्ष्य माना। उनकी दृष्टि में समाज एक पागलपन की स्थिति में था और वे मानते थे कि पागलपन का व्यवहार अपना कर ही वे समाज के साथ वास्तविक तादात्म्य स्थापित कर सकते थे। समय की अवज्ञा करना, इन्द्रिय-परक अनुभूतियों को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करना, और साथ ही अपराध की भावना से सर्वथा अभिज्ञता उनकी दृष्टि में जीवन का सबसे अच्छा ढंग था। हिप्स्टर और बिटनिक की इस परंपरा में से ही बाद की पीढ़ी में पनपने वाले हिप्पियों का जन्म हुआ। एक ऐसे युग में जन्म लेने के कारण, जिसमें हत्याएं साधारण जीवन का एक अंग

बन गयी थी, और आणविक सर्वनाश की काली छाया ने भविष्य की समस्त कल्पनाओं को आच्छादित कर लिया था, हिप्पियों का यह विश्वास बन गया था कि सबसे उपयोगी यात्रा अपने भीतर के जीवन में प्रवेश करने की थी, और इस यात्रा में सम्बल के रूप में उन्होंने एल-एस-डी और इस प्रकार की अन्य नशीली वस्तुओं को चुना।

इसी प्रकार की सामाजिक परिस्थितियों में, 1960 के दशक में, अमरीका के नवयुवकों में, विशेषकर उन नवयुवकों में जो विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, एक भिन्न प्रकार के और अधिक सकारात्मक आन्दोलन का विकास हुआ। गरीब और परित्यक्त हब्शियों के निराशाजन्य विद्रोह से उसने प्रेरणा ली। गोरे लोगों के द्वारा समृद्धि और ऐश्वर्य का जो जीवन बिताया जा रहा था उसके प्रति इन युवकों में नैतिक तिरस्कार की एक गहरी भावना थी और सैनिक और तकनीकी शक्ति में अन्तर्निहित हिंसा को न्यायपूर्ण सिद्ध करने के सरकारी प्रयत्नों को उन्होंने घृणा की भावना से देखा। 1930 और 40 के दशक के वामपक्षियों से अपने को भिन्न बताने की दृष्टि से ये अपने को 'नवीन वामपक्षी' कहते थे। यह आन्दोलन बहुत जल्दी पश्चिम के अन्य देशों में भी फैल गया। हिप्पिदर और बिएटनिक आन्दोलनों से विपरीत, यह आन्दोलन कुछ सकारात्मक, सामाजिक और राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील था। अपने को 'नवीन वामपक्षी' कहने वाले इन आन्दोलनकारियों और 'पुराने वामपक्षियों' में मूल अन्तर यह था कि जबकि उनका आन्दोलन साम्यवाद, विभिन्न प्रकार के समाजवाद और, कुछ सीमा तक, अराजकतावादी श्रेणीवाद की विचारधाराओं के साथ जुड़ा हुआ था, 'नवीन वामपक्षी' पूँजीवादी संस्कृति और मार्क्सवाद दोनों के ही कट्टर आलोचक थे।[41] इस समस्त आन्दोलन का आधार नैतिकता की भावनाओं में था। ये लोग स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र में विश्वास करते थे और इन आदर्शों के लिए संघर्ष करने के लिए तैयार थे। व्यक्ति को समाज में उसके पुराने आदर के स्थान पर बिठा देना उनका लक्ष्य था। "उस ऐश्वर्य से उन्हें घृणा थी जिसमें शालीनता का अभाव हो, सौन्दर्य और लोकतन्त्र की पुनःस्थापना के लिए वे इच्छुक थे, मतैक्य से अधिक सर्जनशीलता में उनका विश्वास था; समुदाय और सामुदायिक मूल्यों में उनकी आस्था थी, और व्यक्तित्व-शून्य अधिकारी-तन्त्र को वे तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे; वे एक ऐसे 'प्रति-समाज' (counter society) के निर्माण में लगे हुए थे जिसकी अपनी 'समानान्तर संस्थाएं' (parallel institutions) हों, और आज के समाज पर आच्छादित संस्थाओं में समायोजित किये जाने, अथवा उनके द्वारा स्वीकृत किये जाने, के लिए बिलकुल भी तैयार नहीं थे; पैसे पर टिके हुए आज के समाज के, जिसका समस्त आधार अपमानवीकरण (de-humanization) और विच्छिन्न व्यक्तित्व (alienation) पर है, वे कट्टर विरोधी थे, व्यक्ति-परक, गहन अनुभूति से प्रेरित और स्वयं-उद्भूत जीवन की अन्तर्वैयक्तिक शैली में, जिसमें अधिक स्वतन्त्र यौन सम्बन्ध और प्रयोगीकरण

[41]यूजीन जी० जिनोवीज, "अमेरिकन लेफ्ट—न्यू एण्ड ओल्ड," 'नेशनल गार्जियन,' 19 फरवरी 1966 में।

सम्मिलित थे, उनकी अधि-मान्यता थी।"[44] संक्षेप में नवीन वामपक्षी आन्दोलन 'जीवन के अमरीकी मार्ग' (American way of life) के विरुद्ध था। 1960 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में अमरीका से प्रारम्भ होकर इस दशक के अन्तिम वर्षों तक यह आन्दोलन यूरोप के देशों में, और उसके बाहर भी, फैल गया।

'नवीन वामपक्ष' के प्रमुख उन्नायकों का कहना है कि आज का संघर्ष सामन्तवादी युग के समान राजा-महाराजाओं अथवा जमींदार-जागीरदारों के विरुद्ध नहीं है, न यह औद्योगिक समाज के संघर्ष के समान आर्थिक परिस्थितियों के विरुद्ध है। आज हम एक ऐसे युग में प्रवेश कर चुके हैं जो पूर्ण औद्योगीकरण के बाद का युग (post-industrial age) है और जिसमें राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सभी व्यवस्थाएं इतनी सुदृढ़ और जटिल हो गयी हैं कि उनका प्रभाव व्यक्ति के सामाजिक जीवन और संगठन के प्रत्येक पक्ष पर पड़ता है। आज का संघर्ष न तो आर्थिक है, और न राजनीतिक। आज की मूल समस्या "शक्तियों की उस अविभाज्य और सम्पूर्ण तानाशाही" के विरुद्ध "जिसने अपनी व्यवस्था में सभी तत्वों को (जिनमें मानवीय तत्त्व भी सम्मिलित हैं) संयोजित और आत्मसात् कर लिया है।"[45] इन्सान की इन्सानियत उसके व्यक्तित्व को सुरक्षित बनाये रखने की है। आज के मनुष्य के संघर्ष का उद्देश्य अपने व्यक्तित्व की स्वायत्तता को फिर से प्राप्त कर लेना है और 'नवीन वामपक्ष' के उन्नायकों की मान्यता है कि इसका सबसे अच्छा तरीका समाज के उन वर्गों के उत्थान के लिए काम करना है जो आज गरीब, तिरस्कृत और परित्यक्त हैं। इन लोगों का आग्रह संघर्ष के मानवी और उदारवादी पक्षों पर अधिक है और, उनकी दृष्टि में, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं को बदलने से अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता को फिर से प्राप्त करना है। लोकतन्त्र से उनका अर्थ एक ऐसे "सहभागी लोकतन्त्र" (participatory democracy) से था जिसमें आम लोगों का सक्रिय सहयोग हो। यह आन्दोलन विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों में धीरे-धीरे फैलता गया और उसने "युवा शक्ति" का रूप ले लिया। उसके नेताओं का कहना था कि उनका उद्देश्य, राजनीति से परे जाकर, एक सामाजिक क्रान्ति को जन्म देना था। उन्होंने एक समवर्ती समाज की स्थापना करने का भी प्रयत्न किया, परन्तु उनकी अधिक रुचि वर्तमान समाज को जड़-मूल से बदल डालने में थी न कि एक नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना में। वास्तव में उनका कहना तो यह था कि उन ऊंचे मूल्यों को प्राप्त करने के लिए, जिनके सम्बन्ध में वे प्रतिबद्ध थे, समाज में यदि कुछ समय के लिए अव्यवस्था भी फैल जाय तो इसमें किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

'नवीन वामपक्ष' ने पश्चिमी देशों की उच्चतम शिक्षा-पद्धति, और विशेष कर

[44]एल्विन डब्ल्यू० गोल्डनर, 'दि कमिंग क्राइसिस ऑफ वेस्टर्न सोशियोलोजी,' लन्दन, हिन्मी, हीनमान, 1970, पृ० 399।

[45]मैसिमो टियोडोरी, स० 'दि न्यू लेफ्ट : ए डाक्युमेन्टरी हिस्ट्री,' लन्दन, जोनाथन केप, 1969, पृ० 22।

अमरीका में समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के प्रति अपनाये गये दृष्टिकोणो, की बडी आलोचना की। इस सारे आन्दोलन का प्रारम्भ बडे दिलचस्प तरीके से हुआ। बर्कले स्थित कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के विद्यार्थियो ने राजनीति मे भाग लेने के अपने अधिकार के पक्ष मे, और विशेषकर वियतनाम मे चलने वाले युद्ध के विरुद्ध, 1964 मे एक विशाल विचार-गोष्ठी का आयोजन किया। सैन-फ्रासिस्को की सुहावनी जलवायु मे, जहा न सर्दी अधिक पडती है और न गर्मी, यह विचार-गोष्ठी, अनवरत रूप से, 72 घण्टे तक चलती रही। सहस्रो विद्यार्थियो और शिक्षको ने इसमे भाग लिया। वक्ता और श्रोता आते-जाते रहे, पर जोश से भरे हुए विचारो का आदान-प्रदान बराबर चलता रहा। आन्दोलन का यह रूप धीरे-धीरे फ्रास के विश्वविद्यालयो, तथा जर्मनी के स्ट्रासबुर्ग विश्वविद्यालय और टोकियो, मैड्रिड, रोम और वारसा के अनेक विश्वविद्यालयों तक पहुंचा, और उसकी परिणति 1968 मे विद्यार्थियो और शिक्षको के द्वारा कोलम्बिया विश्वविद्यालय के पुस्तकालय भवन और शिक्षण की कई इमारतो को अपने अधिकार मे ले लेने मे हुई। दो महीने तक विश्वविद्यालय मे हडताल रही और एक ओर विद्यार्थियो और शिक्षको और दूसरी ओर पुलिस मे जम कर लडाइया होती रही। विश्वविद्यालयो की व्यवस्था पर प्रहार करने का आधार उसके अनुशासन के रूढिवादी नियमों का विरोध और विद्यार्थियो का यह आरोप था कि अधिकारियो के द्वारा उनके व्यक्तिगत जीवन मे अनुचित और अनावश्यक हस्तक्षेप किया जाता था। विश्वविद्यालयो के प्रागण मे पुलिस का बुलाया जाना, उनकी दृष्टि मे, इस बात का प्रमाण था कि विश्वविद्यालय "न केवल ऐसे असम्बद्ध और मृत ज्ञान का जिसकी जानकारी अधिकाश विद्यार्थियों को पहले से ही थी, संग्रहालय-मात्र बन कर रह गये थे, परन्तु अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिंसात्मक दमन का सहारा लेने मे भी उन्हे सकोच नहीं था।" छात्रावास के उन नियमों के भी वे विरुद्ध थे जो लडके-लडकियों के, निर्बाध और सभी समयों पर, एक दूसरे से मिलने-जुलने के मार्ग मे बाधक थे, परन्तु उनके आन्दोलन का प्रमुख तथ्य इन प्रतिबन्धो को हटाना मात्र नही था। विश्वविद्यालय की शिक्षा पर प्रहार करने का उनका सबसे बडा आधार तो यह था कि एक बूर्ज्वा समाज मे एक विशेष अल्प-संख्यक वर्ग को शासक वर्ग मे दीक्षित करने के अतिरिक्त उसका कोई अन्य उद्देश्य नही था। विश्वविद्यालय की तुलना उन्होंने एक ऐसे यन्त्र से की "जो बडी मात्रा मे ऐसे लोगो का निर्माण करने मे लगा हुआ था जो संस्कृति के वास्तविक रूप से सर्वथा अपरिचित, और स्वतन्त्र रूप से कुछ भी सोच सकने मे असमर्थ थे, परन्तु जिन्हे औद्योगिक दृष्टि से विकास की चरम सीमा तक पहुचे हुए समाज की आर्थिक व्यवस्था के निर्वाह के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित किया जा रहा था।" विद्यार्थी अपने विश्वविद्यालय के ऊंचे स्तर और उसकी प्रसिद्धि के सम्बन्ध मे गौरव का अनुभव करता था, पर वास्तविकता यह थी कि उसे 'संस्कृति' मे इस प्रकार दीक्षित किया जा रहा था जैसे मुर्गी को दाना दिया जाता है—जिससे बूर्ज्वा वर्ग की भूख को तृप्त करने के लिए उसकी

बलि दी जा सके।"[14]

'नवीन वामपक्ष' के नेताओं की दृष्टि में एक बुर्जुआ समाज में विश्वविद्यालय का उद्देश्य ऐसे लोगों को तैयार करना और प्रशिक्षण देना होता है जो प्रशासन, उद्योग धन्धों, वित्त निगमों, श्रमिक समूहों और राष्ट्रीय सुरक्षा की संस्थाओं को अपनी सेवाएं अर्पित कर सकें जिसके परिणामस्वरूप एक ऐसा समाज, जो विज्ञान और तकनीक का दिन-प्रतिदिन अधिक से अधिक गुलाम बनता जा रहा है, बिना किसी रुकावट और कठिनाई के अपना काम करता रह सके। विश्वविद्यालय अब ऐसे स्थान नहीं रहे थे जहां विद्यार्थी अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं को पूरा कर सकें, अथवा शिक्षक अपनी उस स्वायत्तता का उपयोग कर सकें जिसके बिना ज्ञान में वृद्धि सम्भव नहीं है। अमरीका के आर्थिक और सामाजिक जीवन के अन्य संगठनों के समान वे भी अब ऐसे संगठन बन गये थे जिनका उद्देश्य एक ऐसे समाज के लक्ष्यों को पूरा करना था जिसके सभी अंग एक विशाल यन्त्र के पुर्जे बन कर रह गये थे, "जिसका संचालन प्रशासनिक नियमों और आर्थिक स्रोतों के द्वारा होता था।" दूसरे शब्दों में, अमरीका के अन्य आर्थिक और सामाजिक संगठनों के समान, विश्वविद्यालय भी उन्हीं लक्ष्यों को पूरा करने का साधन मात्र बन गये थे जिन्हें समाज का शासक वर्ग प्राप्त करना चाहता था।[15] "समाज-शास्त्रियों की हमें क्या आवश्यकता है?" शीर्षक से प्रकाशित एक पर्चे में यह बताने की चेष्टा की गयी कि नये सामाजिक मनोविज्ञान का अधिकाधिक उपयोग बुर्जुआ स्वर्ग के द्वारा इस ढंग से किया जा रहा था कि "समाजशास्त्र को एक वैज्ञानिक रूप भी दिया जा सके और बुर्जुआ वर्ग के अस्तित्व और उसके आर्थिक लाभों को बनाये रखने में किसी प्रकार का आघात भी न पहुंचे। औद्योगिक समाजशास्त्र के सम्बन्ध में यह आरोप लगाया गया कि "उसका प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति को काम के अनुकूल बनाना था, और इस प्रक्रिया में काम को व्यक्ति के योग्य बनाने की आवश्यकता बिलकुल ही भुला दी गयी थी।" राजनीतिक समाज-शास्त्र के सम्बन्ध में, जिसमें जनमत संग्रह के अध्ययन पर अधिक बल दिया जा रहा था, यह आरोप लगाया गया कि उसमें जांच-पड़ताल तो बड़े व्यापक पैमाने पर की जाती थी परन्तु उसके परिणाम इस दृष्टि से गुमराह बनाने वाले होते थे कि वे लोगों के मन पर यह छाप अंकित करते थे कि निर्णय लेने का एकमात्र सही तरीका चुनाव ही था। समाजशास्त्र के सिद्धान्तों के विकास के सम्बन्ध में यह कहा गया कि उसका एकमात्र उद्देश्य बुर्जुआ वर्ग के लोगों की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना था। इस सम्बन्ध में यह भी कहा गया कि फ्रांस में समाजशास्त्र की शिक्षा का, 1958 में, उसी वर्ष प्रारम्भ किया जाना जिस वर्ष दि गौल ने शासन अपने हाथ में लिया, इस घटना से सर्वथा असम्बद्ध नहीं था।[16]

[14] कोन-बेंडिट, 'ऑब्सोलीट कम्युनिज्म, दि लेफ्ट-विंग आल्टरनेटिव,' पेंग्विन बुक्स, 1968, पृ॰ 27।

[15] वही।

[16] वही, पृ॰ 36-37।

नवीन वामपक्ष की पूंजीवादी लोकतन्त्र की कटु आलोचना से यह परिणाम निकालना गलत होगा कि वह मार्क्सवाद का समर्थक था। वास्तव में उसकी विचारधारा सोवियत मार्क्सवाद का भी उतनी ही कट्टरता से विरोध करती थी जितना पूंजीवादी लोकतन्त्र का। उसकी मान्यता थी कि इन दोनों ही के पीछे कुछ सर्वथा अवांछनीय सामान्य तत्व थे। उदाहरण के लिए, पूंजीवादी लोकतन्त्र और सोवियत मार्क्सवाद, दोनों में ही नौकरशाही की प्रवृत्तियां बहुत प्रबल हो गयी थीं और दोनों ही व्यवस्थाओं में एक ऐसे प्रभावशाली प्रबन्धकीय (managerial) दल के हाथों में सारी सत्ता केन्द्रित हो गयी थी जो उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण करता था। उनकी मान्यता है कि अधिकारी-तन्त्र का शक्तिशाली बनते जाना एक विश्वव्यापी प्रवृत्ति है। पूंजी के सतत केन्द्रीकरण और आर्थिक और सामाजिक मामलों में राज्य के बढ़ते हुए हस्तक्षेप ने एक ऐसे नए प्रबन्धकीय वर्ग का निर्माण किया है जिसका भाग्य अब उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व के साथ बंधा हुआ नहीं है, उसने अब एक स्वतन्त्र वर्ग का रूप ले लिया है। कुछ लेखकों, विशेष कर कॉन-बेंडिट ने रूस में साम्यवादी दल की भूमिका की व्याख्या इसी सन्दर्भ में की है। कॉन-बेंडिट लिखता है, "साम्यवादी हो अथवा ट्रॉट्स्की के अनुयायी, माओवादी हो अथवा किसी अन्य वाद के समर्थक, सभी पूंजीवादियों के समान ही, सर्वहारा को एक ऐसे समूह के रूप में देखते हैं जिसका ऊपर से नियन्त्रण और संचालन वे आवश्यक मानते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि लोकतन्त्र का तो केवल यह रूप रह जाता है कि निर्णय ऊपर से लिये जाते हैं और उनका समर्थन नीचे से कर दिया जाता है, और नेता लोग वर्ग-संघर्ष को भूल कर राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत शक्ति को हथियाने के कामों में लगे रहते हैं।"[47] साम्यवादी राज्यों में साम्यवादी दल की ठीक वही स्थिति है जो पूंजीवादी राज्यों में अधिकारी तन्त्र की, इस दृष्टिकोण के आधार पर इन लेखकों ने रूस में साम्यवादी दल और उसके स्थान के सम्बन्ध में लेनिन के विचारों का एक नये ढंग से उल्लेख किया है। लेनिन के विचारों के अपने विश्लेषण के आधार पर वे इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि सर्वहारा के प्रति उसका दृष्टिकोण उपेक्षा और घृणा का दृष्टिकोण था, और इसी कारण साम्यवादी दल को उसने बहुत अधिक महत्त्व दिया है। अपने विचारों के समर्थन में उन्होंने रोज़ा, लक्ज़मबर्ग, बौलीन, ट्रॉट्स्की और अन्य लेखकों की रचनाओं में से लम्बे चौड़े उद्धरण भी दिये हैं। लेनिन का, उनके इस विश्लेषण के अनुसार, यह विश्वास था कि जनसाधारण में यह क्षमता नहीं होती कि वे समाज को 'वैज्ञानिक' दृष्टि से समझ सकें और इसके लिए आवश्यक राजनीतिक शिक्षा उन्हें, बाहर से, ऐसे अन्य व्यक्तियों के द्वारा ही दी जा सकती है, जो स्वयं उसमें दीक्षित हों। रूस में समस्त शक्ति साम्यवादी दल के हाथों में केन्द्रित कर दी गयी थी। लेनिन की मान्यता थी कि, राष्ट्र की भावनाओं का प्रतिनिधि और मजदूर वर्ग के हितों का एकमात्र रक्षक होने के कारण, सोवियत व्यवस्था में सारी शक्ति साम्यवादी दल के हाथों में केन्द्रित होनी चाहिए।

[47] कॉन-बेंडिट, पी० उ०, अध्याय 4, 'दि स्ट्रैटेजी एण्ड नेचर ऑफ बोल्शेविज़्म,' पृ० 199-245।

रोज़ा लक्ज़मबर्ग ने 1904 में ही अपनी यह आशंका प्रकट की थी कि जिस शक्तिशाली केन्द्रीभूत व्यवस्था की सिफारिश लेनिन ने की थी वह अन्त में एक भयंकर रूप ले लेगी। उसने लिखा, "इस अति-केन्द्रीकरण के पीछे कोई सकारात्मक अथवा सर्जनात्मक भावना नहीं है, प्रत्युत रात्रि के प्रहरी की वन्ध्या भावना है। कांटेदार तारों की उस बाड़ को उखाड़ फेंकना" उसकी दृष्टि में आवश्यक था "जो साम्यवादी दल को समय के प्रति अपने महान उत्तरदायित्वों को पूरा करने के मार्ग में रुकावट सिद्ध हो रही थी।" "वास्तव में," जैसा कॉन-बेंडिट ने लिखा, "हुआ यह कि कांटेदार तारों की उस बाड़ को उखाड़ फेंकना तो दूर रहा, साम्यवादी दल ने रूस के समस्त सर्वहारा वर्ग को उसके कटघरे में बन्द कर दिया।"[48] एक दूसरे लेखक, वोलीन ने 1917 के अन्त में चेतावनी दी थी कि, "सोवियत व्यवस्था को सारी शक्ति सौंप दी जाय, इस मांग का अर्थ यह होगा कि अन्ततः सारी शक्ति साम्यवादी दल के नेताओं के हाथ में केन्द्रित हो जायेगी। बोल्शेविक नेताओं के हाथ में शक्ति आ जाने और उसके एक वैध रूप प्राप्त कर लेने का परिणाम यह होगा कि राज्य समाजवादी (state socialists) होने के नाते, अथवा ऐसे व्यक्ति होने के नाते जो केन्द्रीभूत और सत्तावादी नेतृत्व में विश्वास करते हैं, वे—देश और जनता के जीवन का संचालन ऊपर से करना आरम्भ कर देंगे ... और बहुत जल्दी आप एक ऐसे तानाशाही राजनीतिक यन्त्र की स्थापना होते हुए देखेंगे जो समस्त विरोधी पक्ष को क्रूरता के साथ, नष्ट कर देगा ..."[49] *ट्रॉट्स्की ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि 1917 की रूसी क्रान्ति में सिपाहियों की तुलना में व्यापारी समितियाँ अधिक क्रियाशील थीं, और इन समितियों की तुलना में साधारण जनता और भी अधिक क्रियाशील ... साम्यवादी दल क्रान्तिकारी गतिशीलता में पीछे लड़खड़ाता चल रहा था, और इस क्रान्ति में एक ऐसा निर्णायक समय भी आया जब जनता सबसे अधिक प्रगतिशील माने जाने वाले दल के समूह से भी सौ गुना आगे थी।*"[50] इन सब उद्धरणों का सहारा लेते हुए 'नवीन वामपक्ष' ने अपना यह विश्वास प्रकट किया कि "किसी भी राजनीतिक दल की स्थापना का अर्थ अनिवार्य रूप से यह हो जाता है कि उससे मतभेद रखने की जनता की आज़ादी कम हो जाती है ... लोकतन्त्र के लिए बुरा नेतृत्व ही नहीं, किसी प्रकार का नेतृत्व भी हानिकारक होता है ... लोकतन्त्र और राजनीतिक दल साथ-साथ नहीं रह सकते, क्योंकि राजनीतिक दल स्वयं एक लोकतान्त्रिक संगठन नहीं है, इस अर्थ में कि उसका आधार, प्रतिनिधित्व पर नहीं, अधिकार पर टिका होता है।"[51] 'नवीन वामपक्ष' किसी भी प्रकार के राजनीतिक दल और किसी भी प्रकार के ऊपर से लादे गए नेतृत्व के विरुद्ध था ... उसकी सर्वोपरि आस्था व्यक्ति और व्यक्ति के स्वातन्त्र्य में थी। इस

[48] वही, पृ० 216।

[49] उद्धरण, वही, पृ० 218-19।

[50] लियोन ट्रॉट्स्की, 'हिस्ट्री ऑफ़ दी रशियन रिवोल्यूशन,' लन्दन गोलांज एण्ड स्लीपर बुक्स, खण्ड 1, पृ० 403।

[51] कॉन-बेंडिट, पी० उ०, पृ० 250।

आन्दोलन के उन्नायक प्राय अधकचरे नौजवान थे, और इस कारण किसी व्यवस्थित सामाजिक सिद्धान्त की आशा तो उनसे नही की जा सकती थी, परन्तु इसमे सन्देह नही है कि उन्होने अमरीका के शैक्षणिक जगत मे ऐसे सामाजिक आलोचको (social critics) को प्रेरणा दी जिन्होने सामाजिक विद्रोह (social rebellion) के अधिक *सुलझे हुए सिद्धान्तो के विकास की दिशा मे कुछ ठोस कदम उठाये ।* इन सामाजिक आलोचको की चर्चा करने से पहले यह आवश्यक है कि हम एक और विचारधारा के विकास से भी परिचित हो लें जिसने इन सामाजिक आलोचको के विचारो को ढालने मे पर्याप्त सहायता की।

(ख) तरुण मार्क्स का आविष्कार

मार्क्स के तरुण अवस्था मे लिखे गये कुछ ग्रन्थो के प्रकाश मे आने से, पिछले कुछ वर्षों मे, पाश्चात्य और साम्यवादी दोनो प्रकार के देशो मे, आज के विश्व की मूल समस्याओ के सम्बन्ध मे नये ढग से सोचने की एक सशक्त प्रक्रिया का आरम्भ हुआ।[52] कार्ल मार्क्स का जो परम्परागत स्वरूप हमारे सामने आता है वह एक अर्थशास्त्री, राजनीतिशास्त्री और समाजशास्त्री का स्वरूप है, परन्तु उसके जीवन के प्रारम्भिक वर्षों की रचनाओ के प्रकाश मे आने से यह स्वरूप छिप सा जाता है और उसका एक नया स्वरूप उभर कर हमारे सामने आता है, जो एक मानवतावादी दार्शनिक का स्वरूप है, एक जिज्ञासु का स्वरूप, जो व्यक्ति की समस्याओ का समाधान खोज निकालना चाहता है और जिसे उसकी भूख मिटाने से अधिक चिन्ता उसे मानसिक सन्तोष प्रदान करने की है। 1927 मे हीगल के दर्शन के सम्बन्ध मे उसकी आलोचनात्मक व्याख्या का पहला सम्पूर्ण *संस्करण, 'ए कन्ट्रीब्यूशन टू दि क्रिटीक ऑफ हीगल्स फिलॉसफी ऑफ राइट' के नाम से* प्रकाशित हुआ और 1933 मे, 1844 मे लिखी गयी कुछ और पुस्तकें 'इकॉनॉमिक एण्ड फिलॉसोफिकल मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844' और 'जर्मन आइडियोलोजी' प्रकाशित हुई। इन रचनाओ मे मार्क्स के सामने प्रमुख समस्या समाज मे आर्थिक अथवा राजनीतिक क्रान्ति *लाने की नही है, बल्कि यह है कि व्यक्ति को, जो आज अपने को समाज से विच्छिन्न पाता* है, किस प्रकार से उसके साथ फिर से सामयोजित किया जा सकता है, और इस दृष्टि से

[52] 'तरुण मार्क्स' के विचारो के सम्बन्ध मे पिछले कुछ वर्षों मे बहुत अधिक साहित्य प्रकाशित हुआ है। अधिकांश पुस्तकें फ्रेंच और जर्मन भाषाओं मे हैं। अंग्रेजी में प्रकाशित कुछ ग्रन्थ हैं : रॉबर्ट सी० टकर, 'फिलॉसॉफी एण्ड मिथ इन कार्ल मार्क्स,' कैम्ब्रिज, इंगलैण्ड, 1961; यूजीन कामेंका, 'दि एथीकल फाउण्डेशन्स ऑफ मार्क्सिज्म,' लन्दन, रूटलेज एण्ड केगन पॉल, 1962; जीन हिप्पोलाइट, 'स्टडीज ऑन मार्क्स एण्ड हीगल,' न्यूयार्क, 1964, रोगर गैरोडी, 'कार्ल मार्क्स,' पेरिस, सेगर्स 1964; एडम शैफ, 'मार्क्सिज्म एण्ड दी ह्यूमन इन्डिविजुएल,' न्यूयार्क मैग्रा-हिल, 1965; 'मार्क्स एण्ड कॉन्टेम्परेरी साइंटिफिक थॉट' (इन्टर्नेशनल सोशल काउन्सिल की परिचर्चा), दि हेग, मूटन, 1965, गैजो पेट्रोविक, 'मार्क्स इन दी मिडट्वेन्टिएथ सेन्चुरी,' न्यूयार्क, डब्लडे, 1965; निकोलस लोब्कोविट्ज द्वारा सम्पादित, 'मार्क्स एण्ड दी वेस्टर्न वर्ल्ड,' (नोतर-देम विश्वविद्यालय परिचर्चा), 1967, फ्रेंज मारेक, 'फिलॉसफी एण्ड वर्ल्ड रिवोल्यूशन,' न्यूयार्क, इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, 1969, बर्टेल ओलमैन, 'एलिएनेशन, मार्क्सेज कंसेप्शन ऑफ मैन इन कैपिटेलिस्ट सोसाइटी,' कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस, 1971।

हम देखते हैं कि मार्क्स के तरुणावस्था के ये विचार उसे अस्तित्ववादियों और नवीन वामपक्ष के उन उन्नायकों के बहुत नजदीक ले आते हैं जिनका मुख्य ध्यान भी व्यक्ति और समाज से विच्छिन्नता की उसकी स्थिति पर केन्द्रित था। तरुण मार्क्स की दृष्टि में *पूंजीवादी व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह था कि उसमें व्यक्ति अपने काम से अपने को* विच्छिन्न पाता है (क्योंकि इस बात का निर्णय करने में कि उसे क्या करना है, और कैसे करना है, उसका कोई हाथ नहीं रहता), जीवन की अन्य गतिविधियों से अपने को विच्छिन्न पाता है, अपने बनाये गये पदार्थों से अपने को विच्छिन्न पाता है (वह क्या बनाता है, और उसकी बनायी वस्तु का क्या उपयोग किया जाता है, इस पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं होता), समस्त पार्थिव दुनिया से वह अपने को विच्छिन्न पाता है, और यहां तक कि अपने निकट के साथियों से भी वह अपने को कटा हुआ पाता है (क्योंकि प्रतिद्वन्द्विता और वर्ग-संघर्ष के कारण सामाजिक सहयोग के अधिकांश साधन लुप्त-प्राय हो गये हैं)। बर्टेल ओलमैन, मार्क्स के इन विचारों का विश्लेषण करते हुए लिखता है, "· · समाज के इन सभी उपकरणों से विच्छिन्न होकर व्यक्ति एक शरीर-मात्र रह जाता है, और उसके वे सब गुण नष्ट हो जाते हैं जिनके आधार पर उसे मानव के रूप में पहचाना जा सकता था।"[13] तरुण मार्क्स के द्वारा प्रतिपादित विच्छिन्नता का यह सिद्धान्त हमें अस्तित्ववादियों में, नवीन वामपक्ष के उन्नायकों में और सामाजिक विद्रोह के दार्शनिकों में मूल रूप से मिलता है। यहां हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि ट्रॉट्स्की, रोज़ा लक्ज़मबर्ग, प्लेखानोव ग्रामस्की और यहां तक कि लेनिन जैसे मार्क्सवाद के प्रमुख विद्वानों को भी इन रचनाओं के अस्तित्व का पता नहीं था।

मार्क्स की इन प्रारम्भिक रचनाओं में, जो हाल ही में प्रकाश में आयी और एंजिल्स के साथ, अथवा अकेले, लिखी गयी बाद की रचनाओं में दृष्टिकोण का इतना गहरा अन्तर है कि विद्वानों को कभी-कभी हम यह चर्चा करते हुए पाते हैं कि मार्क्स एक था अथवा दो—एक तरुण मार्क्स, दूसरा परिपक्व मार्क्स—और तरुण मार्क्स को प्रामाणिक माना जाय अथवा परिपक्व मार्क्स को। परंतु यह चर्चा निरर्थक है। वास्तव में मार्क्स एक है। उसके विचारों का क्रम कहीं टूटा नहीं है, बल्कि चिन्तन एक मंजिल से आगे बढ़ता हुआ दूसरी मंजिलों तक पहुंचा है, और मार्क्स की बाद की रचनाओं और उसके वैज्ञानिक समाजवाद को हम यदि ठीक से समझना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि पहले हम उसकी प्रारम्भिक रचनाओं को ठीक से समझने का प्रयत्न करें। एम० एन० मैक्लिनतोव के शब्दों में तरुण मार्क्स "उसके बाद के विकास और वैज्ञानिक समाजवाद को समझने की कुंजी है।"[14] एरिक टीयर ने भी 'मैनुस्क्रिप्ट्स' की अपनी प्रस्तावना में ठीक ही लिखा है कि मार्क्स की प्रारम्भिक रचनाओं में हम उसे व्यक्ति के सम्बन्ध में अत्यधिक चिन्तित पाते हैं, और यदि अपनी बाद की रचनाओं में इतिहास की भौतिकवादी *व्याख्या के नाम से उसने एक सिद्धान्त का विकास किया तो* उसकी जड़ें

[13]ओलमैन, पी० उ०, पृ० 131।
[14]मैक्लिनतोव, 'एट दी सोर्सेज ऑफ द रिवोल्यूशनरी टर्न इन फिलॉसफी,' 1950।

उसकी इस खोज मे मिलेंगी कि व्यक्ति किस प्रकार से आत्म-विच्छिन्नता की स्थिति का अतिक्रमण कर सकता है, उससे ऊपर उठ सकता है, और अपने को मानव के रूप मे अभिव्यक्त कर सकता है।[55] डेनियल बॉल ने लिखा है कि " ··· मार्क्स की अर्थशास्त्र मे कभी भी वास्तविक रुचि नही रही। बाद के वर्षों मे एंजिल्स के साथ उसका जो प्रारम्भिक पत्र व्यवहार हुआ उसमे इस विषय के प्रति उसकी तिरस्कार की भावना ही अधिक मिलती है ··· परन्तु अर्थशास्त्र मे उसने रुचि इस कारण ली कि अर्थशास्त्र वास्तव मे दर्शनशास्त्र का व्यावहारिक पक्ष था, और इस कारण भी कि उसे यह अनुभव हुआ कि समाज की आर्थिक व्यवस्था, आर्थिक शोषण की उस प्रक्रिया की अभिव्यक्ति है जिसके कारण विच्छिन्नता की भावना को अभिव्यक्ति मिलती है।"[56] मार्क्स को यदि उसके सही रूप मे समझना है—जिस रूप की ओर सार्त्र ने, तरुण मार्क्स की रचनाओ के सम्बन्ध मे तनिक भी जानकारी न रखते हुए, सकेत किया था– तो हमे उसकी प्रारम्भिक रचनाओ मे व्यक्त किये गये विचारो को जानना होगा, क्योकि उसके सन्दर्भ मे ही हम उसके परिपक्व चिन्तन के समस्त वैभव और उसके आन्तरिक अर्थों को ठीक से समझ सकेंगे। एरिक फ्रौम, रॉबर्ट टकर, कॉस्टास अलेक्सॉस, पायरो बोगो और दूसरे लेखको ने भी यही दृष्टिकोण अपनाया है।

मार्क्स के प्रारम्भिक जीवन की रचनाओ के पढने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी सबसे अधिक दिलचस्पी व्यक्ति मे थी, और पूजीवादी व्यवस्था मे व्यक्ति की जो दुर्दशा हो गयी थी उससे वह वास्तव मे पीडित और दुखी था, और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के प्रयत्नो मे उसका प्रमुख लक्ष्य यही था कि व्यक्ति को किस प्रकार उसकी वर्तमान स्थिति से मुक्त किया जा सके और एक कल्याणकारी सामाजिक व्यवस्था मे फिर से स्थापित किया जा सके। अपने तारुण्य के दिनो मे, जैसा अलेक्सॉस ने अपनी एक फ्रेंच रचना मे लिखा है, "मार्क्स प्रायः व्यक्ति के दुखी जीवन के सम्बन्ध मे, उसकी कुचली हुई मानवता के सम्बन्ध मे, सोचा करता था · समाज के अन्तर्गत व्यक्तियो और व्यक्ति का जीवन किस प्रकार बर्बाद होता है। उसकी दृष्टि मे मानव का समस्त अस्तित्व, न केवल सामाजिक ढाचा अथवा उसका बदलता हुआ बाहरी स्वरूप, खून और मवाद से भरे हुए जख्म के समान था।" साम्यवादी व्यवस्था मे मार्क्स की आस्था इसी कारण गहरी होती गयी कि उसे यह विश्वास हो गया था कि इस प्रकार की व्यवस्था मे व्यक्ति अपने सामाजिक अथवा मानवी जीवन को सम्पूर्ण रूप से एक बार फिर प्राप्त कर सकेगा, और धर्म, कुटुम्ब, राज्य आदि जितने सामाजिक सगठन है उनमे एक मानव के रूप मे अपने सम्मानित स्थान पर फिर से प्रतिष्ठित हो सकेगा। दूसरे शब्दो मे, मार्क्स को यह विश्वास था कि साम्यवाद के द्वारा व्यक्ति की विच्छिन्नता की इस समस्या का सही समाधान प्राप्त किया जा सकेगा। मार्क्स के जीवन की

[55]एरिख टौयर, 'इन्ट्रोडक्शन टू इकॉनॉमिक एण्ड फिलॉसोफिकल मैन स्क्रिप्ट्स ऑफ 1844'।
[56]डेनियल बेल, 'दि डिबेट्स इन एलिएनेशन,' एल॰ लैबेट्ज द्वारा सम्पादित 'रिवीजनिज्म,' लन्दन, जोर्ज एलेन एण्ड अनविन, पृ॰ 200-201।

इन प्रारम्भिक रचनाओं का कुछ प्रमुख व्याख्याकारों—सेहगूट, मेयर, मारक्यूज़े, और *अन्य लेखकों की रचनाओं पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा, और उन्हें यह देखकर अत्यन्त* आह्लाद हुआ कि मानव समस्याओं के प्रति मार्क्स का उनके जैसा ही मानवीय दृष्टिकोण था, जो उसकी अर्थशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय रचनाओं में अभिव्यक्त होने वाले उसके दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न था।

(द) सामाजिक आलोचक : एरिक फ्रौम

विश्व की आज की स्थिति के प्रमुख सामाजिक आलोचकों के उदाहरण के रूप में हम एरिक फ्रौम, रॉबर्ट निस्बत और हरबर्ट मार्क्यूज़े को ले सकते हैं, जिनमें से प्रत्येक ने *न केवल पुस्तकों और विद्वत्तापूर्ण लेखों के रूप में बहुत अधिक लिखा ही है* परन्तु जिनके विचारों का आधुनिक चिन्तन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। फ्रौम को कभी मार्क्सवादी-मानववादी माना जाता है और कभी नव-फ्रॉयडवादी, परन्तु जिन अर्थों में इन शब्दों को काम में लाया जाता है उनमें वह न तो एक समाजशास्त्री है और न एक मनोविज्ञानवेत्ता।[57] आधुनिक सभ्यता का एक तीखा आलोचक, फ्रौम प्रमुखतः एक चिकित्सक के रूप में हमारे सामने आता है, एक ऐसे चिकित्सक के रूप में जो व्यक्ति के समान ही समाज के रोग के कारणों का पता लगाना चाहता है, और उसे स्वास्थ्य-लाभ के उपाय सुझाता है। मार्क्स से अधिक फ्रॉयड से प्रभावित फ्रौम ने अपनी सामाजिक *आलोचना में उसी पद्धति को अपनाया है जिसे मनोविज्ञानवेत्ता व्यक्तिगत रोगों* के उपचार में काम में लाते हैं। व्यक्ति की वर्तमान असमता का कारण, उसकी दृष्टि में, समाज का प्राचीन इतिहास है और, इस कारण, इस समस्या का उन्मूलन करने की दृष्टि से वह समाज के चिन्तन के स्वरूप को ही बदल डालना चाहता है। 1941 में प्रकाशित अपनी पुस्तक, "इस्केप फ्रौम फ्रीडम" में उसने आधुनीकरण की आज के विश्व

[57]एरिक फ्रौम के प्रमुख ग्रन्थ हैं: 'इस्केप फ्रौम फ्रीडम,' राइनहार्ट एण्ड कं०, इन्क०, 1941, 'मैन फ्रॉर हिमसैल्फ,' होल्ट राइनहार्ट एण्ड विंसटन, इन्क०, 1947, 'दि फियर ऑफ फ्रीडम,' लन्दन, रूटलेज एण्ड पौल, 1950, 'दि सेन सोसाइटी,' होल्ट, राइनहार्ट एण्ड विंसटन, इन्क०, 1955। विभिन्न व्यक्तित्व के सिद्धान्त के सम्बन्ध में इस अध्याय में जिन लेखकों के विचारों की विवेचना की गयी है उनके अतिरिक्त अन्य प्रमुख ग्रन्थ निम्न हैं: मोरिस स्टीन, आर्थर, विडिच और डेविड एम व्हाइट द्वारा सम्पादित 'आइडेंटिटी एण्ड एन्साइटी : सर्वाइवल ऑफ दी पर्सन इन मास सोसाइटी,' फ्री प्रेस, 1960, डेविड रीज़मान, नेथन ग्लेज़र और रेवल डेनी द्वारा सम्पादित, 'दि लोनली क्राउड : ए स्टडी ऑफ दी चेंजिंग अमेरिकन कैरेक्टर,' येल विश्वविद्यालय प्रेस, 1961; रॉबर्ट प्रेस्टस, 'दि ऑर्गेनाइज़ेशनल सोसाइटी : एन एनालिसिस एण्ड ए थियरी,' एल्फ्रेड ए० नोफ, इन्क० 1962, पौल गुडमैन, 'ग्रोइंग अप एबसर्ड : प्रोब्लेम्स ऑफ यूथ इन ऑर्गेनाइज़ेशनल सोसाइटी,' विन्टाज, 1962, हैना एरेण्ट, 'बिटवीन पास्ट एण्ड फ्यूचर : सिक्स एक्सरसाइज़ेज़ इन पोलिटिकल थॉट,' वर्ल्ड पब्लिशिंग कं०, 1963, एरिक एच० एरिक्सन, 'चाइल्डहुड एण्ड सोसाइटी,' द्वितीय संस्करण, डब्ल्यू० डब्ल्यू० नोर्टन एण्ड कं०, इन्क०, 1963, एलुल जैक्स, 'दि टैक्नोलोजिकल सोसाइटी,' अनु० जौन विल्किन्सन, एल्फ्रेड ए नोफ इन्क०, 1964, मोरिस स्टीन, 'दि एक्लिप्स ऑफ दी कम्यूनिटी,' हार्पर एण्ड बदर्स, 1964, इर्विंग लुई होरोविट्ज़ द्वारा सम्पादित, 'दि न्यू सोशियोलोजी,' ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1965।

की राजनीतिक और सामाजिक बीमारियों का एकमात्र कारण बताया है। उसकी मान्यता है कि मध्य युगो मे व्यक्ति को चाहे अधिक स्वतन्त्रता न रही हो पर सुरक्षा का पूरा लाभ प्राप्त था। समाज की व्यवस्था मे उसका अपना स्थान निर्धारित था, उसकी *अपनी योग्यताएं चाहे जो कुछ भी क्यों न हो, जिसके कारण वह अपने को न तो* अकेला अनुभव करता था और न परित्यक्त ही। जन्म और कौटुम्बिक परम्परा से उसे जो धन्धा मिला होता था उसमे वह सन्तोष के साथ लग जाता था और उसे अपने भविष्य की कोई चिन्ता नही रहती थी। वृद्धावस्था अथवा किसी अन्य कारण से काम करने की स्थिति मे न होने पर उसे कुटुम्ब, जाति अथवा कबीले का सहारा रहता था। मानसिक उद्विग्नता की स्थिति मे वह अपने धार्मिक सगठनो से शान्ति प्राप्त कर सकता था। परन्तु आधुनिक युग के साथ इस स्थिति मे परिवर्तन होना शुरू हुआ। पुनर्जागरण (renaissance) के युग मे मनुष्य मे व्यक्तित्व की भावना का उदय हुआ और अपने को समाज के अधीन मानने और समाज के लिए अपने को मिटा देने की भावना के स्थान पर अब उसमे अपने को ही सब कुछ मान लेने, दूसरे व्यक्तियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने, और अधिक से अधिक शक्ति और धन प्राप्त करने की आकाक्षा जागृत हुई। *धार्मिक सुधार (reformation) के युग मे समुदाय मे सुरक्षा की उसकी भावना* और भी शिथिल पडी। महान धार्मिक सुधारको ने उसे विश्वास दिला दिया कि वह दुष्ट और अपराधी है और इस कारण उसके मन मे अपने प्रति घृणा की भावना का विकास हुआ, नि सहायता और विछिन्नता की भावना का, और सम्पत्ति पर अधिकार करने और दूसरो पर अपना प्रभाव जमाने मे उसने सन्तोष का अनुभव किया। वास्तव मे प्रतिद्वन्द्विता और दूसरों पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने की इच्छा के आधार पर ही आधुनिक सभ्यता के विशाल ढाचे का निर्माण हुआ जो औद्योगिक समाज की जटिलताओ और राज्य की बढती हुई तानाशाही के रूपो मे अधिक से अधिक व्यापक आकार लेता जा रहा है। इतने सशक्त आर्थिक और राजनीतिक सगठनो के मुकाबले मे नि.सहाय, एकाकी और समाज से विच्छिन्न व्यक्ति कर ही क्या सकता है ?

एरिक फ्रोम को मानवी प्रकृति की मूलभूत अच्छाई मे पूरा विश्वास है, परन्तु वह यह *मानता है कि आज की वर्तमान सामाजिक व्यवस्था मे उसे बराबर कुचला जा रहा है।* मनुष्य की स्वाभाविक अच्छाई मुक्त होने का प्रयत्न करती है, मनुष्य उत्पादन और निर्माण का एक ऐसा जीवन बिताना चाहता है, जिसमे उसका स्वय का विकास हो सके और जो समाज के *लिए भी लाभकारी हो, परन्तु समाज के भारी बोझ के नीचे वह* बराबर पिसता चला जाता है। मनुष्य स्वभाव से ही समाज मे रहना चाहता है, परन्तु समाज के साथ वह प्रेम का सम्बन्ध चाहता है न कि उसके अधीन हो जाने का, अथवा उस पर आधिपत्य स्थापित करने का। *अन्य मनुष्यो के लिए उसके मन मे 'प्रेम' है, और* बदले मे यदि अन्य मनुष्यों से भी उसे 'प्रेम' ही प्राप्त होता है तो उसे लगता है कि समाज मे उसकी अपनी जडें गहरी चली गयी है, परन्तु यदि वह समाज मे इस प्रकार का सम्बन्ध अनुभव करने की स्थिति मे अपने को नही पाता तो उसमे विच्छिन्नता की भावना आ जाती है। फ्रोम का विश्वास है कि आज के युग मे व्यक्ति विच्छिन्नता की एक 'लगभग

सम्पूर्ण' स्थिति अनुभव करने लगा है, और अपने को वह इतना निस्सहाय पाता है कि उसे यह भी भरोसा नही रह गया है कि वह स्वय अपने चरित्र का निर्माण करने की स्थिति में भी है या नही। वास्तविक स्थिति यह है कि समाज के द्वारा उनके चरित्र को एक ऐसे सामान्य साचे (master-mould) मे ढाला जा रहा है जिसमे उसका चरित्र समाज के अन्य व्यक्तियो के समान तो होता जाता है परन्तु उसका अपना व्यक्तित्व प्रायः लुप्त हो गया है। पूंजीवाद वह साचा है जो व्यक्ति के सामाजिक चरित्र को अपनी आवश्यकताओ के अनुसार ढालने का प्रयत्न करता है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति मे पार्थिव उपभोग की अधिक से अधिक वस्तुए प्राप्त करने की लालसा बढ जाती है। वह अपने को 'व्यक्ति' न मानकर एक ऐसी 'वस्तु' मानने लगता है जिसे बाजार मे खरीदा या बेचा जा सकता है। काम करते रहना उसकी विवशता और उसका स्वभाव बन जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था मे व्यक्ति के लिए अपने स्वभाव की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करना सर्वथा असम्भव हो जाता है, और उसमे न केवल कुण्ठा और विच्छिन्नता की भावना का ही विकास होता है, वह सर्वशक्तिमान समाज के प्रति विद्रोह की अपनी क्षमता को ही खो बैठता है। तब समाधान की दिशा क्या है? फ्रौम का कहना है कि एक ऐसी नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जानी चाहिए जिसमे व्यक्ति अपनी 'वास्तविक प्रवृत्ति' का पूर्ण रूप से विकास कर सके। इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का निर्माण कैसे हो, यह प्रश्न आज सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, परन्तु इस प्रश्न का कोई यथार्थवादी उत्तर देने के स्थान पर फ्रौम एक आदर्श समाज के रंगीन स्वप्नों मे अपने आपको खो देता है और एक अच्छे चिकित्सक के स्थान पर एक स्वप्नदृष्टा के रूप मे हमारे सामने आता है।

1955 मे प्रकाशित, 'दि सेन सोसाइटी' नाम की अपनी दूसरी महत्त्वपूर्ण पुस्तक मे, फ्रौम ने अपने स्वप्नों के स्वस्थ समाज की विस्तृत व्याख्या देने का प्रयत्न किया है। एक स्वस्थ समाज का निर्माण स्वस्थ व्यक्तियों के आधार पर ही हो सकता है। मानसिक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्ति की अपनी कल्पना को अभिव्यक्त करते हुए फ्रौम लिखता है कि ऐसा व्यक्ति, "सृजन मे काम मे लगा रहता है और अपने और समाज के बीच किसी प्रकार का भेद नहीं पाता; उस व्यक्ति का समाज के साथ प्रेम का सम्बन्ध होता है और यह अपने विवेक को, वस्तु-स्थिति को, निष्पक्षता के साथ स्वीकार करने मे काम मे लाता है; वह अपने आपको एक विशिष्ट वैयक्तिक इकाई मानता है और साथ ही अपने को अपने साथियों के साथ भी सम्बद्ध पाता है; वह व्यक्ति विवेकहीन अधिकार के सामने झुकता नहीं है और अन्तरात्मा और विवेक के प्रभुत्व को सहर्ष स्वीकार कर लेता है।"[18] इस प्रकार के स्वस्थ व्यक्ति ही मिल कर एक स्वस्थ समाज का निर्माण करते हैं। एक स्वस्थ समाज की व्याख्या करते हुए फ्रौम कहता है कि वह समाज ऐसा है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति अपने आप मे एक लक्ष्य माना जाता है, जिसमे किसी भी व्यक्ति को किसी अन्य व्यक्ति के लोभ, दबाव अथवा शोषण का साधन नहीं बनाया जा

[18] एरिक फ्रौम, 'दि सेन सोसाइटी,' पी० उ०, पृ० 60।

सकता। फ्रोम की मान्यता है कि एक स्वस्थ समाज वह समाज है जिसका केन्द्र व्यक्ति है और जिसमे सभी राजनीतिक और आर्थिक गतिविधियां केवल उसी की वृद्धि और विकास के लिए की जाती है। इस प्रकार का समाज ही व्यक्ति के व्यक्तित्व को कुचलने और उसमे विच्छिन्नता की भावना का निर्माण करने के स्थान पर सृजनशीलता को उभारने, विवेक को बढ़ावा देने, और एक दूसरे के प्रति प्रेम और आदर की भावना विकसित करने के लिए पर्याप्त वातावरण का निर्माण कर सकेगा।[59]

फ्रोम ने इस प्रकार के समाज को सामुदायिक समाजवादी (communitarian socialism) का नाम दिया है और उसकी अपनी विस्तृत व्याख्या मे उसने न केवल 19वी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों के आदर्शोन्मुख आन्दोलनो के विचारो को समाविष्ट किया है, परन्तु 20वी शताब्दी के औद्योगीकरण के अधिक से अधिक लाभो को भी साथ रखने का प्रयत्न किया है। फ्रोम के इस आदर्श समाज की कल्पना को हम आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक इन तीन स्तरो पर समझने का प्रयत्न कर सकते हैं। इस आदर्श समाज के आर्थिक स्तर के सम्बन्ध मे फ्रोम ने जो चित्र हमारे सामने रखा है उसमे हमे केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण का एक सम्पूर्ण मिश्रण मिलता है। फ्रोम को इसमे तनिक भी रुचि नही है कि मजदूर उत्पादन के साधनो के स्वय मालिक बन जायें, वह इसमे कही अधिक महत्त्व इस बात को देता है कि उनके प्रबन्ध मे वे पूरा भाग लें, और काम करने की उनकी परिस्थितियो मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया जा सके। श्रमिक संघो के विकेन्द्रीकरण मे भी उसका विश्वास है और वह मानता है कि मजदूरो का सगठन छोटे-छोटे समूहो मे होना चाहिए, जिसमे उनके सदस्य एक दूसरे के साथ स्नेहपूर्ण और अन्तरंग व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित कर सकें। राजनीतिक और सामाजिक स्तर पर फ्रोम की यह मान्यता है कि समाज को लगभग पाच-पाच सौ लोगो की छोटी इकाइयो मे बाट देना चाहिए, जिससे प्रत्येक इकाई जब चाहे तब बैठकें कर सके, और इन बैठकों मे अपने से सम्बन्ध रखने वाले सभी राजनीतिक और सामाजिक प्रश्नो को स्वय ही निपटा सके। काम-धन्धो के आधार पर, और सामाजिक कार्य-कलापों और आमोद-प्रमोद के लिए भी, इसी प्रकार के समूहो की स्थापना की जा सकती है। फ्रोम की कल्पना का आदर्श समाज एक ऐसा प्राचीन काल का गाव है "जहा लोग एक साथ मिल कर गाते है, घूमते-फिरते है, नृत्य करते है और एक दूसरे की प्रशसा करते है, और अपना समय मिलजुल कर प्रीतिभोजो और कलात्मक कार्य-विधियो मे व्यतीत करते है। इस प्रकार के छोटे समुदायो के सदस्य यदि पढ़े-लिखे न भी हो तो भी फ्रोम को इसकी चिन्ता नही है, क्योकि वह मानता है कि ऐसे लोग हमारे आज के समाचारपत्र पढने वाले और रेडियो सुनने वाले शिक्षित व्यक्तियो की तुलना मे सास्कृतिक दृष्टि से आगे बढ़े हुए और मानसिक दृष्टि से अधिक स्वस्थ होगे।"[60] इस प्रकार के समाज की कल्पना फ्रोम ने भावनाओ को विवेक से ऊचा सिद्ध करने अथवा अज्ञान व अन्ध-

[59]विस्तृत विवेचन के लिए देखिए, 'दि आर्ट ऑफ लविंग,' न्यूयार्क, हार्पर, 1956।
[60]एरिक फ्रोम, 'दि सेन सोसाइटी,' पो० उ०, पृ० 348-49।

विश्वास को न्यायोचित ठहराने की दृष्टि से नहीं की है। इसमें उसका प्रमुख उद्देश्य आज की सभ्यता के अमानवीय स्वरूप पर एक सीधा प्रहार करना और व्यक्तियों की विच्छिन्नता की भावना को दूर करने के लिए समुचित उपचार खोज निकालना है।

एक केन्द्रीय प्रश्न, जिसका उत्तर फ्रोम की रचनाओं में कहीं नहीं मिलता, यह है कि इस प्रकार के समाज की, जिसकी कल्पना फ्रोम ने अपनी सभी रचनाओं में की है, किस प्रकार एक मूर्त रूप दिया जा सकता है। फ्रोम यह नहीं चाहता कि व्यक्ति समाज और राज्य के द्वारा कुचला जाता रहे। वह समाज को बदल डालने के लिए आतुर है, और उसका यह दृढ़ विश्वास दिखायी देता है कि जब तक समाज को बदला नहीं जायेगा, व्यक्ति न तो अपने प्रकृतिदत्त स्वभाव के अनुसार काम कर सकेगा और न समाज को किसी प्रकार का महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकेगा। दुःख इस बात का है कि फ्रोम समाज को बदलने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में कोई भी सिद्धान्त दे पाने में असमर्थ रहा है। अपनी भावनात्मक कल्पना में वह श्रेणी-समाजवादी (guild socialist) ढंग के चिन्तन से प्रभावित दिखायी देता है। वह मानता है कि आर्थिक व्यवस्था का इस प्रकार से पुनर्गठन किया जाना सम्भव हो सकेगा कि उत्पादन का लक्ष्य लाभ न होकर उपयोगिता को माना जाने लगे। फ्रोम का यह भी विश्वास है कि उद्योग-धन्धों के संचालन में मजदूरों के योगदान को अधिक व्यापक बनाया जाना चाहिए और, इसके स्थान पर कि पूंजीपति मजदूरों को नौकरी दें, मजदूर पूंजी का नियन्त्रण अपने हाथ में ले सकें। परन्तु इस सारी विवेचना का अर्थ यह निकलता है कि फ्रोम की समस्या का समाधान आर्थिक है, राज-नीतिक नहीं। जहां तक राजनीतिक मामलों का प्रश्न है वह इस बात की तो चर्चा करता है कि प्रशासन का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए, और अन्तिम अधिकार नागरिक समि-तियों के पास होने चाहिए, परन्तु उसने इस प्रकार के अभीप्सित परिवर्तन को लाने के लिए न तो किसी प्रकार का उपाय सुझाया है, और न किसी पद्धति की व्याख्या की है। इस कारण हमें विवश होकर यह कहना पड़ता है कि जबकि उस रोग के सम्बन्ध में, जिससे आज का औद्योगिक समाज पीड़ित है, उसका निदान काफी ठीक दिखायी देता है, परन्तु उसके उपचार की जिस पद्धति की उसने चर्चा की है वह सर्वथा अपर्याप्त है। उसकी रचनाओं से यह बिलकुल भी स्पष्ट नहीं होता कि प्रबन्ध में साझेदार बन जाने से ही मजदूर की मनोवृत्ति कैसे बदल जायेगी। फ्रोम यह भी हमें स्पष्ट रूप से नहीं बताता कि उत्पादन की पद्धति में परिवर्तन ले आने से ही किस प्रकार व्यक्ति सुरक्षा के अभाव की उस स्थिति के साथ, जिसका पूर्ण रूप से मिट जाना स्वयं फ्रोम सम्भव नहीं मानता, अपना सामंजस्य स्थापित कर सकेगा। फ्रोम के इस कथन को कि व्यक्ति को सुरक्षा के अभाव की स्थिति के साथ समझौता कर लेना चाहिए, उसके अतिक्रमण का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, समझ पाना कठिन है। वास्तव में फ्रोम यह बताने में सर्वथा असमर्थ दिखायी देता है कि वर्तमान समाज का सही विश्लेषण कर लेने के बाद हमें क्या रास्ता अपनाना चाहिए।

रॉबर्ट ए० निस्बत

सामाजिक विश्लेषण के क्षेत्र में आज के युग का एक दूसरा महान, प्रतिभाशाली और प्रभावशाली लेखक रॉबर्ट निस्बत[61] है। रॉबर्ट निस्बत एक प्रमुख समाजशास्त्री है जो फ्रौम के समान ही समाज से व्यक्ति की विच्छिन्नता की समस्या को लेकर दुखी है। विच्छिन्न व्यक्तित्व की व्याख्या करते हुए निस्बत ने लिखा है कि "वह मस्तिष्क की एक ऐसी स्थिति है जिसे सामाजिक व्यवस्था दूर की एक ऐसी चीज दिखायी देती है जो उसकी समझ से परे है, और जो उसे धोखे में रखे हुए है, जिससे वह न किसी प्रकार की आशा कर सकता है, न अपेक्षा, जो केवल उपेक्षा, थकान अथवा विरोध की भावनाओं को ही जन्म देती है।"[62] फ्रौम के समान ही निस्बत भी विच्छिन्न व्यक्तित्व की समस्या को आज के युग की केन्द्रीय समस्या मानता है। उसकी दृष्टि में, मनुष्य सदा ही समुदाय की खोज में लगा रहा है, जिसके पीछे वास्तव में उसकी अपनी सुरक्षा की खोज है, परन्तु फ्रौम में और निस्बत में मूल अन्तर यह है कि जबकि फ्रौम समाज के पूंजीवादी गठन को विच्छिन्न व्यक्तित्व का मूल कारण मानता है, निस्बत की दृष्टि में उसका मूल कारण राज्य का वह स्वरूप है जो पश्चिमी देशों में पाया जाता है और जिसने समाज के मूल सामुदायिक घटकों में एक 'गहरी अस्तव्यस्तता' की स्थिति उत्पन्न कर दी है।[63] निस्बत की दृष्टि में आज के पश्चिमी देशों में सामाजिक व्यवस्था पर जो बड़ा प्रभाव पड़ा है वह एक प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य के हाथों में अधिक से अधिक कार्य और शक्ति का केन्द्रीकरण है। राज्य को केवल एक विधि-सम्मत व्यवस्था मान लेना अपने को भ्रम में रखना होगा। आधुनिक राज्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने व्यक्ति की आर्थिक, धार्मिक, कौटुम्बिक और स्थानीय सभी प्रकार की निष्ठाओं पर आक्रमण किया है और उत्तरदायित्व और अधिकार के चिरस्थापित केन्द्रों को एक क्रान्तिकारी ढंग से झकझोर डाला है।[64]

निस्बत, स्पष्ट रूप से, औद्योगीकरण और आधुनीकरण के विरुद्ध है। वह मानता है कि उनके कारण समाज के छोटे समूह, जिनसे व्यक्ति प्रारम्भिक युगों में सम्बद्ध था और जिनमें रह कर वह सुरक्षा की भावना का अनुभव करता था, मिट गये हैं, अथवा मिटा दिये गये हैं। औद्योगीकरण और आधुनीकरण के परिणामस्वरूप राज्य का आज जो बृहत् स्वरूप बन गया है वह व्यक्ति से इतना दूर है, और उसकी पहुंच से इतना परे है, कि वह अपने को परित्यक्त और असमर्थ पाता है। निस्बत की दृष्टि में

[61]रॉबर्ट निस्बत का सबसे प्रमुख ग्रन्थ 'कम्यूनिटी एण्ड पॉवर,' ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1962 है। उसके अन्य ग्रन्थ हैं: 'क्वेस्ट फॉर कम्यूनिटी, ए स्टडी इन दी एथिक्स ऑफ ऑर्डर एण्ड फ्रीडम,' ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, न्यूयार्क, 1953, 'दि सोशियोलॉजिकल ट्रेडीशन,' न्यूयार्क, बेसिक बुक्स, 1968, 'सोशल चेंज एण्ड हिस्ट्री, आस्पैक्ट्स ऑफ दी वेस्टर्न थियरी ऑफ डेवेलपमेन्ट,' ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1969।

[62]रॉबर्ट ए० निस्बत, 'कम्यूनिटी एण्ड पॉवर,' पी० उ०, पृ० 98।

[63]वही, पृ० 47।

[64]निस्बत, 'क्वेस्ट फॉर कम्यूनिटी,' पी० उ०, पृ० 98।

आधुनीकरण एक ऐसी भयंकर प्रक्रिया है जिसने उन सभी समूहों को, जो राज्य और व्यक्ति के बीच में काम कर रहे थे, नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है और एक सर्व शक्तिशाली केन्द्रीय राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना कर दी है। निस्बत की मान्यता है कि यदि आधुनीकरण के प्रभावों को मिटा दिया जाय और समाज फिर पहले जैसे छोटे-छोटे समूहों में बंट जाय तो व्यक्ति के लिए सुख और सन्तोष का मार्ग फिर से प्रशस्त हो सकता है। राज्य से निस्बत को केवल यही शिकायत नहीं है कि वह व्यक्ति से उसका सब कुछ ले लेता है परन्तु यह शिकायत भी है कि उन सभी आध्यात्मिक और सामाजिक व्यवस्थाओं को उसने नष्ट कर दिया है जिनके साथ किसी समय व्यक्ति अपनी आस्था को संयोजित कर सकता था।[65] गांधी के समान, और सम्भवतः उनके प्रभाव के कारण, निस्बत आधुनिक राज्य को सन्देह और शंका की दृष्टि से देखता है। उसकी दृष्टि में राज्य इतना बड़ा संगठन है कि शक्ति का प्रयोग उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। समाज को ऐसे छोटे समूहों में बांट दिया जाय जिनमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ मित्रता, आदर और उत्तरदायित्व की भावना के साथ काम कर सके तभी व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्तियां पूर्ण रूप से विकसित हो सकती हैं, उसकी सामाजिकता की प्रकृतिदत्त भावना को अभिव्यक्ति मिल सकती है और वह अपने आपको सुखी और सुरक्षित अनुभव कर सकता है।

मार्क्स ने जिस प्रकार पूंजीवाद को एक ऐसा आतंक माना था जो व्यक्ति को जकड़े हुए है उसी प्रकार निस्बत ने व्यक्ति में सुरक्षा की भावना के अभाव को एक भयंकर आतंक के रूप में देखा है। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों के समस्त चिन्तन के पीछे आज चिन्ता की एक गहरी भावना दिखायी देती है। व्यक्ति के सम्बन्ध में निस्बत की मान्यता है कि "वह एक ऐसा दिग्भ्रान्त, एकाकी चिन्तक है जो छोटी से छोटी चीज में नैतिक महत्व की खोज करता है, जाति अथवा वर्ग अथवा समूह के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है और अनवरत रूप से इस खोज में लगा रहता है कि मैं कौन हूं, मैं क्या हूं···।" वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में जब वह 'जनता' के स्थान की कल्पना करता है तो, उसके इस दावे के बावजूद कि वह अपने को उसका प्रतिनिधि मानती है, उसकी कल्पना में ऐसे लोग उभर कर सामने नहीं आते जो राज्य के कार्यों में लगे हुए हैं, पर ऐसे लोग आते हैं जिनकी जड़ें समाज की धरती से उखाड़ दी गयी हैं और जिन्हें दूर फेंक दिया गया है। ऐसे लोग सदा ही बड़े दुखी रहते हैं और, क्योंकि मानव व्यक्तित्व के लिए नैतिक विच्छिन्नता को सहन करना अथवा किसी समूह की सदस्यता से अपने को दूर रखना सदा ही कठिन रहा है, ऐसे लोग तानाशाही व्यवस्थाओं की ओर बड़ी आसानी से आकर्षित हो जाते हैं, जिनमें उन्हें अपने पुराने कार्यों, स्थितियों और आस्थाओं के स्थान पर जिन्हें नष्ट कर दिया गया है, नये काम, नयी स्थितियां और नयी आस्थाएं दिखायी देती हैं। निस्बत एक शक्तिशाली और भावनाशील लेखक है जिसने ऐसी अनेक पुस्तकों व लेखों की रचना की है जिनमें समाज से व्यक्ति के विच्छिन्न हो जाने की

[65]निस्बत, 'कम्युनिटी एण्ड पावर,' पी० उ०, पृ० 163।

इस समस्या का विशेष रूप से विश्लेषण किया गया है। परन्तु निस्बत के पास इस समस्या का समाधान क्या है ? निस्बत सामाजिक बहुलवाद, प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण और ऐसे समूहों के जो व्यक्ति के जीवन को सार्थकता प्रदान कर सकें स्वयं शासित होने मे विश्वास करता है, परन्तु इन विचारों की तुलना जब हम उस क्रान्तिकारी आह्वान से करते है जो उसने एक औद्योगिक समाज पर आधारित आधुनिक राज्य को मिटा देने के लिए किया था तो हमे उनके पीछे एक रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण दिखायी देता है । निस्बत हमे यह बताने का तनिक भी कष्ट नही करता कि जिस नयी सामाजिक व्यवस्था का उसने अपनी सभी रचनाओ मे बड़े ज़ोरदार शब्दो मे समर्थन किया है, उसका निर्माण कैसे होगा। निस्बत की रचनाओ की विशेषता यह है कि उसने हमारा ध्यान व्यक्ति के व्यवहार और वर्तमान युग के व्यापक ऐतिहासिक और दार्शनिक दृष्टिकोणो के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की ओर आकर्षित किया है, जिसे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मे गहराई से डूबे हुए अन्य सामाजिक आलोचको ने उपेक्षा की दृष्टि से देखा था। परन्तु विश्लेषण से आगे बढ कर क्रियाशीलता की दिशा मे निस्बत किसी प्रकार का कदम रखता हुआ दिखायी नही देता, इस कारण उसकी रचनाओ के सम्बन्ध मे यह कहना शायद अनुचित न हो कि आधुनिक समाज का विश्लेषण जबकि उसने क्रान्तिकारी ढग से किया है, व्यक्ति की विच्छिन्नता की जो मूल समस्या उसके सामने थी, उसका समाधान प्रतिक्रियावादी बन कर रह गया है। शायद यह कहना भी अनुचित न हो कि उसका कोई भी समाधान देने मे वह सर्वथा असफल रहा है । फ्रौम जैसे महान् मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और निस्बत जैसे महान समाजशास्त्रीय चिन्तक मे जब हम क्रियाशीलता की भावना का अभाव देखते हैं तो यह स्वाभाविक हो जाता है कि हम एक ऐसे राजनीति-विज्ञान के प्रख्यात चिन्तक की विचारधारा का अध्ययन करें जिसने न केवल आधुनिक अमरीकी विचारधारा पर, परन्तु आज की नयी पीढ़ी के आन्दोलनो पर, गहरा प्रभाव डाला है।

हर्बर्ट मार्क्यूज़े

हर्बर्ट मार्क्यूज़े [66] का जन्म बर्लिन मे 1898 मे हुआ था। उसने बर्लिन और फ्रीबर्ग के विश्वविद्यालय मे शिक्षा प्राप्त की। रोज़ा लक्ज़मबर्ग के साथ वह एक क्रान्तिकारी दल का सक्रिय सदस्य था । मैक्स होर्कीमन और टी० डब्ल्यू० एडौर्नो के सहयोग से उसने 'मार्क्सवादी समाजशास्त्र की फ्रेंकफर्ट विचारधारा' की स्थापना की । बाद मे वह अमरीका चला गया जहा उसने अमरीकी नागरिकता प्राप्त कर ली और उसके बाद ब्रैन्डीज विश्वविद्यालय मे राजनीति-विज्ञान और दर्शन-शास्त्र का प्राध्यापक बना। 1967

[66] हर्बर्ट मार्क्यूज़े के प्रमुख ग्रन्थ हैं : 'रीज़न एण्ड रिवोल्यूशन : हीगल एण्ड दि राइज़ ऑफ़ सोशल थियरी,' ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1941, 'ईरोस एण्ड सिविलिज़ेशन ए फिलौसोफिकल इनक्वायरी इनटू फ्रॉयड,' बीकन प्रेस, 1955, 'सोवियट मार्क्सिज़्म ए क्रिटिकल एनालिसिस,' न्यूयार्क कोलंम्बिया विश्वविद्यालय प्रेस, 1958, 'वन-डायमेंशनल मैन,' बीकन प्रेस, 1964 ।

में वह कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय चला गया, और 1968 में उसने पेरिस विश्वविद्यालय की विन्सेंस-स्थित शाखा में प्राध्यापक का कार्य स्वीकार कर लिया। मार्क्स के समान मार्क्यूजे ने भी समाज की व्याख्या के लिए हीगल द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया है, परन्तु उसमें और मार्क्स में एक मूल अन्तर यह है कि मार्क्स भौतिकवादी द्वन्द्ववाद में विश्वास करता है, मार्क्यूजे एक ऐसे आदर्शवादी द्वन्द्ववाद का प्रतिपादन करता है जिसकी परिणति, सर्वहारा की तानाशाही में नहीं, बुद्धिजीवी वर्ग की तानाशाही में होती है। मार्क्यूजे के विचार एरिक फ्रौम, डेविड रीज़मेन, हैना एरेन्ड, एरिक एच० एरिक्सन, सी० राइट मिल्स और उन सभी लेखकों के विचारों से भिन्न हैं जिन्होंने आज के औद्योगिक समाज में मानव की स्थिति के सम्बन्ध में चिन्ता व्यक्त की थी और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से औद्योगिक युग की ओर लौटने का सुझाव दिया था मार्क्यूजे औद्योगीकरण और उसकी सभी भौतिक उपलब्धियों को स्वीकार करता है, परन्तु इसके साथ ही उसकी मान्यता यह है कि अब समय आ गया है जब हमें पीछे की ओर एक प्राग् औद्योगिक समाज की दिशा में लौटना नहीं है परन्तु औद्योगिक युग के बाद के युग की ओर कदम बढ़ाने हैं, जिसमें व्यक्ति के सामने सबसे बड़ा उद्देश्य अधिक कार्य नहीं बल्कि अधिक आनन्द होगा।

इस दृष्टि से मार्क्यूजे की विचारधारा हीगल और मार्क्स दोनों से भिन्न है, क्योंकि इनमें से किसी ने भी व्यक्ति के आनन्द के सम्बन्ध में इतनी गहराई में जाकर नहीं सोचा था। वह कहता है कि काम का सिद्धान्त तो उस युग के लिये ठीक था जब एक औद्योगिक सभ्यता का निर्माण किया जा रहा था और श्रमिक के व्यक्तिगत जीवन का निर्वाह और उसमें सुधार सर्वथा उत्पादन की वृद्धि पर निर्भर था परन्तु मनुष्य ने प्रकृति पर अब इतना अधिक नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है और उत्पादन इतने बड़े परिमाण में होने लगा है कि व्यक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं रह गया है कि वह अपने जीवन का अधिकतर समय काम करने में ही बिता दे। विज्ञान के आज के युग में, मार्क्यूजे की मान्यता है, उत्पादन के उपकरण इतने विकसित हो गये हैं कि उनकी वृद्धि के लिए साधारण सा श्रम पर्याप्त है, इस कारण अधिक काम करने पर बल देना अब आवश्यक नहीं रह गया है। अब तो मनुष्य के सामने सबसे बड़ा उद्देश्य अधिक से अधिक सुख और आनन्द की प्राप्ति है। गरीबी पर विजय प्राप्त कर ली गयी है, और अब समय आ गया है कि हम ऐसी सभ्यता का निर्माण करें जिसमें व्यक्ति अपनी सर्जनात्मक और चिन्तनशील प्रेरणाओं को सम्पूर्ण अभिव्यक्ति दे सके और मनुष्य और प्रकृति के सतत सहयोग से एक उत्कृष्ट संस्कृति का निर्माण किया जा सके।

मार्क्यूजे की मान्यता है कि इस प्रकार के समाज का निर्माण करने में प्रमुख बाधा पूंजीपति की लाभ की इच्छा है जो उसे दमन के साधनों को काम में लाने के लिए प्रेरित करती है। मार्क्यूजे यह तो मानता है कि थोड़ा बहुत दमन सभ्यता का एक अनिवार्य अंग है, परन्तु पूंजीपति का लालच उसे श्रमिक पर अतिरिक्त और अनावश्यक दमन का प्रयोग करने के लिए प्रेरित करता है। मार्क्यूजे ने इस प्रकार के दमन को 'अतिरिक्त दमन' (surplus repression) का नाम दिया है। इस 'अतिरिक्त दमन'

के आधार पर थोड़े से धनी और प्रभावशाली व्यक्ति, वस्तुओं के वितरण को सीमित करके, अन्य मनुष्यों पर अपना आधिपत्य बनाये रखना चाहते हैं। वस्तुओं के अभाव को दूर करके और व्यक्ति के सतत उत्पादक कार्य में लगे रहने के सिद्धान्त से, जो समस्त औद्योगिक युग में व्यक्ति के मन पर छाया हुआ था, उसे मुक्त करके ही इस 'अतिरिक्त दमन' को मिटाया जा सकता है। पूंजीपति श्रमिक को लगातार काम में जोते रखना चाहता है क्योंकि उसे यह आशंका रहती है कि यदि श्रमिक को पता लग गया कि कम समय तक काम करके भी वह अपनी मूल आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है तो वह अधिक काम नहीं करेगा। मार्क्यूज़े की दृष्टि में आज के समाज के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि इस 'अतिरिक्त दमन' को कैसे समाप्त किया जाय।

मार्क्यूज़े रूस में व्यवहार में लाये जा रहे मार्क्सवाद का कट्टर विरोधी है। वह मानता है कि उसके द्वारा "अभाव की स्थिति बनाये रख कर और बाहरी खतरों का डर बता कर एक 'दमनकारी आत्म-निग्रही नैतिकता' को लोगों पर जबरदस्ती *लादा गया है।*"[67] *मार्क्सवाद ने दमन के नये तरीकों को ईजाद किया है।* इस विचारधारा का आरम्भ विचारधाराओं का अन्त करने के एक प्रयत्न के रूप में हुआ था परन्तु रूस में मार्क्सवाद स्वयं एक नयी विचारधारा बन गया है। मार्क्यूज़े मार्क्सवाद का विरोधी है, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पूंजीवाद का समर्थन करता है। उसकी दृष्टि में पूंजीवाद और मार्क्सवाद दोनों ही समान रूप से मानव व्यक्तित्व के शत्रु हैं। *दोनों ही व्यवस्थाओं में व्यक्ति, आनन्द की अपनी खोज में, पराजय और कुण्ठा का* अनुभव करता है। मार्क्यूज़े के चिन्तन की एक विशेषता यह है कि वह इस सारी स्थिति के लिए न तो व्यक्तियों को दोषी ठहराता है और न संस्थाओं को, वे पूंजीवादी हों अथवा समाजवादी। उसकी दृष्टि में सारा दोष चेतना के उन विभिन्न स्वरूपों को है जिन्होंने आधुनिक मनुष्य को अपनी मुट्ठी में जकड़ रखा है। इस सन्दर्भ में मार्क्यूज़े *के द्वारा प्रतिपादित 'एक-आयामी व्यक्ति' (one-dimensional man) के सिद्धान्त* की चर्चा करना आवश्यक होगा, जिसके अनुसार व्यक्ति का दृष्टिकोण आज एकांगी बन गया है। लोक-कल्याणकारी राज्य के विचार के साथ ही साथ दिन-प्रतिदिन के उपयोग में लाने वाली वस्तुओं तथा मजदूर संगठनों के स्वरूप में होने वाले परिवर्तनों का यह परिणाम हुआ है कि मजदूर वर्ग और मजदूर आन्दोलन आज इतना नि:सहाय और आश्रित *हो गया है कि वर्ग-संघर्ष का प्रसिद्ध मार्क्सवादी सिद्धान्त आधुनिक* समाज के सन्दर्भ में सर्वथा असम्बद्ध हो गया है। आज के औद्योगिक समाज ने सभी व्यक्तियों को एक ही ढंग से सोचने के लिए विवश कर दिया है और यह देख कर आश्चर्य होता है कि व्यक्ति को इस बात का आभास तक नहीं है कि आज उसकी यह स्थिति हो गयी है।

राजनीतिक चिन्तन को मार्क्यूज़े का विशेष योगदान प्रचार के आधुनिक साधनों का

[67]एस० वेंकटनारायण अय्यर द्वारा 'दि टाइम्स ऑफ इण्डिया,' 30 जुलाई 1972 के मार्क्यूज़े सम्बन्धी उसके लेख में उद्धृत।

वह विश्लेषण है जिसके आधार पर उसने यह बताने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार अनेक साधनों के द्वारा सभी व्यक्तियों के पास एक ही प्रकार के विचार पहुंचते हैं, और क्योंकि उन्हीं विचारों को बराबर दोहराया जाता रहता है, व्यक्ति उन्हें प्रामाणिक सत्य के रूप में स्वीकार कर लेता है। प्रचार के इन परिष्कृत और सुव्यवस्थित साधनों ने मजदूरों को इतना जीर्ण-शीर्ण, संगठनहीन और स्थापित समाज पर सभी दृष्टियों से इतना अधिक आश्रित बना दिया है कि आज यह वर्ग पूंजीवादी समाज का उस प्रकार से मुकाबला करने की स्थिति में नहीं रह गया है जिस प्रकार के मुकाबले की अपेक्षा मार्क्स ने उससे की थी। "शोषण के स्रोतों पर पदार्थमूलक वास्तविकता का मुखौटा चढ़ा दिया गया है, घृणा और कुण्ठा के लिए अब कोई विशिष्ट लक्ष्य नहीं रह गया है, और असमानता और गुलामी की सतत वृद्धि के कठोर सत्यों को तकनीकी आवरण के पीछे छिपा दिया गया है।"[68] मार्क्यूज़े की मान्यता है कि आज के औद्योगिक समाज में एक नये किस्म की गुलामी आ गयी है, एक ऐसी गुलामी "जिसका आधार न तो आज्ञाकारिता पर है और न कठिन परिश्रम पर, बल्कि व्यक्ति के एक साधन अथवा वस्तु मात्र बन कर रह जाने पर है।"[69] गुलामी का सबसे शुद्ध रूप यही है, जिसमें मनुष्य एक साधन अथवा वस्तु मात्र बन कर रह जाता है।[70] "मजदूर की सारी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियां जब उसमें से निचोड़ ली जाती हैं तब वह विकसित समाज के लिए खतरा नहीं रह जाता।" आज जब स्वयं मजदूर इस सारी व्यवस्था का एक सहारा बन कर उसका समर्थन करने में लगा हुआ है, यह सम्भव नहीं रह गया है कि आंशिक राष्ट्रीयकरण अथवा व्यवस्था और लाभ में मजदूरों को अधिक भाग देकर, आधिपत्य की इस व्यवस्था को बदला जा सके।"[71]

लिस्वत के समान मार्क्यूज़े भी मानता है कि हमें एक नये ढंग के समाज और एक नये ढंग के मानव का निर्माण करना है। वह इसे वांछनीय और सम्भव मानता है, क्योंकि यदि ऐसा नहीं किया गया तो मानव के लिए आणविक अस्त्रों के द्वारा आत्मघात के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं रह जाता। एक नये ढंग के समाज से उसका अर्थ एक ऐसी सभ्यता से है जिसमें दमन नहीं होगा, एक ऐसी सभ्यता से, जिसमें प्रकृति को मुख्यतः चिन्तन के रूप में अनुभव किया जा सकेगा। सभी हिंसात्मक और विस्फोटात्मक प्रयत्न सदा के लिए रुक जायेंगे और मनुष्य अपने व्यक्तित्व की समस्त सम्भाव्यताओं को मुक्त रूप से प्रदर्शित कर सकेगा। मार्क्यूज़े ने जिस 'वस्तुतः मुक्त सभ्यता' की कल्पना की है उसमें "व्यक्ति अपने लिए सभी नियम स्वयं बनाता है, अन्य व्यक्तियों और संस्थाओं के द्वारा उसके साथ भेदभाव नहीं किया जाता, और "अतिरिक्त दमन" समाप्त हो चुका होता है।"[72] इस प्रकार के समाज में विज्ञान और तकनीक का अधिक से अधिक उपयोग

[68] वही।
[69] वही।
[70] वही।
[71] वही।
[72] मार्क्यूज़े 'ईरोस एण्ड सिविलाइजेशन,' पी० ड०, पृ० 173।

किया जायेगा और मानव में श्रम की आवश्यकता कम से कम होगी। इस नये समाज में जिस नये मानव का उद्भव होगा वह सभी मान्य साधनों का विवेकपूर्ण और वैज्ञानिक ढंग से इस प्रकार उपयोग करेगा कि सभी की सुख और समृद्धि में वृद्धि की जा सकेगी। इस प्रकार के परिपक्व समाज की स्थापना को मार्कूजे एक कोरा आदर्शवाद नहीं मानता, उसका विश्वास है कि "ज्ञान और अनुभूति के द्वारा मनुष्य जब इस यथार्थ सत्य को समझ लेगा कि मानवता की आज क्या स्थिति है और उसे सुधारने के लिए क्या करना चाहिए, तो इस प्रकार के परिपक्व समाज की स्थापना अनिवार्य हो जायेगी।"[73] इस प्रकार के समाज में मानवता संस्कृति में एक ऐसे उत्कृष्ट स्वरूप का विकास कर सकेगी जिसमें "श्रम क्रीड़ा में परिवर्तित हो जायेगा, उत्पादन आनन्द का साधन बनेगा, संवेदनशीलता, न कि तार्किकता, मानवजीवन का प्रमुख घटक बन जायेगी, और बुद्धि का प्रयोग उत्पादन की व्यवस्था को इस प्रकार से संगठित करने में होगा कि समाज के सदस्य कम से कम श्रम करके आवश्यकता की सभी वस्तुओं को प्राप्त कर सकेंगे।"[74] परन्तु, इस समस्त विवेचना के बाद भी मार्कूजे के लिए इस प्रश्न का उत्तर देना शेष रह जाता है—*यह सब आखिर किया कैसे जायेगा? वे साधन कौन से हैं जिनका सहारा लेकर मनुष्य अपने अभीप्सित लक्ष्य की ओर निश्चित रूप से आगे बढ़ सकेगा?*

मार्कूजे ने *क्रान्ति की आवश्यकता पर जोर दिया है, क्रान्ति से उसका अर्थ है समाज* में आवश्यक रूप से एक ऐसे "प्रवर्तक बहुमत" का निर्माण जो मार्कूजे के समाज-सम्बन्धी विश्लेषण में अन्तर्निहित इस 'यथार्थ सत्य' से परिचित हो। मार्कूजे ने "प्रवर्तक बहुमत" को यह सुझाव देने में भी संकोच नहीं किया है कि संगठित दमन के द्वारा यदि इस क्रान्ति को कुचल देने की चेष्टा की जाय, जो बिलकुल सम्भव है, तो यह बहुमत लोकतन्त्र विरोधी साधनों का भी प्रयोग कर सकता है। उसने स्पष्ट रूप में यह कहा है कि "ऐसे सभी समूहों और आन्दोलनों से, जो आक्रामक नीतियों और शस्त्रीकरण आदि का समर्थन करते हैं, . . . *अथवा जो लोक सेवाओं, सामाजिक सुरक्षा और स्वास्थ्य-व्यवस्था आदि के विस्तार का विरोध करते हैं, भाषण देने और सभा आदि करने के अधिकारों को छीन लेना चाहिए।"*[75] यह शिक्षण और शैक्षणिक संस्थाओं से सम्बद्ध अन्य कामों पर नियन्त्रण लगाने की बात भी करता है, और इसे 'सहिष्णुता से मुक्ति' का नाम देता है, जिसका अर्थ वह "सभी दक्षिण-पक्षी आन्दोलनों के विरुद्ध असहिष्णुता और वामपक्षी आन्दोलनों के प्रति सहिष्णुता"[76] बताता है। मार्कूजे सभी वामपक्षी आन्दोलनों को अपना खुला समर्थन देता है और सभी दक्षिण-पक्षी आन्दोलनों के विरुद्ध हिंसा का समर्थन करने, बल्कि उसको प्रोत्साहन देने में, विश्वास रखता है।

[73] "रिप्रेसिव टॉलरेंस," रॉबर्ट पी० वोल्फ, बैरिंगटन मूर और हर्बर्ट मार्कूजे, 'ए क्रिटीक ऑफ प्योर टॉलरेंस,' बीकन प्रेस, 1965 में।
[74] सुनील के० सीहान, पी० उ०, पृ० 409-10।
[75] वोल्फ, मूर और मार्कूजे, पी० उ०, पृ० 100।
[76] वही।

मार्कूजे को 1960 के दशक मे विद्यार्थियों के द्वारा चलाये गये उस आन्दोलन का एक प्रमुख नेता माना जाता है जिसका उद्देश्य न केवल संस्थाओं को बदलना था परन्तु स्वयं मनुष्यों को उनके दृष्टिकोणों, भावनाओं, लक्ष्यों और मूल्यों सभी को बदलना था। मार्कूजे पूंजीवादी और साम्यवादी दोनो ही व्यवस्थाओं का विरोधी है, क्योंकि वह मानता है कि इन दोनों मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता कुचल दी जाती है और उसे आनन्द की प्राप्ति से वंचित कर दिया जाता है। उसने एक संवाददाता से एक भेंट मे कहा, "समाचार पत्र मेरा सम्बन्ध विद्यार्थियों के विद्रोह से जोड़ते हैं, परन्तु वास्तव में मैं विश्वविद्यालयों मे हिंसा के विरुद्ध हू—परन्तु विद्यार्थियों द्वारा विरोध-आन्दोलनों के चलाये जाने के मैं पक्ष मे हू, क्योंकि वे वर्तमान व्यवस्था की विवेक-हीनता का विरोध करते हैं।" विद्यार्थियों के आन्दोलन के सम्बन्ध में उसकी मान्यता थी कि वह अपने आप मे क्रान्तिकारी आन्दोलन नही था, परन्तु क्रान्तिकारी अभिव्यक्ति और क्रान्तिकारी कार्यों की भूमिका मात्र था। उसका कहना था कि उसमे व्यवहार मे लायी गयी हिंसा "उस हिंसा की तुलना मे बहुत कम थी जो उनके विरुद्ध प्रयोग मे लायी जा रही थी, अथवा जिसके प्रति अमरीकी समाज उदासीन दिखायी दे रहा था।" विद्यार्थियों के विद्रोह के समर्थन का उसका आधार यह था कि "वही विद्यार्थी जो आज समाज की आलोचना कर रहे हैं कल उसकी राजनीतिक और सामाजिक गतिविधियों का नेतृत्व करेंगे। तब उनकी आवाज मे वजन होगा, उनके हाथों मे शक्ति होगी, उपयुक्त अवसर आने पर वे क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकेंगे।"[77]

इस दृष्टि से हम देखें तो कह सकते हैं कि विद्यार्थियों के आन्दोलन का समर्थन करने के पीछे मार्कूजे के दो विचार थे— (1) वह देश के तरुणों मे एक क्रान्तिकारी मनोवृत्ति का सृजन करना चाहता था, और (2) आने वाली क्रान्ति मे अपने हाथों मे नेतृत्व लेने के लिए उन्हें तैयार करना चाहता था। चेतना के वर्तमान स्वरूप से ऊपर उठने और एकांगी (one-dimensional) चिन्तन से मुक्त होने की दृष्टि से मार्कूजे ने 'नकारात्मक चिन्तन' (negative thinking) की संकल्पना का विकास किया है। उसकी मान्यता है कि "जब तक विद्यार्थी उल्टी दिशा मे सोचना शुरू न करेंगे तब तक वे आज के मूल्यों के दायरे मे ही वस्तुओं को देखने की विवशता से बचे रहेंगे।" इसके साथ ही मार्कूजे ने अपना यह विचार भी प्रकट किया है कि उन अल्पसंख्यक वर्गों का, जिन्हें समाज के द्वारा कुचला जा रहा है, यह एक "प्रकृति दत्त अधिकार" है कि वे, कानूनी साधनों की अनुपलब्धता स्पष्ट हो जाने पर, उसके विरुद्ध गैर कानूनी साधनों का प्रयोग करें। मार्कूजे ने लिखा है कि यदि वे ऐसा करते हैं तो "किसी तीसरे व्यक्ति को, कम से कम किसी शिक्षक अथवा बुद्धिजीवी को, यह अधिकार नहीं है कि वह उन्हें ऐसा करने से रोके।"[78] इस प्रकार, मार्कूजे ने समाज मे परिवर्तन लाने के लिए हिंसा के मार्ग का प्रतिपादन किया है। परन्तु, यह सब होते हुए भी, अमरीकी विश्वविद्यालयों के प्रांगणो मे विद्यार्थियों को

[77] वैद्यनाथन द्वारा उद्धृत, पी० उ०।
[78] वोल्फ, मूर और मार्कूजे, पी० उ०, पृ० 117।

विद्रोह के लिए प्रोत्साहन देने के अतिरिक्त मार्कूज़े ने अपनी रचनाओ मे कही यह बताने का गम्भीर अथवा व्यवस्थित प्रयास नही किया है कि जिस क्रान्ति को वह इतना आवश्यक मानता है उसका सगठन किस प्रकार किया जायेगा, अथवा किन मजिलों मे से उसे गुजरना होगा।

गार्जियन पत्र की बीसवीं वर्षगाठ के सम्बन्ध मे आयोजित किये गये कार्यक्रम मे, 4 दिसम्बर 1968 को दिये गये अपने एक वक्तव्य मे, मार्कूज़े ने तीन बातों के सम्बन्ध मे अपने विचारो को कुछ विस्तार से समझने की चेष्टा की—(1) वर्तमान स्थिति, (2) आन्दोलन के लक्ष्य, और (3) उन्हे प्राप्त करने के लिए प्रयोग मे लाये जाने वाले साधन। जहा तक वर्तमान स्थिति का प्रश्न है, उसने आधुनिक समाज की उतने ही कडे शब्दों मे भर्त्सना की जिनका प्रयोग उसने अपनी पहली रचनाओ मे किया था "···हम सब जानते हैं, हम सब अनुभव करते हैं, यह भावना हमारी रग-रग मे समायी हुई है कि समाज के अत्याचार दिन-प्रतिदिन बढते जा रहे है और दूसरो के शोषण से सर्वथा मुक्त रहते हुए व्यक्तियो को स्वतन्त्र रहने और अपने जीवन की दिशा स्वय निर्धारित करने की जो प्रकृतिदत्त क्षमता है उसे नष्ट किया जा रहा है।" "समष्टि पूंजीवाद (corporate capitalism) के अन्तर्गत निहित-विरोधो ने आज पहले की अपेक्षा कही अधिक गम्भीर रूप ले लिया है, परन्तु यदि समष्टि पूंजीवाद के अन्तर्विरोधो ने आज एक गम्भीर रूप ले लिया है तो उसके साथ ही उसकी शक्ति भी बहुत बढ गयी है। व्यक्ति को कुचलने के साधन आज पहले की तुलना मे कही अधिक प्रभावशाली और प्रबल हैं। दूसरी ओर मजदूर वर्ग, जिस पर एक समय क्रान्ति की समस्त आशा रखी गयी थी, आज क्रान्ति की अपनी क्षमता को सर्वथा खो चुका है। उसका एक बडा, सम्भवतः निर्णायक, भाग व्यवस्था का लगभग एक अग ही बन चुका है और आर्थिक दृष्टि से भी अधिक समृद्ध है।" मार्कूज़े ने अपना यह विचार भी व्यक्त किया कि "आज हमारा मुकाबला बहुत अधिक विकसित और तकनीक की दृष्टि से बहुत आगे बढे हुए एक ऐसे औद्योगिक समाज से है जो बडे सुव्यवस्थित और सुगठित ढग से काम कर रहा है।" इस प्रकार की व्यवस्था का पर्याय, मार्कूज़े मानता है, "समाजवाद ही हो सकता है, परन्तु वह समाजवाद न तो स्टालिन के ढग का समाजवाद होगा, न स्टालिन के बाद के युग का समाजवाद। वह तो एक बन्धन-मुक्त समाजवाद (libertarian socialism) होगा, जो सदा से समाजवाद का वास्तविक रूप रहा है।"[79] एक अस्पष्ट, खोखला लक्ष्य।

वह "बन्धन-मुक्त समाजवाद" क्या है जिसे मार्कूज़े ने "सदा से ही समाजवाद का वास्तविक स्वरूप" माना है पर जिसकी व्याख्या करना उसने आवश्यक नही समझा? मार्कूज़े के लक्ष्य सर्वथा अस्पष्ट हैं पर उसके दर्शन की कमी हमारे सामने तब प्रकट होती है जब हम उसे 'अस्पष्ट' लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए साधनों की व्याख्या करते हुए देखते हैं। मार्कूज़े मानता है कि एक ऐसी स्थिति मे जब मजदूर वर्ग के एक अधिकाश भाग ने तकनीकी विशेषज्ञो का रूप ले लिया है; जिन्हें ऊची तनख्वाहें मिलती हैं और

[79] मैसोमी टियोडोरो, पी॰ उ॰, पृ॰ 468 73।

उत्पादन की प्रक्रियाओं को निर्धारित करने में जिनका निर्णायक योग होता है उनसे क्रान्ति के लिए किसी व्यापक समर्थन की आशा स्पष्ट ही नहीं रखी जा सकती और, इस कारण समझाने-बुझाने के लोकतान्त्रिक तरीके से अब काम नहीं चल सकता। आज की स्थिति में, जब राज्य के पास पहले की तुलना में किसी भी आन्दोलन को कुचलने के लिए कहीं अधिक शक्ति और साधन मौजूद है, ऐसे क्रान्तिकारी राजनीतिक दल का निर्माण भी सम्भव नहीं है जिसका नेतृत्व और निर्देशन कुछ लोगों के हाथ में हो। आज पुराने ढंग की वैसी क्रान्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती जिसमें कुछ लोगों के नेतृत्व में एक बड़ी भीड़ वाशिंगटन की ओर दौड़ पड़े, सरकारी कार्यालयों को अपने अधिकार में ले ले, और एक नयी सरकार की स्थापना कर ले। लोकतान्त्रिक ढंग से परिवर्तन लाना जब सम्भव नहीं रह गया है, किसी बड़े क्रान्तिकारी दल का संगठन जब नहीं किया जा सकता, और क्रान्ति के अचानक भड़क उठने और शासन को अपने हाथों में ले लेने की कल्पना "अयथार्थवादी और भावुकतापूर्ण" बन कर रह गयी है तो वर्तमान स्थिति से छुटकारा पाने का रास्ता क्या है? मार्क्यूजे का सुझाव है कि, एक बड़े केन्द्रीभूत और संगठित आन्दोलन के स्थान पर, अलग-अलग शिकायतों के लिए स्थानीय और क्षेत्रीय राजनीतिक कार्यवाही की जाय—छुट-पुट उपद्रवों, दंगे-फसादों, सीमित विद्रोहों आदि के रूप में—जिनके सम्बन्ध में उसका विश्वास है कि वे ऐसे जन-आन्दोलन हैं जिनके पीछे राजनीतिक चेतना तो अधिक नहीं है परन्तु जिन्हें राजनीतिक निर्देशन के लिए जनता पर और नेतृत्व के लिए अधिक उग्रवादी अल्प-संख्यक वर्गों पर निर्भर होना पड़ेगा।"[10]

मार्क्यूजे राजनीतिक दलों की स्थापना के सर्वथा विरुद्ध है। वह मानता है कि आज किसी भी ऐसे राजनीतिक दल की कल्पना नहीं की जा सकती जो थोड़े ही समय में उसी प्रकार के व्यापक और तानाशाही राजनीतिक भ्रष्टाचार में लिप्त नहीं हो जायेगा जो आज के राजनीतिक जीवन की विशेषता बन गया है। उसका विश्वास छोटे-छोटे समूहों के मिलजुल कर काम करने में भी नहीं है। लेनिन के शब्दों को उद्धृत करते हुए वह कहता है कि "शैतान के साथ भी सांठ-गांठ नहीं करना चाहिए," क्योंकि शैतान आज बहुत शक्तिशाली बन गया है, वह हमें खा जायेगा। मार्क्यूजे इस बात के पक्ष में है कि "एक ऐसा सम्पूर्णतः गुप्त संगठन बनाया जाय जो छोटे-छोटे दलों में बिखरा हुआ हो, और स्थानीय समस्याओं को लेकर समय-समय पर आन्दोलन करता रहे।" इस प्रकार के "छोटे, परन्तु नमनीय और 'स्वय-शासित' समूह, स्थानीय स्तर की कार्यवाहियों पर अपना आन्दोलन केन्द्रित करते हुए, यदि एक समय पर ही कई केन्द्रों पर सक्रिय हो सकें और शान्ति अथवा तथाकथित शान्ति काल में राजनीतिक छापामार युद्ध (guerrila warfare) में लग जायें तो वे 'बन्धन-मुक्त समाजवाद' के मूल संगठन का रूप ले सकते हैं।" इसके साथ ही उसने "राजनीतिक शिक्षण" का प्रतिपादन भी किया है परन्तु वहाँ भी उसने यह स्पष्ट नहीं किया कि इससे उसका अर्थ क्या है। वह शिक्षण परम्परागत उदारवादी लोकतान्त्रिक परिवेश में किये जाने

[10]वही।

वाले राजनीतिक शिक्षण से, जिसका आधार विचार-विमर्श और प्रकाशन से परे नही जाता, भिन्न होगा, वह राजनीतिक भाषा और राजनीतिक व्यवस्था की परम्परागत और गुप्त सीमाओ को तोडेगा और स्वयं को और दूसरो को उस समय के लिए तैयार करेगा जब समष्टि पूजीवाद के बढते हुए अन्तर्विरोध उसमे दमनपूर्ण संगठन को तोड़ देंगे और एक ऐसी सम्भावना को जन्म देंगे जिसमे बन्धन-मुक्त समाजवाद की स्थापना का वास्तविक कार्य प्रारम्भ किया जा सकेगा, यह सब तो ठीक है पर मार्कूजे ने यही यह स्पष्ट नहीं किया कि यह होगा किस प्रकार। वह जानता है कि वर्तमान व्यवस्था की दृष्टि में, और सम्भवतः उसकी अपनी दृष्टि मे भी, "इस प्रकार का व्यवहार वास्तव मे, और देखने मे भी मूर्खतापूर्ण, बचकाना और विवेकहीन होगा।" 1968 तक भी मार्कूजे को विश्वास था कि "कमजोर और दिग्भ्रान्त," आज के "अपरिपक्व माने जाने वाले उग्रवादी तरुण" आने वाले समय मे "महान समाजवादी परम्परा के वास्तविक ऐतिहासिक उत्तराधिकारी" सिद्ध होंगे। पर आज जब मार्कूजे 79 वर्ष की आयु को पार कर चुका है, वह अपनी पहले की क्रान्तिकारी स्थिति से पीछे हटता दिखायी पडता है। अब वह यह मानता है कि समाज मे ऐसे क्रान्तिकारी तत्त्व अब *मौजूद ही नहीं रह गये हैं, जिनका उसने अपने जीवन भर समर्थन किया था,* जो तकनीकी व्यवस्था के द्वारा उन्हे कुचलने का अन्त तक विरोध करते रह सकें। कीर्केगार्द से आरम्भ होकर नीत्शे और डॉस्टायवस्की के माध्यम से, सार्त्र और कामू तक और अस्तित्ववादियों से आरम्भ होकर एरिक फ्रौम, रॉबर्ट निस्बत और हर्बर्ट, मार्कूजे के माध्यम से नवीन वामपक्ष तक, पश्चिम के सभी प्रमुख सामाजिक आलोचक, विच्छिन्न व्यक्ति को, एक ऐसे राष्ट्र और समाज की दिशा मे ले जाने का आश्वासन देते रहे हैं जिसमे वह व्यक्तिगत रूप से पूर्ण सर्जनात्मक आनन्द का जीवन बिता सके, अपने सभी साथियों के साथ चिरस्थायी प्रेम और मित्रता के सम्बन्ध बनाये रख सकें और प्रकृति के साथ शान्ति और सामंजस्य की भावना मे रह सके। पाश्चात्य चिन्तकों की इस सम्बन्ध में सारी खोज आज व्यर्थ और भ्रामक दिखायी देती है।

अध्याय 9

आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख धाराएं (2)

[MAINSTREAMS OF MODERN POLITICAL THOUGHTS] (2)

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त : माओ त्से-तुंग और गांधी

(THEORIES OF SOCIAL CHANGE : MAO TSE-TUNG AND GANDHI)

महात्मा गांधी और माओ त्से-तुंग, ये दो ऐसे राजनीतिक चिन्तक हैं जिनके सिद्धान्त उनके अपने-अपने देशों में राष्ट्रीय संघर्षों के बीच में विकसित हुए किन्तु जिनका उद्देश्य केवल अपने ही देशों में राजनीतिक परिवर्तन लाना नहीं है परन्तु विश्व के सभी समाजों में सम्पूर्ण राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्रान्ति की स्थापना करना है। वे अस्तित्ववादियों, नवीन वामपन्थी लेखकों अथवा सामाजिक आलोचकों की तुलना में, जिनका ध्यान केवल एक औद्योगिक दृष्टि से बहुत आगे बढ़े हुए समाज की बुराइयों का निदान खोजने तक सीमित रहा और जिन्होंने मार्क्सवादी समाधान के प्रति असन्तोष व्यक्त किया परन्तु जो सामाजिक परिवर्तन के किसी व्यापक सिद्धान्त का विकास करने में सर्वथा असमर्थ रहे, कहीं अधिक व्यापक और गहरे सामाजिक परिवर्तन के समर्थक हैं। गांधी और माओ त्से-तुंग ने केवल सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही नहीं किया, उन्होंने अपने-अपने देशों में विशाल जनसमूहों का गठन किया, उन्हें साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद और, साथ ही साथ, पूंजीवाद और सामन्तवाद की शक्तियों के विरुद्ध एक जीवन और मरण के संघर्षों में झोंका, और सामाजिक क्रान्ति के लिए प्रभावपूर्ण साधनों का विकास करने में भी उन्हें पर्याप्त सफलता मिली।[1] उद्देश्यों और साधनों में बहुत बड़ा अन्तर होते हुए भी उन दोनों को

[1] चीन में सामाजिक और राष्ट्रवादी शक्तियों ने किस प्रकार एक दूसरे को मजबूत बनाया और माओ त्से-तुंग और साम्यवादियों को च्यांग काई शेक और कुओमिन्तांग के विरुद्ध, जिनका उद्देश्य केवल राष्ट्रवादी क्रान्ति लाना था, सामाजिक क्रान्ति नहीं, किस प्रकार सफलता मिली इसका अच्छा विश्लेषण शान्ति स्वरूप, 'ए स्टडी ऑफ दी चाइनीज कम्युनिस्ट मूवमेन्ट, 1927-1934,' ऑक्सफोर्ड, क्लेरेंडन प्रेस, 1966 में मिलता है। जहाँ तक गांधी का सम्बन्ध है उन्होंने किस प्रकार राम मोहन

ही अपने-अपने समाजो मे क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने मे सफलता मिली। गाधी की तुलना मे माओ त्से-तुंग को और भी अधिक और यद्यपि गाधी को उतनी सफलता नहीं मिली जितनी माओ त्से-तुंग को, उनके साधनों का माओ की तुलना मे कम प्रभावशाली होने का एक कारण यह था कि अपने देश को स्वतन्त्रता दिलाने के बाद उन्हे, अपने सिद्धान्तो के अनुसार, उसका पुनर्गठन करने के लिए समय नहीं मिला, और उनके उत्तराधिकारियो ने उनके बताये हुए मार्ग को छोड दिया, जबकि माओ त्से-तुंग, भाग्यवश, अपने इस काम को अपने ही जीवन मे बहुत आगे ले जा सके।

गाधी और माओ त्से-तुंग दोनों ही के सामने मूल समस्याए लगभग एक सी थी। गाधी ने जब भारतीय राजनीति मे प्रवेश किया तो उनका देश एक आततायी साम्राज्यवादी व्यवस्था के बोझ के नीचे कराह रहा था और चीन के राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होते हुए भी विदेशी शक्तिया—19वी शताब्दी मे यूरोप के देश, 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे जापान, और दूसरे महायुद्ध के बाद अमरीका—उस पर अपना नियन्त्रण रखे हुए थी। दोनो देशो की स्थिति मे एक दूसरी समानता हमे यह दिखायी देती है कि उनका पुराना नेतृत्व—भारत मे उदारवादी, उग्रपन्थी और आतंकवादी नेतृत्व, और चीन मे सुनयातसेन और कुओमिताग का नेतृत्व—अपने-अपने देशों की समस्याओ को सुलझाने के लिए आवश्यक साधनों का विकास करने मे असफल रहा था। इनमे एक अन्य समानता यह थी कि ये दोनो देश मुख्यत कृषि-प्रधान देश थे, जिनकी 80 से 85 प्रतिशत आबादी ग्रामीण क्षेत्रों मे रहती थी, और जिनके राष्ट्रीय पुनरोत्थान का साधन ग्रामीण जनता मे जागृति उत्पन्न करना और उसका सगठन करना ही हो सकता था। चीन और भारत दोनो ही देशो मे बुद्धिजीवी वर्ग और मध्यम श्रेणी के लोग कुण्ठा और निराशा की स्थिति मे थे, और ऐसे नेताओं और विचारधाराओ का अनुगमन करने के लिए आतुर थे जो उन्हे उनकी समस्याओ को सुलझाने का मार्ग दिखा सकें। समानताए इससे अधिक नहीं थी। चीन मे, भारत की तुलना मे बहुत अधिक जनसख्या होते हुए भी, वहा का कृषक वर्ग आर्थिक दृष्टि से अधिक समृद्ध, बौद्धिक दृष्टि से अधिक क्रियाशील, और सामाजिक दृष्टि से अधिक सगठित था, यद्यपि, भारत की तुलना मे, वहा सामन्तवाद का बोझ अधिक कष्ट देने वाला था।

माओ और गाधी दोनों अपने-अपने देशो के बुद्धिजीवी वर्ग, मध्यमवर्ग और कृषक जनता को प्रभावशाली नेतृत्व दे सकें, परन्तु उनके व्यक्तिगत विकास और परिनिर्माण की प्रक्रियाओं, और उनके देशो की ऐतिहासिक स्थितियो, मे इतना अधिक अन्तर था कि उनके लिए अलग-अलग मार्गों पर चलना आवश्यक हो गया। माओ

राय और दयानन्द सरस्वती के द्वारा चलाये गये धार्मिक व सामाजिक सुधार के आन्दोलन को, अपने विभिन्न सत्याग्रह आन्दोलनों के द्वारा, जिनका लक्ष्य केवल अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध सघर्ष करना ही नहीं, अस्पृश्यता और मजदूर-वर्ग के शोषण को दूर करना भी था, दृढ़ बनाया, यह भारत के आधुनिक इतिहास का एक जाना माना तथ्य है।

और गांधी में, आपसी मतभेदों के बावजूद, मार्क्स और लेनिन की तुलना में, एक समानता यह थी कि वे दोनों कट्टर राष्ट्रवादी थे। चीन का राष्ट्रीय आन्दोलन मांचू वंश के शासकों और पश्चिमी साम्राज्यवाद दोनों का ही विरोध कर रहा था। प्रारम्भ में चीन का राष्ट्रवाद जापान को अपना प्रमुख शत्रु मानकर चला, बाद के वर्षों में अमरीका को, और 1956 से सोवियत रूस को।[3] चीनी राष्ट्रवाद के इस पहले से स्थापित और सशक्त आधार पर ही माओ त्से-तुंग ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद का ढांचा खड़ा किया। गांधी का सारा संघर्ष अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ था। दोनों को ही बाहरी शत्रु का मुकाबला करना था, और इस कारण उन्होंने भीतरी विरोधों पर ज़ोर न देकर अपने-अपने देशों में एक संयुक्त मोर्चा कायम करने का प्रयत्न किया। रूस की मार्क्सवादी क्रान्ति का आधार प्राचीन से अपना सम्पर्क सम्पूर्ण रूप से तोड़ लेने पर था, पर माओ और गांधी धीमे परिवर्तन की ही बात सोच सकते थे। फिर भी, राजनीतिक अस्थायित्व, प्रशासनिक अव्यवस्था, बुद्धिजीवी वर्ग की अपने देश की समस्याओं से अपने को अलग रखने की प्रवृत्ति और किसी स्पष्ट विचारधारा के अभाव के कारण चीन में एक ऐसे मजबूत राजनीतिक दल का निर्माण करना आवश्यक हो गया जो एक क्रान्तिकारी कार्यक्रम को अमल में ला सके। चीन में कृषक विद्रोहों की एक लम्बी परम्परा रह चुकी थी, और माओ त्से-तुंग ने, जिसने इन विद्रोहों का गहराई से अध्ययन किया था और अपने व्यक्तिगत जीवन में, उनसे बहुत अधिक प्रेरणा ली थी, उन्हें और भी अधिक प्रभावशाली ढंग से संगठित करने के लिए साम्यवादी विचारधारा को चुना। भारत की स्थिति इससे बिलकुल भिन्न थी। यहां सारे देश पर अंग्रेजी सत्ता का आधिपत्य मजबूती के साथ जमा हुआ था, आवागमन और संचार के सभी साधनों पर उसका कड़ा नियन्त्रण था, और किसी क्रान्तिकारी दल के, देश के किसी भी भाग में, अपने को खुले रूप में संगठित करने की कोई सम्भावना नहीं रह गयी थी। इसके साथ ही रूस में साम्यवाद की स्थापना से बहुत पहले इस देश में सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय संघर्ष का एक इतना बड़ा आन्दोलन विकसित हो चुका था कि यदि उसे एक भिन्न दिशा की ओर मोड़ने का प्रयत्न किया जाता तो उसकी एकता के टूटने का डर था। इन्हीं कारणों से गांधी ने सामाजिक सुधार और राष्ट्रवादी संघर्ष के इन आन्दोलनों को ही अपनी सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति का आधार बनाया।

माओ त्से-तुंग और मार्क्सवाद-लेनिनवाद

मार्क्सवाद-लेनिनवाद के मूल सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए, और समय-समय पर उनमें अपनी गहरी आस्था प्रकट करते हुए, माओ त्से-तुंग ने उनमें कुछ गूढ़ परिवर्तनों को लाने का भी प्रयत्न किया। मार्क्स और एंजिल्स के विचारों में और माओ त्से-तुंग

[3]चीन में राष्ट्रवाद और साम्यवाद के सम्बन्धों की निकटता के एक अच्छे विश्लेषण के लिए देखिए चामर्स जॉनसन, "पीजेंट नेशनलिज्म एण्ड कम्युनिस्ट पॉवर," स्टेनफोर्ड, स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1962।

के विचारों में एक बड़ा अन्तर यह है कि जब कि मार्क्स का विश्वास था कि सर्वहारा की तानाशाही थोड़े दिनों की बात होगी और उसके बाद जल्दी ही राज्य का अन्त हो जायेगा, माओ त्से-तुंग का विश्वास था कि "सर्वहारा के द्वारा शक्ति अपने हाथ में लेने के बहुत समय बाद तक भी वर्ग-संघर्ष, किसी एक मनुष्य की इच्छा पर निर्भर न होकर, सृष्टि के एक चिरन्तन नियम के समान चलता रहता है, केवल उसका रूप वह नहीं रहता जो सर्वहारा के हाथ में शक्ति आने के समय था।" इसका कारण स्पष्ट करते हुए माओ त्से-तुंग ने लिखा कि केवल आर्थिक स्तर पर लायी गयी समाजवादी क्रान्ति, जिसकी परिणति उत्पादन के साधनों पर सर्वहारा का स्वामित्व स्थापित करने में होती है, अपने आप में अपर्याप्त है। "इसके साथ ही साथ, राजनीतिक और विचारधाराओं के मोर्चों पर भी समाजवादी क्रान्ति को लाना आवश्यक है, और इसके लिए बहुत अधिक समय की आवश्यकता होगी, यह काम ऐसा नहीं है जो कुछ दशकों में पूरा हो सके··· इस काम में एक से लेकर अनेक शताब्दियां लग सकती हैं।" स्टालिन और ख्रुश्चेव से गहरा मतभेद रखते हुए, माओ त्से-तुंग ने अपना यह विश्वास प्रकट किया है कि राजनीतिक, आर्थिक, वैचारिक और सांस्कृतिक व शैक्षणिक सभी क्षेत्रों में, उस समय तक मजदूरों और पूंजीवादी वर्ग में वर्ग-संघर्ष बराबर चलता रहता है जब तक समाजवाद की स्थापना नहीं हो जाती। "यह एक देर तक चलने वाला, अपने को बार-बार दोहराने वाला, टेढ़ा-मेढ़ा और जटिल संघर्ष है। समुद्र की लहरों के समान यह कभी बड़े वेग से ऊपर उठता है और कभी पीछे हट जाता है, कभी एक तूफान का रूप ले लेता है और कभी बिलकुल शान्त दिखायी देता है।" माओ त्से-तुंग के इस समस्त तर्क का सारांश यह है कि सर्वहारा की तानाशाही एक अनिश्चित लम्बे काल तक चलती रहेगी," और "सर्वहारा के अग्रिम दस्ते के रूप में, साम्यवादी दल का तब तक बने रहना आवश्यक होगा जब तक सर्वहारा की तानाशाही का अस्तित्व है।"[3]

माओ त्से-तुंग के अनुसार, साम्यवादी राज्य की स्थापना के साथ संघर्ष समाप्त नहीं हो जाता, वह केवल एक नया रूप ले लेता है। साम्यवाद की स्थापना के बाद भी देश में अन्तर्विरोध चलते रहते हैं—"प्रगति और रूढ़िवादिता के बीच, अग्रिम दस्तों और पीछे की श्रेणियों के बीच, सकारात्मक और नकारात्मक के बीच यहां तक कि उत्पादक शक्तियों और उत्पादन की स्थितियों के बीच भी।" माओ ने 1956 में लिखा : "मानवता अभी अपनी तरुण अवस्था में है। कोई नहीं जानता कि वह मार्ग जिसे अभी उसे पार करना है उस मार्ग की तुलना में जिस पर से वह गुजर चुकी है कितना अधिक गुना लम्बा है··· एक अन्तर्विरोध दूसरे अन्तर्विरोध को जन्म देगा और जब पुराने अन्तर्विरोध सुलझा लिये जायेंगे तो उनके स्थान पर नये अन्तर्विरोध उठ खड़े होंगे।"[4]

[3]माओ त्से-तुंग, 'ऑन ख्रुश्चेव्ज फोनी कम्यूनिज्म एण्ड इट्स हिस्टोरिकल लैसन्स फॉर दी वर्ल्ड,' फॉरिन लैंग्वेजेज प्रेस, पीकिंग, 1964, पृ० 5, 8, 13, 15, 33, 59, 65 और 70-71।

[4]स्टुअर्ट आर० श्रैम, 'दि पोलिटिकल थॉट ऑफ माओ त्से-तुंग,' परिवर्द्धित और संशोधित संस्करण पेंगुइन बुक्स, 1969, पृ० 303-4।

इन अन्तर्विरोधों को सुलझाने की प्रक्रिया में राज्य के लिए यह आवश्यक होता कि वह अपनी शक्ति को अधिक से अधिक बढ़ाता जाय। बर्ट्रेन्ड रसेल के पाखण्ड में दिए गये प्रसिद्ध भाषण पर, जिसमें उसने साम्यवाद की प्रशंसा की थी परन्तु पूंजीवादी वर्ग के दृष्टिकोण को बदलने के लिए क्रान्ति से अधिक अच्छा साधन शिक्षा को बताया था, टिप्पणी करते हुए माओ त्से-तुंग ने कहा था कि "वास्तव में क्रान्तिकारी रूस में व उन सभी देशों में जहां साम्यवादियों के हाथ में सत्ता आयी है उनकी शक्ति बराबर बढ़ती जायेगी और उनका संगठन अधिक मजबूत हो जायेगा।"[5]

लोक युद्ध का सिद्धान्त

चीन में च्यांगकाई शेक की असफलता और माओ त्से-तुंग की सफलता का विशेष कारण यह था कि माओ ने क्रान्ति के उन दो पक्षों को, जो देश में अलग-अलग धाराओं में बह रहे थे, एक में मिला दिया था—इनमें से एक राष्ट्रवादी क्रान्ति थी जिसका विरोध साम्राज्यवादी शक्तियों से था और दूसरी, माओ के शब्दों में, लोकतान्त्रिक क्रान्ति थी, जिसका विरोध सामन्तवादी जमींदारों से था। माओ की मान्यता थी कि ये दोनों क्रान्तियां एक दूसरे से सम्बद्ध थीं—"एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक दूसरे पर निर्भर।" उसने एक स्थान पर लिखा, "साम्राज्यवाद को जब तक उखाड़ कर फेंक नहीं दिया जाता, सामन्तवादी जमींदारों के अत्याचारों का अन्त भी सम्भव नहीं होगा··· इसके साथ ही यह भी सच है कि साम्राज्यवादी शासन को हटाने के लिए शक्तिशाली सैनिक टुकड़ियों का गठन तब तक नहीं किया जा सकता जब तक किसानों को सामन्तवादी-जमींदार वर्ग से संघर्ष के लिए तैयार नहीं कर लिया जाता।"[6] इस सम्बन्ध में माओ के विचार बड़े स्पष्ट थे। वह मानता था कि जबकि युद्ध विदेशी और घरेलू दोनों प्रकार के शत्रुओं के विरुद्ध एक साथ लड़ा जा रहा है तो इसके लिए यह आवश्यक है कि वह राजनीतिक दृष्टि से संगठित जनता के द्वारा एक राष्ट्रीय क्रान्तिकारी युद्ध के रूप में लड़ा जाय न कि उसकी ओर से एक संगठित सेना के द्वारा। वास्तव में लोकयुद्ध (people's war) की संकल्पना मार्क्सवादी-लेनिनवादी दर्शन में एक नयी संकल्पना है, और इसके विकास का श्रेय माओ त्से-तुंग को ही है। चीन में शत्रु की संगठित सेनाओं की तुलना में क्रान्तिकारी शक्तियां कमजोर थीं, परन्तु माओ ने हथियारों से अधिक महत्त्व जनता को दिया। उसने लिखा, "युद्ध में हथियारों का अपना महत्त्व है पर वे निर्णायक तत्त्व नहीं हैं, निर्णय मनुष्यों के द्वारा किया जाता है, जड़ वस्तुओं के द्वारा नहीं।"[7] इसी कारण माओ ने अधिक से अधिक व्यापक जन आधार पर लोकयुद्ध की कल्पना की। माओ ने सदा ही इस बात का प्रयत्न किया कि उसके सभी आन्दोलनों में देश के अधिक से अधिक लोगों का हाथ हो। इसी कारण चीन में

[5] वही, पृ॰ 298।
[6] शान्ति रुस्तम द्वारा उद्धृत 4, वही, पृ॰ 7।
[7] माओ त्से-तुंग, 'सिलेक्टेड मिलिटरी राइटिंग्स,' फौरेन लैंग्वेजेज प्रेस, पीकिंग, 1963, पृ॰ 217।

प्रशासन के जिस स्वरूप की उसने स्थापना की वह रूस से भिन्न था। वह जानता था कि सर्वहारा की तानाशाही और एकदलीय व्यवस्था से चीन की आवश्यकताएं पूरी नही होगी। 1945 मे उसने लिखा, "रूस मे जिस व्यवस्था की स्थापना की गयी उसका जन्म रूस के इतिहास मे से हुआ ··· चीन की व्यवस्था का निर्माण चीन का इतिहास करेगा। यदि साम्यवादी दल के बाहर का कोई दल, कोई सामाजिक समूह अथवा कोई व्यक्ति साम्यवादी दल के प्रति सहयोगात्मक और मित्रतापूर्ण दृष्टिकोण रखता है तो कोई कारण नही है कि हम उसके साथ सहयोग क्यो न करें ··।" माओ ने एक ऐसे राज्य और प्रशासन की कल्पना की जिसे उसने नये लोकतन्त्र का नाम दिया और जिसमे अनेक लोकतान्त्रिक वर्गों के मिलजुल कर काम करने की व्यवस्था थी।[8] उसने मजदूरों, किसानों, लघु-बुर्ज्वाजी और राष्ट्रीय बुर्ज्वाजी, इन चार वर्गों को चीन की नयी शक्ति व्यवस्था का आधार बनाया।[9] देश मे एक सयुक्त मोर्चा कायम करने के साथ ही माओ ने यह भी प्रयत्न किया कि समाज के आन्तरिक मतभेदो को अपेक्षाकृत निर्विरोध ढग से सुलझा लिया जाय।

क्रान्ति के साधन : माओ त्से-तुग के अनुसार

चीन मे साम्यवादी क्रान्ति की सबसे बडी विशेषता यह थी कि माओ ने उसका आधार मजदूरो से अधिक किसानों के राजनीतिक सगठन को बनाया। यो तो सभी मार्क्सवादियो ने किसानो को एक महत्त्वपूर्ण क्रान्तिकारी शक्ति माना है, परन्तु माओ से पहले किसी ने यह कहने का साहस नही किया था कि किसान साम्यवादी क्रान्ति के प्रमुख उन्नायक बन सकते हैं। मार्क्स का व्यक्तिगत मत तो यह था कि, सम्पत्ति के स्वामी होने के कारण, किसान तुलनात्मक दृष्टि से, प्रतिक्रियावादी वर्ग के सदस्य हैं, और उसने और ऐंजिल्स ने समाजवादी क्रान्तियो की कल्पना केवल ऐसे ही परिपक्व पूजीवादी देशो मे की थी जहा उत्पादन की शक्तिया इतना अधिकतम विकास कर चुकी हो जितना पूजीवादी व्यवस्था मे सम्भव हो सकता था। लेनिन ने इससे आगे बढकर यह कल्पना की थी कि प्रमुखत. कृषि-प्रधान एशियाई समाजों मे साम्यवादी क्रान्तिया सम्भव थी, परन्तु उसका यह दृढ विश्वास था कि उनका सफल होना स्थानीय मजदूर वर्ग की, यदि इस प्रकार का वर्ग देश मे मौजूद हो, अथवा अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन की, सहायता पर निर्भर था। लेनिन मजदूर दल के नेतृत्व मे सगठित साम्यवादी दल मे किसानो के बहुत बडी सख्या मे प्रवेश की बात तो सोच सकता था पर उसने यह कभी नही सोचा था कि केवल कृषको को सगठित करके ही कोई साम्यवादी दल बनाया जा सकता था। माओ पहला महत्त्वपूर्ण साम्यवादी नेता था जिसने यह घोषणा की कि किसानो मे क्रान्तिकारी कार्यवाही करने की क्षमता स्वतन्त्र रूप से थी, और इस प्रकार

283-84।

[8]माओ त्से-तुग, 'सिलेक्टेड वर्क्स,' खण्ड 3, फोरन लैंग्वेजेज प्रेस, पीकिंग, पृ० 283-84।

[9]माओ ने अपने 'सिलेक्टेड वर्क्स,' खण्ड 2 मे सम्मिलित 'ऑन डेमोक्रेसी,' 1940, मे इस विचार की विस्तृत व्याख्या की है।

वह लेनिन के सिद्धान्तों में और किसानों को दिये गये उस स्थान से जो उस समय तक स्टालिन देने को तैयार था, बहुत आगे बढ़ गया। 1926 में क्यांगसी और चीकियांग प्रान्तों के किसानों को जो भयंकर कष्ट सहने पड़े और उनके परिणामस्वरूप प्रतिरोध के जिन आन्दोलनों का उन्होंने संचालन किया उनका माओ पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। इन सब कारणों से माओ का यह दृढ़ विश्वास बन गया था कि कृषक ही क्रान्ति का आधार बन सकते हैं और इसी कारण उसने 1949 से पहले नवीन लोकतान्त्रिक क्रान्ति और साम्यवादी जनतन्त्र की स्थापना के बाद जनता की लोकतान्त्रिक तानाशाही की बात की (न कि सर्वहारा की तानाशाही की)।

माओ का विश्वास था कि देहातों को आधार बनाकर ही एक क्रान्तिकारी संघर्ष का संगठन खड़ा किया जा सकता था, और वह यह भी मानता था कि 'देहातों' का संगठन कर लेने के बाद उनका उपयोग 'शहरों' को घेरने और उन पर कब्जा करने में किया जा सकता है। अपनी राजनीतिक शक्ति को मजबूत बनाने के लिए प्रारम्भ में क्यांगसी में और बाद में हूनान में माओ ने जिस तकनीकी को अपनाया वह इस प्रकार था (1) एक प्रदेश विशेष में साम्यवादी दल के राजनीतिक, सैनिक और प्रशासनिक नियन्त्रण की स्थापना, (2) उसमें प्रारम्भिक भूमि सुधारों को कार्य रूप देना, (3) वहाँ की जनता के दिन-प्रतिदिन के जीवन में लाभ पहुँचाने वाले कल्याण-कार्यों को एक-एक कर के हाथ में लेना, और इस प्रकार उसका पूर्ण समर्थन प्राप्त कर लेना, (4) उसे साम्यवाद के सिद्धान्तों में दीक्षित करना, (5) आबादी के अधिक से अधिक लोगों को सैनिक प्रशिक्षण देना, (6) और, इन सब कार्यवाहियों के द्वारा, जनता, साम्यवादी दल व सैनिक शक्तियों के बीच एक भावनात्मक तादात्म्य स्थापित कर लेना। माओ त्से-तुंग के द्वारा विकसित किया गया यह तकनीक क्यांगसी और हूनान में तो सफल हुआ ही, बाद में उसे येनान, उत्तरी शैनसी और उत्तरी-पश्चिमी 'सीमान्त प्रदेश' में भी उतनी ही सफलता मिली, वास्तव में अपने इसी तकनीकी के द्वारा ही माओ सम्पूर्ण चीन में साम्यवादी दल के शासन की स्थापना करने में सफलता प्राप्त कर सका।

क्रान्ति में जनसाधारण का योगदान

क्रान्ति में जनसाधारण के योगदान के महत्त्व पर, और उसकी सफलता का प्रमुख आधार जनसाधारण के सहयोग पर निर्भर होने के सम्बन्ध में, मार्क्स अथवा लेनिन ने जितना जोर दिया था माओ त्से-तुंग को हम उसकी तुलना में, कहीं अधिक जोर देते हुए पाते हैं। लेनिन की मान्यता तो यह थी कि (सामाजिक परिवर्तन लाने में) साम्यवादी दल के सदस्यों में संगठन की क्षमता और उनका तकनीकी ज्ञान सबसे अधिक उपयोगी होता है। परन्तु माओ त्से-तुंग का जनसाधारण के उत्साह और उनकी सृजनशीलता में अगाध विश्वास था। उसका कहना था कि जनसाधारण का सच्चा नेतृत्व जनसाधारण के द्वारा ही हो सकता है। इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए उसने लिखा, "जनसाधारण के विचारों को (वे चाहे कितने ही बिखरे हुए और अव्यवस्थित क्यों न हों) समझो, (अपने अध्ययन के द्वारा) उन्हें एक व्यवस्थित रूप में ढालो, उन पर अपना

ध्यान केन्द्रित करो, तब उन विचारों को (जिनका उद्गम उन्हीं में से हुआ है) लेकर जन-साधारण के पास जाओ और तब तक उनका प्रचार करते रहो जब तक कि जनसाधारण उन्हें स्वयं अपना विचार मान कर स्वीकार न कर ले, उसके बाद उन पर दृढ़ता से जमे रहो और उन्हें कार्यरूप में परिणत करो · तब फिर जनता के विचारों को लेकर उन्हें समझो और एक व्यवस्थित रूप दो, जिससे वे विचार सदा के लिए सुरक्षित रह सकें और उन पर अमल किया जा सके, और इस अन्तहीन प्रक्रिया का परिणाम यह होगा कि ये विचार प्रत्येक बार अधिक सही, अधिक शक्तिशाली और अधिक अर्थपूर्ण होकर निकलेंगे।"[10] माओ ने साम्यवादी दल के नेताओं को सदा ही यह सलाह दी कि वे नेतृत्व के वैयक्तिक और नौकरशाही ढंग के साधनों को अपनाने के स्थान पर वैज्ञानिक साधनों का उपयोग करें। उसकी मान्यता थी कि वैयक्तिक और नौकरशाही ढंग के साधनों में एक बड़ी कमी यह है कि वे नेतृत्व को जनता के साथ जोड़ने में सफल नहीं हो पाते। माओ त्से-तुंग के समस्त दर्शन का प्रमुख आधार जनता की चेतना को एक नया स्वरूप देने पर रहा है। उसने 30 अक्तूबर 1941 के अपने एक भाषण में कहा, "सभी बुद्धिजीवियों को चाहिए कि जनता से अपने को अलग रखने की बुरी आदत से वे अपने आपको सम्पूर्ण रूप से मुक्त कर लें। निःस्वार्थता की भावना से वे जनता के पास जायें और कारीगरों, किसानों और सिपाहियों के जीवन में घुल मिल जायें।" उसने अपना यह विश्वास भी प्रकट किया कि "जब तक देश की जनता जागृत होकर क्रान्ति में भाग लेने के लिए तत्पर नहीं हो जाती तब तक वे सभी काम जिनमें उसका भाग लेना आवश्यक है खोखली औपचारिकता मात्र बन कर रह जायेंगे और उनका अन्त असफलता में होगा।"[11]

साम्यवादी चीन के इतिहास को देखें तो हमें पता लगेगा कि, केवल गांवों के स्तर पर ही नहीं, शहरों के स्तर पर भी आर्थिक पुनर्निर्माण का समस्त कार्य जनसाधारण के द्वारा चलाये गये आन्दोलनों का परिणाम है : भूमि सुधार को लें, अथवा कृषि संगठन और लघु उद्योगों के विकास को, इन सभी क्षेत्रों में सुधार का काम उन हजारों साम्यवादी दल के क्रियाशील सदस्यों के द्वारा किया गया है जिन्होंने जनता में फैलकर जनसाधारण का संगठन किया है। इस दिशा में पहला बड़ा प्रयत्न 1942 में किया गया जब कि सारे देश में एक आन्दोलन इस लक्ष्य को लेकर चलाया गया कि सभी वर्गों के अधिक से अधिक लोगों को मार्क्सवाद-लेनिनवाद की विचारधारा में, अर्थात् मार्क्सवाद के माओ के द्वारा प्रतिपादित रूप में, दीक्षित किया जाय। 1949-52 में कृषि सम्बन्धी बहुत से सुधारों को क्रियात्मक रूप दिया गया 1951-52 में क्रान्ति-विरोधियों के विरुद्ध एक व्यापक आन्दोलन चलाया गया, और 1951-53 में व्यापार, वित्त और उद्योग पर अपना एकाधी नियन्त्रण रखने वालों के विरुद्ध कई आन्दोलन चलाये गये। इसके बाद "प्रच्छन्न प्रति-क्रान्तिकारियों" के विरुद्ध चलाये गये एक दूसरे आन्दोलन के

[10]स्नैग में उद्धृत, पृ० 316-17।
[11]वही, पृ० 317-18।

अतिरिक्त, हूफाग आन्दोलन, 'सैकड़ों फूलों को एक साथ खिलने दो' के नाम से चलाया गया आन्दोलन, तथा दक्षिणपन्थियों के विरुद्ध चलाया गया आन्दोलन, ये सभी आन्दोलन जनसाधारण के सहयोग से ही संगठित किये जा सके। 1957 में पन्द्रह वर्षों में इंगलैण्ड जैसे आगे बढ़े हुए पूंजीवादी देशों से आगे निकल जाने के लक्ष्य को लेकर "छलांगें भर कर आगे बढ़ने का महान आन्दोलन" (great leap forward movement) चलाया गया। पीकिंग से प्राप्त होने वाली सरकारी रिपोर्टों से पता चलता है कि 1952-59 में कुछ ही महीनों के भीतर 10 करोड़ से अधिक किसान कई योजनाओं पर काम करने के लिए भेजे गए और उन्होंने लगभग 5 लाख 60 हजार क्यूबिक मीटर जमीन पर खुदाई का काम समाप्त कर लिया था।"[12] उस आन्दोलन में, जिसे माओ ने "लोहे और इस्पात की लड़ाई" का नाम दिया और जिसमें, जहां से भी सम्भव हो सका, अधिक से अधिक मात्रा में कच्चा लोहा और कोयला इकट्ठा किया गया, और जगह-जगह पर झोंपड़ियों के पिछवाड़े ही इस्पात ढालने का काम चल पड़ा। इस्पात बनाने का यह काम चीन की जनता ने इतने अधिक उत्साह के साथ अपने हाथ में लिया कि हूनान प्रान्त के चनकियाग नाम के पहाड़ी प्रदेश के सम्बन्ध में एक समाचारपत्र ने लिखा, "सभी लोग, चाहे वे वृद्ध हों अथवा 10 वर्ष से कम आयु के बालक, मजदूर हों अथवा किसान, साम्यवादी दल के सक्रिय सदस्य हों अथवा घर के काम-काज में लगी हुई गृह-स्वामिनी, हथौड़ी और टोकरी लेकर पहाड़ी की ओर चल पड़े ··· अंधेरे में भी चारों ओर रोशनी चमकती रहती थी और रात भर विस्फोटों की आवाजें सुनाई देती थी।"[13] इसी प्रकार की रिपोर्ट क्वान्टुग प्रान्त के लिन-यी जिले से, उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों से, और क्वानटुग प्रान्तों से भी आ रही थी। 1957-58 के इस आन्दोलन को आर्थिक क्षेत्र में बहुत अधिक सफलता नहीं मिली, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि माओ का वास्तविक लक्ष्य इंगलैण्ड जैसे पूंजीवादी देशों से आगे निकलने का उतना नहीं था जितना चीन की जनता को एक क्रान्तिकारी प्रक्रिया के प्रति पूरी तौर से प्रतिबद्ध करने का।

1965-66 की, "सांस्कृतिक क्रान्ति" भी इसी दिशा में एक प्रयत्न के रूप में थी, यद्यपि यह प्रयत्न अब तक के प्रयत्नों में सबसे बड़ा था। सांस्कृतिक क्रान्ति की उपलब्धियों के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है, परन्तु माओ ने बड़े बलपूर्वक ढंग से अपना यह विचार प्रकट किया कि भविष्य में इस प्रकार की अनेक सांस्कृतिक क्रान्तियों का होना अनिवार्य है, "क्रान्ति में अन्त में कौन जीतेगा इसका निर्णय तो इतिहास के एक लम्बे युग के बाद ही सामने आयेगा। यदि परिस्थितियों पर ठीक से नियन्त्रण नहीं रखा गया तो पूंजीवाद की पुनःस्थापना भविष्य में कभी भी सम्भव हो सकती है।"[14] माओ के अनुसार

[12] चांग चू-युआन, 'चीनी कम्यून,' सी० आर० आई० प्रेस, हांग कांग, 1959 में पृ० 97 पर 3 मई 1958 के 'रेनमिन रिबाओ' से उद्धृत।

[13] वही, पृ० 109 पर 30 सितम्बर 1958 के 'रेनमिन रिबाओ' से उद्धृत।

[14] अगस्त 1966 और अगस्त 1968 के बीच 'डाक्यूमेंट्स ऑफ दी कल्चरल रिवोल्यूशन' के नाम से चीन के समाचारपत्रों में प्रकाशित और स्टुअर्ट श्रैम की पुस्तक में पृ० 370 पर उद्धृत, पृ० 135-36।

क्रान्ति का लक्ष्य केवल सत्ता को हाथ में लेना ही नहीं है। उसका वास्तविक उद्देश्य समाज में मूल परिवर्तन लाना है। लेनिन के समान ही माओ यह मानता है कि राजनीतिक चेतना सर्वहारा में अपने आप ही प्रकट नहीं होती। यह आवश्यक है कि एक विशिष्ट, अथवा अग्रणी, वर्ग उसे उसकी प्रेरणा दे, परन्तु इन दोनों के विचारों में एक मूल अन्तर यह है कि माओ मानता है कि वास्तविक प्रेरणा सदैव जनसाधारण में से ही उद्भूत होती है। यह आवश्यक नहीं है कि जनता (क्रान्ति के लिए) उपयुक्त अवसर के आने की प्रतीक्षा करे। उसने लिखा है, "मनुष्य वस्तुपरक यथार्थता का गुलाम नहीं है। उसकी चेतना यदि विकास के वस्तुपरक नियमों के अनुकूल है तो वह अपनी व्यक्तिपरक क्रियाशीलता के सहारे क्रान्ति के मार्ग में आने वाली सभी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर सकती है, और समाज को आगे ले जाने वाली सभी आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण कर सकता है।"[18] संक्षेप में माओ का विश्वास वातावरण पर निर्भर नहीं, वह व्यक्ति में वातावरण का निर्माण करने की क्षमता में विश्वास रखता है। इस दृष्टि से इतिहास के विकास में व्यक्ति के हस्तक्षेप करने के सामर्थ्य पर माओ ने जितना बल दिया है उतना उससे पहले किसी साम्यवादी चिन्तक ने नहीं दिया था।

स्थायी क्रान्ति का माओ का सिद्धान्त

माओ का विश्वास मूलतः एक ऐसी क्रान्ति में है जो ग्रामीण क्षेत्रों में, ग्रामीण जनता के द्वारा, लायी जाय। क्रान्ति को स्थायी रूप देने का, उसकी दृष्टि में यही एक मात्र साधन है। इसी पर चल कर समाज के विभिन्न वर्गों के बीच के अन्तर्विरोधों, प्रशासन और समाज के बीच के अन्तर्विरोधों, और नेताओं और जनता के बीच के अन्तर्विरोधों को मिटाया जा सकता है। स्थायी क्रान्ति शब्द का सबसे पहला प्रयोग, यह माना जाता है, लियू शाओची ने 5 मई 1958 को पार्टी कांग्रेस के अपने भाषण में किया परन्तु जैसा कि बाद में सांस्कृतिक क्रान्ति की घटनाओं से स्पष्ट हो गया, यह माओ त्से-तुंग का अपना सिद्धान्त था, और इसके द्वारा एक ऐसे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है जिसका विश्वास प्रकृति और मनुष्य दोनों में ही मूल परिवर्तन लाने में है। माओ त्से-तुंग का यह दृढ़ विश्वास है कि चीन और दूसरे एशियायी देशों में वहां का कृषक वर्ग क्रान्ति लाने में समर्थ है। 1958 में माओ त्से-तुंग ने दावा किया कि चीन में सम्पूर्ण साम्यवाद की स्थापना रूस से पहले सम्भव हो सकेगी, और उसके द्वारा जन-कम्यूनों की स्थापना का आधार भी यही था कि क्रान्ति के वास्तविक अग्रदूत, मजदूर नहीं कृषक होते हैं। इस सिद्धान्त की जड़ में माओ त्से-तुंग का यह मूल दर्शन था कि ज्ञान की तुलना में इच्छा-शक्ति का, और सिद्धान्तों की तुलना में कर्म का, अधिक महत्व था। वास्तव में, चीन की क्रान्ति में सदा ही तकनीकी ज्ञान से अधिक महत्त्व जन समुदाय को जागृत और संगठित करने पर दिया जाता है।

[18] स्क्रैम में उद्धृत, पृ० 135-136।

नवम्बर 1965 में प्रारम्भ होने वाली उस महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति (Great Proletarian Cultural Revolution) का आधार, जो समस्त चीन में एक अप्रत्याशित तूफान की गति से फैल गयी। 1958 के "छलांग मार कर आगे बढ़ने" के आन्दोलन की असफलता के प्रति माओ की व्यक्तिगत प्रतिक्रिया में था। उस समय चीन के साम्यवादी दल ने, माओ के कड़े व्यक्तिगत विरोध के बावजूद, उत्पादन बढ़ाने और अधिक लोहा पैदा करने के लिए जनता को जागृत करने के स्थान पर उसे आर्थिक प्रयोजन देने की नीति को स्वीकार किया था, और इसमें सन्देह नहीं कि उसके आर्थिक परिणाम प्रभावशाली सिद्ध हुए थे। यह माना जाता है कि सितम्बर 1962 में माओ त्से-तुग ने केन्द्रीय समिति के दसवें अधिवेशन में "वर्ग संघर्ष को कभी भी न भूलने" के लिए जनता का जो आह्वान किया उसके पीछे चीन का क्रान्ति के साम्यवादी दल के नेतृत्व में चले जाने के विरुद्ध, उस पर अपना नेतृत्व फिर से स्थापित करने का उसका प्रयत्न था। इस समस्या पर जून 1964 में आयोजित साम्यवादी युवा संगठन के नवें अधिवेशन में व्यापक रूप से चर्चा की गयी और जनवरी 1965 में माओ ने पहली बार साम्यवादी दल में उन लोगों के लिए "जो अधिकार में हैं और पूंजीवादी मार्ग का सहारा ले रहे हैं" "समाजवादी शिक्षण" का एक आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस आन्दोलन की व्याख्या करते हुए माओ ने कहा कि यह देश में राजनीतिक, आर्थिक, संगठनात्मक और विचारात्मक 'शुद्धीकरण' की दिशा में एक प्रयत्न था।[16] नवम्बर 1965 में सांस्कृतिक क्रान्ति का प्रारम्भ हो ही गया।

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति

"महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति" के माध्यम से माओ त्से-तुंग ने वास्तव में साम्यवादी दल के महत्त्व और क्रान्ति के उस संगठनात्मक ढांचे को, जिसकी व्याख्या मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सन्दर्भ में की गयी थी, चुनौती दी।[17] माओ त्से-तुंग ने इस आन्दोलन के द्वारा "साम्यवादी दल बनाम जनता" का प्रश्न खड़ा किया और दल के महत्त्व को कम करने और जनता के महत्त्व को बढ़ाने का प्रयत्न किया यह एक ऐसा प्रयत्न था जैसा साम्यवादी आन्दोलन के समस्त इतिहास में पहले कभी नहीं किया गया था। स्टालिन ने अपने को सर्वशक्तिशाली बनाने की दृष्टि से दल की महत्ता कम कर दी थी, परन्तु उसने, माओ के समान, दल की खुली भर्त्सना कभी नहीं की। यह दल

[16]वही, पृ० 104-5।

[17]चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति के सम्बन्ध में देखिए जैक ग्रे और पैट्रिक कैवेंडिश, 'चाइनीज कम्यूनिज्म इन क्राइसिस : माओइज्म एण्ड दी कल्चरल रिवोल्यूशन,' न्यूयार्क, पाल माल प्रेस और फेडरिक ए० प्रेगर, 1968; जोन रॉबिन्सन, 'दि कल्चरल रिवोल्यूशन,' पेंगुइन, 1968; फ्रेंज शूरमान, 'आइडियोलोजी एण्ड ऑर्गेनाइजेशन इन कम्यूनिस्ट चाइना,' बर्कले, कैलिफोर्निया, कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय प्रेस, 1970, स्टैनले कार्नो, 'माओ एण्ड चाइना फ्रोम रिवोल्यूशन टू रिवोल्यूशन,' न्यूयार्क, वाइकिंग, 1972, एडवर्ड ई० राइस, 'माओज वे,' बर्कले, कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय प्रेस, 1972; एडगर स्नो, 'दि लौंग रिवोल्यूशन,' न्यूयार्क, रैन्डम हाउस, 1972।

की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधि होने का दावा करता था। माओ त्से-तुग ने चीन मे दल को कभी भी सर्वोपरि स्थान लेने की अनुमति नही दी। उसपर अकुश रखने के लिए उसने बार-बार या तो ऐसे आन्दोलन चलाये जिनमें दल के सदस्यो को जन-साधारण के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर काम करना पड़ा, अथवा जनता की इच्छा के सर्वोपरि होने के सिद्धान्त के आधार पर दलीय सगठन को जनता के निरीक्षण में काम करने के लिए बाध्य किया। 1965-66 की सास्कृतिक क्रान्ति मे माओ त्से-तुग ने दल के सगठन को कमजोर बनाने के लिए लाल स्वय-सेवको (Red Guards) को अपना साधन बनाया। यह सम्भव नही था कि सास्कृतिक क्रान्ति के वर्षों मे उठ खडी होने वाली अराजक स्थितिया चीन मे अधिक समय तक चल पाती। चीन की राष्ट्रीय सेना, नये क्रान्तिकारी नवयुवकों और राज्य के पुराने कार्यकर्ताओ को मिला कर, विभिन्न नगरो और जिलो मे, क्रान्तिकारी समितिया स्थापित कर दी गयीं और इन क्रान्तिकारी समितियों को अपने-अपने क्षेत्रो मे राज्य और दल की समस्त शक्तियों को अपने हाथ मे लेने का आदेश दिया गया। सास्कृतिक क्रान्ति के बाद चीन मे साम्यवादी दल उस प्रकार का सशक्त दल नही रह गया जैसा रूस का साम्यवादी दल था जो स्वयं अपने अधिकार से देश का शासन चला सकता था। उसे जनता के प्रति उत्तरदायी, जिसका अर्थ था वास्तव मे माओ त्से-तुग के प्रति उत्तरदायी, बना दिया गया था। माओ के सम्बन्ध मे अब यह दावा किया जाने लगा कि वह केवल साम्यवादी दल का प्रतिनिधि नही था। साम्यवादी दल के प्रतिनिधित्व का दावा तो स्टालिन ने भी किया था, परन्तु सम्पूर्ण चीनी जनता का प्रतिनिधि था।

माओ त्से-तुग की सास्कृतिक क्रान्ति के सम्बन्ध मे स्टुअर्ट स्क्रैम ने लिखा है कि "उसका उद्देश्य वर्तमान नौकरशाही और तकनीकी विशेषज्ञों को अपमानित करने से आगे बढ कर दल के सदस्यो अथवा विशेषज्ञो के विशेष ज्ञान के प्रति समस्त आदर की भावना को मिटा देना था। सास्कृतिक क्रान्ति के बाद इस सिद्धान्त की स्थापना करने का प्रयास किया गया कि माओ के नेतृत्व मे सगठित जनता ही समस्त राजनीतिक अधिकारो का मुख्य आधार थी और वही उस सारी बुद्धिमत्ता और कुशलता का आधार थी जो चीन को 'प्रतिक्रियावादी बूर्ज्वा बुद्धिजीवियो' एव विदेशी ज्ञान और विदेशी सिद्धान्तो मे डूबे हुए विशेषज्ञों पर निर्भर रहने की प्रवृति से मुक्त करके उसे आर्थिक और तकनीकी विकास की ओर तेजी से ले जा सकेगी।"[18] अपने जीवन के अन्तिम वर्षों मे माओ ने चीन मे काम मे लगे हुए लोगो के नेतृत्व की आवश्यकता पर काफी जोर दिया, परन्तु चीन के सन्दर्भ मे काम मे लगे हुए लोगो का अर्थ ज्ञान अथवा सगठन शक्ति से सम्पन्न व्यक्तियो से नही था बल्कि जनसाधारण से था जिन्हे माओ ने "गरीब और मस्तिष्क हीन" की सज्ञा दी थी। इन वर्षों मे माओ ने एक बहुत बडा प्रयत्न पढे-लिखे नवयुवकों को गावो मे भेजने का भी किया— इस कारण नही कि वे ग्रामीणों को नये ज्ञान की शिक्षा दें परन्तु इस कारण कि वे गरीब और निम्न मध्यम श्रेणी के किसानों से स्वय शिक्षा

[18] स्क्रैम, वही, पृ० 109।

प्राप्त करें। माओ के अनुसार इस प्रकार का अभियान "संशोधनवाद" के प्रयत्नों के विरुद्ध था, और शहरों और गांवों के अन्तर को धीरे-धीरे मिटाने का माओ की दृष्टि में यही सही मार्ग था। गांवों के किसान शहरों से आने वाले इन नवयुवकों को न केवल यही सिखाते थे कि जमीन कैसे जोती जाती है परन्तु उन्हें एक विशद वर्ग-शिक्षा भी देते थे। चीन में अब यह कृषकों का दायित्व माना जाने लगा था कि वे शहरों में रहने वाले लोगों को शिक्षा और क्रान्तिकारी उद्देश्यों को प्राप्त करने में सतत लगे रहने की प्रेरणा दें।

मार्क्सवाद-लेनिनवाद का चीनीकरण

माओ त्से-तुंग के विचारों के सम्बन्ध में, एक विवाद इस प्रश्न को लेकर भी है कि क्या उसने मार्क्सवाद-लेनिनवाद को चीनी परिस्थिति के अनुसार ढालने के उद्देश्य से उसमें कुछ परिवर्तन मात्र किये हैं अथवा एक बिलकुल ही नये सिद्धान्त की, जिसे वह मार्क्सवाद-लेनिनवाद का नाम तो देता है परन्तु जिसका वास्तव में मार्क्सवाद-लेनिनवाद से बहुत कम सम्बन्ध है, स्थापना की है। 1938 में ही माओ ने "मार्क्सवाद के चीनी संस्करण" की बात कही थी। उस समय उसने कहा था, "प्रत्येक साम्यवादी मार्क्सवादी-अन्तर्राष्ट्रीयतावाद में विश्वास रखता है, परन्तु मार्क्सवाद को (चीन में) प्रयोग में लाने से पहले उसे राष्ट्रीय स्वरूप देना होगा।" उसने तभी यह भी लिखा था, "मार्क्सवाद का कोई रूप नहीं है, यह तो एक स्थूल तथ्य है।" चीन में प्रयोग में लाये गये इस 'स्थूल मार्क्सवाद' की व्याख्या करते हुए उसने लिखा, "यह वह मार्क्सवाद है जिसने एक राष्ट्रीय स्वरूप ले लिया है।" अपनी इस व्याख्या पर अधिक प्रकाश डालते हुए माओ ने लिखा, "यदि कोई चीनी साम्यवादी, चीन की महान जनता का एक अंग होते हुए भी उस जनता का जिसके साथ उसका हाड़-मांस और रक्त का सम्बन्ध है, यदि चीन की विशेष परिस्थितियों से अलग हटकर मार्क्सवाद की चर्चा करता है तो उसका यह मार्क्सवाद, वास्तविक मार्क्सवाद न होते हुए, एक खोखली कल्पना मात्र है।"[19] 1942 से 1949 के बीच के वर्षों में हम, एक सिद्धान्तवादी के रूप में माओ की उपलब्धियों के दावों को अधिकाधिक बड़े चढ़े रूप में प्रस्तुत किया जाता देखते हैं। 1965 तक, यह कहा जा सकता है, मूल सिद्धान्त में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया था। माओ त्से-तुंग के विचारों को "चीनी क्रान्ति के विशेष सन्दर्भ में मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विश्वव्यापी सत्यों का व्यावहारिक पक्ष" माना गया था, और यह वही स्थिति थी जो 1938 में थी। परन्तु, 1965 के अगस्त से माओ त्से-तुंग के विचारों को ही लेनिनवाद की आधिकारिक व्याख्या मान लेने की प्रवृत्ति बढ़ती दिखायी देती है।[20] जान पड़ता है कि यह परिवर्तन चीन और रूस के बीच बढ़ती हुई खाई और चीन के

[19] चीनी साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति के छठे अधिवेशन में प्रस्तुत की गयी रिपोर्ट के आधार पर, वही, पृ० 112-13।

[20] 12 अगस्त 1966 को चीनी साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति के ग्यारहवें अधिवेशन में प्रकाशित विज्ञप्ति, 'पीकिंग रिव्यू,' सं० 34, पृ० 48।

इस दावे का कि वह, न कि रूस का 'सशोधनवादी नेतृत्व,' मार्क्सवाद-लेनिनवाद का वास्तविक उत्तराधिकारी परिणाम था।

प्रारम्भिक वर्षों मे माओ त्से-तुग का विचार था कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद—जिस प्रकार उसने इस सिद्धान्त की व्याख्या की थी, अथवा माओवाद, जैसा दूसरो ने उसे नाम दिया, और जिसमें लोक युद्ध, जन-जागरण और स्थायी क्रान्ति की सकल्पनाए सम्मिलित थी—केवल चीन की विशेष परिस्थितियो मे ही व्यवहार मे लाया जा सकता था। परन्तु 1950 के दशक का अन्त होते-होते यह कहा जाने लगा था कि वह "ससार के सभी ग्रामीण क्षेत्रो" अर्थात् एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका मे व्यवहार के योग्य था, और इन "ग्रामीण क्षेत्रो" से आरम्भ होकर बढते-बढते, वह "विश्व के नगरो" अर्थात् उत्तरी अमरीका और पश्चिमी यूरोप के राज्यो को घेरा-बन्दी करके उन पर अपना अधिकार स्थापित करने की स्थिति मे था। लिन पियाओ द्वारा प्रतिपादित प्रसिद्ध सिद्धान्त मे इस दृष्टिकोण की अधिक विस्तार से व्याख्या की गयी है।"[21] 1967 तक उसे "समस्त विश्व को बदल डालने का एक शक्तिशाली साधन"[22] माना जाने लगा था। 1970 मे अमरीका मे राष्ट्रपति निक्सन के प्रति बढते हुए विरोध मे माओ को "एक क्रान्तिकारी जन-आन्दोलन की तेजी से बढती हुई लपटें" दिखायी दी, और उसने अपना यह मत प्रकट किया कि, "उत्तरी अमरीका, यूरोप और अन्य पश्चिमी देशो मे जनता के, क्रान्तिकारी सघर्ष बडी तेजी के साथ फैलते जा रहे है।" इस दृष्टि से वियतनाम की घटनाएं प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत की जा सकती थी। माओ त्से-तुग के शब्दो मे, "सशक्त देश की जनता एक बडे देश के द्वारा किये गये आक्रमण को निश्चित रूप से पीछे हटाने मे समर्थ है यदि वह केवल सघर्ष करने का साहस जुटा सके, हथियार उठा ले, और (अपने हाथो मे) अपने देश के भाग्य का निर्णय करने का अधिकार मजबूती से ले।"[23]

माओ त्से-तुग की उपलब्धिया और उनकी मर्यादाए

माओ त्से-तुग की उपलब्धिया वास्तव मे महान हैं। एशिया अथवा अफ्रीका के किसी भी देश की तुलना मे चीन का आर्थिक विकास कही अधिक तेजी के साथ हुआ है। माओ ने चीन मे एक ऐसी शक्तिशाली राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना की जिसकी जडें चीनी साम्यवाद के लक्ष्यो के प्रति, परन्तु मुख्यत उसके अपने स्वय के व्यक्तित्व के प्रति, जनता की निष्ठा मे गहराई के साथ आरोपित थी। माओ ने चीन को एक ऐसी महान सैनिक शक्ति के रूप मे गढा जिसके पास व्यापक सर्वनाश

[21] लिन पिआओ, "लौंग लिव दी विक्टरी ऑफ दी पीपल्स वार," 'पीकिंग रिव्यू' 3 सितम्बर 1965।

[22] रैनमिन रिबाओ का "पीपल्स वार इज इनेविटेबिल" शीर्षक सम्पादकीय, 'पीकिंग रिव्यू' 24 जुलाई 1967, मे उद्धृत पृ० 8-10।

[23] माओ त्से-तुग का 20 मई का वक्तव्य "पीपुल ऑफ दी वर्ल्ड यूनाइट एण्ड डिफीट द यू० एस० एग्रेसर्स एण्ड देअर रनिंग डौग्स," फौरेन लैंग्वेजेज प्रेस, पीकिंग, 1970, पृ० 3-7।

के भयंकर आणविक अस्त्र मौजूद हैं। परन्तु, साम्यवाद के "चीनीकरण" और उसके द्वारा चीन में एक भिन्न प्रकार की सभ्यता का निर्माण करने के उसके सारे दावों के बावजूद, क्या यह कहा जा सकता है कि चीन ने वास्तव में एक ऐसे राष्ट्रीय जीवन का विकास किया है जिसके लक्ष्य पश्चिमी देशों से भिन्न हैं? सच बात तो यह है कि लेनिन रूस के लिए जो करना चाहता था माओ ने वही चीन के लिए किया—विज्ञान और तकनीक के आधार पर एक अत्यधिक शक्तिशाली राज्य-व्यवस्था का निर्माण करना। जहां तक राज्य के बाहरी और आन्तरिक अन्तर्विरोधों का प्रश्न है माओ का विश्वास भी बल प्रयोग और हिंसा के उन्हीं साधनों के द्वारा उनका समाधान खोजने का है जिनका प्रयोग रूस में किया गया था और उसका यह दावा कि वह आन्तरिक अन्तर्विरोधों का समाधान जनता का संगठन करके और जो लोग जनहित के विरोध में जा रहे हों उन पर जनमत का दबाव डालकर खोज निकालने पर है, बहुत सही नहीं जान पड़ता। माओ सोवियत संघ की कमियों से पूरी तरह परिचित था, परन्तु स्वयं अपनी कमियों से नहीं। वास्तव में राज्य की शक्ति को असमर्यादित रूप से बढ़ाते चले जाने का उसका प्रयत्न मार्क्स और लेनिन की तुलना में कहीं अधिक महत्त्वाकांक्षी था। मार्क्स का विश्वास था कि राज्य कुछ समय के बाद मिट जायेगा और, यद्यपि लेनिन की मान्यता थी कि राज्य के मिटने की यह प्रक्रिया एक लम्बे अर्से तक चलेगी, उसने भी मार्क्स के इस मूल सिद्धान्त में आस्था प्रकट की थी। परन्तु, माओ मानता है कि किसी न किसी प्रकार के अन्तर्विरोध तब तक चलते रहेंगे जब तक कि सारा विश्व ही बदल नहीं जाता, शायद चीन के द्वारा बनाये मार्ग पर चल कर, और चीन में एक भी ऐसा व्यक्ति बचा नहीं रहता जिसका सामाजिक परिवर्तन न हो चुका हो। अपने इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए माओ ने सोवियत संघ अथवा अमरीका के आर्थिक ढांचों से कहीं अधिक शक्तिशाली ढांचे की चीन में स्थापना की।

माओ त्से-तुंग ने जन नेतृत्व (mass line) के जिस सिद्धान्त को जन्म दिया है, वह मार्क्स और लेनिन द्वारा प्रतिपादित विचारों से कहीं आगे जाते हुए भी, अन्ततः साम्यवादी दल के नेतृत्व के सन्दर्भ में ही व्यावहारिक रूप ले सकता है। माओ ने स्पष्ट रूप से कहा है कि "साम्यवादी दल के बिना क्रान्ति सम्भव नहीं है।" 1948 में माओ ने लिखा, "जब तक एक ऐसा क्रान्तिकारी दल संगठित न हो जाय, एक ऐसा दल, जिसका आधार मार्क्स, लेनिन और स्टालिन के क्रान्तिकारी सिद्धान्त और शैली पर रखा गया हो, साम्राज्यवाद और उसके अनुयायियों को पराजित करने के लिए मजदूर वर्ग और जनता के अन्य वर्गों को सही नेतृत्व देना असम्भव होगा।"[34] उसने इस सिद्धान्त को चीन में एक व्यावहारिक रूप दिया। उसने लिखा, "चीन के साम्यवादी दल के प्रयत्नों के बिना, और चीन के साम्यवादियों का चीन की जनता का मुख्य सहारा बने बिना, चीन कभी भी स्वतन्त्रता और मुक्ति, अथवा औद्योगीकरण

[34]माओ त्से-तुंग, कोमिन्फोर्म की पत्रिका के एक लेख "फॉर ए लास्टिंग पीस, फॉर ए पीपुल्स डेमोक्रेसी" से स्नैप द्वारा उद्धृत, वही, पृ० 318 19।

और कृषि के आधुनीकरण, की स्थिति तक नहीं पहुंच सकता।" "जनता" और उसके "शत्रुओं" की माओ के द्वारा दी गयी परिभाषा जनता के उन वर्गों की ओर संकेत करती है जो साम्यवादी दल की राजनीतिक और आर्थिक नीतियों पर अमल करते हैं अथवा जो उनका विरोध करते हैं। माओ त्से-तुंग सिद्धान्त रूप से यह भी मानता है कि "राष्ट्र की सेना को साम्यवादी दल के निर्देशन में, और एक ऐसे सशस्त्र संगठन के रूप में जिसका लक्ष्य क्रान्ति के राजनीतिक कार्यों को पूरा करना है, काम करना चाहिए।"[25] इस सारी सैद्धान्तिक विवेचना का यह अर्थ निकलता है कि चीन में जनसाधारण से यही अपेक्षा की गयी है कि वह साम्यवादी दल और राष्ट्रीय सेना के द्वारा स्थापित समग्र राजनीतिक नियन्त्रण, और अन्ततः माओ त्से-तुंग के नियन्त्रण, के सन्दर्भ में ही अपना काम करे। माओ त्से-तुंग की 'लोकतान्त्रिक केन्द्रीकरण' के सिद्धान्त में, जिसमें 'केन्द्रीकरण' की भावना सदा ही 'लोकतन्त्र' पर हावी रहती है उतनी ही गहरी आस्था है जितनी रूस के साम्यवादी नेताओं की।

जन-नेतृत्व, जनता के स्वेच्छा से काम करने, और सभी कामों के लिए नेताओं के जनता से प्रेरणा प्राप्त करने की सारी परिचर्या के होते हुए भी, चीन में राजनीतिक विरोधियों की हत्या बहुत बड़े परिमाण में होती रही है। सोवियत संघ का अनुमान है कि चीन में राजनीतिक विरोध के कारण 1949-1965 के बीच 2 करोड़ 64 लाख व्यक्तियों की हत्या की गयी। उन्होंने इन आंकड़ों को अलग-अलग वर्षों में बांटा है— 1949-52 में 28 लाख, 1953-57 में 36 लाख, 1958-60 में 67 लाख और 1961-65 में 11 करोड़ 33 लाख।[26] अमरीकी अनुमान के अनुसार 1949-59 के बीच 3 करोड़ व्यक्तियों की हत्या की गयी।[27] ये दोनों ही अनुमान तथ्यों से बहुत अधिक दूर नहीं दिखायी देते। जिन लोगों ने इस विषय का गहराई के साथ अध्ययन किया है उनका कहना है कि राजनीतिक हत्याओं की यह संख्या 3 करोड़ 43 लाख और 6 करोड़ 38 लाख के बीच हो सकती है।[28] परन्तु इन अनुमानों को यदि हम थोड़ा-बहुत अतिरंजित भी मानें तो भी इसमें सन्देह नहीं कि साम्यवादी चीन में अब तक ऐसे लाखों व्यक्तियों की हत्या की जा चुकी है जिनके राजनीतिक विचार वहां के शासकों के विचारों से मेल नहीं खाते थे। इसी प्रकार यह अनुमान भी किया जाता है कि चीन के 10,000 कारागृहों व मजदूर शिविरों में 1955 में कैद में रखे गये क्रान्ति-विरोधियों की संख्या 3 करोड़ 25 लाख से अधिक थी। इन आंकड़ों को देखते हुए यह मानना कठिन हो जाता है कि

[25]"हमारा सिद्धान्त है कि दल को सेना पर अपना प्रभुत्व रखना चाहिए, और ऐसा अवसर कभी भी नहीं आना चाहिए जब सेना दल पर अपना प्रभुत्व रखने की स्थिति में हो।" माओ त्से-तुंग 'सिलेक्टेड वर्क्स,' खण्ड 2, वही, पृ० 224।

[26]मॉस्को द्वारा 7 अप्रैल 1969 को प्रसारित आंकड़े।

[27]'न्यूयार्क टाइम्स,' सम्पादकीय, 2 जून 1959।

[28]रिचर्ड वॉकर द्वारा अमरीकी सीनेट की न्यायशालिका सम्बन्धी समिति के लिए तैयार की गयी रिपोर्ट, 'दि ह्यूमन कॉस्ट ऑफ कम्यूनिज्म इन चाइना,' यू० एस० गवर्नमेन्ट प्रिंटिंग आफिस, वाशिंगटन, 1971, पृ० 8-16।

चीन की राजनीतिक व्यवस्था का आधार वहाँ की जनता के इच्छापूर्ण समर्थन पर रखा गया है।

माओ त्से-तुंग का यह निश्चित मत है कि विरोधात्मक अन्तर्विरोधों (antagonistic contradictions) को दूर करने का एक मात्र साधन हिंसा है, यद्यपि वह यह मानने के लिए तैयार है कि *निर्विरोधात्मक अन्तर्विरोध* (non-antagonistic contradictions) *सहभागात्मक और आन्दोलनात्मक साधनों के द्वारा भी सुलझाये जा सकते हैं।* सामाजिक परिवर्तन के लिए हिंसा के साधनों में प्रगाढ़ विश्वास मार्क्सवाद का मूल सिद्धान्त है। राज्य के सम्बन्ध में उसकी यह मान्यता रही है कि वह पूँजीपतियों के हाथों में शोषण का एक साधन है और इस कारण वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि उस पर सर्वहारा का अधिकार स्थापित करने के लिए सशस्त्र क्रान्ति अनिवार्य थी। 1921 में बर्ट्रेण्ड रसेल के साथ अपनी बातचीत में माओ ने बड़े जोरों के साथ अपना यह मत प्रतिपादित किया था। 1927 में उसने व्यंग्य के साथ कहा कि क्रान्ति का अर्थ 'लोगों को भोजन के लिए निमन्त्रित करना, अथवा निबन्ध लिखना, अथवा चित्रकारी करना, अथवा फूलों का सजाना नहीं था। वह इस प्रकार की कोई परिष्कृत, शान्त, विनम्र, संयमित अथवा भद्र वस्तु नहीं थी।' "केवल हिंसा के द्वारा ही एक वर्ग दूसरे वर्ग के अधिकारों को समाप्त कर सकता है।"[19] 1938 में माओ ने और भी स्पष्ट शब्दों में हिंसा का समर्थन किया। उसने कहा, "राजनीतिक शक्ति बन्दूक की नोक में से पैदा होती है ··· कुछ लोगों ने युद्ध के सर्वशक्तिमान होने के सिद्धान्त के प्रतिपादक के रूप में हमारा उपहास किया है, हम स्वीकार करते हैं कि हम क्रान्तिकारी युद्ध के सर्वशक्तिमान होने के सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं ··· मजदूर वर्ग और श्रमिक जनता बन्दूक की शक्ति के बिना सशस्त्र पूँजीपतियों और जमींदारों को पराजित नहीं कर सकती, इस दृष्टि से हम यहाँ तक कहना चाहते हैं कि केवल बन्दूक की शक्ति के द्वारा ही विश्व को एक नये साँचे में ढाला जा सकता है ··· युद्ध को मिटाने का एक मात्र उपाय युद्ध है। बन्दूक से छुटकारा पाने के लिए हमें बन्दूक को अपने हाथों में मजबूती से पकड़ना होगा।"[20] एक दूसरे अवसर पर उसने कहा, "सैनिक शक्ति के द्वारा सत्ता को प्राप्त करना, प्रत्येक समस्या को युद्ध के द्वारा सुलझाना, यह क्रान्ति का मुख्य कार्य और उसका सबसे उत्कृष्ट स्वरूप है। क्रान्ति का यह मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त विश्व भर के लिए, चीन के और दूसरे सभी देशों के लिए, लाभदायक है।"[21]

गांधी और अहिंसा की राजनीति

हिंसा यदि माओ त्से-तुंग के राजनीतिक चिन्तन का आधारभूत सिद्धान्त है तो अहिंसा, जिसका आधार हिंसा की सर्वथा अस्वीकृति पर है, गांधीवादी राजनीतिक

[19] श्रैम द्वारा उद्धृत, वही, पृ० 54।
[20] वही, पृ० 290-291।
[21] माओ त्से-तुंग, 'सिलेक्टेड वर्क्स,' खण्ड 2, वही, पृ० 220।

चिन्तन का मूल सिद्धान्त है। गांधी ने किसी भी सामाजिक अन्तर्विरोध को उसके वास्तविक अर्थ में विरोधात्मक नहीं माना। उनका दृढ़ विश्वास था कि हिंसा अन्याय के विभिन्न स्वरूपों की, अस्वीकृति नहीं, स्वीकृति और पूरक है। उनका कहना था, "जो व्यक्ति को नष्ट करना चाहते हैं उसके दुर्व्यवहारों को नहीं, वे स्वयं उन दुर्व्यवहारों को अपनाने लगते हैं, और इस प्रक्रिया में जिन्हें, वे इस गलत विश्वास में कि उनके नष्ट हो जाने के साथ उनके दुर्व्यवहार भी नष्ट हो जायेंगे, मिटा देने का प्रयत्न करते हैं, उनसे भी बुरे बन जाते हैं। वे नहीं जानते हैं कि बुराई की वास्तविक जड़ें कहां है।"[32] गांधी का अहिंसा का सिद्धान्त सत्य के साथ जुड़ा हुआ था। गांधी का मुख्य लक्ष्य सत्य की खोज करना था, और क्योंकि व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेना असम्भव है, उसे असत्य के मार्ग पर चलने के लिए किसी अन्य व्यक्ति को सजा देने का अधिकार भी नहीं है। गांधी की दृष्टि में ईश्वर सत्य का ही प्रतीक था और ईश्वर को जानने अथवा सत्य तक पहुंचने का एक मात्र साधन अहिंसा ही हो सकता था। सत्य लक्ष्य था, और अहिंसा साधन। साधन में आस्था और प्रतिबद्धता के अभाव में लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव नहीं थी। गांधी की अहिंसा नकारात्मक नहीं थी। अहिंसा का अर्थ केवल 'किसी को हानि न पहुंचाना ही नहीं था" बल्कि बुरे व्यक्ति के साथ भी भलाई करना था। इसका अर्थ यह नहीं था, गांधी ने कहा, "कि बुरे व्यक्ति को बुरा काम करने में सहायता दी जाय अथवा बुराई को, निष्क्रिय मौन के साथ, सहन कर लिया जाय। इसके विपरीत प्रेम, जो अहिंसा का सक्रिय रूप है, तुम्हें इस बात के लिए बाध्य करता है कि बुरा काम करने वाले से तुम अपना सम्बन्ध तोड़ लो और उसका प्रतिरोध करो, चाहे उसके परिणामस्वरूप उसे हानि अथवा शारीरिक कष्ट पहुंचे।" गांधी की दृष्टि में, अहिंसा का प्रेम के साथ चोली-दामन का साथ है, जिस प्रकार प्रेम का सत्य के साथ। अहिंसा और सत्य का एक दूसरे के साथ ऐसा अविच्छिन्न सम्बन्ध है कि उन्हें एक दूसरे से अलग किया ही नहीं जा सकता। वे एक सिक्के के दो बाजुओं के समान हैं।"[33]

लक्ष्यों और साधनों का सातत्य

गांधी का सबसे बड़ा आग्रह, जोन बोन्दुरां के शब्दों में, लक्ष्यों और साधनों में उचित सम्बन्ध की स्थापना करने पर है।[34] यह एक ऐसी समस्या थी जिसे परम्परागत राजनीतिक दार्शनिक सुलझाने में सर्वथा असमर्थ रहे थे। गांधी से पहले इतने स्पष्ट शब्दों में यह किसी ने नहीं कहा था यदि हम अच्छे लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहते हैं तो बुरे साधनों के द्वारा उन्हें कदापि प्राप्त नहीं कर सकेंगे। इसके विपरीत,

[32] डी० जी० तेंदुलकर, 'महात्मा—लाइफ ऑफ मोहनदास करमचन्द गांधी,' प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, दिल्ली, 1960, खण्ड 2, पृ० 255।

[33] यंग इण्डिया,' 19 जनवरी 1921।

[34] जोन वी० बोन्दुरां, 'कौन्क्वेस्ट ऑफ वायोलेंस : दि गांधियन फिलॉसफी ऑफ कौन्फ्लिक्ट,' बर्कले और लोस एंजेलेस, कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय प्रेस, 1965।

गांधी ने कहा कि यदि साधन ठीक है तो हम सही लक्ष्यों की दिशा में निश्चित रूप से आगे बढ़ सकेंगे। इस विश्वास की आलोचना करते हुए कि साधनों और लक्ष्यों में कोई सम्बन्ध नहीं है गांधी ने 1908 में हिन्द स्वराज्य में लिखा, "आपका तर्क ऐसा है जैसे एक जहरीला पौधा लगाने के बाद हम गुलाब का फूल निकल आने की आशा करें · · ·। साधनों की तुलना बीज से की जा सकती है, लक्ष्य की पेड़ से · · · हम ठीक वही काटते हैं जो बोते हैं।"[35] कई वर्षों के बाद उन्होंने लिखा, "जैसे साधन होंगे वैसी ही उपलब्धि होगी। साधनों और परिणामों के बीच, उन्हें एक दूसरे से अलग कर देने वाली, कोई दीवार नहीं है · · · अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति ठीक उसी मात्रा में होती है जिसमें अच्छे साधनों का प्रयोग किया जाय। यह एक ऐसा सत्य है जिसका अपवाद हो ही नहीं सकता।"[36] "मेरे जीवन के दर्शन में साधन और लक्ष्य पर्यायवाची शब्द हैं," यह गांधी की सभी रचनाओं में सूत्र-रूप से पाया जाता है। सच्चा लोकतन्त्र, अथवा जनता का स्वराज्य, कभी भी असत्य और हिंसात्मक सिद्धान्तों के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। हिंसा की परिणति अनिवार्य रूप से अत्याचार और शोषण में होती है। सत्य, जो लक्ष्य है, और अहिंसा, जो उसे प्राप्त करने का साधन, इन दोनों के आपसी सम्बन्धों को दृढ़ बनाने के लिए गांधी ने कष्ट-सहन के अपने सिद्धान्त का विकास किया। वास्तविक शक्ति कष्ट-सहन से ही प्राप्त होती है। गांधी ने लिखा, "अहिंसा का अर्थ, उसके सक्रियात्मक अर्थों में, जानबूझ कर कष्ट सहना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम बुरा काम करने वाले व्यक्ति के सामने विनम्रता के साथ घुटने टेक दें। इसका अर्थ तो यह है कि हम आततायी की इच्छा के विरोध में अपनी समस्त आत्मशक्ति को झोंक दें। यह हमारे अस्तित्व का तकाजा है, और इस नियम के अन्तर्गत काम करते हुए एक व्यक्ति के लिए भी यह सम्भव है कि वह अन्याय के आधार पर टिके हुए एक साम्राज्य की समस्त शक्ति को अकेला ही चुनौती दे सके।"[37]

सत्य, अहिंसा और कष्ट-सहन इन तीन सिद्धान्तों से मिलकर सत्याग्रह का निर्माण होता है। कष्ट-सहन विरोधी पर विजय प्राप्त करने के लिए हिंसात्मक साधनों का प्रयोग करने में हमारी असमर्थता का पर्याय नहीं है। दूसरे को कष्ट देना हिंसा है, परन्तु कष्ट-सहन, जिसका अर्थ "स्वयं अपने आपको कष्ट पहुंचाना है," गांधी की दृष्टि में, 'अहिंसा का सार" है, और इस प्रकार वह एक सकारात्मक नीति है, न कि निर्बल का अन्तिम सहारा। गांधी ने सत्याग्रह की पद्धति में और निष्क्रिय प्रतिरोध की पद्धति में अन्तर किया है। इतिहास में निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग या तो हिंसा के प्रयोग में असमर्थता के कारण किया गया था, या हिंसा की ओर बढ़ने वाले एक प्रारम्भिक कदम के रूप में। "कमजोर की अहिंसा" का गांधी की दृष्टि में कोई

[35] 'कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी,' प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, दिल्ली, 1963, खण्ड 10, पृ० 43।

[36] 'यंग इण्डिया,' 17 जुलाई 1924।

[37] वही, 11 अगस्त 1920।

महत्त्व नहीं था। उन्होंने केवल ऐसे लोगों की प्रशंसा की जो प्रभावशाली रूप से हिंसा का प्रयोग करने की स्थिति में थे, परन्तु जिन्होंने ऐसा नहीं किया, और अहिंसा का सहारा लेकर कष्ट सहने की अपनी तत्परता प्रकट की। निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग हथियारों के उपयोग के साथ-साथ किया जा सकता था। सत्याग्रह में यह सम्भव नहीं था। निष्क्रिय प्रतिरोध में प्रतिपक्षी को परेशान करने का विचार छिपा हुआ था। सत्याग्रह में प्रतिपक्षी को हानि पहुंचाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। "कायरता और हिंसा में से यदि एक को चुनना हो तो मेरी सलाह सदा ही हिंसा का चुनने की होगी," इस वाक्य को गांधी ने बार-बार दोहराया है।[38]

सत्याग्रह संघर्ष-समाधान के तकनीक के रूप में

अहिंसा के पुजारी के लिए, भय से अपने आपको मुक्त करने के लिए, बड़े से बड़ा बलिदान करने की क्षमता का सम्पादन करना आवश्यक होता है "जिस व्यक्ति ने भय पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त नहीं कर ली है वह सम्पूर्ण अहिंसा का पालन नहीं कर सकता।"[39] गांधी ने संघर्ष से बचने की कभी चेष्टा नहीं की, केवल हिंसा को उसका समाधान नहीं माना। जोन बोन्दुरा ने ठीक ही लिखा है, "गांधी ने मानव के संघर्ष की समस्या को सभी युगों में सबसे मूल समस्या माना है।" गांधी को एक शान्तिप्रिय प्राणी मानना एक गम्भीर भूल होगी। "संघर्ष की स्थिति" का स्वागत गांधी उसी भावना से करते थे जिससे एक योग्य चिकित्सक पुराने रोग से पीड़ित किसी रोगी का स्वागत करता है। आर्ल नेस के शब्दों, "गांधी संघर्ष के केन्द्र की ओर स्वाभाविक रूप से आकर्षित हो जाते थे।" गांधी कर्मयोगी थे। कर्मयोगी की व्याख्या यह दी गयी कि वह संघर्ष से अपने को अलग-थलग नहीं रखता, वह उसके बीच में घुस जाता है। सत्याग्रही संघर्ष के केन्द्र में अपने आपको रख कर, उसकी तीव्रता में कमी लाने के उद्देश्य से हिंसा के प्रयोग को निरुत्साहित करने के काम में लग जाता है। वह उससे बच निकलने की चेष्टा नहीं करता,"[40] संघर्ष को निपटाने का गांधी का साधन अहिंसा का मार्ग अपनाना था। उनका दृढ़ विश्वास था कि यदि हिंसा का सहारा लिया गया तो संघर्ष की लपटें इतनी तेजी से बढ़ेंगी कि उन पर नियन्त्रण पाना असम्भव हो जायेगा। 1893 के मॉरित्जबर्ग के अपने अनुभव को उन्होंने अपने जीवन का सबसे अधिक सर्जनात्मक अनुभव माना, क्योंकि उन्होंने, बच निकलने की अपेक्षा, संघर्ष का मार्ग अपनाने का निश्चय किया था। उस समय उनके सामने प्रश्न यह था, "मैं अपने अधिकारों के लिए लड़ूं, अथवा भारतवर्ष लौट जाऊं, अथवा इस सारी घटना को भूलकर प्रिटोरिया की अपनी यात्रा को जारी रखूं।" इस स्थिति में संघर्ष से बचने के स्थान पर उन्होंने संघर्ष को निमन्त्रित करने का मार्ग अपनाया। उनका निर्णय इस तर्क पर आधारित था,

[38] वही।
[39] 'हरिजन,' 1 फरवरी 1942।
[40] आर्ल नेस, 'गांधी एण्ड दी न्यूक्लियर एज,' दि बेडमिंस्टर प्रेस, न्यू जर्सी, 1965, पृ॰ 39।

"अपने कर्तव्य को पूरा किये बिना भारत लौट जाना कायरता होगी। जो कष्ट मुझे सहना पड़ा वह वास्तव में रंगभेद के गम्भीर रोग का एक चिन्ह मात्र था। मुझे प्रयत्न करना चाहिए कि, यदि सम्भव हो तो, मैं इस बीमारी को जड़मूल से मिटा दूं। अपने इस प्रयत्न में कठिन से कठिन यातनाएं सहने के लिए मुझे तैयार रहना चाहिए।"[41] गांधी ने कभी संघर्ष से बचने अथवा उसे टालने का प्रयत्न नहीं किया। अहिंसा के सन्दर्भ में उन्होंने सदा ही उसका मुकाबला किया।

गांधी के लिए अहिंसा का अर्थ कभी भी निष्क्रियता अथवा अकर्मण्यता नहीं था। हिंसात्मक, अथवा कानूनी, कार्यवाही से मूलतः भिन्न होते हुए भी वह सक्रियता का ही एक अत्यधिक प्रभावशाली रूप था, और हिंसा के मुकाबले में एक बहुत ऊंचे दर्जे का कार्य मार्टिन लूथर किंग ने, जिनकी गिनती गांधीवादी तकनीक के सबसे बड़े अनुयायियों में की जाती है, संघर्ष की स्थिति को 'सर्जनात्मक आक्रोश' (creative tension) का नाम दिया है। संघर्ष समाज-व्यवस्था का अनिवार्य अंग है, यद्यपि साधारणतः वह प्रच्छन्न रहता है। अहिंसात्मक तकनीक का अर्थ है कि उसे प्रकाश में ले आया जाय। मार्टिन लूथर किंग लिखता है, "अहिंसात्मक सीधी कार्यवाही का उद्देश्य संकट की एक ऐसी स्थिति को जन्म देना है जिससे जिस समस्या पर बातचीत करने के लिए समाज अब तक तैयार नहीं था उसके लिए उसे तैयार किया जा सके।" किंग ने आगे लिखा, "मैं 'संघर्ष' शब्द से घबराता नहीं हूं। हिंसात्मक संघर्ष का मैंने सदा विरोध किया है, परन्तु रचनात्मक अहिंसात्मक संघर्ष विकास के लिए आवश्यक है।"[42] अर्नेस्ट बार्कर ने भी लिखा है, "संघर्ष उतना ही स्वास्थ्यप्रद है जितना स्वाभाविक, और व्यक्ति के व्यक्तित्व अथवा सामाजिक समूहों दोनों के, विकास के लिए वह अनिवार्य भी है।"[43] गांधी के समान ही किंग के लिए भी संघर्ष की स्थिति का निर्माण करना सीधी कार्यवाही के अहिंसात्मक तकनीक का एक अनिवार्य भाग था। वी० वी० रमणमूर्ति के शब्दों में, "सामाजिक परिवर्तन की गांधी की कल्पना यह थी कि संघर्ष को उभारा जाय, जिससे अहिंसात्मक साधनों के द्वारा उसे सुलझाया जा सके। सत्याग्रह संघर्ष को एक 'सर्जनात्मक आक्रोश' का रूप दे देता है, जो अहिंसात्मक तकनीक का एक आवश्यक अंग है।"[44] भारत में अंग्रेजी राज्य के अस्तित्व के कारण संघर्ष की स्थिति पहले से मौजूद थी। गांधी ने 1920-21, 1930-32, 1942 और अन्य अनेक अवसरों पर इस मूक स्थिति को खुले संघर्ष के स्तर पर लाने और अहिंसात्मक कार्यवाही के

[41] एम० के० गांधी, 'एन आटोबायोग्राफी, ऑर दि स्टोरी ऑफ माई एक्सपेरिमेंट्स विद ट्रुथ,' नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1945, पृ० 141।

[42] मार्टिन लूथर किंग, जू०, 'व्हाई वी० कांट वेट,' न्यूयार्क, दि न्यू अमेरिकन लायब्रेरी, 1964, पृ० 79।

[43] अर्नेस्ट बार्कर, 'प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल एण्ड पोलिटिकल थियरी,' ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, 1952, पृ 278।

[44] वी० वी० रमण मूर्ति, "गांधियन कॉन्सेप्ट ऑफ सोशल एण्ड पोलिटिकल चेंज", 'इण्टर-डिसिप्लिन,' खण्ड 7, सं० 1, बसन्त, 1970, पृ० 84।

द्वारा उसका समाधान खोज निकालने का प्रयत्न किया ।

शक्ति के सम्बन्ध में गांधी का दृष्टिकोण

गांधी के लिए अहिंसा का मार्ग अपनाना इसलिए भी स्वाभाविक था कि उनका प्रमुख उद्देश्य एक समूह पर दूसरे समूह का आधिपत्य स्थापित करना नहीं था, जो कि मार्क्सवादी-माओवादी दृष्टिकोण का केन्द्र-बिन्दु रहा है, परन्तु सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन लाना था। गांधी ने व्यक्ति को कभी बुरा नहीं बताया। उन्होंने व्यवस्था को दोषी माना और, यदि आवश्यक दिखायी दिया तो, व्यवस्था को नष्ट करने का प्रयत्न किया, सदा ही अहिंसात्मक साधनों के द्वारा, और उसके स्थान पर एक दूसरे प्रकार की व्यवस्था स्थापित करना चाहा। असहयोग आन्दोलन के सम्बन्ध में अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि भारत का असहयोग न तो अंग्रेजों के विरुद्ध था, न अन्य पश्चिमी देशों के विरुद्ध। वह तो उस व्यवस्था के विरुद्ध था जो अंग्रेजों ने भारत में स्थापित की थी। उनका सदा ही यह विश्वास रहा कि अंग्रेजी राज्य के समाप्त होते ही भारत व ब्रिटेन के सम्बन्धों का आधार आदर और मित्रता के एक नये स्तर पर स्थापित किया जा सकेगा। वर्ग विरोधों के सम्बन्ध में भी उनका चिन्तन इसी प्रकार का था। उन्होंने लिखा "यह आवश्यक नहीं है कि जमींदारों और पूंजीपतियों का अन्त कर दिया जाय। आवश्यकता इस बात की है कि उनके और जनसाधारण के बीच का सम्बन्ध एक अधिक स्वस्थ और शुद्ध स्तर पर रखा जा सके।" गांधी ने "राजनीतिक शक्ति" के अस्तित्व अथवा महत्व से कभी इनकार नहीं किया, न उन्होंने शक्ति के प्रयोग को सर्वथा निषिद्ध ही माना। वास्तव में जीवन भर वह शक्ति के ऐसे अन्य केन्द्रों की खोज में रहे जिनका अहिंसा के साथ सामंजस्य बिठाया जा सके। जिस अर्थ में हम 'शक्ति' शब्द का प्रयोग करते हैं उसका अन्त सदा ही एक पक्ष को दूसरे पक्ष पर विजय में होता है। गांधी का विश्वास संघर्ष का समाधान इस ढंग से निकालने में था जिससे दोनों में से किसी भी पक्ष की पराजय न हो, और दोनों के बीच अधिक प्रेम और सद्भावना के वातावरण की स्थापना की जा सके। उन्होंने अपना सारा जीवन अंग्रेजों के हाथ से सत्ता को छीनने और भारतीय जनता के हाथों में उसे सौंप देने में बिताया, परन्तु राजनीतिक परिवर्तन अथवा राष्ट्रीय विकास के लिए बल के प्रयोग से सदा इनकार किया। गांधी ने अहिंसा को शक्ति का पर्यायवाची माना। उन्होंने जीवन के अन्तिम कुछ महीने देश में साम्प्रदायिकता को कुचलने में बिताये, परन्तु उसके लिए राज्य की उस सत्ता का उपयोग नहीं किया जिसे दिल्ली में स्थापित करने में सबसे बड़ा योग उन्हीं का था। अहिंसा के मार्ग पर चलते हुए अपने इस उद्देश्य में उन्हें जो महान सफलता मिली वह राज्य की सत्ता की विजय नहीं, अहिंसा की शक्ति का प्रतीक थी।

मार्क्स, लेनिन और माओ त्से-तुंग में, बल्कि यह कहना चाहिए कि आज तक के सभी राजनीतिक चिन्तकों में और गांधी में मूल अन्तर यह है कि जब कि वे सभी चिन्तक राज्य को परिवर्तन का मुख्य आधार मानते हैं, गांधी ने समाज को अपनी

गतिविधियों का प्रमुख क्षेत्र माना। गांधी की मान्यता थी कि यदि समाज अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति सजग है—अधिकारों और कर्तव्यों दोनों ही के प्रति—तो राज्य को, यदि वह गलत मार्ग पर चलता है, सही मार्ग पर लौटा लाने की क्षमता उसी के पास है। यदि समाज निर्बल और असंगठित है, यदि अपने अधिकारों के प्रति वह जागरूक नहीं है तो लोकतान्त्रिक राज्य के लिए भी व्यक्ति के अधिकारों को कुचल देने की प्रवृत्ति का विकास कर लेना स्वाभाविक हो जाता है। गांधी अराजकतावादी नहीं थे। राज्य में, और राज्य के द्वारा प्रयोग में लायी जाने वाली राजनीतिक शक्ति में, उनका विश्वास था, परन्तु उन्होंने सदा ही राज्य और समाज में भेद करने का प्रयत्न किया। पश्चिमी राजनीतिज्ञ जब कि मनुष्यों को राजनीतिक और अराजनीतिक इन दो वर्गों में बांटते हैं, और राजनीतिक मनुष्य का मूल्यांकन भी इस आधार पर करते हैं कि वह शक्तिशाली है, अथवा शक्ति प्राप्त करने में प्रयत्नशील अथवा निःशक्त, गांधी का विश्वास था कि समाज में जितने भी व्यक्ति हैं उन सबका राजनीतिक शक्ति में हिस्सा बटाने का केवल अधिकार ही नहीं कर्तव्य भी है। पर, साथ ही, वह यह मानते थे कि कुछ व्यक्तियों के लिये, जिन्होंने सत्याग्रह की तकनीक में प्रशिक्षण प्राप्त कर लिया है, यह आवश्यक होना चाहिए कि वे अपने को राजनीतिक शक्ति से दूर रखें और सदा इस प्रयत्न में लगे रहें कि राज्य-सत्ता को समाज के प्रति उत्तरदायी बनाये रखा जा सके। देश में रचनात्मक कार्यों के लिए उन्होंने जो अनेक संगठन बनाये थे उनके कार्यकर्ताओं के सम्बन्ध में एक बार उन्होंने कहा, "मैं उन्हें संसद में भेजना नहीं चाहता। मैं चाहता हूं कि मतदाताओं को प्रशिक्षण और निर्देशन देकर वे संसद को नियन्त्रण में रख सकें।" स्वाधीनता के पहले भी गांधी ने राजनीतिक संस्थाओं में शायद ही कोई पद स्वीकार किया हो। वह भारतीय राष्ट्रीय महासभा के केवल एक बार अध्यक्ष रहे और अधिकांश समय उसके चार-आना सदस्य भी नहीं थे। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद कांग्रेस में सत्ता के लिए जो संघर्ष आरम्भ हुआ उससे उन्हें बहुत धक्का लगा। उन्होंने रचनात्मक कार्यकर्ताओं से कहा कि वे, "सत्ता की राजनीति और उसकी छूत से अपने को अलग रखें।" "जितने भी क्रियाशील संगठन हैं उन्हें अपने साथ ले लो। अपने में से सारी गन्दगी दूर कर दो। सत्ता प्राप्ति करने के विचार को मन में आने भी न दो ··· इसी में मुक्ति है। तुम्हारे लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है।"[4]

सत्याग्रह का सिद्धान्त : एक विवेचना

सत्याग्रह गांधी के लिए संघर्ष का प्रमुख हथियार था। सत्याग्रह के इस हथियार को उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के अपने संघर्ष में, सत्य और अहिंसा की खोज करते हुए प्राप्त किया था, और रौलट एक्ट के विरुद्ध एक राष्ट्रव्यापी संघर्ष में उसका उपयोग करने से पहले वह उसका प्रयोग अहमदाबाद में मिल मजदूरों के झगड़े को सुलझाने और बारदोली

[4]तेंदुलकर, वही, खण्ड 5, पृ० 283; खण्ड 6, पृ० 152; खण्ड 8, पृ० 234।

और कुछ अन्य स्थानो पर किसानो की शिकायतो को दूर करने के लिए कर चुके थे। गाधी का सदा ही यह प्रयत्न रहा कि सत्याग्रह के अपने आन्दोलनो मे वह जनता मे से अधिक से अधिक लोगो का सहयोग प्राप्त कर सकें। यद्यपि उनका उद्देश्य सदैव व्यक्ति की चेतना मे परिवर्तन लाने का रहा, उनका यह दृढ विश्वास था कि जनता की भलाई के लिए जो भी सघर्ष किया जाय उसका सचालन स्वय जनता के द्वारा किया जाना चाहिए। जनता से गाधी का सकेत, भारतीय सन्दर्भ मे, देश के करोडो किसानो की ओर था जिन्हे वह राष्ट्रीय सघर्ष मे ले आना चाहते थे। परन्तु सत्याग्रह का उनका तकनीक ऐसा नही था जिसका प्रयोग केवल किसानो तक, अथवा केवल गावो मे चलाये जाने वाले आन्दोलनो तक, अथवा एक विदेशी ताकत के विरुद्ध किये जाने वाले सघर्ष तक ही सीमित था। इस तकनीक का उतना ही प्रभावशाली प्रयोग उद्योगपतियो और मजदूरो के अथवा स्वर्ण हिन्दुओ और हरिजनो के, अथवा विभिन्न राष्ट्रो के बीच के सघर्षों मे भी किया जा सकता था। गाधी के जीवन काल मे आणविक अस्त्रो का आविष्कार हो चुका था और जापान मे मानवता के विरुद्ध प्रयोग मे उन्हे लाये जाते हुए भी गाधी ने देखा था। पर इसके परिणामस्वरूप अहिंसा और सत्याग्रह के तकनीक मे उनकी आस्था और भी दृढ हुई। अब उन्हे पूरा विश्वास हो गया कि आणविक अस्त्रो के विकास और प्रयोग के बाद हिंसात्मक प्रतिरोध असम्भव हो गया था और अहिंसात्मक साधनो की श्रेष्ठता स्पष्ट रूप से स्थापित हो गयी थी। 'आणविक हथियारो की महान शक्ति को देखते हुए यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि उनका विनाश दूसरी ओर से काम मे लाये गये आणविक अस्त्रो से सम्भव नही है, जैसे हिंसा का विनाश प्रतिरोध मे अपनायी गयी हिंसा से सम्भव नही है। मानवता को हिंसा से ऊपर उठने के लिए अहिंसा का मार्ग ही अपनाना होगा।"[46]

सत्याग्रह का तकनीक केवल अहिंसा के सन्दर्भ मे ही प्रयोग मे लाया जा सकता था। उसकी अभिव्यक्ति चाहे उपवास मे हो, अथवा आम हडताल मे, अथवा असद्य लोगो के द्वारा कानूनो के तोडने मे, अथवा जनता की अपनी सरकार स्थापित करने मे। अहिंसात्मक ढग से चलाया जाने वाला असहयोग आन्दोलन सत्याग्रह के मुख्य रूपो मे से एक था। परन्तु गाधी के सघर्ष का स्वरूप चाहे कुछ भी क्यो न हो, उनका प्रहार सदा ही व्यवस्था पर होता था, व्यक्तियो पर कभी नही। यह जानते हुए कि भारत मे अग्रेजी राज्य, वह कितना ही बुरा क्यो न हो, भारतीयो के सहयोग से ही चलाया जा रहा था, उन्होने उनसे अपना सहयोग वापस लेने को कहा। "यदि हम उन्हे मनुष्य और धन देने से इनकार कर दें तो हम अपने लक्ष्य को, अर्थात् स्वराज्य, समानता और पुरुषत्व को प्राप्त कर सकते हैं।"[47] 1920-21 के असहयोग आन्दोलन मे भारतीयो से कहा गया कि वे अपनी उपाधिया और अन्य सरकारी मान्यताए लौटा दें, सरकार द्वारा आयोजित कार्यक्रमों मे भाग न लें, स्थानीय प्रशासन मे उन स्थानो को छोड दें जिन पर उन्हे

[46]झवेरी और तेंदुलकर, 'महात्मा,' खण्ड 7, 1953, पृ० 248।
[47]'यग इण्डिया,' 22 सितम्बर 1920।

नामजद किया गया था, और अपने बच्चों को सरकार द्वारा अथवा सरकार के नियन्त्रण में चलाये जाने वाले स्कूलों अथवा कॉलिजों से हटा लें। उनसे यह भी कहा गया कि वे निजी तौर पर राष्ट्रीय स्कूलों और कॉलिजों की स्थापना करें, अंग्रेजी अदालतों का बहिष्कार करें और आपसी झगड़ों को सुलझाने के लिए अपनी अदालतें स्थापित करें। अंग्रेजों द्वारा संचालित सैनिक अथवा अन्य सेवाओं में भाग लेने से इनकार कर दें, नवगठित विधान सभाओं के चुनावों से अपने प्रत्याशियों के नाम वापस ले लें, विदेशी माल का बहिष्कार करें और ग्रामीण और कुटीर उद्योगों का विकास करें। 1930 व 1932 में उनके द्वारा चलाये गये सविनय अवज्ञा आन्दोलन असहयोग के ही अधिक परिष्कृत रूप थे। "प्रशासन की आज्ञाओं और आदेशों का पालन करते रहने से आप उसे सबसे अधिक प्रभावशाली ढंग से सहायता पहुँचाते हैं इस कारण बुरे राज्य के कानूनों की अवज्ञा करना आपका कर्तव्य हो जाता है।"[58]

सत्याग्रह, जैसा पहले कहा जा चुका है, केवल राजनीतिक संघर्षों अथवा राष्ट्रीय स्वाधीनता के संग्राम, तक ही सीमित नहीं था। मिलोवान जिलास ने, जिसका पिछले कुछ वर्षों का चिन्तन उसे गांधी के काफी नजदीक ले आता है, गांधी के दृष्टिकोण और साधनों को स्पष्ट ही सही समझा, जब उसने गांधी के सम्बन्ध में यह लिखा कि "वह भारत की विशिष्ट परम्पराओं, उस समय देश में उपस्थित अंग्रेजी औपनिवेशिक वातावरण, तथा समाज और मानवता के सम्बन्ध में अपने व्यक्तिगत धार्मिक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति थे।"[59] वास्तविक बात तो यह है कि गांधी के दृष्टिकोण और उनके द्वारा बताये गये साधनों का प्रयोग किसी भी देश में और किसी भी परिस्थिति में किया जा सकता है और, यद्यपि इतिहास ऐसा कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं करता जिसमें उनका प्रयोग विदेशी आक्रमण के विरोध में किया गया हो, गांधी का विश्वास था कि उस स्थिति में भी उनकी सफलता अनिवार्य थी। जर्मनी और जापान के साम्राज्यवादों के विरुद्ध भी राष्ट्रीय सत्याग्रहों का प्रयोग करने का सुझाव उन्होंने दिया, जिसका उनका अर्थ था कि जिन देशों पर आक्रमण किया जाय उन्हें अपनी सीमाओं पर लाखों-करोड़ों मनुष्यों को एक दीवार की तरह खड़ा कर देना चाहिए और आक्रमणकारी सेनाओं को निमन्त्रण देना चाहिए कि वे अपनी तोपों टैंकों और अन्य हथियारों को लेकर उनको रौंदते हुए आगे बढ़ें।[60] राष्ट्रीय सुरक्षा के इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा "कोई भी आततायी ऐसा नहीं है, चाहे वह आज के युग का नीरो ही न क्यों न हो, जिसके अपना हृदय न हो। जब वह अपने सामने ऐसा दृश्य देखेगा, जैसा उसने अथवा उसके

[58]वही, 27 मार्च 1930।

[59]मिलोवान जिलास, 'दि अनपरफेक्ट सोसाइटी, बियोंड दी न्यू क्लास,' लन्दन, अनविन बुक्स, 1969, पृ० 184। इसी पुस्तक में लेखक ने "अहिंसात्मक साधनों से समाज में परिवर्तन लाने" और "केवल विचार ही व्यक्तियों को महान अथवा साधारण नहीं बनाते, यह उन साधनों पर भी निर्भर रहता है जिनका वे प्रयोग करते हैं' जैसे विचारों का समर्थन किया है (पृ० 182-83)।

[60]के० श्रीधरानी द्वारा 'वार विदाउट वायलेंस,' भारतीय विद्याभवन, बम्बई, 1962 में उद्धृत, पृ० 49-50।

सिपाहियो ने पहले कभी नही देखा, जिसमे पुरुषो और स्त्रियो की अनगिनत कतारें, हिंसात्मक प्रतिरोध न करते हुए एक के बाद एक करके मृत्यु को स्वीकार करती जा रही है, तो यह सम्भव नही है कि उस पर इसका प्रभाव न पड़े। यदि स्वय नीरो पर प्रभाव न भी पड़ा तो उसके सिपाहियो पर अवश्य पड़ेगा। युद्ध मे लगे रहने पर तो मनुष्य वर्षों तक एक दूसरे का सहार करते रहते है, क्योकि वहा तो परिस्थिति ऐसी रहती है कि यदि तुम मारोगे नही तो मार डाले जाओगे। परन्तु यदि जिन लोगो का कत्ल तुम कर रहे हो उनके द्वारा कत्ल किये जाने का तुम्हे तनिक भी खतरा न हो तो यह सम्भव नही है कि तुम अनन्त काल तक अरक्षित और निहत्थे लोगों का कत्ल करते चले जाओगे। तुम्हे कभी न कभी अपनी बन्दूकें नीचे डालनी ही होगी" "यदि एक सेना निर्दोष पुरुषो और स्त्रियो की लाशो के ऊपर से निकल जाने का साहस एक बार कर भी लेती है" तो, गाधी ने लिखा, "यह सम्भव नही कि वह अपने इस प्रयोग को दोहरा सके।"

पुरुषो, स्त्रियों और बच्चो की एक मानव दीवार को शत्रु के सामने खडी कर देने का विचार गाधी ने स्विट्ज़रलैण्ड मे 1931 मे वहा के शान्तिवादियो से बातचीत करते हुए सुझाया था।[51] यही सलाह उन्होने अबीसीनिया को उस समय दी जब 1935 मे इटली ने उस पर आक्रमण किया,[52] और 1938 मे यहूदियो को जर्मनी के विरुद्ध। यहूदियो के आन्दोलन के सम्बन्ध मे उनका मत था कि "जर्मनी मे उनके विरुद्ध जो एक भयकर नरसहार चल रहा था उसे निहत्थे पुरुषो और स्त्रियो के द्वारा, जिनके पास जिहोवा के द्वारा प्रदान की गयी कष्ट सहन की अपार शक्ति थी, एक दृढ निश्चय पर आधारित एक शान्त प्रतिरोध के रूप मे परिवर्तित किया जा सकता था।[53] 1938 मे चीनियो और चैकों को, और जर्मनी द्वारा पोलैण्ड पर आक्रमण किये जाने के अवसर पर पोलैण्ड के साहसी निवासियो को उन्होने इसी प्रकार की सलाह दी।[54] युद्ध मे सम्मिलित होने वाले देशो के शान्तिवादियो को उन्होने सलाह दी कि वे अपनी सरकारो के विरुद्ध सविनय अवज्ञा का आन्दोलन चलायें।[55] गाधी का मत था कि लाखो मनुष्यो को लाशो को रौद कर देश पर अपना प्रभाव स्थापित कर लेने वाली सेनाओ के विरुद्ध भी जनता के पास अहिंसात्मक असहयोग और सविनय अवज्ञा के साधन थे जिनका वह प्रयोग कर सकती थी। ऐसी स्थिति मे, सारी जनता यह निश्चय ले सकती थी कि वह आक्रमणकारियो के लिए कोई कार्य नही करेगी और न उन्हें किसी काम मे सहायता देगी। यह सोच पाना कठिन था कि देश पर अधिकार कर लेने वाली सेनाए इसके विरुद्ध सारे देश को ही तबाह कर देने पर उद्धत हो जायेंगी। गाधी की दलील बड़ी स्पष्ट

[51]एम० के० गाधी, 'नौन वायलेंट रिज़िस्टेंस,' 1961, पृ० 360-61।
[52]'हरिजन,' 12 अक्तूबर 1925।
[53]वही, 26 नवम्बर 1938।
[54]एम० के० गाधी, 'नौन-वायलेंस इन पीस एण्ड वार,' अहमदाबाद, नवजीवन प्रेस, 1948, पृ० 148 152 और 173।
[55]वही, पृ० 177 78।

थी : "व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो आक्रमणकारी के विरुद्ध सशस्त्र प्रतिरोध की तुलना में अहिंसा के इस मार्ग पर चलने में कम संख्या में लोगों की मृत्यु होती। पोलैण्ड, बेलजियम और फ्रांस में क्या लाखों ही व्यक्तियों की मृत्यु वहां लड़े जाने वाले युद्ध में नहीं हुई ? यदि ये लाखों व्यक्ति धीरज के साथ आक्रमणकारियों के सामने खड़े रहते तो क्या यह सम्भव था कि आक्रमणकारी सेनाएं उन सबको गोली से भूनती चली जातीं ?"[55]

सत्याग्रह के गांधी के प्रयोग

गांधी के सत्याग्रह का तकनीक केवल विदेशी शक्ति अथवा बाहरी आक्रमण के विरोध तक ही सीमित नहीं था। इस बात की चिन्ता किये बिना कि हुकूमत विदेशियों की है अथवा अपनी, सामाजिक व आर्थिक न्याय को प्राप्त करने, औद्योगिक संघर्षों में, तथा साम्प्रदायिकता और अस्पृश्यता जैसी सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष करने में भी उसे काम में लाया जा सकता था। गांधी ने जिस युग में इस तकनीक का आविष्कार किया वह भारतीय राष्ट्रवादी शक्तियों के द्वारा अंग्रेजी शासन के विरुद्ध संघर्ष का युग था और इस कारण यह स्वाभाविक था कि उनके सत्याग्रह आन्दोलन, विदेशी शासन के विरुद्ध चलाये गये, परन्तु कई अवसरों पर इनमें सामाजिक, आर्थिक प्रश्न भी जुड़ जाते थे। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने खानों में काम करने वाले भारतीयों के द्वारा चलाये जाने वाले उस आन्दोलन का नेतृत्व किया जो दक्षिण अफ्रीका की सरकार की जाति-भेद की नीतियों के विरुद्ध था। 1917 में भारत में चलाया गया उनका पहला सत्याग्रह आन्दोलन बिहार के चम्पारन जिले में नील की खेती करने वाले किसानों पर किये जाने वाले आर्थिक और सामाजिक अन्यायों के विरुद्ध था। 1918 का खेड़ा सत्याग्रह भी किसानों का आन्दोलन था जिसने भूमि-कर के भुगतान न करने का रूप ले लिया और जिसका उद्देश्य बम्बई की सरकार पर इस बात के लिए नैतिक दबाव डालना था कि वह किसानों को भूमि-कर अदा न करने की छूट दें। 1928 का बारदोली सत्याग्रह, जिसमें सरकार को टैक्स अदा न करने के रूप में सविनय अवज्ञा, और स्थानीय अधिकारियों के द्वारा त्यागपत्र दे देने और एक समानान्तर स्थानीय शासन स्थापित कर लेने के रूप में असहयोग, दोनों शामिल थे, भूमि-कर में बहुत अधिक वृद्धि के विरुद्ध था।

इन सभी आन्दोलनों को गहराई से देखने से यह पता लगता है कि, वे चाहे विदेशी हुकूमत के खिलाफ ही क्यों न चलाये गये हों, उनका उद्देश्य जनसाधारण को आर्थिक न्याय की प्राप्ति कराना था। गांधी ने कुछ ऐसे आन्दोलन भी चलाये जो औद्योगिक प्रबन्ध-व्यवस्था अथवा सामाजिक प्रतिक्रियावादिता के विरुद्ध थे। फरवरी-मार्च 1918 में चलाया गया अहमदाबाद मजदूर-सत्याग्रह जिसके सम्बन्ध में आज के युग के प्रमुख मनोविज्ञान-शास्त्री, एरिक एच० एरिकसन ने 'गांधीज ट्रुथ' के नाम से 500 पृष्ठ का एक ग्रन्थ प्रकाशित किया है, एक ऐसा शुद्ध मजदूर आन्दोलन था जिसका सरकार से

[55]वही, पृ० 81-82।

किसी भी रूप मे सम्बन्ध नही था।[57] मिल मे हडताल हो जाने की स्थिति मे व्यवस्थापकों ने गाधी को उसमे बीच-बचाव करने के उद्देश्य से निमन्त्रित किया था, परन्तु जब गाधी ने देखा कि, चीजो के मूल्य बढ जाने के कारण, मजदूरों के वेतन मे 25 प्रतिशत वृद्धि की माग न्यायसगत थी, तो उन्होने मजदूर आन्दोलन का नेतृत्व स्वय अपने हाथो मे लिया और इस सम्बन्ध मे उन्होने उपवास का भी सहारा लिया। वाईकोम-मन्दिर मार्ग का सत्याग्रह, जो 1924-25 मे लगभग 16 महीने तक चला, उस आदेश के विरुद्ध था जिसके अनुसार मन्दिर के पास से निकलने वाले मार्ग का प्रयोग अस्पृश्य के लिए निषिद्ध था। इस आन्दोलन का आरम्भ एक सीरियाई ईसाई ने किया था। परन्तु हिन्दुओ, जिसमे अस्पृश्य और सवर्ण सभी सम्मिलित थे, और सिक्खो ने भी उसमे भाग लिया। यद्यपि इस आन्दोलन का नेतृत्व सीधा गाधी के हाथ मे नही था तो भी उसकी गतिविधियों से गाधी ने बराबर सम्पर्क रखा। आन्दोलन का परिणाम यह निकला कि यह मार्ग सभी के लिए, जिनमे अस्पृश्य भी सम्मिलित थे, खोल दिया गया। इस आन्दोलन की प्रतिक्रिया देश के अन्य भागो मे भी हुई, और बहुत से स्थानो पर जहा मन्दिरो मे अस्पृश्य प्रवेश नही कर सकते थे, अब उनके प्रवेश पर से सभी बाधाए हटा ली गयी।[58]

गाधी द्वारा चलाये गये सत्याग्रह आन्दोलनो की तकनीक मे निरन्तर परिष्कार होता चला गया।[59] अपने इस तकनीक के प्रयोग मे उनसे गलतियां भी हुई, परन्तु उन्होने उन्हे तत्काल स्वीकार कर लिया और अपने बाद के आन्दोलनो मे उन्हे नहीं दोहराया। अहमदाबाद के मजदूर सत्याग्रह की एक विशेषता यह थी कि गाधी ने अहिंसात्मक शक्ति के एक साधन के रूप मे उपवास का प्रयोग किया था, परन्तु उन्हे शीघ्र ही यह अनुभूति हुई कि, यद्यपि उपवास का उद्देश्य मजदूरो को अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ बनाये रखना था, उसके परिणामस्वरूप मिल मालिको पर भी दबाव पडा, और इस दृष्टि से शुद्ध अहिंसा की भावना का अतिक्रमण हुआ। इसके बाद गाधी ने रौलट बिल के खिलाफ एक राष्ट्रव्यापी आन्दोलन चलाया। गाधी ने इस आन्दोलन का आधार अहमदाबाद के साबरमती आश्रम के अपने उन निकट के साथियो पर रखा था, अहिंसा मे जिनकी गहरी आस्था के सम्बन्ध मे वह आश्वस्त थे। सत्याग्रह का प्रारम्भ प्रार्थना दिवस के रूप मे किया गया, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति ने उस दिन 24 घण्टे का उपवास रखा। केवल वही व्यक्ति जिन्होने 24 घण्टे का उपवास रखा था और सत्याग्रह की प्रतिज्ञा पर

[57] एरिक एच० एरिक्सन, 'गाधीज ट्रुथ, ऑन दी ओरिजिन्स ऑफ मिलिटेंट नोन वायलेंस,' लन्दन, फेबर एण्ड फेबर लि०, 1970।

[58] सत्याग्रह के तकनीक के स्पष्टीकरण की दृष्टि से की गयी एक सुन्दर विवेचना के लिए देखिए जोन बोन्दुरां 'कॉन्क्वेस्ट ऑफ वायलेंस,' वही, अध्याय 3, पृ० 36-104।

[59] एन० के० बोस, 'स्टडीज इन गाधीज्म,' कलकत्ता, 1962, के अनुसार 1947 से पहले भारतीय राजनीति मे चालीस के लगभग ऐसी घटनाए हो चुकी थीं जिनमे गाधी के अहिंसा के तकनीक का प्रयोग सफलता के साथ किया गया था। परन्तु, इनमे से प्रत्येक अवसर पर उसके प्रयोग की पद्धति भिन्न रही थी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गाधी की अहिंसा की पद्धति स्थैतिक नहीं थी, परन्तु, उसमें समायोजन और परिवर्तन के लिए एक आश्चर्यजनक क्षमता थी।

हस्ताक्षर किये थे, असहयोग के इस आन्दोलन में भाग ले सकते थे, यद्यपि दूसरों को भी यह सुविधा दी गयी थी कि वे सरकार से अपने-अपने ढंग से असहयोग कर सकते थे। यह आन्दोलन सारे देश में एक तूफान की गति से फैल गया। देश के अनेक भागों में लाखों व्यक्तियों ने उसमें भाग लिया, परन्तु जब संयुक्त प्रान्त के एक दूर के गाँव में एक हिंसात्मक घटना हुई तो गांधी ने तुरन्त ही देश भर में फैले हुए इस आन्दोलन को स्थगित कर दिया और प्रायश्चित के रूप में 3 दिन का उपवास रखा। गांधी ने स्वीकार किया कि इतने बड़े आन्दोलन को चलाने के लिए और भी अधिक तैयारी आवश्यक थी। उन्होंने अनुभव किया कि जनता सविनय अवज्ञा के एक व्यापक आन्दोलन में भाग ले उसके पहले यह आवश्यक था कि वह उसकी गहराई को ठीक से समझ ले। उन्होंने यह निश्चय भी लिया कि इस प्रकार का आन्दोलन दोबारा चलाने से पहले यह आवश्यक होगा कि शुद्ध हृदय रखने वाले और अनुशासन-बद्ध स्वयं सेवकों का एक ऐसा दल तैयार कर लिया जाय जो सत्याग्रह की कठिन शर्तों को स्वयं पूरी तौर से समझते हों और इन शर्तों को जनता को समझाने और सतत चौकसी के द्वारा उसे सही रास्ते पर रखने की योग्यता रखते हों।

1928 के बारदोली सत्याग्रह को अप्रत्याशित सफलता मिली, और उसका कारण यह था कि संघर्ष के महत्व के सम्बन्ध में जनता को प्रशिक्षण देने में पर्याप्त सावधानी बरती गयी थी। सत्याग्रह के सम्बन्ध में गीतों की रचना की गयी थी और स्थान-स्थान पर उन्हें गाया जाता था। बड़ी-बड़ी सभाएं की गयीं, सत्याग्रह की प्रतिज्ञा पर लोगों से हस्ताक्षर कराये गये, और आन्दोलन का प्रारम्भ करने से पहले जनता के हृदय पर स्पष्ट रूप से यह अंकित कर दिया गया था कि सरकार की प्रतिक्रिया बहुत भीषण हो सकती थी। गांधी के द्वारा विकसित सत्याग्रह का यह तकनीक सम्भवतः नमक सत्याग्रह में, जिसका प्रारम्भ गांधी ने 1930 में किया, अपने सबसे अधिक परिष्कृत रूप को प्राप्त कर गया। यह गांधी के द्वारा चलाये जाने वाले आन्दोलनों में सबसे अधिक सुव्यवस्थित आन्दोलन था जिसमें विभिन्न प्रान्तों का नेतृत्व गांधी के प्रमुख अनुयायियों के हाथ में था—मद्रास में राजगोपालाचारी, गुजरात में वल्लभभाई, संयुक्त प्रान्त में जवाहरलाल, बंगाल में दासगुप्ता, आन्ध्र में कोण्डा वेंकटप्पा और उड़ीसा में गोपबन्धु चौधरी। प्रारम्भिक चरण में अहमदाबाद के साबरमती आश्रम के उन अनुशासनबद्ध सदस्यों को ही उसमें सम्मिलित किया गया जिन्हें गांधी ने स्वयं चुना था और जिनका नेतृत्व स्वयं उन्होंने किया। उनके बारे में यह कहा गया था कि "वे ऐसे सिपाही थे जिन्हें इस प्रकार के अनुशासन और कठिनाइयों का सामना करने के लिए पूरी तौर से तैयार कर दिया गया था जो 200 मील की पैदल यात्रा में अनिवार्य रूप से उनके सामने आती।" उन्हें लेकर गांधी ने अपनी प्रसिद्ध 'दाण्डी यात्रा' आरम्भ की। नेतृत्व के उत्तराधिकार का प्रश्न भी बड़ी सावधानी के साथ निश्चित कर लिया गया था। पूर्ण स्वाधीनता के पक्ष में जनमत को संगठित करने के काम में पूरी सावधानी ली गयी थी। जिन स्वयं सेवकों ने सत्याग्रह में भाग लिया उन्हें सीधी कार्यवाही के लिए, विशेषकर बड़ी भीड़ों को नियन्त्रित करने के तरीकों में, पूरा प्रशिक्षण दिया गया, इसी का

यह परिणाम था कि इस आन्दोलन को न केवल अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में अभूतपूर्व सफलता मिली, उसने सारे देश में एक ऐसी नैतिक व राजनीतिक चेतना का प्रसार किया जैसी इस देश में पहले कभी नहीं देखी गयी थी।

जयन्त बन्द्योपाध्याय ने यह ठीक ही लिखा है कि "सत्याग्रह के द्वारा स्वतन्त्रता समानता और भ्रातृत्व के मूल्यों को न केवल सरक्षण मिलता है और उनकी वृद्धि होती है, केवल सत्याग्रह के द्वारा ही उनकी अधिक से अधिक सुरक्षा और वृद्धि सम्भव है।"[60] सत्याग्रह का आरम्भ होते ही एक ऐसी प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है जो व्यक्ति और समाज दोनों को, सत्याग्रही को और उस व्यक्ति, अथवा व्यवस्था, को भी जिसके विरुद्ध सत्याग्रह किया जाता है, शुद्ध करना आरम्भ कर देती है। मार्क्सवादी अथवा साम्यवादी जब शत्रु को नष्ट करने के काम में लगा होता है तो वह अपने को एक ऐसा स्वतन्त्रचेता व्यक्ति नहीं मानता जिस पर अपने कार्यों के लिए एक नैतिक जिम्मेदारी है, बल्कि एक ऐसे समूह का सदस्य मानता है जो इतिहास के उद्देश्यों को पूरा करने में लगा होता है। इस प्रक्रिया में वह उन व्यक्तियों की स्वतन्त्रता और उनके जीवन को नष्ट करने से नहीं झिझकता जो उस वर्ग के सदस्य हैं जिनके खिलाफ वह संघर्ष कर रहा है। इसके बिलकुल विपरीत, 'सत्याग्रही' शब्द का प्रयोग करते ही एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना हमारे सामने आ जाती है जो सामाजिक सम्बन्धों और संस्थाओं को बदलने का गम्भीर उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने के लिए अपने को बराबर तैयार करता रहता है और उसके साथ ही साथ न केवल अपने प्रतिपक्षी की स्वाधीनता का आदर करता है, सत्याग्रह की कार्यवाही में जो भी कष्ट उसे उठाने पड़ें उन्हें झेलने के लिए तैयार रहता है। इसका यह अर्थ हुआ कि वह न केवल अपने आपको व्यक्तिगत नैतिक उत्तरदायित्व की भावना से बंधा एक स्वतन्त्रचेता कार्यकर्ता मानता है, वह अपने प्रतिपक्षी को भी इसी भावना के आधार पर काम करने की पूरी स्वतन्त्रता देता है। सत्याग्रह की इस प्रक्रिया में से निखर कर, संघर्ष के अन्त में भी, व्यक्ति अपने को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र मानता है।

सत्याग्रही स्वतन्त्रता के मूल्यों की रक्षा और उनका विकास करने के साथ ही समानता के मूल्य को भी अपने जीवन और कार्यों में बहुत अधिक महत्त्व देता है। उसकी समस्त तैयारी उसे उस स्थिति के लिए तैयार करने के लिए होती है जिसमें, एरिक्सन के शब्दों में, "वह अपने प्रतिपक्षी की आंखों से आंखें मिलाकर उसे देख सके—न तो अपने को उससे छोटा मानते हुए और न बड़ा मानते हुए।"[61] इस प्रकार की परिस्थिति में असमानता का तो प्रश्न ही नहीं रह जाता। जहां तक भ्रातृत्व की भावना का प्रश्न है वह तो दूसरे के प्रति प्रेम और उसे समझने के प्रयत्नों से स्वभावतः ही उद्भूत होती है। वास्तव में भ्रातृत्व की भावना पर ही सत्याग्रह का समस्त तत्त्वीक

[60] जे० बन्द्योपाध्याय, 'माओ त्से-तुंग एण्ड गांधी, पर्सपेक्टिव्स ऑन सोशल ट्रान्सफोर्मेशन,' अलाइड पब्लिशर्स, 1973, पृ० 64-66।

[61] एरिक्सन, वही, पृ० 448।

टिका हुआ है। सत्याग्रही न तो दूसरे पर अपनी सत्ता, अथवा अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहता है, न अपने दल अथवा अपने वर्ग के लिए वह कुछ प्राप्त करना चाहता है। उसका तो एक मात्र उद्देश्य न्याय प्राप्त करना होता है, और इस कारण, यद्यपि उसका प्रत्येक कदम वर्तमान असन्तोषजनक व्यवस्था को धीरे-धीरे करके तोड़ने की दिशा में होता है वह अपने चारों ओर अधिक से अधिक सद्भाव का निर्माण करता हुआ चलता है। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि गांधी के लिए भ्रातृत्व की भावना का महत्त्व स्वतन्त्रता और समानता से भी अधिक था। सत्याग्रह की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि ऐसी परिस्थितियों में भी, जहां वह अपने तात्कालिक उद्देश्य को प्राप्त करने में असफल रहता है, स्वतन्त्रता-समानता और भ्रातृत्व के मूल्यों पर आंच नहीं आने देता, बल्कि उन्हें अधिक दृढ़ ही बनाता है। जहां उसे अपने अभीप्सित लक्ष्य को प्राप्त करने में सफलता मिल जाती है वहां तो इन मूल्यों में सहज ही वृद्धि होती है।

गांधी और राजनीति के सिद्धान्त

गांधी, परम्परागत अर्थों में राजनीतिक दार्शनिक नहीं थे, और न उन्होंने कभी ऐसा होने का दावा ही किया। दार्शनिक से अधिक वह एक क्रियाशील व्यक्ति थे और यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि लक्ष्यों की तुलना में उन्होंने सदा साधनों की चिन्ता की। सत्याग्रह, गांधी की दृष्टि में, सिद्धान्त उतना नहीं था जितना काम करने का एक तरीका, एक ऐसा तरीका जिसका आविष्कार और विकास उन्होंने कष्ट, त्याग और राष्ट्रसेवा के अपने लम्बे जीवन में, और सत्य के साथ लगातार किये गये प्रयोगों के परिणामस्वरूप, किया था। घटनाएं दिन-प्रतिदिन के जीवन में जिस प्रकार उनके सामने आती थीं गांधी उनके प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते थे, और यदि वे उनकी दृष्टि में असन्तोषजनक होती थीं तो वह उन्हें बदलने के लिए न केवल रास्ते और तरीके बताते थे उस दिशा में पहला कदम भी स्वयं ही उठाते थे। परन्तु, परम्परागत अर्थों में राजनीतिक दार्शनिक न होते हुए भी, गांधी ने समाज और राज्य में मूलभूत परिवर्तन लाने के लिए शक्तिशाली साधनों के विकास के द्वारा राजनीति के सिद्धान्तों को आगे बढ़ाने में बहुत बड़ा योगदान दिया है। राजनीतिक दर्शन (political theory) वास्तव में है क्या, यदि उसका सम्बन्ध ऊंचे राजनीतिक उद्देश्यों को सामने रखते हुए, उन्हें प्राप्त करने के लिए समुचित साधनों के विकास से न हो। परम्परागत राजनीतिक चिन्तन में उद्देश्यों और साधनों को अलग-अलग माना गया है, और साधनों को अधिक महत्त्व न देते हुए, उद्देश्यों को प्रमुखता दी गयी है। गांधी का राजनीतिक चिन्तन, धर्म के दर्शन के माध्यम से, उद्देश्यों और साधनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है, परन्तु, जैसा कि जोन बोन्दुरां ने लिखा है, "गांधी का योगदान सामाजिक और राजनीतिक साधनों के विकास तक ही सीमित नहीं रहा, राजनीतिक चिन्तन की गहराइयों में प्रवेश करके उन्होंने राजनीतिक सिद्धान्तों की पूर्वकल्पित मान्यताओं को चुनौती भी दी।"[42]

[42] जोन बोन्दुरां, वही, पृ० 189।

गाधी रूढिवादी अथवा क्रातिकारी ?

गाधी रूढिवादी थे अथवा क्रान्तिकारी ? उनकी कौटुम्बिक पृष्ठभूमि को लें, अथवा उस रूढिवादी वातावरण पर प्रकाश डालें जिसमे उनका लालन-पालन हुआ था तो यह मानने का पर्याप्त कारण दिखायी देता है कि वह रूढिवादी थे, परन्तु यदि उनके सिद्धान्तो और आचरण का गहराई से विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वह *उस अर्थ मे रूढिवादी नही थे जिसमे साधारणत इस शब्द का प्रयोग किया जाता है,* यद्यपि उन्होने परम्पराओ को आधुनीकरण का एक साधन बनाया। रूढिवादी कौन है, इसकी व्याख्या करते हुए राजनीतिशास्त्रियो ने उनकी चार विशेषताओ पर बल दिया है . (1) स्थापित सस्थाओ के लिए, विशेषकर, उन सस्थाओ के लिए जिनका सम्बन्ध धर्म और सम्पत्ति से हो, आदर की भावना, (2) समाज-व्यवस्था की ऐतिहासिक क्रम-*बद्धता मे दृढ आस्था,* (3) *सामाजिक व्यवस्था* को उसकी पूर्व निश्चित और *इतिहास-बद्ध दिशा से मोडने मे व्यक्ति की इच्छा-शक्ति और तर्क-शक्ति की तुलनात्मक असमर्थता* मे विश्वास, और (4) जीवन मे जो काम जिसे सौंप दिया गया है उसे वह पूर्ण निष्ठा के साथ सम्पन्न करता रहे, इस सिद्धान्त का समर्थन।[63] गाधी की विचारधारा के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमे से किसी भी बात मे उनका विश्वास नही था, और इस कारण उन्हे रूढिवादी मानना गलत होगा। यह सच है कि उन्होने प्रायः *'पचायत-राज्य' और रामराज्य' जैसे शब्दों का प्रयोग किया, परन्तु इन शब्दो से उनका* अर्थ उनके परम्परागत अर्थों से सम्पूर्णतः भिन्न था। गाधी ने व्यक्ति को प्राथमिक माना है, जो रूढिवादिता का नही, आधुनिकता का परिचायक है। धर्म के प्रति उनके मन मे आदर था, परन्तु धर्म को वह उसके परम्परागत अर्थों मे नही लेते थे। उनका विश्वास था कि दुनिया के सभी धर्म सत्य के आधार पर टिके हुए हैं। शास्त्रो के प्रति उनका दृष्टिकोण इन *शब्दो मे प्रतिबिम्बित होता है, "हमे यह कहकर अपने को धोखा नही* देना चाहिए कि सस्कृत भाषा मे जो कुछ लिख दिया गया है, अथवा शास्त्रो मे जो कुछ कहा गया है, उसके प्रभाव को हम स्वीकार करें ही। जो नैतिकता के मूल सिद्धान्तो के विरुद्ध है, जिसे मनुष्य की विवेक शक्ति की सीमा मे बाधा नही जा सकता, वह कितना ही पुराना क्यो न हो, उसे सत्य के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता।"[64] *यह तो गाधी का दृष्टिकोण धर्म के बारे मे हुआ। जहा तक सम्पत्ति का* प्रश्न है उनका विश्वास आर्थिक न्याय मे था, जिससे उनका अर्थ यह नही था कि सबके पास भौतिक वस्तुए समान मात्रा मे हों। सम्पत्ति के क्षेत्र मे उन्होंने धरोहर (trusteeship) का सिद्धान्त निकाला, और यह सलाह दी कि जो व्यक्ति सम्पत्ति पर अपने अधिकार को धरोहर के रूप मे स्वीकार करने के लिए तैयार नही है, वह जमीदार हो अथवा पूजीपति, *उसके विरुद्ध अहिंसात्मक प्रतिरोध का अस्त्र प्रयोग मे लाना चाहिए।* व्यापक भूमि-सुधारो के वह पक्ष मे थे। रस्किन के विचारो से उन्हे प्रेरणा

[63]वही, पृ० 149।
[64]'यग इण्डिया,' 20 अक्तूबर 1927।

मिली थी, यहां तक कि रस्किन के 'अन्टु दिस लास्ट' के हिन्दी रूपान्तर 'सर्वोदय' को उन्होंने अपने जीवन की पद्धति के रूप में स्वीकार किया था। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वह रस्किन के समान परम्परावादी थे। रस्किन के इस विश्वास के साथ कि मनुष्य असमान होते हैं, अथवा उनमें से कुछ का प्रयोग दूसरों के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साधन के रूप में किया जा सकता है, वह कभी सहमत नहीं हुए।

रूढ़िवादियों के समान यह मानने के स्थान पर, कि *सामाजिक व्यवस्था अथवा* संस्थाओं को आदर की दृष्टि से देखना चाहिए और उन्हें बनाये रखने का प्रयत्न करते रहना चाहिए, गांधी ने अपना सारा जीवन उन्हें बदल डालने के प्रयत्नों में बिताया। अपने देश की तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था को उन्होंने चुनौती दी, और उसे बदल डालने में वह सफल भी हुए, इसके सम्बन्ध में तो दो राय हो ही नहीं सकती, परन्तु राजनीतिक व्यवस्था को उन्होंने सामाजिक व्यवस्था का एक अंग माना और उनका अधिक आग्रह राज्य को समाज के प्रति उत्तरदायी बनाने का था। समाज से भी अधिक महत्त्व उन्होंने व्यक्ति को दिया। उन्होंने लिखा, "हमें उन सभी रीति-रिवाजों को, जो विवेक, न्याय और अन्तरात्मा की आवाज के विरुद्ध हैं, छोड़ देना चाहिए।" इसका निर्णय कौन करे, यह अधिकार स्पष्टतः व्यक्ति का ही था। उनका प्रश्न था, "यदि व्यक्ति को महत्त्व नहीं दिया गया तो समाज में बच क्या रहता है?"[65] व्यक्ति को अस्वीकृत करके, उनका विश्वास था, समाज का निर्माण नहीं हो सकता। सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के समान ही रूढ़िवादियों ने, कानून को भी, इस आधार पर कि वह व्यवस्था की रक्षा करता है, अनुल्लंघनीय माना है। कानून के सम्बन्ध में गांधी का दृष्टिकोण सदा ही स्पष्ट रहा। जो कानून सत्य के मार्ग में बाधक हो, चाहे वह विदेशी हुकूमत के द्वारा बनाया गया हो अथवा अपनी सरकार के द्वारा, उसे तोड़ने के लिए वह सदा तत्पर रहते थे। वह मानते थे कि सत्याग्रही का प्रथम कर्तव्य स्वेच्छा से कानून का पालन करना है, पर उन्होंने सदा इस बात पर जोर दिया कि कानून जब असत्य को प्रश्रय देता दिखायी दे तो उसकी अवज्ञा करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। यह अवज्ञा कब आवश्यक हो जाती है, अथवा किस प्रकार से उसे क्रियान्वित किया जाय, यह निर्णय व्यक्ति अपनी बुद्धि से ही कर सकता है। इस सम्बन्ध में कानून उसका पथ-प्रदर्शक नहीं बन सकता। गांधी ने कहा, "किसी भी वस्तु के प्रति मेरे मन में अवज्ञा की भावना नहीं है, परन्तु जो असत्य, अन्यायपूर्ण और बुरा है, उसके प्रति मैं सदा से विद्रोही रहा हूं।" अन्यायपूर्ण अथवा बुरा क्या है, इसका निर्णय करने का अधिकार स्वभावतः व्यक्ति का ही था। संस्थाओं के प्रति निष्ठा के सम्बन्ध में गांधी ने बड़ी दृढ़ता के साथ लिखा, "वह निष्ठा मेरे मन में तभी तक है जब तक वह संस्था मेरे अथवा राष्ट्र के विकास में सहायता पहुंचाती है।" यदि "वह दोनों में से किसी के प्रति बाधक सिद्ध होती है तो व्यक्ति का यह परम धर्म हो जाता

[65]हरिजन, 1 फरवरी 1942।

है कि वह उसके प्रति विद्रोह करे।"[66] यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की विचारधारा मे हमें रूढिवादिता के चिन्ह कम दिखायी देते है, क्रान्ति के संकेत अधिक।

सामाजिक परिवर्तन को उसके निश्चित ऐतिहासिक मार्ग से हटा पाने मे व्यक्ति की इच्छा-शक्ति अथवा तर्क-शक्ति की अक्षमता मे अगाध विश्वास रूढिवादी दर्शन की एक दूसरी विशेषता है। व्यक्ति की इच्छा-शक्ति के अक्षम होने मे विश्वास रखना तो दूर की बात, गाधी का यह दृढ विश्वास था कि व्यक्ति मे इतनी क्षमता है कि वह चाहे तो समाज और राजनीति को विकास की एक नयी दिशा मे मोड सकता है। सत्याग्रह का मुख्य आधार सामाजिक इच्छा से भिन्न और स्वतन्त्र व्यक्ति की अपनी इच्छा पर है। रूढिवादी यह भी मानता है कि सभी मनुष्यो को अपने उन कर्तव्यों को निभाते रहना है जो समाज और राज्य की व्यवस्था मे उनकी पूर्व-निश्चित स्थिति के कारण उन्हे सौंपे गये है। दूसरे शब्दो मे इसका अर्थ यह होता है कि रूढिवादी विचार-धारा अधिकारो से अधिक महत्त्व कर्तव्यो को देती है। गाधी ने बार-बार यह कहा कि उन्हे कर्तव्यो की ही चिन्ता थी और यदि कोई व्यक्ति समाज के प्रति अपने कर्तव्यो को ठीक से निभाता है तो उसे अपने अधिकारो की चिन्ता नही करनी पडेगी।[67] परन्तु, अपने क्रियाशील जीवन मे गाधी सदा इस सम्बन्ध मे अत्यधिक सवेदनशील रहे कि व्यक्ति के अधिकारो को राज्य के द्वारा मान्यता प्राप्त हो और इस सम्बन्ध मे यदि उन्हे राज्य की ओर से कोई ढील दिखायी दी तो वह व्यक्ति की सहायता के लिए सघर्ष करने के लिए भी तत्पर रहते थे। गाधी की दृष्टि मे व्यक्ति का महत्त्व सबसे अधिक था, और वह मानते थे कि राज्य का प्रथम कर्तव्य अपने नागरिको की आवश्यकताएं पूरी करना है। वह यह भी मानते थे कि यदि राज्य अपने कर्तव्यो की उपेक्षा करता है तो व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता है कि वह राज्य की अवज्ञा और उसका प्रतिरोध करे।

गाधी : परम्परा और आधुनिकता का सम्मिश्रण

आधुनिक सभ्यता के तीव्र आलोचक और चरखा और तकली के दृढ समर्थक होने के कारण केवल विदेशो मे ही नहीं भारत मे भी एक व्यापक धारणा बन गयी है कि गाधी परम्परावादी थे, और कभी-कभी परम्परावादिता और रूढिवादिता मे अन्तर करना कठिन हो जाता है। यह सम्पूर्ण रूप से सत्य है कि उनके व्यक्तित्व की जडें अपने देश की धरती मे थी, परन्तु इसका यह अर्थ नही हो जाता कि वह ऐसे

[66]'यग इण्डिया,' 13 अगस्त 1925।

[67]यह उस उत्तर का साराश है जो गाधी जी ने एच०जी० वेल्स को उस समय दिया जब वेल्स ने उनके पास एक लम्बी चिट्ठी भेज कर उनसे यह पूछा था कि मानव-अधिकारों के जिस घोषणापत्र का मसविदा तैयार करने मे वह उस समय व्यस्त था उसमे गाधी जी किन अधिकारो का समावेश चाहेंगे। गांधी का सीधा सादा उत्तर था, "अधिकार तो सहज ही उस व्यक्ति को प्राप्त हो जाते हैं जो अपने कर्तव्यो को पूरा करने में लग जाता है।"

राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन नहीं कर सकते थे जिसका आधार आज के विश्व की समस्याओं को शान्तिकारी ढंग से सुलझाने पर हो। रुडोल्फ दम्पती ने गांधी को "भारतीय राजनीति का आधुनिकीकरण करने वालों में एक प्रमुख व्यक्ति" बताया है, और यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि परम्परा का उपयोग उन्होंने देश को आधुनिक बनाने के लिए एक साधन के रूप में किया।[68] वह प्राय हिन्दू शास्त्रों के ही नहीं, कुरान, बाइबिल, जेन्दा-अवेस्ता और अन्य धर्म ग्रन्थों के भी, उद्धरण देते रहते थे, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं था कि जब वह उन्हें मानवता के सिद्धान्तों के विरुद्ध जाता हुआ देखते थे तो उन्हें चुनौती देने में उन्हें किसी प्रकार की हिचकिचाहट होती थी। वास्तव में विवेकशीलता में उनका विश्वास इतना दृढ़ और प्रभावशाली था कि यद्यपि देश में उनका नैतिक और राजनीतिक प्रभाव परिस्थिति की सभी सीमाओं का अतिक्रमण कर चुका था, उनके बाद के जीवन में जिन लोगों ने उनका अनुगमन किया, उन्होंने आँख मीच कर उनका साथ नहीं दिया, जैसा प्रारम्भिक वर्षों में बहुत से लोगों ने किया था। उन लोगों को जो उन्हें अवतार मानते थे, अथवा महात्मा के नाम से पुकारते थे, उन्होंने सदा निरुत्साहित ही किया। 1924 में, जब बहुत से लोग उन्हें अवतार मानने लगे थे, उन्होंने कहा, "मैं पैगम्बर होने का दावा नहीं करता, मैं विनम्रता के साथ सत्य की खोज में लगा हुआ हूँ और उसे प्राप्त करने के लिए आतुर हूँ . . . मैं ऐसा नहीं हूँ, मैं भारत का, और इस कारण मानवता का, एक ऐसा विनम्र सेवक हूँ जिससे बराबर भूलें होती रही हैं।"[69] उन्होंने सदा यह कहा कि, यद्यपि वह उस समय असहयोग आन्दोलन में लगे हुए थे, वह ऐसे कानून को बनाने में खुशी से सरकार का साथ देंगे जिसके अनुसार उन्हें महात्मा कहना अथवा उनके पैर छूना एक अपराध घोषित कर दिया जाता।[70] परम्पराओं के आदर से यदि रूढ़िवादिता और अन्धविश्वास का अर्थ निकलता हो तो उनका लक्ष्य अपने देश को इस प्रकार की परम्पराओं से मुक्त करना, और उसे आधुनिक बनाना था, परन्तु आधुनिकता से उनका अर्थ औद्योगिक और यान्त्रिक विकास से नहीं था, जिसके कारण व्यक्ति और समाज दोनों का ही सर्वनाश होता है, परन्तु एक ऐसे समाज की रचना से था जिसमें व्यक्ति स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के आधुनिक माने जाने वाले मूल्यों का पूर्ण रूप से उपभोग कर सके।

1930 में अब्दुल गफ्फार खां के नेतृत्व में "निर्भय, सुधार और सदाचार अविरोध की भावना रखने वाले" पठानों के द्वारा संगठित सत्याग्रह की सफलता से यह सिद्ध हो जाता है कि इस्लामी वातावरण में भी सत्याग्रह का साधन उतना ही प्रभावशाली हो सकता है जितना हिन्दुओं में। पठानों के सत्याग्रह को देश के अन्य भागों में चलाये गये आन्दोलनों से अधिक सफलता मिली, इसका कारण सम्भवतः यह था कि पठान अन्य लोगों की

[68] लॉयड आई० रुडॉल्फ और सुसन होबर रुडॉल्फ, 'दि मॉडर्निटी ऑफ ट्रेडीशन, पोलिटिकल डेवलप-मेन्ट इन इण्डिया,' शिकागो, शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस, 1967, भाग 2, पृ० 155-249।

[69] 'यंग इण्डिया,' 11 सितम्बर 1924।

[70] वही, 17 मार्च 1927।

तुलना मे अधिक साहसी थे। खुदाई खिदमतगारो, अथवा पठान सत्याग्रहियो के लिए, "अहिंसा के सिद्धान्तो के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने" का व्रत लेना आवश्यक था। पठानो की सभाओ मे अब्दुल गफ्फार खा ने सदा ही इस बात पर जोर दिया कि जब तक उन्हे यह विश्वास न हो जाय कि अहिंसा के रूप मे उन्हे एक ऐसा अस्त्र प्राप्त हो गया था जो हिंसा के उस अस्त्र से जो उनके पास था और जिसके व्यवहार मे वे सदा से ही कुशल माने जाते थे, बहुत अधिक प्रभावशाली था उन्हे अहिंसा का प्रयोग नही करना चाहिए और अपने उन हथियारो से ही काम लेना चाहिए जिनका वे पहले से प्रयोग करते आ रहे थे।"[71] सच तो यह है गाधी के द्वारा प्रतिपादित मूल्य, जिन्हे वह प्राय हिन्दू भाषा मे अभिव्यक्त करते थे, मानवीय मूल्य हैं और उनका प्रयोग सभी युगो मे और सभी देशो मे सफलता के साथ किया जा सकता है।

गाधी क्या अराजकतावादी थे ?

गाधी को कभी-कभी अराजकतावादी माना गया है। यह सच है कि वह प्राय कहा करते थे कि समाज के विकास का लक्ष्य यह होना चाहिए कि राज्य का अस्तित्व आवश्यक न रह जाय, परन्तु वह इसे एक आदर्श-मात्र मानते थे, और उन्होने अपनी रचनाओ मे यह बताने की भी चेष्टा की है कि राज्य का सन्तोषजनक पुनर्गठन किस प्रकार किया जा सकता है। अराजकतावादियो के समान गाधी राज्य की शक्ति मे अत्यधिक वृद्धि को आशका की दृष्टि से देखते थे और व्यक्ति की अधिक से अधिक स्वतन्त्रता मे उनकी आस्था थी। परन्तु, व्यक्ति के सम्बन्ध मे गाधी का दृष्टिकोण अराजकतावादी दृष्टिकोण से बिलकुल भिन्न था। गाधी व्यक्ति को मूलत एक ऐसा सामाजिक प्राणी मानते थे जिसके सम्बन्ध राज्य के साथ न सही, समाज के साथ अविच्छिन्न और अटूट, है। इसके विपरीत, अराजकतावादी यह मानते है कि समाज से पृथक् व्यक्ति का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है और वह केवल अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए समय-समय पर समाज के सम्पर्क मे आता है। अराजकतावादियो की दृष्टि मे व्यक्ति के अधिकार ही सब कुछ थे। उन्होने समाज के प्रति सभी उत्तरदायित्वो मे व्यक्ति के अधिक से अधिक स्वतन्त्र रहने पर जोर दिया है। समाज के साथ किसी भी प्रकार के सम्बन्ध उनकी दृष्टि मे हिंसा पर आधारित थे, जबकि अराजकतावादियो ने राज्य के द्वारा की जाने वाली हिंसा को गलत माना है, परन्तु राज्य को नष्ट करने के लिए हिंसा के प्रयोग मे अपनी आस्था प्रकट की है, गाधी की दृष्टि मे सभी प्रकार की हिंसा, चाहे वह राज्य के द्वारा काम मे लायी गयी हो अथवा व्यक्ति के द्वारा, अनुचित थी। अराजकतावादी भी दो प्रकार के हुए हैं—प्रूधो (Proudhon—1809 से 1865), माइकेल बाकुनिन (1814 से 1846) और राजकुमार कॉपोटकिन (1842 से 1919) जैसे कट्टरपन्थी, और विलियम गोडविन (1756 से 1836) और टॉल्स्टॉय (1828 से 1910) जैसे मानवतावादी।

[71]प्यारेलाल, 'ए पिलग्रिमेज ऑफ पीस . गाधी एण्ड फ्रन्टियर गाधी अमग एन० डब्ल्यू० एफ० पठान्स,' अहमदाबाद, नवजीवन प्रेस, 1950, पृ० 123।

दूसरे प्रकार के *अराजकतावादियों* और *गांधी* के दृष्टिकोण में कुछ समानता पायी जाती है। गोडविन की दृष्टि में व्यक्ति का अपना मत प्राथमिकता रखता था और समाज का संचालन विवेक पर आधारित था। *यह दृष्टिकोण गांधी से बहुत कुछ* मिलता है। राजनीतिक संस्थाओं को धीरे-धीरे और अहिंसात्मक तरीकों से समाप्त किये जाने के उसके विश्वास को भी हम गांधी के दृष्टिकोण के बहुत नजदीक पाते हैं। टॉलस्टॉय भी, जिससे गांधी ने बहुत कुछ सीखा, "कल्याण की खोज में विवेक या अनुशासन" मानने में विश्वास करता था। गोडविन और टॉलस्टॉय के समान ही गांधी का दृष्टिकोण भी मूलतः नैतिक था, परन्तु गांधी ने राज्य की ऐसी कार्यवाही को, जो जनता के कल्याण के लिए की गयी हो, तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखा, बल्कि उसका स्वागत किया। यह मानते हुए भी कि *राज्य का शासन जितना कम हो उतना अच्छा* है, वह यह मानते थे कि कुछ काम ऐसे हैं जो राजनीतिक शक्ति के द्वारा ही किये जा सकते हैं।

गांधी ने न राज्य को अस्वीकार किया, और न राजनीति को। राजनीति से उनका *तात्पर्य उन सभी कार्यवाहियों से था जो राज्य के द्वारा, अथवा राज्य के विरोध में,* की गयी हों। अराजकतावादियों में, चाहे वे कट्टरपंथी रहे हों अथवा मानवतावादी, और *गांधी में सबसे बड़ा अन्तर यह है* कि गांधी ने समाज के हाथों में, जन-जागृति और सत्याग्रह के रूप में, ऐसे हथियार दिये जो किसी भी राज्य को, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, नियन्त्रण में रखने की क्षमता रखते थे। यह कहना गलत होगा कि राजनीतिक शक्ति में गांधी का विश्वास नहीं था, परन्तु उनमें और सत्ता के लिए संघर्ष करने वाले व्यक्तियों में अन्तर यह था कि वह राजनीतिक शक्ति को अपने आप में लक्ष्य नहीं मानते थे, बल्कि एक ऐसा साधन मानते थे *जिसके माध्यम से जनता,* केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, जीवन के सभी क्षेत्रों में अपनी स्थिति को सुधार सकती थी। अराजकतावादी प्रायः राजनीति और हिंसा में कोई भेद नहीं करते। राजनीति को गांधी की सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होंने राजनीति को हिंसा से अलग किया और राजनीतिक कार्यवाहियों का सम्बन्ध अहिंसा के साथ जोड़ा। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि जब कि अराजकतावादियों का लक्ष्य राज्य को नष्ट करना था, *उनका पुनर्निर्माण नहीं, गांधी का प्रमुख लक्ष्य, हिंसा और शोषण के आधार पर स्थापित* वर्तमान राजनीतिक *व्यवस्था* को, अहिंसात्मक साधनों के द्वारा, धीरे-धीरे तोड़ना और उसके स्थान पर एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करना था जो समाज के प्रत्येक व्यक्ति के इच्छापूर्ण सहयोग पर आधारित हो और जिसका लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण हो।

गांधी और मार्क्सवाद

मार्क्स के समान गांधी सामाजिक क्रान्ति में विश्वास करते थे और दोनों के विचारों में हमें द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त दिखायी देता है। परन्तु मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद और गांधीवादी द्वन्द्ववाद में एक मूल अन्तर है। जब कि मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद घटनाओं के एक

ऐतिहासिक क्रम से सम्बन्ध रखता है और मानव से अपेक्षा करता है कि वह उसके अनुसार अपने आपको ढाल ले, गाधी का द्वन्द्ववाद, इतिहास के विकास के पूर्व निर्धारित नियमो से नही, व्यक्ति के स्वय अपने द्वारा निर्धारित कार्यों से सम्बन्ध रखता है। द्वन्द्ववाद की व्याख्या करते हुए सिडनी हुक ने लिखा है कि "यह एक ऐसी प्रक्रिया है *जिसमे आन्तरिक विरोधो के परिणामस्वरूप*, एक घटक टूट जाता है, और एक नये रूप मे *अस्तित्व मे आता है, अथवा उसके स्थान पर एक नये घटक का निर्माण होता है।"*[72] मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त को सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र मे कार्यान्वित करते हुए यह बताने का प्रयत्न किया है कि "आदर्श और यथार्थ के बीच चलने वाली क्रियाओ-प्रतिक्रियाओ के परिणामस्वरूप एक नयी स्थिति का जन्म होता है जिनमे से उन साधनो की उत्पत्ति होती है जिनमे उस स्थिति को बदल डालने का सामर्थ्य है।" मार्क्स ने इसे वर्ग सघर्ष का नाम दिया और वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को बदल डालने के लिए उसे अनिवार्य बताया, गाधी को मार्क्स की इस बात से कोई आपत्ति नही हो *सकती थी कि द्वन्द्ववाद के विचार के पीछे एक सामाजिक दृष्टिकोण का होना आवश्यक था*, जिससे मानव अपने कार्यों के लिए प्रेरणा ले सके। परन्तु, गाधी मार्क्स की इस बात से सहमत नही थे कि व्यक्ति के द्वारा किये जाने वाले कार्य इतिहास के द्वारा पहले से निर्धारित कर दिये गये थे, अथवा केवल वर्ग-सघर्ष के रूप मे ही उनकी अभिव्यक्ति सम्भव थी, अथवा हिंसा के द्वारा उनका समाधान किया जा सकता था। गाधी के द्वन्द्ववाद मे और हीगल द्वारा प्रतिपादित अथवा मार्क्स द्वारा उसके परिवर्तित रूप मे एक विशेष अन्तर यह था कि गाधी ने अपने द्वन्द्ववाद के द्वारा एक ऐसी प्रक्रिया, अथवा क्रियाशीलता के एक ऐसे *तकनीक, का आविष्कार किया जिसका प्रयोग इतिहास के किसी एक युग-विशेष मे नही परन्तु मानव संघर्ष* को किसी भी परिस्थिति मे किया जा सकता था, और जो एक ऐसी प्रक्रिया थी जो मूलत सृजनात्मक और रचनात्मक थी।

मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद के समान गाधीवादी द्वन्द्ववाद भी 'अस्वीकृति की अस्वीकृति' (a negation of a negation) के सिद्धान्त पर आधारित है, यद्यपि गाधी ने इन शब्दो का प्रयोग नही किया है। 1920-22 के असहयोग आन्दोलन मे जब गाधी ने लोगो से विदेशी कपडो का परित्याग करने *और उन्हे जला देने को कहा और रवीन्द्रनाथ* ठाकुर ने उसे *एक नकारात्मक कार्यवाही बताया*, तो गाधी ने उसका उत्तर यह कह कर *दिया कि भारत मे अग्रेजी राज्य* स्वय इस देश के लोगो की व्यापक अस्वीकृति पर आधारित था, और इस नकारात्मक सम्बन्ध के स्थान पर जब तक दोनो देशो मे स्वेच्छा के सम्बन्ध स्थापित नही होगे, भारत सच्ची स्वतन्त्रता अथवा समानता को प्राप्त नही कर सकेगा। उनका कहना था कि सत्य की प्रतिष्ठा को स्थापित करने के लिए असत्य को अस्वीकार करना आवश्यक होता है।[73] *अग्रेजो के साथ के नकारात्मक सम्बन्धो मे*

[72] सिडनी हुक, 'फ्रोम हीगल टू मार्क्स स्टडीज इन दी इन्टेलेक्चुएल डेवेलपमेन्ट ऑफ कार्ल मार्क्स,' विक्टर गोलैंक्ज लि०, 1936, पृ० 72।

[73] 'यग इण्डिया,' 1 जून और 31 अक्तूबर 1921।

परिवर्तन लाने के लिए उन्होंने जो उपाय सुझाये उन्हें देश के भीतर के वर्ग-सम्बन्धों को सुधारने के लिए भी काम में लाया जा सकता था। उनका विश्वास था कि मजदूर और पूंजीपति के आपसी संघर्ष को तब तक नहीं मिटाया जा सकता था जब तक उनके बीच की असमानता को दूर न कर दिया जाय। समझाने-बुझाने के तरीके में गांधी का विश्वास तभी तक था जब तक उसके द्वारा सत्य के साक्षात्कार करने में सहायता मिलती हो। ट्रस्टीशिप का उनका सिद्धान्त समझाने-बुझाने के उपाय का एक अंग था, परन्तु यदि उसमें सफलता न मिली तो उन्हें यह सुझाव देने में भी संकोच नहीं था कि किसानों और मजदूरों के द्वारा अहिंसात्मक असहयोग और सविनय अवज्ञा का मार्ग अपनाया जाय।[74] इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्सवादी और गांधीवादी सामाजिक द्वन्द्ववाद में केवल स्वरूप का ही अन्तर नहीं है भावना का अन्तर भी है। गांधी सामाजिक परिवर्तन में विश्वास करते थे, परन्तु यह नहीं मानते थे कि उसकी प्रकृति, अथवा उसे क्रियात्मक रूप देने के साधन, वर्ग-संघर्ष और हिंसा के रूप में इतिहास के द्वारा पहले से ही निर्धारित कर दिये गये हैं। उन्होंने इस बात की भी अधिक चिन्ता नहीं की कि सामाजिक परिवर्तन के लिए अहिंसात्मक साधनों को काम में लाने के परिणामस्वरूप किस प्रकार की सामाजिक अथवा आर्थिक अथवा राजनीतिक व्यवस्था जन्म लेगी, क्योंकि उन्हें इस बात का पूरा विश्वास था कि यदि अहिंसा के साधनों को अपनाया गया तो परिणाम सदा अच्छा ही निकलेगा।

मार्क्स और गांधी के विचारों में मतभेद का मूल कारण उद्देश्यों को लेकर नहीं, बल्कि उन्हें प्राप्त करने के साधनों के सम्बन्ध में था। भारतीय साम्यवादियों के द्वारा उनके विचारों को बदलने के प्रयत्नों की चर्चा करते हुए उन्होंने 1924 में लिखा, "इन बोल्शेविक मित्रों को, जो मुझ पर अपना ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं, यह ज्ञात होना चाहिए कि मैं ऊंचे लक्ष्यों के प्रति कितनी ही सहानुभूति और प्रशंसा की भावना क्यों न रखता होऊं, उनकी प्राप्ति के लिए हिंसात्मक साधनों के अपनाये जाने का मैं सदा ही कट्टर विरोधी रहा हूं।"[75] राज्य के द्वारा नियन्त्रित उत्पादन और वितरण की रूसी व्यवस्था के सम्बन्ध में उनका कहना था कि वह उसके बड़े से बड़े प्रशंसकों में से होते, यदि उसका आधार हिंसा पर न रखा गया होता।[76] उनकी मान्यता थी कि व्यक्ति किसी भी ऐसी व्यवस्था में जिसके निर्णयों में भाग लेने का उसे अधिकार न हो, और जिसका वह एक आदरास्पद सदस्य न हो, अपने व्यक्तित्व की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। उन्होंने कहा, "रूस पर जब मैं दृष्टि डालता हूं तो वहां का जीवन मुझे आकर्षित नहीं करता . . . अपना व्यक्तित्व खो देना और मशीन का पुर्जा मात्र बनकर रह जाना मानव की प्रतिष्ठा को गिराने वाली बात है। मैं चाहता हूं

[74] वही, 10 मई 1928 और 5 दिसम्बर 1929; 'हरिजन,' 9 जून 1946।

[75] एम० के० गांधी, 'कम्यूनिज्म एण्ड कम्यूनिस्ट्स,' नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, 1959, पृ० 4।

[76] तेंदुलकर, 'महात्मा,' वही, खण्ड 3, पृ० 135।

कि प्रत्येक व्यक्ति समाज का एक सक्षम और सम्पूर्ण रूप से विकसित सदस्य बन सके।"[77] गांधी का विरोध साम्यवाद के सिद्धान्तों से नहीं था, परन्तु इस बात से था कि उन्हें जनता पर लादा जा रहा था। वांछनीय सामाजिक परिवर्तन केवल अहिंसा के माध्यम से ही आ सकता है, गांधी के इस विचार का अर्थ था कि वह उन समस्त आधार को ही अस्वीकृत कर रहे थे जिस पर मार्क्सवाद का ढांचा खड़ा किया गया था। यदि यह मान लिया जाय कि अस्तित्ववादियों, नवीन वामपक्ष के प्रतिपादकों और सामाजिक आलोचकों की रचनाओं में अभिव्यक्त होने वाले मार्क्सवाद के विरुद्ध मानववादी विद्रोह ने व्यक्ति की उपेक्षा को मार्क्सवाद की प्रमुख कमजोरी बताया था, तो यह माना जा सकता है कि गांधी एक ऐसे प्रमुख दार्शनिक थे जिन्होंने मार्क्सवाद की इस प्रवृत्ति के विरुद्ध न केवल अपना गहरा असन्तोष प्रकट किया परन्तु इस सारी समस्या का एक ऐसा समाधान भी प्रस्तुत किया जो शायद एक मात्र व्यावहारिक समाधान था।

गांधी और उदारवादी लोकतन्त्र

आधुनिक युग के अनेक राजनीतिक सिद्धान्तों—अनुदारवाद, अराजकतावाद, मार्क्सवाद, तानाशाही और लोकतन्त्र में गांधी शायद उदारवादी लोकतन्त्र के सबसे नजदीक आते हैं। अपनी शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार लोकतन्त्र एक ऐसी अनवरत प्रक्रिया है जिसमें राजनीतिक अधिकारों और सामाजिक नीतियों के सम्बन्ध में निर्णयों के लेने की शक्ति धीरे-धीरे उन सभी समूहों तक फैल जानी चाहिए जो प्रारम्भिक अवस्थाओं में इन अधिकारों से वंचित रहे हों। लोकतन्त्र की इस परिभाषा में दो बातें स्पष्ट रूप से सन्निहित हैं: लोकतन्त्र समाज के निम्न वर्गों के द्वारा, सामन्तवादी और धनी वर्गों के प्रभुत्व के खिलाफ मूल, रूप में एक सिद्धान्त और एक राजनीतिक आन्दोलन है, और (2) इस आन्दोलन का लक्ष्य समाज की एक ऐसी आदर्श स्थिति की स्थापना करना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उसके कामों में अधिक से अधिक भाग लेने का अधिकार हो। यह स्थिति सम्भवतः ऐसी है जो अपने पूर्ण रूप में सम्भवतः कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती, परन्तु इसकी ओर सतत् बढ़ते रहना लोकतन्त्र में विश्वास रखने वालों का प्रमुख लक्ष्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि वयस्क मताधिकार, विभिन्न राजनीतिक दलों में प्रतिद्वन्द्विता और प्रातिनिधिक शासन अपने आप में, अन्य राजनीतिक व्यवस्थाओं की तुलना में, चाहे कितने अधिक मूल्यवान क्यों न माने जायें, लोकतन्त्र का अन्तिम लक्ष्य नहीं है।"[78] द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद लोकतन्त्र की इस प्रगतिशील कल्पना के स्थान पर, रॉबर्ट मिचेल्स, कार्ल मैनहाइम, रेमण्ड एरन, जोसेफ शुम्पीटर और अन्य लेखकों की रचनाओं में लोकतन्त्र का एक ऐसा गतिहीन और स्थैतिक स्वरूप विकसित हुआ जिसमें उसे कुछ विशिष्ट वर्गों के द्वारा चलाये जाने वाले एक ऐसे शासन का रूप दे दिया गया जिसमें वैधता प्राप्त

[77] वही, खण्ड 5, पृ० 9।
[78] टी० बी० बोटोमोर, 'एलीट्स एण्ड सोसाइटी,' पेंगुइन बुक्स, 1964, पृ० 115-24।

करने के लिए समय-समय पर चुनावों का कर लिया जाना पर्याप्त मान लिया गया था, और इस बात को सर्वथा उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया था कि जनसाधारण उसमें कितना सक्रिय भाग लेते हैं, बल्कि उनमें अधिक क्रियाशील होने को अनावश्यक और अवांछनीय तक मान लिया गया था। सर्वोदय के चिन्तन से यदि इस सम्बन्ध में गांधी के विचारों का कोई संकेत मिलता है तो यह कहा जा सकता है कि वह प्रतिद्वन्द्वी राजनीतिक दलों का होना लोकतन्त्र के लिए आवश्यक नहीं मानते थे। राजनीतिक दल वास्तव में ऐसे विभिन्न सामाजिक वर्गों के प्रतिनिधि होते हैं जो किसी न किसी प्रकार से जनता का बहुमत प्राप्त करके और अन्य सामाजिक वर्गों से सौदेबाजी करके, राजनीतिक सत्ता का उपयोग अपने निहित स्वार्थों को पूरा करने में करते हैं, यह स्पष्ट है कि एक आदर्श लोकतन्त्र में ऐसे स्वार्थ-रत राजनीतिक दलों का स्थान नहीं रह जाता। यदि यह विचार ठीक है तो यह बिलकुल सम्भव है कि जयप्रकाश नारायण और अन्य सर्वोदयी चिन्तकों के समान गांधी भी राजनीतिक दलों को लोकतन्त्र के विकास के मार्गों में व्यवधान मानते।[77] गांधी यह तो निश्चित रूप से चाहते ही थे कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था समानता के आधार पर स्थापित समाज का एक अंग हो, और इसी कारण वे प्रायः सत्ताधारियों को यह उद्बोधन देते रहते थे कि सर्वसाधारण के नजदीक आने के लिए उन्हें सर्व-साधारण जैसा ही जीवन व्यतीत करना चाहिए। इसका यह अर्थ हुआ कि लोकतन्त्र के जिन सिद्धान्तों को वह उसका आवश्यक अंग मानते थे उनके अभाव में अच्छी से अच्छी लोकतान्त्रिक व्यवस्था भी उनकी दृष्टि में अपूर्ण रहती। लोकतन्त्र की आज की व्यवस्था के, जिसका आधार प्रतिद्वन्द्वात्मक राजनीतिक दलों का व्यवस्था पर है और जिसकी जड़ें उद्योगवाद में हैं, वह निःसन्देह एक बड़े आलोचक थे।

यह सब होते हुए भी आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों में उदारवादी लोकतन्त्र ही एक ऐसा सिद्धान्त है जो सामाजिक परिवर्तन की कल्पना करता है, जिसका आधार स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्तों पर है, और जो राज्य द्वारा बल-प्रयोग से अधिक महत्त्व जनता द्वारा उसकी स्वीकृति को देता है। लोकतन्त्र का अर्थ है राजनीतिक स्वतन्त्रता, कानून की दृष्टि से समानता, संगठन की स्वतन्त्रता, और मुक्त चुनाव। लॉक, जे० एस० मिल और टी० एच० ग्रीन की रचनाओं में जैसे-जैसे लोकतन्त्र का विचार अधिक उदार रूप अपनाता गया है ऐसे साधनों के विकास पर अधिक जोर दिया जाने लगा है जिनके द्वारा उदारवादी लोकतन्त्र के वास्तविक उद्देश्यों को सही ढंग से प्राप्त किया जा सके। परन्तु, उदारवादी लोकतन्त्र के इतिहास का परिवीक्षण किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वह परिवर्तन के लिए उपयुक्त साधनों अथवा प्रभावशाली तकनीकों, का विकास करने में सफल नहीं हुआ है। उदारवादी लोकतन्त्र का आग्रह राजनीतिक संस्थाओं के गठन पर अधिक रहा है, परिवर्तन के प्रभावशाली

[77] बिमल प्रसाद द्वारा सम्पादित, 'सोशलिज्म, सर्वोदय एण्ड डेमोक्रेसी, सिलेक्टेड वर्क्स ऑफ जयप्रकाश नारायण,' बम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1964।

तकनीको का विकास करने पर कम, और यही कारण है कि स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्तों पर जोर देते हुए भी उन्हे क्रियात्मक रूप देने मे वह अब तक असफल रहा है। उदारवादी लोकतन्त्र मे विचार-विमर्श और वाद-विवाद के माध्यम से परिवर्तन लाने पर जोर दिया गया है। इसका यह परिणाम तो निकला है कि राज्य की व्यवस्था नागरिको की बदलती हुई इच्छा के अनुसार अपने को ढाल सकी है, परन्तु बडे सामाजिक परिवर्तनों को लाने मे इस पद्धति को सफलता नही मिली है, विशेषकर विदेशी आक्रमण अथवा आन्तरिक विद्रोह की स्थितियो मे लोकतान्त्रिक प्रक्रियाओ के अवरुद्ध हो जाने की स्थिति मे प्रदर्शन और सविनय अवज्ञा जैसे गैर-संवैधानिक तरीके स्थिति को सुधारने मे सहायक हो सकते है, पर यह तभी सम्भव होता है जब देश की जनता अपने अधिकारो के प्रति सर्वथा जागरूक हो और पूरी शक्ति के साथ ऐसे आन्दोलनो का समर्थन कर सके।

व्यवहार मे देखा यही गया है कि लोकतन्त्र मे मतभेदों को दूर करने के लिए समझौतों का सहारा लिया जाता है। चुनावो मे, प्रशासन और विभिन्न हितो के प्रतिनिधियो मे समय-समय पर उठ खडे होने वाले अनेक मतभेदो को सुलझाने मे, विभिन्न राजनीतिक दलो के मतभेदो के बीच सामजस्य स्थापित करने और अन्त-र्राष्ट्रीय संघर्षों को सुलझाने मे समझौते को एक आवश्यक अग माना गया है। सत्याग्रह के समान समझौता भी एक ऐसा तकनीक है जिसका उद्देश्य विभिन्न मतभेदो को सुलझाना है। समझौते की परिभाषा यह दी गयी है कि, "हम अपने विचारो को, उन परिस्थितियो को देखते हुए जिनमे हम उन्हे कार्यान्वित कर रहे हैं, उनकी तर्क-सम्मत चरम सीमा तक न ले जायें।"[80] दूसरे शब्दो मे, मूल सिद्धान्तो की रक्षा करते हुए हम अपने आपको परिस्थितियो की यथार्थता के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करें, जिससे प्रस्तुत संघर्ष को टाला जा सके। परन्तु देखा यह गया है कि समझौता करते समय हम यह भूल जाते हैं कि कौन से सिद्धान्त मूल सिद्धान्त है, जिन पर समझौता नही किया जा सकता, और कौन से सिद्धान्त गौण है जिन पर समझौता किया जा सकता है, और राजनीतिक दल, अपने को सत्ता मे बनाये रखने के उद्देश्य से अथवा राजनीतिक स्थिरता के निर्वाह की दृष्टि से मूल सिद्धान्तो की बलि देने से भी झिझकते नही हैं, और अब तो यहा तक माना जाने लगा है कि राजनीति मे आदर्शों, अथवा सिद्धान्तो का कोई महत्व नहीं है और लोकतान्त्रिक पद्धतियो पर चलने का एक मात्र उद्देश्य सत्ता को प्राप्त करना अथवा सत्ता मे बने रहना है। इसका यह अर्थ हुआ कि उदारवादी लोकतन्त्र की व्यावहारिक राजनीति मे समझौते को, जो सभ्य जीवन का एक आवश्यक अंग है, सौदेबाजी अथवा लेन-देन के अनैतिक स्तर तक गिरा दिया गया है। समझौते के इस रूप मे, जिसमे आज की उदारवादी लोकतन्त्रीय व्यवस्था 'समझौता' करती दिखायी देती है और गाधी के सत्याग्रह के विचार मे मूल अन्तर यही है कि सत्याग्रह मे सत्याग्रही ऐसी स्थिति को छोडने के लिए, अथवा उसके सम्बन्ध मे किसी प्रकार का

[80] जॉन मॉर्ले, 'ऑन कम्प्रोमाइज,' लन्दन, चैपमैन एण्ड हॉल, 1877, पृ० 184।

समझौता करने के लिए, कभी तैयार नहीं हो सकता जिसे वह सही मानता है, यह ठीक है कि सत्याग्रह में किसी एक पक्ष की दूसरे पक्ष पर सम्पूर्ण 'विजय' कभी नहीं होती, परन्तु उसमें ऐसे समझौते के लिए भी गुंजाइश नहीं रहती जिसमें सत्याग्रही, समझौता करने के उद्देश्य से ही अपनी पुरानी मांगों में से कुछ को छोड़ने के लिए तैयार हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधी के राजनीतिक चिन्तन में, उदारवादी लोकतन्त्र की तुलना में, इस बात पर कहीं अधिक जोर दिया गया है कि व्यक्ति अपने विवेक के प्रकाश में स्वयं अपने निर्णयों को ले, और आवश्यकता समझे तो अन्य संस्थाओं और राज्य तक से अपने सम्बन्धों को तोड़ने और उसके परिणामों को भुगतने के लिए तैयार रहे।

गांधी अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में

क्रान्ति का अर्थ, शब्दकोश के अनुसार, 'सम्पूर्ण परिवर्तन,' 'उथल-पुथल,' 'स्थिति में महान उलट-फेर,' अथवा 'मूलभूत पुनर्निर्माण' है। इस दृष्टि से यदि हम गांधी को देखें तो यह मानना पड़ेगा कि वह इतिहास के सबसे बड़े क्रान्तिकारी है। मार्क्स पूंजीवाद के राजनीतिक ढांचे को नष्ट कर देना चाहता था, परन्तु उस औद्योगिक और तकनीकी आधार स्तम्भ को, जिस पर यह ढांचा खड़ा किया गया था, न केवल सुरक्षित रखना, परन्तु उसका और भी अधिक विकास करना, चाहता था। उत्पादन के सम्बन्धों को सार्वजनिक स्वामित्व के अन्तर्गत, सर्वहारा के हाथों में सौंप देने में उसके तीन उद्देश्य थे। वह चाहता था कि (1) उत्पादन की सम्भावनाओं पर उत्पादन के पूंजीवादी सम्बन्धों के द्वारा लादे गये नियन्त्रण हटा दिये जायें, (2) व्यक्ति को तकनीकी प्रगति की चरम सीमा तक ले जाकर अस्तित्व के उस संघर्ष से मुक्त किया जा सके जो पूंजीवादी समाज में उसके लिए अनिवार्य हो गया था, और (3) जनसाधारण को आवश्यक अवकाश मिल सके, जिसके बिना वह अपने व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास नहीं कर सकता था। मार्क्स की मान्यता थी कि विज्ञान और तकनीक की अधिकतम सहायता से उत्पादन को बढ़ाया जा सकेगा और उसे राज्य के नियन्त्रण में रख देने का परिणाम यह होगा कि व्यक्ति को आज की उस स्थिति से मुक्ति मिल सकेगी जिसमें वह अपने को समाज व्यवस्था से विच्छिन्न (alienated) पाता है। मार्क्स के अनुसार, पूंजीवादी समाज, पूंजीवादी वर्ग के हितों की रक्षा करता है और व्यक्ति का शोषण करके उसे खोखला बना देता है। मार्क्स के समान ही गांधी का उद्देश्य भी यह था कि वह व्यक्ति को समाज और राज्य के उन बन्धनों से मुक्ति दिला सके जो आज उसे जकड़े हुए हैं, परन्तु वह यह नहीं मानते थे कि इस उद्देश्य की पूर्ति उत्पादन के साधनों को राज्य के हाथों में सौंप देने मात्र से हो जायेगी। उनका सीधा आक्रमण उस भौतिक सभ्यता पर था जिसका आधार अधिक से अधिक उपभोग और अधिक से अधिक संग्रह की भावना पर टिका हुआ है। मार्क्स के समान गांधी का विश्वास भी एक ऐसे समाज के निर्माण में था जो राज्यहीन, वर्गहीन और श्रेणीहीन हो, और जिसमें मनुष्य अपने साथियों के साथ सहयोग, सद्भाव और शान्ति का जीवन बिता सके। परन्तु

उनकी कल्पना का समाज कृषि-प्रधान, सादे जीवन पर आधारित और आत्मनिर्भर एक ऐसा समाज था जिसका प्रकृति के साथ सीधा सम्बन्ध हो, न कि एक ऐसा समाज जो प्रकृति से अधिक से अधिक भौतिक आवश्यकताएं प्राप्त करने के उद्देश्य से उसके साथ एक अनवरत संघर्ष में जुटा हो। संक्षेप में, जबकि मार्क्स का उद्देश्य एक नये प्रकार की राज्य व्यवस्था का निर्माण करना था, गांधी एक नये प्रकार की अर्थ-नीति और एक नये प्रकार की समाज-व्यवस्था का निर्माण करना चाहते थे।

गांधी एक ऐसे स्वप्नद्रष्टा नहीं थे जो अपना समय केवल चिन्तन में व्यतीत करते थे। उनका व्यक्तित्व अत्यधिक संवेदनशील था, जिस पर परिस्थितियों में हल्के से परिवर्तन की भी तीव्र और गहरी प्रतिक्रिया होती थी। वह एक व्यावहारिक व्यक्ति थे और, परिस्थितियों की यथार्थता के निकटतम सम्पर्क में रहते हुए ही, इस निर्विवाद निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि हिंसा के द्वारा किसी प्रकार का समाधान सम्भव नहीं है। हिन्द स्वराज्य की रचना उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में 1908 में की थी और कुछ लोगों की मान्यता है कि वह टॉलस्टॉय, थोरो, इमर्सन, रस्किन और अन्य पश्चिमी लेखकों के मानवतावादी विचारों के प्रति एक आदर्शवादी नवयुवक की अपरिपक्व प्रतिक्रिया थी पर, गांधी ने 1938 में जोर देकर कहा कि उसके प्रत्येक शब्द में उनकी उतनी ही गहरी आस्था थी जितनी तीस वर्ष पहले थी। इन तीस वर्षों में उन्होंने अपने आसपास की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में हिंसा की बड़ी-बड़ी घटनाएं देखी थीं। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के रूप में उन्होंने पश्चिम के पूंजीवादी लोकतन्त्र को उसके एक वीभत्स रूप में देखा था, रूस में साम्यवादी दल के शक्ति में आने की प्रक्रिया और उस देश में स्टालिन के द्वारा अपनाये गये आतंकवादी साधनों से वह अवगत थे और एक ओर साम्यवादी और दूसरी ओर पूंजीवादी लोकतन्त्र के विरोध में इटली और जर्मनी के फासीवाद और नात्सीवाद के अत्याचारों को भी उन्होंने देखा था। पश्चिम में सभ्यता के जो तीन रूप गांधी के सामने थे—पूंजीवादी लोकतन्त्रवाद, साम्यवाद और फासीवाद-नात्सीवाद—उन्होंने उन्हें पश्चिमी सभ्यता का, जिसका आधार औद्योगीकरण पर था एक कट्टर शत्रु बना दिया था। गांधी पश्चिमी सभ्यता के उतने विरोधी नहीं थे जितने उस भौतिकवाद के जिस पर उसका आधार रखा गया था।

आज के विश्व को काल्पनिक आदर्शों की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी परिवर्तन लाने के साधनों की। समाज व्यवस्था के उसके सामने दो आदर्श हैं—पश्चिम का उदारवादी लोकतान्त्रिक पूंजीवादी आदर्श और साम्यवाद का मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी आदर्श—जिन्होंने विश्व को पहले ही दो भागों में विभक्त कर दिया है, जिनमें विश्व की क्रमशः 20 प्रतिशत और 33 प्रतिशत जनता अपना जीवन बिता रही है। इन दो विश्वों के बाहर एक तीसरा विश्व है, विकासशील विश्व, जिसमें शेष 4 प्रतिशत जनता निवास करती है और जो एक पागलपन के साथ विकास के गैर साम्यवादी पथ पर दौड़ने की चेष्टा कर रहा है, और जिसने विकास की इस होड़ में सभी प्रकार के आदर्शों के साथ प्रयोग किया है—इंगलैण्ड के ढंग के संसदात्मक लोकतन्त्र से लेकर अधिक से अधिक तानाशाही सैनिक अधिनायकवाद तक जो आज भी अपनी राजनीतिक, आर्थिक और

सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याओं को सुलझाने में सर्वथा असमर्थ है। अब तक यह स्पष्ट हो जाना चाहिए था कि इन समाजों के लिए एक द्रुतगामी औद्योगीकरण की दौड़ में सफलता प्राप्त करना अभी भी सम्भव नहीं हो सकेगा और अन्ततोगत्वा उन्हें गांधी के द्वारा बताये हुए मार्ग पर लौट आना होगा। एक बात जो अभी पूरी तौर से स्पष्ट नहीं है वह यह है कि विकसित देश भी आज उन भौतिक सफलताओं से, जो उन्होंने विशिष्ट परिस्थितियों में प्राप्त की थी और जिनका दोहराया जाना अब सम्भव नहीं है, थके से प्रतीत होते हैं। तकनीक और संस्कृति के बीच आज जो एक विश्वव्यापी संघर्ष चल रहा है उसका समाधान करने की क्षमता न तो पश्चिम के पास है और न साम्यवादी विश्व के पास। पश्चिम और साम्यवादी विश्व दोनों ही अब तक अपनी यान्त्रिक तकनीकों से हट कर सामाजिक तकनीकों की दिशा में चलना शुरू नहीं करेंगे, जो केवल गांधी के साधनों के द्वारा ही सम्भव हो सकता है, उनके सामने आणविक आत्महत्या के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह जाता।

विकसित व विकासशील दोनों ही प्रकार के देशों में आज हिंसा की वृद्धि हो रही है—एक में इस कारण कि व्यक्ति अपने को अधिक से अधिक एकाकी, विच्छिन्न और भटका हुआ पाता है, और दूसरे में इसलिए कि उनकी असफलताएं और कुंठाएं दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। परन्तु गांधी ने बड़े स्पष्ट रूप में यह बता दिया है कि हिंसा किसी भी स्थिति का स्थायी समाधान नहीं है। यह मानना भी ठीक नहीं है कि पाश्चात्य समाज को अहिंसा के मार्ग पर चलने में विशेष कठिनाई होगी। सच तो यह है कि एक तकनीकी दृष्टि से आगे बढ़ा हुआ और औद्योगीकृत समाज सामाजिक सम्बन्धों में अहिंसा के सफल व्यवहार के लिए अधिक उपयुक्त वातावरण उपस्थित कर सकता है, तकनीक की दृष्टि से पिछड़े हुए और निर्धन समाजों की तुलना में। इसके साथ हमें यह भी स्पष्ट रूप से समझ लेना है कि गांधी ने अहिंसात्मक संघर्ष के लिए किसी एक निश्चित पद्धति का निर्माण नहीं किया है। वास्तव में उस प्रत्येक संघर्ष के लिए जो उन्होंने आरम्भ किया, अथवा जिसका नेतृत्व उन्होंने अपने हाथ में लिया, उन्होंने एक ऐसी भिन्न प्रकार की तकनीक, और तरकीबों का विकास किया जो समय और परिस्थितियों के अनुकूल तो थी ही—उक्त परिस्थिति में व्यक्तिगत सम्बन्धों को सुधारने का लक्ष्य भी अपने ध्यान में रखती थीं। गांधी के मार्ग पर आज या भविष्य में जो भी लोग चलना चाहेंगे उनके लिए, समय और परिस्थितियों के अनुसार को ध्यान में रखते हुए, गांधी से भिन्न प्रकार की तकनीकों का विकास करना आवश्यक होगा। एरिक एरिक्सन के शब्दों में, "गांधी का अस्त्र, जिसका आविष्कार कुछ विशिष्ट सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों में एक विशेष प्रकार के महा-मानव के हाथों हुआ था, आज असंख्य लोगों की कल्पनाओं, प्रेरणाओं और दिन-प्रतिदिन के क्रियाकलापों में समा गया है। अब उन ऐसे नेताओं की आवश्यकता है जो प्रथम नेता, प्रथम अनुयायियों और उसके आधार पर चलाये गये आन्दोलनों के प्रथम प्रणेताओं के व्यक्तिगत और ऐतिहासिक उद्देश्यों से प्रेरणा तो लें, परन्तु इन उद्देश्यों को सर्वथा नवीन तत्त्वों के साथ मिला कर उसे एक नया रूप प्रदान करें। यह मानते हुए भी यह अस्त्र एक

समय में 'सत्य' का ही एक रूप था, आज की भिन्न परिस्थितियों में यह आवश्यक हो सकता है कि उसकी अभिव्यक्ति 'सत्य' के अन्य रूपों में हो, ऐसे रूपों में जिसमें उसका विकास एक विभिन्न परन्तु समानान्तर परम्परा के आधार पर किया जाय, और उन साधनों का आविष्कार करने वाले लोग अलग-अलग देशों के और अलग-अलग धन्धों का पालन करते हों, परन्तु उन सभी के लक्ष्य लगभग वही होंगे जो इस यन्त्र के प्रथम आविष्कारक के थे। सत्य जब भी यथार्थ का रूप लेता है वह कभी भी अपने को एक ही प्रकार के कार्यों अथवा मुद्राओं में दोहराता नहीं है। प्रत्येक बार उसका पुनर्गठन विश्वव्यापी सत्यों और सामाजिक अनुशासनों के एक नये सम्मिश्रण के आधार पर होता है।"[91]

पारिभाषिक शब्दावली
(GLOSSARY)

Absolute	निरपेक्ष
Absolute value-oriented	निरपेक्ष-मूल्य-अभिविन्यस्त
Access	अधिगम्यता
Action	क्रिया
Adaptability	अनुकूलनशीलता, अनुकूलन-क्षमता
Adaptation	अनुकूलन
Adaptive Change	अनुकूल-परिवर्तन
Adjustment	समायोजन
Affective	प्रभावात्मक
Alienated	विच्छिन्न
Alienation	विच्छिन्नता
Allocation	आवंटन
American way of life	जीवन का अमरीकी मार्ग
Amplifying	प्रवर्धक
Analysis	विश्लेषण
Analytical	विश्लेषणात्मक
A negation of a negation	अस्वीकृति की अस्वीकृति
Anomic	अप्रतिमानता
Antagonistic contradiction	अन्तर्विरोध
Antecedent equilibrium	पूर्ववर्ती सन्तुलन
Anthropological	नृवैज्ञानिक
A patterned set of information flows	सूचना-प्रवाहों का एक आकृति-बद्ध आवर्तन
Area study	क्षेत्रीय अध्ययन
Ascriptive	आरोपित
Association	संस्था
Attitude	अभिवृत्ति
Authoritative	प्राधिकृत
Autonomy	स्वायत्तता
Availability	उपलब्धता
Background noise	नेपथ्य का कोलाहल
Balance of group pressures	समूह के दबावों का सन्तुलन
Bargaining game	सौदेबाजी का खेल
Behaviouralist	व्यवहारपरकवादी
Behaviourist	व्यवहारवादी
Boss	नेता
Bossism	दादागीरी
Break-down	टूट-फूट
By ganging up	टोली बनाकर
Calculation	परिगणन
Capability	सामर्थ्य
Capacity	क्षमता
Corporate capitalism	समष्टि पूंजीवाद
Case analysis	प्रकरण विश्लेषण
Case study	प्रकरण अध्ययन
Casual	कारणात्मक
Casual theory	कार्य-कारण सिद्धान्त

Categorization	सवर्गीकरण
Centralised	केन्द्रीभूत
Channel	सरणि
Choice	निर्णय
Circuit	परिपथ
Circulation	सचलन, परिचलन
Closed-system	बन्द-व्यवस्था
Coalition	गुटबन्दी, गुट-निर्माण
Cognitive	सज्ञानात्मक
Coherence	संसक्तता
Collaborative effort	सहयोगात्मक प्रयत्न
Collection	सकलन
Column	स्तम्भ
Combination	मिश्रित तत्त्व; मिश्रण
Combinational capacity	संयोजन क्षमता
Complexity	जटिलता
Committee on Comparative Politics	तुलनात्मक राजनीति की समिति
Committee on Political Research	राजनीतिक शोध समिति
Communication Engineering	सचार अभियान्त्रिकी
Communitarian Socialism	सामुदायिक समाजवादी
Cooperative Research	सहकारी शोध
Complex change	जटिल परिवर्तन
Componential Change	घटकीय परिवर्तन
Component	घटक
Conceptualization	सम्प्रत्ययीकरण
Congruent development	साथ-साथ विकास
Configurative	सविन्यासी
Configurative analysis	सविन्यासी विश्लेषण
Configurative method	संविन्यासी प्रणाली
Conflict	सघर्ष
Consensus	मतैक्य
Consequent equilibrium	अनुवर्ती सन्तुलन
Consummatory	निष्पत्तिकर
Contemplative	चिन्तनात्मक
Contextual	सान्दर्भिक
Control pathology	नियन्त्रण की विपमताए
Control	नियन्त्रण
Conversion function	परिवर्तन कृत्य
Council of Social Science Data Archives	समाज-विज्ञान आधार-सामग्री अभिलेखागार परिषद्
Counter-Society	प्रति-समाज
Creative tension	सृजनात्मक आक्रोश
Crisis change	सकट-परिवर्तन
Critical range	खतरनाक परिधि
Cumulative	सचयी
Cyclic	चक्रिक
Data	सामग्री
Decay	पतन

Decision making	निर्णय-निर्माण
Deductive	निगमनात्मक
Deference	सम्मान, मान
Degree of capability	क्षमता की मात्रा
De-humanization	अमानवीकरण
Democracy-building	लोकतन्त्र-निर्माण
Democratism	लोकतन्त्रशाही
Demographic	जनांकिकीय
Demonstration effect	प्रदर्शन प्रभाव
Dependent variable	पराश्रित परिवर्ती
Deprived	वंचित
Derivation	शब्द साधन
Description	वर्णन
Descriptive-taxonomical	वर्णनात्मक-परिभाषात्मक
Determinancy	नियति
Determinate	नियत
Detterance	निवारण
Developmental analysis	विकासात्मक विश्लेषण
Developmental approach	विकासवादी उपागम
Developmental construct	विकासात्मक संरचना
Developmental syndrome	विकासात्मक सलक्षण
Differential	विभेदीकृत
Differentiation	विभेदीकरण
Diffuse	बिखरी हुई
Directional	निर्देशात्मक
Disequilibrium	असन्तुलन
Disruption	विध्वंस
Dissolution	विघटन
Distortion	विकृत
Distribution	वितरण
Distributive analysis	वितरण विश्लेषण
Disunity	वैषम्य
Documentary	दस्तावेजी
Domain	अधिकार क्षेत्र
Draft	प्रारूप
Dys-function	अपकृत्य
Dys-functional	अपकृत्यात्मक
Egos	अहम्
Electrical-Engineering	विद्युत-अभियान्त्रिकी
Emotive	रागात्मक
Empirical-analytic	आनुभविक विश्लेषणात्मक
Empirical theorist	आनुभविक सिद्धान्तवादी
Encode	कूटबद्ध
Enfunction	सुकृत्य
Entropy	निःशक्तता
Equality	समानता
Equation	समीकरण
Equilibrium	सन्तुलन
Equilibrium analysis	समायोजन-विश्लेषण
Ethno-centricism	संस्कृति केन्द्रवाद
Ethonological	नृजातीय
Exaction enjoyment	आनन्द का उपभोग करना
Experimental psychometrics	आनुभविक मनोमिति
External setting	बाह्य परिवेश

Factual	तथ्यात्मक
Feasibility	साध्यता
Feedback	प्रतिसम्भरण
Feedback loop	प्रतिसम्भरण पाश
Fidelity	विश्वस्तता
Flow model	प्रवाह प्रतिरूपण
Folk lore of Political Philosophy	राजनीति-दर्शन की लोकवार्ता
Force	शक्ति
Formal	औपचारिक
Free Man's Common wealth	स्वतन्त्र मनुष्य का राष्ट्रमंघ
Function	प्रकार्य
Functional	कृत्यात्मक
Functional indispensability	कृत्यात्मक अपरिहार्यता
Functionalism	कृत्यवाद
Functional specificity	प्रकार्यात्मक विशिष्टता
Functional Unity	कृत्यात्मक एकान्विति
Gain	अभिलाभ
Game theory	खेल-सिद्धान्त
Game tree form of play	वृक्ष आकार का खेल
Game within a game	खेल के भीतर खेल
Gate keeping	द्वारबन्दी
Goal	लक्ष्य
Goal-changing	लक्ष्य-परिवर्तन
Goal image	लक्ष्य बिम्ब
Goal-thinking	लक्ष्य सम्बन्धी चिन्तन
Great leap forward movement	छलांगें भरकर आगे बढने का महान आन्दोलन
Great proletarian Cultural Revolution	महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति
Gross National Product	सकल राष्ट्रीय उत्पाद
Group	समूह
Growth	विकास, संवृद्धि
Guerrila warfare	छापामार युद्ध
Guided missiles	निर्देशित प्रक्षेपण अस्त्र
Guild socialist	श्रेणी समाजवादी
Habit background	पुरानी आदत
Handling	निपटारा करना
Hierarchical	अधिक्रमिक
Historical	ऐतिहासिक
Historical-descriptive	ऐतिहासिक वर्णनात्मक
Homeo-stasis	समस्थिति
Homeostatic state	समावस्थान की स्थिति
Id	इदम्
Identity	तादात्म्यता
Ideology	विचारधारा
Image	बिम्ब
Inclusive	अभ्यावर्तक
Income	आय
Independent variable	स्वतन्त्र परिवर्त्ती
Indulged	इच्छा तृप्त
Information-flow	सूचना प्रवाह
Infra-structure	आधारित-संरचना
Inhibitation	प्रावरोध

Innovation	नवीनीकरण
In order to	इस उद्देश्य से
Inorganismic	अजैविक
Input	आगत
Institutionalization	संस्थापन
Instrumental	साधनात्मक
Integrated	समाकलित
Integration	समाकलन, एकीकरण
Intellectual foundation stone	बौद्धिक आधार-शिला
Intellectual revolution	बौद्धिक क्रान्ति
Intended	अभीष्ट
Inter-action	अन्त क्रिया
Interest group	हित समूह
Interlocking system	अन्तर्ग्रंथित व्यवस्थाए
Internal setting	आन्तरिक परिपार्श्व
Inter-societal	समाजीय
Intra-societal	समाजान्तरिक
Intra-systemic	व्यवस्थागत
Iron law of oligarchy	स्वल्पतन्त्र के लौह-नियम
Isomorphic	समरूप
Isomorphism	समरूपता
Lag	पश्चता
Latent	अप्रकट
Lead	अग्रता
Learning	अधिगम
Legal Institutional	विधिक संस्थागत
Legalist historical	विधिवादी ऐतिहासिक
Legitimacy	वैधता
Libertarian-socialism	बन्धन-मुक्त समाजवाद
Limited modernization	मर्यादित आधु-नीकरण
Linear	रेखाकार, एकरेखीय
Linguistic Philosophy	भाषावैज्ञानिक दर्शन
Load	भार
Load capacity	भार-वाहिनी
Logical Positivism	तार्किक प्रत्यक्ष-वाद
Logical Positivist	तार्किक प्रत्यक्ष-वादी
Logical Structure	तार्किक संरचना
Machine politics	यान्त्रिक राज-नीति
Machtenfaltung	प्रदर्शन
Maintenance	अनुरक्षण
Managerial	प्रबन्धकीय
Managerial revolution	प्रबन्धकीय क्रान्ति
Manifest	प्रकट
Manipulate	जोड़-तोड़ करने
Man-milieu	मानव-परिवेश
Mass-line	जन-नेतृत्व
Mass-mind	जन-मानस
Mass-mobilization	जन-परियोजन
Mass-modernization	जन-आधुनी-करण
Master-mould	सामान्य-साँचा
Mathematical models	गणितीय ग्रन्थ
Matrice	आधात्री

Measurement मापन
Mechanism क्रियाविधि
Mechanistic यान्त्रिक
Memory स्मृति
Meta-theory अधिसिद्धान्त
Middle-income skill group मध्यम आय वाले कुशलता-सम्पन्न वर्ग
Middle-range theory मध्यम-स्तरीय सिद्धान्त
Mini-max strategy न्यूनतम अधिकतम युक्ति
Mixed motive मिश्रित उद्देश्य
Mobilization परियोजन, नियोजन
Model प्रतिरूप
Modernity आधुनिकता
Mono-casual एक-कारण प्रधान
Moralism नीतिवाद
Motitutional zation संस्थाओं का निर्माण
Motivational अभिप्रेरणात्मक
Move चाल
Multivariate analysis बहुचर विश्लेषण

National Conference on the Science of Politics राजनीति-विज्ञान राष्ट्रीय महासभा
Nation-state राष्ट्र-व्यवस्था
Negative feedback नकारात्मक प्रतिसम्भरण
Negative thinking नकारात्मक चिन्तन
Nervous system तन्त्रिकीय व्यवस्था
Network जाल
Non-antagonistic निर्विरोधात्मक contradiction अन्तर्विरोध
Normative-Philosophical आदर्शात्मक-दर्शनात्मक
Normative-prescriptive आदर्शात्मक-उपदेशात्मक

Officiality आधिकारिकता
Older liberalism प्राचीन उदारवाद
One dimensional एकांगी
One dimensional man एक आयामी व्यक्ति
Open system खुली व्यवस्था
Operand सकार्य
Operating प्रचालन
Operational सक्रियात्मक
Operator प्रचालक
Organismic जैविक
Ordered symbol व्यवस्थित प्रतीक
Orienting अभिविन्यासी
Outcome परिणाम
Output निर्गत
Over-load अतिभार

Parallel institution समानान्तर संस्था
Para-meter प्राचल
Participation सहभागिता
Participational सहभागी
Participational variable सहभागी परिवर्त्ती
Participatory democracy सहभागी लोकतन्त्र
Particularistic विशिष्टतापरक
Pattern अभिरचना
Pay off बाजी को जीतना
Penetration अन्तः प्रवेश

people's war — लोकयुद्ध
Per-capita gross national product — प्रति-व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद
Performance indicator — उपलब्धि संकेतक
Persistence — सातत्य
Persistence of aggregates — समुच्चय सातत्य
Phenomenological — मानुभविक
Policy science — नीति-विज्ञान
Political formula — राजनीतिक सूत्रोक्ति
Political Institutionalization — राजनीतिक-संस्थायन
Political integration — राजनीतिक एकीकरण
Political mobilization — राजनीतिक सचलनशीलता
Political participation — राजनीतिक सहभागिता
Political Philosophy — राजनीतिक दर्शन
Political representation — राजनीतिक प्रतिनिधित्व
Political Science — राजनीति-विज्ञान
Political Theory — राजनीतिक सिद्धान्त
Political Thought — राजनीतिक चिन्तन
Politics of promotion — निवारण की राजनीति
Positive — सकारात्मक
Positive behaviouralist — सकारात्मक व्यवहारवादी
Positive feedback — निश्चयात्मक प्रतिसम्भरण
Positivist — प्रत्यक्षवादी
Positivistic — प्रत्यक्षात्मक
Post Industrial age — पूर्ण औद्योगीकरण के बाद का युग
Power elite — शक्ति अभिजन
Power-engineering — शक्ति अभियान्त्रिकी
Preception — प्रत्यक्षण
Prediction — भविष्यवाणी
Preference — अधिमान्यता
Pressure group — दबाव समूह
Probability model — सम्भाव्यता प्रतिरूप
Process — प्रक्रिया
Processing — प्रक्रमन
Productive insight — अन्तर्दृष्टि
Projective — प्रक्षेपी
Prospect — सम्भावना
Psychic — मानसिक
Psycho-analytocracy — मनोविश्लेषण तन्त्र
Psychological component — मनोवैज्ञानिक घटक
Pure Science — शुद्ध विज्ञान
Pyramidal — स्तूपाकार
Qualitative — गुणात्मक
Quantification — परिमाणीकरण
Quantitative — परिमाणात्मक
Quantitative measurement — परिमाणात्मक मापन
Rational — तर्कमूलक

Rational orientation — विवेकोन्मुख अभिवृत्ति
Recall — पुन स्मरण
Reception System — स्वागत-व्यवस्था
Receptivity — ग्रहणशीलता
Receptor — स्वागतकर्ता
Recognised — अभिज्ञात
Rectitude — विनम्रता
Red guard — लाल स्वयसेवक
Referee — निर्देशक
Reformation — सुधार
Regularity — नियमितता
Relevance — प्रामगिकता
Renaissance — पुनर्जागरण
Rentier — किरायाजीवी
Residue — अवशेष
Response — अनुक्रिया
Responsiveness — अनुक्रियात्मकता
Rigidity — कठोरता
Row — पंक्ति
Rule-adjudication — नियम-अधिनियम
Rule-application — नियम-प्रयोग
Rule-making — नियम-निर्माण
Rules of the game — खेल के नियम

Sacred-collectivity — धर्म-निर्भर समष्टिवादी
Safety — सुरक्षा
Safety valve — सुरक्षा द्वार
Sample Survey — प्रतिदर्श सर्वेक्षण
Scale effect — अनुमाप प्रभाव
Scientific behaviouralist — वैज्ञानिक व्यवहारवादी
Scientific thinking — वैज्ञानिक चिन्तन
Scientific value relativism — वैज्ञानिक मूल्य-सापेक्षवाद
Scientism — विज्ञानवाद
Scope — प्रसार
Secular liberation — लौकिक स्वेच्छा-तन्त्रवादी
Selection — चयन
Self-orientation — आत्म-प्रवणता
Self-stimulation — आत्म-उद्दीपन
Self-system — आत्म-व्यवस्था
Self-transformation — आत्म-रूपान्तरण
Set of stimulies — उद्दीपक-समुच्चय
Simple psychologism — सरल मनोविज्ञान-परता
Simplicity — सरलता
Simulation — अनुरूपण
Simulation analysis — अनुरूपण-विश्लेषण
Situation ethics — स्थिति की नैतिकता
Size — आकार
Social critics — सामाजिक आलोचक
Social engineering — सामाजिक अभियान्त्रिकी
Social mobilization — सामाजिक गत्यात्मकता
Social rebellion — सामाजिक विद्रोह
Social Science Research Council — सामाजिक-विज्ञान शोध परिषद
Specialisation — विशिष्टीकरण
Specific — निर्दिष्ट
Speculator — सटोरी

Sphere of competence	सक्षमता के क्षेत्र
Spook	अस्तित्वहीन
Stability	स्थिरता
State-Craft	शासन-कला
State Socialist	राज्य समाजवादी
Static	स्थैतिक
Steering	सचालन
Stimulus-organism response paradigm	प्रेरणा-अस्तित्व प्रतिक्रिया प्रतिमान
Stimulus response paradigm	प्रेरणा-प्रतिक्रिया प्रतिमान
Storing	संचयन
Strain, stress and tension	खिचाव, दबाव और तनाव
Strategy	व्यूहरचना
Stress and strain	दबाव और तनाव
Structural differentiation	संरचनात्मक विभेदीकरण
Structural functionalism	संरचनात्मक प्रकार्यवाद
Structural institutional	संरचनात्मक संस्थात्मक
Structure	संरचना
Subordination	अधीनता
Successiveness	आनुक्रमिकता
Super-ego	परा अहम्
Superordination	राजनीतिक उच्चकोटिता
Supra-empirical	अत्यानुभविक
Supra-rational	अति-बौद्धिक
Surplus repression	अतिरिक्त दमन
Syncretic	समन्वित
System analysis	व्यवस्था विश्लेषण

Systematization	व्यवस्थापन
Systemic crisis	व्यवस्थात्मक संकट
System theory	व्यवस्था सिद्धान्त
Taboo	वर्जना
Technique	तकनीक
Theorem	प्रमेय
Theoretical behaviouralist	सैद्धान्तिक व्यवहारवादी
Theory	सिद्धान्त
Theory-building	सिद्धान्त-निर्माण
Tradition	परम्परा
Trans-empirical theorist	परा-आनुभविक सिद्धान्तवादी
Transition	संक्रमण
Trend-thinking	प्रवृत्ति-सम्बन्धी चिन्तन
Trickle-down	छननी-सिद्धान्त
Trusteeship	धरोहर
Unintended	अनभीप्ट
Universal functionalism	सार्वभौम कृत्यवाद
Universalistic	सर्वव्यापी
Unrecognised	अनभिज्ञात
Valuational	मूल्यात्मक
Value	मूल्य
Value-free	मूल्य-निरपेक्ष
Value-orientation	मूल्य-अभिविन्यास
Value-theory	मूल्य-परक सिद्धान्त
Variable	परिवर्ती
Verification	सत्यापन
Viability	जीवन-क्षमता
Vienna Centre	वियना केन्द्र